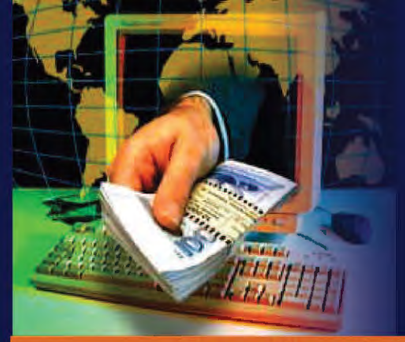

Institute of **Open** and
Distance Education

Faculty of Commerce

Business Environment

1MCOM3

Business Environment

Dr. C.V. Raman University
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY
Chhattisgarh, Bilaspur
A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

1MCOM3

व्यावसायिक वातावरण

1MCOM3, Business Environment

Edition: March 2024

Compiled, reviewed and edited by Subject Expert team of University

1. Dr. Archana Agrawal

(Associate Professor, Dr. C. V. Raman University)

2. Dr. Preeti Shukla

(Associate Professor, Dr. C. V. Raman University)

3. Dr. Satish Kumar Sahu

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

Warning:

All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher.

Published by:

Dr. C.V. Raman University

Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.),

Ph. +07753-253801, 07753-253872

E-mail: info@cvru.ac.in

Website: www.cvru.ac.in

विषय-सूची

इकाई - I

1) व्यावसायिक पर्यावरण की सैद्धान्तिक रूपरेखा 01
(Theoretical Framework of Business Environment)

2) निजीकरण, उदारीकरण एवं वैश्वीकरण 14
(Privatisation, Liberalisation and Globalisation)

इकाई - II

3) आर्थिक पर्यावरण 25
(Economic Environment)

4) आर्थिक प्रणाली 36
(Economic System)

5) भारत में आर्थिक नियोजन 55
(Economic Planning in India)

6) भारत की औद्योगिक एवं लाइसेंसिंग नीति 69
(Industrial and Licensing Policy of India)

7) भारत की मौद्रिक नीति 81
(Monetary Policy of India)

8) भारत की राजकोषीय नीति 104
(Fiscal Policy in India)

9) निर्यात-आयात नीति 113
(Export-Import Policy)

इकाई - III

(10) राजनैतिक वैधानिक पर्यावरण 121
(Political Legal Environment)

(11) एकाधिकारात्मक एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम, 1969 130
(Monopolies and Restrictive Trade Practices Act, 1969)

(12) विदेशी मुद्रा विनिमय प्रबन्धन अधिनियम, 1999 (फेमा) 145
(Foreign Exchange Management Act, 1999) (FEMA)

(13) उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 151
(Consumer Protection Act 1986)

(14) पेटेन्ट अधिनियम, 1970 160
(Patents Act, 1970)

इकाई - IV

(15) सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण 169
(Socio-Cultural Environment)

(18) अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक पर्यावरण एवं विकासशील देशों की समस्याएँ 18
(International Business Environment and Problems of Developing Countries)

(17) व्यवसाय का सामाजिक उत्तरदायित्व 18
(Social Responsibility of Business)

(18) विश्व व्यापार संगठन एवं भारत 20
(World Trade Orgainsation and India)

(19) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं भारत 21
(International Monetary Fund and India)

(20) विदेशी निवेश एवं सहयोग 22
(Foriegn Investment and Collaboration)

इकाई - V

(21) तकनीकी पर्यावरण 23
(Technological Environment)

(22) ई-वाणिज्य 24
(E-Commerce)

(23) इलेक्ट्रॉनिक बैंकिंग 248
(Electronic Banking)

(24) फ्रेन्चाइसी व्यवसाय 254
(Franchisee Business)

●●●

1

NOTES

व्यावसायिक पर्यावरण की सैद्धांतिक रूपरेखा

(THEORETICAL FRAMEWORK OF BUSINESS ENVIRONMENT)

पर्यावरण क्या है?
(What is Environment?)

पर्यावरण अंग्रेजी के शब्द (Environment) 'एनवायरमेन्ट' का अनुवाद है, जो दो शब्दों अर्थात् (Environ) 'एनवायरन' और (ment) 'मेन्ट' से मिलकर बना है। जिसका अर्थ है (Encircle or all round) परिधि (आवृत्त करना) अर्थात् जो चारों ओर से घेरे हुए हैं, वह पर्यावरण है। शाब्दिक दृष्टि से इसका अर्थ (Surroundings) है, जिसका तात्पर्य है, "चारों ओर से घेरे हुए"। "**विश्व कोष**" में पर्यावरण को परिभाषित करते हुए कहा गया है "पर्यावरण के अन्तर्गत **उन सभी** दशाओं, संगठन एवं प्रभावों को सम्मिलित किया जा सकता है, जो किसी जीव अथवा प्रजाति के उद्भव, विकास एवं मृत्यु को प्रभावित करती है।"

"एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका" के अनुसार, "पर्यावरण उन सभी **बाह्य** प्रभावों का समूह है जो जीवों को भौतिक एवं जैविक शक्ति से प्रभावित करते रहते हैं तथा प्रत्येक जीव को ढँके रहते हैं।" **प्रो. डी.एच. डेनिस** के अनुसार, "पर्यावरण का अभिप्राय भूमि या मानव को चारों ओर से घेरे उन सभी **भौतिक** स्वरूपों से है, जिनमें न केवल वह निवास करता है' बल्कि जिनका प्रभाव उसकी आदतों एवं क्रियाओं पर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है।" इस प्रकार के स्वरूपों में धरातल, भौतिक एवं प्राकृतिक संसाधन, मिट्टी की प्रकृति, **उसकी स्थिति**, जलवायु, वनस्पति, खनिज सम्पदा, जल-थल का वितरण, पर्वत, मैदान, सूर्य-ताप आदि जो भूमण्डल पर घटित होती हैं एवं जो मानव को प्रभावित करती हैं। अर्थात् **पर्यावरण अनेकानेक अवयवों, कारकों या घटकों का सम्मिश्रण है**। पारिभाषिक दृष्टि से कोई भी बाह्य शक्ति, पदार्थ अथवा दशा जो किसी भी रूप में मानव व अन्य सजीवों को प्रभावित करती हैं, सभी पर्यावरण के अन्तर्गत आती हैं।

पर्यावरण के प्रकार
(Types of Environment)

प्रो. कुर्ट लेविन ने मानव जीवन को प्रभावित करने वाले पर्यावरण को तीन भागों में विभक्त किया है, यथा- (अ) भौतिक पर्यावरण, (ब) सामाजिक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण और (स) मनोवैज्ञानिक पर्यावरण। इनका विस्तृत विवरण निम्न अनुसार है :-

अ. भौतिक पर्यावरण (Physical Environment) :-

मानव के चारों **ओर** प्रकृति द्वारा निर्मित पर्यावरण को **भौतिक पर्यावरण** कहते हैं। इसके अन्तर्गत प्रकृति में पाये जाने वाली विभिन्न भौतिक जलवायु स्थितियों का अध्ययन करते हैं। **इसमें** स्थिति (Location), स्थलाकृति या भू-आकृतियाँ (Physiography), जलवायु (Climate), जल राशियाँ (Water bodies), मिट्टियाँ (Soil), खनिज (Minerals), प्राकृतिक वनस्पतियाँ (Natural vegetation) तथा पशु (Animals) को सम्मिलित किया गया है।

ब. सामाजिक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण (Social and Cultural Environment) :-

यह मानव द्वारा निर्मित होता है। इस पर्यावरण में मानव के तथा उसके द्वारा निर्मित वातावरण सम्बन्धी तत्व आते हैं। ये तत्व निम्न प्रकार हैं :-

1. **जैविक आवश्यकताओं के प्रतिरूप** (Biological Patterns): इसके अन्तर्गत -
   - किसी प्रदेश में मानव-समुदाय का भोजन तथा पेय।
   - वस्त्र एवं वेशभूषा।
   - निवास या अनिवास एवं बस्तियाँ (ग्रामीण एवं नगरीय)।
2. **आर्थिक व्यवसाय के प्रतिरूप** (Economic Patterns): इसके अन्तर्गत-

NOTES

- प्राथमिक व्यवसाय (Primary occupation): खाद्य संग्रहण (Food gathering), आखे (Hunting), मत्स्यकर्म (Fisheries) आदि।
- शोषण उद्योग (Extrative Industries): पशुचारण, कृषि, वन उद्योग, खान खोदना आदि।
- निर्माण उद्योग। ● परिवहन तथा वाणिज्य उद्योग। ● नौकरी व्यवसाय।

3. **प्रौद्योगिकी प्रतिरूप** (Technological Patterns): इसमें यंत्र एवं उपकरण तथा सम्प्रेषण के साधन आ हैं, जिनके द्वारा मनुष्यों में विचारों का आदान-प्रदान होता है, जैसे- भाषा साहित्य, धर्म, दर्शन, कला आदि।

4. **सामाजिक संगठन** (Social Organization):

- सामुदायिक जीवन तथा सहकारिता,
- घर-परिवार प्रणाली, विवाह प्रथा आदि,
- सामाजिक वर्ग,
- श्रम विभाजन,
- लोक रीतियाँ, कर्मकाण्ड, मेले, उत्सव आदि,
- सामाजिक प्रथाएँ, सामाजिक नियम, सामाजिक प्रतिमान व मान्यताएँ आदि।

5. **राजनैतिक संगठन** (Political Organizations):

● राज्य सरकार। ● शासन प्रणालियाँ। ● अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन।

स. मनोवैज्ञानिक पर्यावरण (Psychological Environment):-

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है, इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए जिस प्रका बाह्य वातावरणीय कारक प्रभावित करते हैं, उसी प्रकार उसके आन्तरिक कारक अर्थात् उसकी मानसिक स्थिति भी ए महत्वपूर्ण कारक के रूप में प्रभावित करती है।

कुर्ट लेविन ने इसे मनोवैज्ञानिक पर्यावरण की संज्ञा दी है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण व उसके समायोज में मानसिक कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। उपर्युक्त विवरण से यह तथ्य स्पष्ट है कि हम पृथ्वी पर बसने वा सभी सजीव व निर्जीव किसी न किसी रूप में एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो प्रकृति प्रद पर्यावरण में अपने क्रियाकलापों से असन्तुलन उत्पन्न कर रहा है। यदि मनुष्य पर्यावरण के प्रति संवेदनशील नहीं होग तो भविष्य इतना भयावह होगा कि आने वाली पीढ़ी इसका निराकरण करने की स्थिति में भी नहीं रह पायेगी।

व्यावसायिक पर्यावरण की अवधारणा
(Concept of Business Environment)

मानव जीवन के प्रादुर्भाव के समय से ही मनुष्य अपने भरण-पोषण के लिए अनेक क्रियाएँ, जैसे-शिकार, खेती उद्योग-धन्धे आदि, सम्पादित करता आ रहा है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ इन क्रियाओं के स्वरूप में भी परिवर्त आया है और विकास के साथ-साथ ये क्रियाएँ भी अधिक जटिल हो गई हैं। मनुष्य जिस वातावरण या परिवेश मे अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु क्रियाशील रहता है, उसे ही सरल शब्दों में आर्थिक या व्यावसायिक पर्यावरण की संज्ञा दी जाती है। मनुष्य की इन क्रियाओं पर अनेक तत्वों, यथा सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक मनोवैज्ञानिक, प्राकृतिक आदि का प्रभाव पडता है। ये सभी तत्व ही आर्थिक पर्यावरण के अन्तर्गत आते हैं। इसके साथ ही समाज मे बदलती हुई विचारधाराएँ (Ideologies), प्रबंध का नया दर्शन, परिवर्तनशील औद्योगिकी तथा सांस्कृतिक परिवेश-सभी कुछ आर्थिक क्रियाओं को नई दिशा देते हैं।

आर्थिक या व्यावसायिक पर्यावरण में दो शब्द हैं, प्रथम आर्थिक या व्यवसाय और दूसरा पर्यावरण। आर्थिक क्रियाएँ या व्यवसाय शब्द से आशय मनुष्य के जीविकोपार्जन से सम्बन्धित क्रियाओं से है। अर्थशास्त्र में आर्थिक या व्यावसायिक क्रियाओं से तात्पर्य उन सभी मानवीय क्रियाओं से है जो वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन, विनिमय एवं वितरण के लिए की जाती है और इन क्रियाओं का उद्देश्य पारस्परिक सन्तुष्टि या हित होता है। दूसरे शब्दों में, मनुष्य द्वारा धनोपार्जन के लिए की जाने वाली समस्त क्रियाएँ, आर्थिक क्रियाओं या व्यवसाय के अन्तर्गत आती हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि किसी भी अनार्थिक क्रिया को व्यवसाय में सम्मिलित नहीं किया जाता है। इस प्रकार व्यवसाय एक ऐसी सामाजिक संस्था है जो मनुष्य के जीवन-यापन के लिए या संग्रह के लिये आवश्यक वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन, विनिमय एवं वितरण द्वारा लाभ प्राप्त करती है और जिसका मुख्य उद्देश्य समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है।

पर्यावरण या परिवेश (Environment) से आशय उन सभी घटकों या तत्वों से है जो व्यवसाय अथवा किसी यावसायिक इकाई के चारों ओर विद्यमान रहते हैं। इन परिवेश से सम्बन्धित घटकों का प्रभाव व्यवसाय पर पड़ता है। ी. रॉबिन्स (Robbins) का मत है कि "पर्यावरण उन संस्थाओं अथवा शक्तियों से बना होता है जो किसी संस्था यवसाय) के कार्य निष्पादन को प्रभावित करता है, किन्तु उस संस्था का उन पर बहुत कम नियंत्रण होता है।" संक्षेप , पर्यावरण या परिवेश किसी व्यावसायिक इकाई या संस्था के बाहर की वे शक्तियाँ या घटक अथवा तत्व हैं जो संस्था ी कार्यकुशलता एवं कार्य निष्पादन को प्रभावित करते हैं।

आर्थिक या व्यावसायिक पर्यावरण की परिभाषा (Definition of Economic or Business Environment):- आर्थिक या व्यावसायिक पर्यावरण विभिन्न गतिशील, जटिल व अनियंत्रित बाह्य आर्थिक, सामाजिक, जनीतिक, भौतिक व तकनीकी घटकों का योग है, जिनके अन्तर्गत आर्थिक क्रियाएँ सम्पादित होती हैं। पर्यावरण ही यवसाय को नये आकार, स्वरूप, नई भूमिकाएँ, मान्यताएँ व नये तेवर ग्रहण करने को बाध्य करता है। अनेक परिस्थितियों नये अवसरों की खोज में पर्यावरण से व्यवसाय को प्रोत्साहन व एक नयी ऊर्जा प्राप्त होती है। आर्थिक या व्यावसायिक र्यावरण को निम्न प्रकार परिभाषित किया जाता है:-

(1) **रेनकी एवं शॉल** (Prof. Reinecke and Schoell) के अनुसार, "**यह उन समस्त बाह्य घटकों का योग जिनके प्रति व्यवसाय अपने को अनावृत करता है तथा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है।**"

(2) **विलियम ग्लूक व जॉक** (Prof. William Glueck and Jouch) के मतानुसार, "**पर्यावरण में फर्म के हर के घटक शामिल होते हैं, जो फर्म के लिए अवसर एवं खतरे पैदा करते हैं।**"

(3) **रिचमैन तथा कोपन** (Richman & Copen) के अनुसार "**पर्यावरण में दबाव एवं नियंत्रण होते हैं जो धिकांशतः वैयक्तिक फर्म एवं इसके प्रबंधकों के नियंत्रण के बाहर होते हैं।**"

(4) **प्रो. वीमर** (Prof. Arthur M.Weimer) के अनुसार, "**व्यावसायिक पर्यावरण में वह परिवेश अथवा न आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक अथवा संस्थागत दशाओं का समूह सम्मिलित होता है, जिनके अन्तर्गत व्यावसायिक ार्यकलापों का संचालन किया जाता है।**"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि आर्थिक या व्यावसायिक पर्यावरण या परिवेश किसी भी व्यावसायिक इकाई ; वे बाहरी तत्व या घटक होते हैं जिनमें रहकर वह इकाई कार्य करती है और जिनसे उस इकाई की कार्य कुशलता था लाभ प्रभावित होता है। अतः पर्यावरण का उस व्यावसायिक इकाई को सफलता अथवा असफलता में महत्वपूर्ण ोगदान रहता है।

व्यावसायिक पर्यावरण की प्रकृति
(Nature of Business Environment)

व्यावसायिक पर्यावरण की अपनी कुछ विशिष्ट विशेषताएँ होती हैं जिनसे सम्पूर्ण आर्थिक गतिविधियाँ प्रभावित ोती हैं। इसके साथ ही व्यवसाय एवं पर्यादरण (परिवेश) के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध होते हैं और इन्हीं सम्बन्धों की कृति से आर्थिक क्रियाएँ प्रभावित होती हैं। संक्षेप में, आर्थिक या व्यवसाय तथा पर्यावरण के पारस्परिक सम्बन्धों की कृति निम्न प्रकार होती है :-

(1) **बदलते हुये परिदृश्य पर निरन्तर निगाहें रखना**- व्यवसाय को हमेशा इस प्रकार से सजग रहना होता है कि ह सुनिश्चित करे कि वातावरण का बदलता हुआ परिदृश्य बिना देखे ही घटित हो जाये। इससे न केवल उसे अपनी यावसायिक व्यूह-रचनाएँ तैयार करने में सहायता मिलती है, बल्कि वातावरण के परिवर्तन-अध्ययन से ातावरण-पूर्वानुमान करने व समझने में काफी सफलता प्राप्त होती है। साथ ही व्यवसाय एवं वातावरण के सम्बन्ध की कृति को समझने में भी यह क्रिया फलदायी होती है। संक्षेप में, आर्थिक या व्यावसायिक वातावरण सतत् रूप से तिशील व परिवर्तनशील है, लेकिन वातावरण में हो रहे परिवर्तनों को सही पहचान करने का दायित्व व्यवसाय पर ोता है। व्यवसाय को इनके बारे में कोई बतायेगा नहीं बल्कि व्यवसाय को स्वयं इनको सही पहचान कर अपना रास्ता र्धारित करना होता है।

(2) **विषम दशाओं एवं आकस्मिक परिवर्तनों के खतरे**- वातावरण व्यवसाय के मार्ग में बाधाएँ, सीमा-रेखाएँ, बाव व प्रतिबंध खड़े करता है, लेकिन व्यवसाय में इतनी अनुकूलशीलता होना जरूरी है कि वह इन विषम दशाओं के ोते हुये और इनकी सीमाओं में अपना कार्य निष्पादन सही ढंग से कर सके। इसके साथ ही आर्थिक एवं व्यावसायिक गत को पर्यावरण में हुये आकस्मिक परिवर्तनों के खतरों को सहना पड़ता है, चाहे वे उसकी क्षमताओं के बाहर हों न्यों न हों। नये खतरे अनेक रूपों में जैसे-विद्युत संकट, ब्याज की दरों में तीव्र वृद्धि या कमी, मन्दी, अनेक सुस्थापित ाजारों का ध्वस्त होना आदि-आदि, व्यवसाय के सामने आते रहते हैं।

(3) अनियन्त्रित घटकों का असीमित प्रभाव- बाहरी घटक न केवल अनियंत्रित होते हैं, बल्कि उनका प्रभ असीमित होता है। सरकारी नीतियाँ, नये वैधानिक प्रावधान, नये विधान, वैज्ञानिक शोध, प्रौद्योगिकी, सामाजिक दश राजनीति व सत्ता परिवर्तन, विदेशी समीकरण, विदेशी प्रभाव-दबाव आदि कुछ ऐसे घटक हैं जिन पर पर्यावरण द्व नियंत्रण कर पाना प्रायः सम्भव नहीं है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि व्यवसाय का बाह्य पर्यावरण व्यवसायी नियंत्रण से बाहर होता है। व्यवसायी के लिये बाह्य प्रभावों का उचित ढंग से मूल्यांकन कर पाना तथा समस्त बाह दबावों का नवीन समावेशों का पूर्ण रूप से पूर्व निर्धारण कर पाना तथा पर्यावरण की गहराइयों का ठीक से अध्य कर पाना अत्यंत कठिन होता है।

(4) समाज में परिवर्तन का माध्यम- व्यवसाय का बाह्य (external) पर्यावरण इस बात का सूचक नहीं है। उपक्रम पर्यावरण को प्रभावित करने की क्षमता नहीं रखता। प्रत्येक व्यवसाय, समाज एवं राष्ट्र के परिवेश को पर्या रूप से प्रभावित करने की दक्षता रखता है, अर्थात् व्यवसाय वातावरण की उपज के साथ-साथ इसका सृष्टिकर्ता भी है

(5) उत्पत्ति के साधनों की प्राप्ति- प्रत्येक व्यावसायिक इकाई को उत्पत्ति के साधन, यथा श्रम, पूँजी, यंत्र, उपकर कच्चा माल आदि सभी संसाधन व्यवसाय को वातावरण से ही प्राप्त होते हैं। इन संसाधनों का उपयोग कर प्रत्ये संस्था वस्तुओं या सेवाओं का उत्पादन करती है। **इन संसाधनों के अभाव में कोई भी व्यावसायिक संस्था अपने का को पूरा नहीं कर सकती है।** कभी-कभी इन साधनों को प्राप्त करने में उसे कठिनाई भी झेलनी पड़ती है तथा प्रतिस्प के कारण संसाधनों की भारी कीमत चुकानी पड़ती है। व्यवसायी केवल संसाधनों की प्राप्ति के लिए ही बाह्य वातावर पर निर्भर नहीं रहता है, बल्कि अपने उत्पादन को बेचने के लिए इसी पर निर्भर रहता है। कोई भी व्यवसायी उत्पाद को सफलतापूर्वक तभी बेच सकता है, जब वह अपने बाह्य वातावरण अर्थात् ग्राहकों एवं समाज की आवश्यकताओं एवं अपेक्षाओं को सन्तुष्ट करे।

(6) आन्तरिक एवं बाह्य पर्यावरण- प्रत्येक व्यावसायिक संस्था का पर्यावरण आन्तरिक एवं बाह्य दो प्रकार क होता है। व्यावसायिक संस्था अपने आन्तरिक वातावरण पर नियन्त्रण कर लेती है। अतः वह उसे बहुत अधिक प्रभावि नहीं करता है, किन्तु बाह्य वातावरण पर संस्था का कोई नियन्त्रण नहीं होता है। अतः उसे बाह्य वातावरण के अनुरू अपने निर्णय लेने होते हैं।

(7) **सूचनाओं का आदान-प्रदान-** प्रत्येक व्यावसायिक संस्था अपने बाह्य पर्यावरण से सूचनाओं का आदान-प्रदा भी करती है। सर्वप्रथम प्रत्येक संस्था अपने बाह्य वातावरण का अध्ययन करती है और आर्थिक, सामाजिक, राजनीति सांस्कृतिक तथा तकनीकी वातावरण के सम्बन्ध में सूचनाओं का संग्रह करती है। इन सूचनाओं के आधार पर इन घटक के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जाता है और इसके बाद ही व्यावसायिक इकाई अपना कार्य प्रारम्भ करती है। इस साथ ही प्रत्येक संस्था को अपने वातावरण से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखना पड़ता है। इसके लिए प्रत्येक संस्था द्विमार्गीय संचार (Two-way communication) व्यवस्था अपनानी होती है। इसके माध्यम से संस्था वातावरण हो रहे परिवर्तनों की जानकारी उपलब्ध कराती है। इन सम्पर्कों की प्रभावशीलता एवं सफलता पर ही संस्था का भविष निर्भर करता है।

(8) **पारस्परिक निर्भरता-** व्यवसाय का सम्पूर्ण पर्यावरण-आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, वैधानिक, तकनीकी नैतिक एवं सांस्कृतिक घटकों से मिलकर निर्मित होता है। परिवेश के ये घटक **एक-दूसरे पर निर्भर** करते हैं। किस राष्ट्र का आर्थिक स्तर तकनीकी विकास को प्रभावित करता है। एक धनी राष्ट्र प्रौद्योगिकीय विकास के लिये अनुसंधा पर पर्याप्त धन व्यय कर सकता है।

(9) **समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति-** पर्यावरण का दूसरा स्वरूप समाज होता है। अतः व्यावसायिक इका का यह धर्म होता है कि वह अपनी क्रियाओं के द्वारा समाज की आवश्यकता की सन्तुष्टि करे। यदि कोई व्यवसाय इस उद्देश्य को प्राप्त करने में सफल हो जाता है, तो उसे व्यवसाय से लाभ होने लगता है, किन्तु यदि असफल रहता है तो उसका व्यवसाय धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है। व्यवसाय का बाह्य पर्यावरण ही उसका बाजार होता है। प्रत्येक संस्थ अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं को अपने बाह्य वातावरण में उपलब्ध कराती है। यह वातावरण जब उन्हें स्वीकार करत है तो व्यावसायिक संस्था का बाजार विस्तृत हो जाता है तथा संस्था का विकास होता है।

(10) **व्यावसायिक पर्यावरण में परिवर्तनों की प्रक्रिया रेखीय नही बल्कि वृत्तीय होती है** (The Process o changes in Business Environment is not Linear but Circular)- दीर्घकाल में पर्यावरण व्यवसाय को प्रभावित करता है और व्यवसाय पर्यावरण को प्रभावित करता है, किन्तु यह बताना कठिन होता है कि किसी बिन्दु विशेष पर परिवर्तन के पारस्परिक प्रभाव की शुरुआत कहाँ से हुई है और उसका अन्त कहाँ हुआ है? यह प्रक्रिय अविराम चलती रहती है या उसी प्रकार होता है जैसे किसी वृत्त में न कोई प्रारम्भिक बिन्दु होता है और न ही कोई अन्तिम बिन्दु होता है, फलतः वृत्तीय चक्र में कारण एवं प्रभावों का क्रम सतत् जारी रहता है।

NOTES

पर्यावरण के तत्व
(Elemens of Environment)

प्रत्येक आर्थिक या व्यावसायिक संस्था के पर्यावरण (परिवेश) के संघटकों को सामान्यतः दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है, यथा- (i) आन्तरिक पर्यावरण (Internal Environment) या सूक्ष्म (Micro) पर्यावरण और (ii) बाह्य पर्यावरण (External Environment) या समष्टि (Macro) पर्यावरण। इनका विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है:-

(1) आन्तरिक या सूक्ष्म पर्यावरण
(Internal or Micro Environment)

यह माना जाता है कि व्यवसाय के आन्तरिक पर्यावरण पर नियंत्रण रखना आसान होता है एवं यह नियंत्रण-योग्य है, लेकिन इसमें भी निरन्तर जटिलताएँ एवं बाधाएँ उत्पन्न होती रहती हैं। इसलिये व्यवसाय के आन्तरिक पर्यावरण की पहचान करना तथा इसे पूर्णरूप से समझना व्यवसाय का प्रथम दायित्व हो जाता है। प्रो. फिलिप कोटलर (Philip Kotler) के अनुसार, "सूक्ष्म आन्तरिक पर्यावरण में वे घटक सम्मिलित है जो कम्पनी के आस-पास दिखाई देते हैं।" इस वातावरण में कम्पनी की भी शक्तियाँ सम्मिलित रहती हैं जो कम्पनी के कार्य निष्पादन को तत्काल प्रभावित करती हैं। संक्षेप में, सूक्ष्म या विशिष्ट पर्यावरण सम्बन्धी घटक अधिक घनिष्ठता से आर्थिक कार्यों से सम्बन्धित संस्था के साथ जुड़े रहते हैं।

आन्तरिक या विशिष्ट पर्यावरण के प्रमुख संघटक या निर्धारक (Main Components of Micro Environment or Determinant)

उद्योग में फर्म की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि वह अपने आन्तरिक या विशिष्ट पर्यावरण के संघटकों को कितनी कुशलता व सफलतापूर्वक उपयोग करती है। विशिष्ट पर्यावरण के प्रमुख संघटक या निर्धारक निम्नलिखित हैं :

(i) **आपूर्तिकर्ता** (Supplier): आपूर्तिकर्ता वे लोग होते हैं जो व्यवसाय के लिए कच्चे माल की आपूर्ति करते हैं। व्यवसाय के सतत् व सुव्यवस्थित संचालन के लिए विश्वसनीय **आपूर्ति साधन** का अपना अलग महत्व है। आपूर्ति में अनिश्चितता के कारण कम्पनी अपनी आवश्यकता से अधिक कच्चे माल का संग्रहण करती है जिस पर अधिक लागत व्यय होती है। एक ही आपूर्तिकर्ता पर निर्भर रहना जोखिमपूर्ण रहता है, क्योंकि तालाबन्दी या हडताल जैसी स्थिति में कच्चे माल की आपूर्ति बन्द हो सकती है। आपूर्तिकर्ता का महत्व उस स्थिति में अधिक होता है जब कच्चे माल की पूर्ति में अभाव की स्थिति होती है।

(ii) **ग्राहक** (Customers): आन्तरिक पर्यावरण में ग्राहकों का प्रत्यक्ष प्रभाव व्यवसाय पर पड़ता है। व्यवसाय की सफलता के लिए ग्राहकों की पसन्द का विशेष महत्व होता है। एक व्यावसायिक इकाई में कई प्रकार के ग्राहक होते हैं, जैसे- थोक-फुटकर ग्राहक, औद्योगिक ग्राहक, विदेशी ग्राहक, सरकारी निकाय के ग्राहक आदि। बिक्री की सफलता के लिए किसी एक वर्ग के ग्राहक पर निर्भर नहीं होना चाहिए। कारण यह है कि किसी एक वर्ग के ग्राहक पर निर्भर रहना जोखिमपूर्ण होता है।

(iii) **प्रतिद्वन्द्वी** (Competitors): व्यवसाय में प्रतिद्वन्द्विता का विशेष महत्व होता है। प्रतिद्वन्द्विता से निपटने के लिए व्यवसायी उत्पादित माल की गुणवत्ता को बनाए रखता है तथा विभिन्न प्रकार के विज्ञापनों से ग्राहकों को आकर्षित करने का प्रयास करता है।

(iv) **विपणन मध्यस्थ** (Marketing Intermediaries): अन्तिम उपभोक्ता तथा कम्पनी के मध्य महत्वपूर्ण सम्पर्क होते हैं। इस सम्पर्क का उचित चयन न होने पर कम्पनी को बहुत हानि होती है। अतः कम्पनी के नजदीकी पर्यावरण में **विपणन मध्यस्थों** का महत्वपूर्ण स्थान है। विपणन मध्यस्थों में वे फर्में होती हैं जो कम्पनी की वस्तुओं के वितरण, विक्रय तथा प्रवर्तन में सहायक होती हैं। विपणन मध्यस्थों के अन्तर्गत थोक व्यापारी, एजेन्ट, भण्डार गृह, ट्रांसपोर्ट फर्में, विपणन सर्विस एजेंसियों (Marketing Service Agencies) आदि सम्मिलित रहते हैं। संक्षेप में, विपणन मध्यस्थ के रूप में वे मध्यस्थ, एजेन्ट तथा व्यापारी सम्मिलित होते हैं जो "कम्पनी को ग्राहक ढूँढने में तथा उसके साथ विक्रय करने में मदद पहुँचाते हैं।" इसके साथ ही संग्रहण सेवाएँ एजेन्सियाँ जो "कम्पनी के लक्ष्य को प्राप्त कराने तथा वस्तुओं का प्रवर्तन कराने तथा उपयुक्त बाजार तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होते हैं।" विपणन मध्यस्थ कम्पनी तथा उपभोक्ता के बीच एक महत्वपूर्ण कड़ी है। इस कड़ी में किसी प्रकार की रुकावट तथा टूट से कम्पनी को हानि उठानी पड़ सकती है।

(v) **वित्तीय मध्यस्थ** (Financial Intermediaries): ये वे कम्पनी अथवा संस्थान हैं जो बाजार सम्बन्धी क्रियाओं के लिए वित्तीय सहायता उपलब्ध कराते हैं अथवा व्यवसाय के जोखिम का बीमा करते हैं। व्यवसाय के

NOTES

आन्तरिक पर्यावरण में बिक्री बढ़ाने एवं व्यावसायिक जोखिम को कम करने में वित्तीय मध्यस्थों का महत्वपूर्ण स्था है।

(vi) **जनता (Public):** कम्पनी के पर्यावरण में जनता भी सम्मिलित है। "जनता व्यक्तियों का वह समूह है ज किसी संस्था के हितों को प्राप्त करने की योग्यता पर वास्तविक अथवा सम्भावित प्रभाव रखता है।" जनता के प्रमु उदाहरण हैं- (i) पब्लिक मीडिया, (ii) स्थानीय जनता (Local Public) एवं (iii) अन्य जनता। मीडिया पब्लि किसी भी व्यवसाय को बहुत अधिक प्रभावित कर सकती है। इनके द्वारा व्यवसाय से सम्बन्धित उपयोगी व महत्वपू सूचना को प्रकाशित किया जा सकता है। कभी-कभी मीडिया कम्पनी की प्रतिष्ठा के विपरीत खबरें छापकर उसे नुकसा भी पहुँचा सकती है। बहुत-सी कम्पनियाँ स्थानीय जनता से प्रभावित होती हैं। पर्यावरण प्रदूषण के विरुद्ध आन्दोल स्थानीय जनता द्वारा चलाये जाते हैं जिसके फलस्वरूप कम्पनियों को अपने व्यवसाय की नीति, उत्पादन प्रक्रिया तथ अन्य कार्यों को परिवर्तित करना पड़ता है या रोक देना पड़ता है तथा प्रदूषण से रक्षा के लिए विभिन्न कदम उठाने पड़ हैं। समाचार-पत्रों के माध्यम से कम्पनी आवश्यक सूचनाओं को उपभोक्ताओं तक पहुँचाकर अपनी वस्तुओं के लि समर्थन (Support) प्राप्त करती है। यह वर्ग कम्पनी तथा समाज के बीच समन्वय स्थापित करता है।

2. बाह्य या समष्टि पर्यावरण
(External or Macro Environment)

व्यावसायिक संस्था के बाह्य वातावरण से तात्पर्य उसके सम्पर्क में आने वाले सम्पूर्ण बाह्य भौतिक एव व्यावसायिक संसार से है। इसमें वे सभी परिस्थितियाँ, समूह, घटक सम्मिलित हैं जो किसी संस्था के निर्णयों, कार्यकलापों तथा सफलता को प्रभावित करते हैं। किन्तु इन घटकों पर फर्म द्वारा नियंत्रण रखना अत्यधिक कठिन कार्य होता है। ये घटक व्यवसाय के लिए सुअवसर एवं चुनौतियाँ दोनों प्रस्तुत करते हैं। बाह्य पर्यावरण के अन्तर्गत अनेक घटक सम्मिलित रहते हैं, जैसे- भौतिक पर्यावरण, आर्थिक-पर्यावरण, सामाजिक पर्यावरण, जनांकिकी पर्यावरण, तकनीकी पर्यावरण राजनीतिक पर्यावरण, अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण आदि। इन घटकों का विस्तृत विवरण निम्नानुसार है :-

(i) **भौतिक पर्यावरण** (Physical Environment): व्यवसाय का भौतिक पर्यावरण न केवल व्यवसाय की संरचना को प्रभावित करता है वरन् इसके भावी विकास को भी निर्धारित करता है। व्यवसाय एवं प्रकृति का गहरा सम्बन्ध है। कारण यह है कि आर्थिक गतिविधियाँ मुख्यतः देश में उपलब्ध भौतिक संसाधनों पर निर्भर करती हैं भौतिक पर्यावरण में प्रमुखतः निम्नलिखित का समावेश किया जाता है-

1. **प्राकृतिक संसाधन-** भूमि, खनिज, तेल, कोयला, सौर-ऊर्जा, कच्चा माल एवं जल।
2. **जलवायु-** वर्षा, नमी, तापमान, बर्फीले और रेगिस्तानी प्रभाव।
3. **स्थानाकृति-** पहाड़, पठार, मैदान, समुद्र, नदियाँ, नहरें, बंदरगाह आदि।
4. **पर्यावरण-** प्राकृतिक पर्यावरण जो पंच महाभूतों (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश) से बना है, इसमें वनसम्पदा एवं वन संरक्षण भी महत्वपूर्ण है।

(ii) **आर्थिक पर्यावरण** (Economic Environment): प्रत्येक व्यावसायिक गतिविधि आर्थिक पर्यावरण में ही संचालित एवं सफल होती है। पूँजी, संयंत्र एवं मशीनें, भवन, स्टॉक, कार्यालय उपकरण, नकद संसाधन आदि, व्यवसाय को गहन रूप से प्रभावित करते हैं। अर्थव्यवस्था में कुशल श्रमिकों एवं तकनीशियनों की उपलब्धि एवं कीमत भी व्यवसाय के लिये विचारणीय होती है। उत्पादन, विनिमय, वितरण, पूँजी निर्माण, आर्थिक विकास आदि सभी क्रियाएँ मूलतः आर्थिक पर्यावरण पर निर्भर करती हैं। व्यवसाय के आर्थिक पर्यावरण को मुख्यतः तीन घटक, यथा विकास का स्तर, नीतियाँ एवं आर्थिक प्रणाली प्रभावित करती हैं। इन घटकों का विस्तृत विवरण निम्नानुसार है :-

(अ) **विकास का स्तर** (Stage of Development): आर्थिक विकास की अवस्था ही स्थानीय अथवा घरेलू बाजार का आकार निर्धारित करती है तथा व्यवसाय को प्रभावित करती है। विकास के स्तर के आधार पर सम्पूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था विकसित तथा विकासशील अर्थव्यवस्था में विभक्त की गयी है। अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, फ्रांस, इटली, जर्मनी, ब्रिटेन तथा जापान इत्यादि देशों की **अर्थव्यवस्था विकसित** मानी जाती है तथा एशियाई, अफ्रीकी एवं लेटिन अमेरिकी देशों की **अर्थव्यवस्था विकासशील** मानी जाती है अर्थात् यहाँ अभी विकास हो रहा है तथा सभी नागरिकों को जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति अभी नहीं हो पा रही है। सामान्यतः ऐसे देशों में जहाँ विनियोग एवं आय के स्तरों में निरन्तर वृद्धि होती है, वहाँ व्यवसाय और विनियोग की सम्भावनाएँ अधिक अवश्य होती हैं, परन्तु अर्थशास्त्रियों व व्यवसायियों के बीच अब यह धारणा मुदृढ़ होती जा रही है कि **विकसित देश** विनियोग के दृष्टिकोण से अधिक उपयुक्त नहीं है, क्योंकि वहाँ अर्थव्यवस्था विकास के अधिकतम बिन्दु (Saturation Point) तक पहुँच चुकी है। संक्षेप में, आर्थिक विकास की अवस्था व्यवसाय की प्रकृति, पैमाने आदि को प्रभावित करती है।

(ब) आर्थिक नीतियाँ (Economic Policies): किसी देश की आर्थिक नीतियाँ उस देश में पनपने वाले व्यवसाय, उद्योग एवं आर्थिक क्रियाओं को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती हैं। आर्थिक क्रियाओं में उतार-चढ़ाव, वृद्धि-संकुचन, स्थानीयकरण, निर्यात, संवर्धन, विस्तार, विकास, शोष, प्रतिस्पर्धा आदि उस देश की आर्थिक नीतियों से प्रभावित होती हैं। सरकार की विभिन्न आर्थिक नीतियाँ उन सैद्धान्तिक आधारों के अनुरूप निर्मित होती हैं जिनसे व्यावसायिक पर्यावरण का स्वरूप सुनिश्चित होता है। इसके अन्तर्गत सरकार द्वारा बनाई गयी औद्योगिक नीति, मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति, ऋण नीति, विदेशी व्यापार नीति, करारोपण नीति, विभिन्न उद्योगों और विशिष्ट क्षेत्रों के लिए बनाई गई नीतियाँ, प्राकृतिक सम्पदा के विदोहन की नीतियाँ, आय वितरण, रोजगार और वित्त नीति, मूल्य नियंत्रण नीति आदि आती हैं। ये सभी नीतियाँ किसी भी राष्ट्र में व्यवसाय की प्रगति को निर्धारित करती हैं। सरकार इन नीतियों को समय और परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित करती रहती हैं। इन सभी नीतियों के माध्यम से यह प्रयत्न किया जाता है कि व्यवसाय के उत्तरोत्तर प्रगति में ये नीतियाँ सहायक बनें।

(स) आर्थिक प्रणाली (Economic System): व्यवसाय की दृष्टि से किसी देश में पहुँच व प्रवेश के लिये तथा वहाँ के आर्थिक वातावरण को समझने के लिये उस देश में प्रचलित आर्थिक प्रणाली को जानना व समझना बहुत जरूरी है। किसी भी देश की आर्थिक प्रणाली उस देश की आर्थिक विचारधारा, आर्थिक संरचना तथा आर्थिक खुलेपन को प्रदर्शित करती है। आर्थिक प्रणालियाँ मुख्य रूप से तीन प्रकार की हैं- पूँजीवादी, समाजवादी और मिश्रित आर्थिक प्रणाली।

(1) पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली (Capitalistic Economic System): यह प्रणाली आर्थिक गतिविधियों को स्वतंत्र रखने और पूँजी की प्रधानता के विचार पर आधारित है। इस प्रणाली के अनुसार व्यवसाय के क्षेत्र में सरकार की भूमिका अप्रत्यक्ष और सीमित होती है। इस आर्थिक प्रणाली में आर्थिक स्वतंत्रता होती है, जिससे व्यवसाय में प्रतिस्पर्धा का विस्तार होता है। इस प्रणाली में निजी सम्पत्ति पर कोई प्रतिबंध नहीं होता, इस कारण **निजी लाभ व्यवसाय की सबसे बड़ी प्रेरणा** होता है। व्यवसायी अपनी प्रगति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। इससे तकनीकी विकास में मदद मिलती है। प्रत्येक व्यवसायी अपने व्यवसाय के चयन, विस्तार, परिवर्तन या अन्य किसी भी प्रकार के निर्णय के लिए पूर्णतः स्वतंत्र होता है। शासकीय बाधाएँ न्यूनतम होने से व्यवसायी भी उत्साह से कार्य करता है। पश्चिमी राष्ट्रों ने विगत शताब्दी में जो चमत्कारी प्रगति प्राप्त की वह इसी पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली का ही परिणाम है। यह आर्थिक प्रणाली व्यवसायी की प्रेरणा बनाये रखने में सफल रही है।

(2) **समाजवादी अर्थव्यवस्था** (Socialist Economy): समाजवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के साधनों पर समूचे समाज का स्वामित्व पाया जाता है और सामान्यतः आर्थिक निर्णय किसी एक केन्द्रीय सत्ता द्वारा लिए जाते हैं। समाजवादी विचारधारा के विकासक्रम के विकास का श्रेय समाजशास्त्री **कार्ल मार्क्स** को दिया जाता है जिन्होंने अपनी पुस्तकों 'कम्यूनिस्ट मेनफेस्टो' तथा 'दास केपिटल' में क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किए थे। मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित होकर सन् 1917 में रूस की क्रान्ति हुई तथा पहली समाजवादी अर्थव्यवस्था का जन्म हुआ। कालान्तर में यह विचारधारा चीन, क्यूबा, हंगरी, पोलैण्ड, उत्तरी कोरिया, वियतनाम, यूगोस्लाविया, चेकोस्लोवाकिया, बुल्गारिया तथा रोमानिया में लोकप्रिय हुई, किन्तु अब यह विचारधारा सभी जगह दम तोड़ रही है और अब इसमें बाजार शक्तियों को स्थान मिल गया है।

(3) **मिश्रित अर्थव्यवस्था** (Mixed Economy): मिश्रित अर्थव्यवस्था का तात्पर्य सार्वजनिक तथा निजी उपक्रमों का एक साथ होने से है। मिश्रित अर्थव्यवस्था के दोहरे **बाजार** (ड्यूअल मार्केट) की स्थिति पाई जाती है अर्थात् कुछ कीमतें माँग तथा आपूर्ति के आधार पर बाजारी ताकतें तय करती हैं तो कुछ वस्तुओं पर सरकार नियन्त्रण रखती है। इसमें दोनों प्रणालियों को आंशिक रूप में अपनाया। इसीलिए इसे मिश्रित आर्थिक प्रणाली कहते हैं। जिन क्षेत्रों का सम्बन्ध समाज के निम्न वर्ग से है या जो संरचनात्मक विकास से सम्बन्धित हैं उन्हें सार्वजनिक क्षेत्र में और शेष सामान्य व्यवसाय को निजी क्षेत्र में रखकर दोनों प्रणालियों का लाभ लेने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रणाली में **केन्द्रीकृत नियोजन** प्रणाली और **स्वतंत्र व्यवसाय** दोनों का लाभ मिलने की सम्भावना प्रबल रहती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी देश में विद्यमान आर्थिक प्रणाली भी व्यवसाय के स्वरूप व प्रगति को बहुत सीमा तक प्रभावित करती है।

(ii) **सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण** (Socio-cultural Environment): व्यवसाय के गैर-आर्थिक वातावरण पर सामाजिक व सांस्कृतिक कारकों का पर्याप्त रूप से प्रभाव पड़ता है। संस्कृति का अर्थ है एक समाज में कुछ व्यक्तियों द्वारा किया जाने वाला साम्य आचरण। सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण से हमारा अभिप्राय उन प्रेरक शक्तियों से है जो कि एक व्यावसायिक कम्पनी के लिए बाहर से कार्य करती हैं। यही कारण है कि व्यवसाय की रणनीति निर्माण करते समय सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण का विश्लेषण करना आवश्यक होता है। रीति-रिवाजों, परम्पराओं, मान्यताओं, रुचियों तथा प्राथमिकताओं जैसे सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों की उपेक्षा करने के भयंकर दुष्परिणाम

होते हैं और उसकी ऊँची लागत सहन करनी पड़ती है। लोगों की व्यय तथा उपभोग की आदतें, भाषा, विश्वास, शि तथा अन्य मान्यताएँ व्यवसाय पर व्यापक प्रभाव डालते हैं। अतः एक सफल व्यवसाय की रणनीति सामाजिक-सांस्कृति पर्यावरण से मेल खाती हुई होना चाहिए।

(iv) **जनांकिकीय पर्यावरण** (Demographic Environment): व्यवसाय के लिये जनसंख्या का असी महत्व है। व्यावसायिक क्रियाओं द्वारा जनित सेवाएँ तथा उत्पाद मनुष्यों के लिये ही लक्षित किये जाते हैं। इस विषय प्रधान युग में जनसंख्या के विभिन्न आयामों जैसे- (1) जनसंख्या का आकार (Size of Population), वृद्धि द (Growth Rate), आयु संरचना (Age-composition), लिंग संरचना (Sex-composition); (2) परिवार व आकार (Family size); (3) जनसंख्या का आर्थिक स्तरीकरण (Economic Stratification of Population) (4) शिक्षा का स्तर (Educational Level); और (5) जाति, धर्म इत्यादि (Caste, Religion etc.)। ये स जनसांख्यिक तत्व व्यापार से सम्बन्धित हैं तथा ये सेवाओं तथा वस्तुओं की आपूर्ति करते हैं। अधिक जनसंख्या श्र आपूर्ति में वृद्धि उत्पन्न करती है। पश्चिमी देशों ने जब औद्योगीकरण की नीति अपनाई तो उन्हें श्रम की समस्या व अनुभव हुआ, क्योंकि वहाँ जनसंख्या की दर काफी कम थी, परन्तु बहुत-से विकासशील देश जनसंख्या विस्फोट, सस्ते श्रम तथा विकासशील बाजार ने बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को विकासशील देशों में विनियोग के लिए प्रोत्साहित किया है विश्व जनसंख्या वृद्धि के विस्फोट ने जहाँ एक ओर प्रायः सभी देशों को परेशानी में डाला है, वहीं दूसरी ओर व्यवसा ने बढ़ती हुई जनसंख्या एवं आवश्यकताओं की पूर्ति की चुनौतियों को स्वीकार किया है। जनसंख्या विस्फोट की स्थि सभी सरकारों और जिम्मेदार संस्थाओं के लिये निरन्तर एक चिन्ता का विषय बना हुआ है। यदि जनसंख्या वृद्धि व रफ्तार ऐसे ही बढ़ती रही तो प्रदूषण को रोकना असम्भव हो जायेगा और खाद्य आपूर्ति, खनिज भण्डार, जल आपूर्ति शहरों में भीड़ का माहौल, परिवहन संकट तथा 'जीवन की गुणवत्ता' (Quality of Life) जैसी विकट समस्याओं व सुलझाना दुष्कर हो जायेगा।

(v) **प्रौद्योगिकी पर्यावरण** (Technological Environment): विज्ञान, ज्ञान उपलब्ध करता है, प्रौद्योगिक उसका उपयोग करती है। राष्ट्र का तकनीकी एवं प्रौद्योगिकी विकास उत्पादन की प्रणालियों, नई वस्तुओं, नये बाजा नये कच्चे माल के स्रोत, नये यंत्र व उपकरण, नयी सेवाओं आदि को प्रभावित करता है। तकनीकी उन्नति के कारण ह उद्योगों में क्रान्ति सम्भव हुई है। तकनीकी विकास के क्षेत्र में होने वाले दिन-प्रतिदिन के परिवर्तन महत्वपूर्ण हैं जो उद्यो व व्यवसाय के स्वरूप को प्रतिदिन बदल रहे हैं। उच्च स्तरीय तकनीक नये-नये संसाधनों एवं उत्पादनों की खोज में भी सहायक होती है। नये संसाधनों की जानकारी व प्रयोग से पुराने और नये दोनों प्रकार के पदार्थ का अधिक मात्र में उत्पादन किया जा सकता है और फिर नये पदार्थ पुरानी वस्तुओं का प्रतिस्थापन कर सकते हैं। इससे सन्तुष्टि क मात्रा बढ़ेगी और राष्ट्रीय उत्पादन की संरचना में भी विकास होगा। इसके साथ ही प्रौद्योगिक विकास, तकनीकी प्रगति वस्तुओं की क्वालिटी में सुधार, आदि से राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में माल के विक्रय हेतु प्रतियोगी शक्ति में वृद्धि होती है। इससे सन्तुष्टि की मात्रा बढ़ती है और राष्ट्रीय उत्पादन की संरचना में भी विकास होता है।

(vi) **राजनीतिक, शासकीय एवं प्रशासनिक पर्यावरण** (Political, Government and Administrative Environment): राजनीति, सरकार, प्रशासन तथा व्यवसाय के बीच होने वाली अन्तर्क्रियाएँ व्यवसाय की कार्यशीलत को प्रभावित करती हैं। व्यवसाय की अनेक संरचनाओं का जन्म राजनीतिक निर्णयों के कारण होता है। कई बार ऐसे राजनीतिक निर्णय होते हैं जो व्यवसाय की अभिवृद्धि में सहायक होते हैं, लेकिन कई बार विपरीत प्रभाव डालने वाले राजनीतिक निर्णय भी होते हैं जो व्यवसाय की पूरी दिशा बदल देते हैं। राजनीतिक निर्णय अनेक कारणों से प्रभावित व शासित होते हैं। इनमें विचारधाराएँ, चिन्तन, जन-कल्याण, जन सेवा, राजनीतिक दबाव, अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव व दबाव स्वार्थ भावना, समूह विशेष का दबाव-जो सामाजिक व असामाजिक तत्वों के हो सकते हैं, राष्ट्रीय सुरक्षा, एकता तथ राष्ट्रहित आदि महत्वपूर्ण हैं। कुछ ऐसे राजनीतिक निर्णय भी होते हैं, संक्षेप में, सरकार द्वारा जितनी ही अधिक शान्ति सुरक्षा व अन्य सुविधाएँ उपलब्ध करायी जायेंगी, उतनी ही अधिक व्यवसाय के विकास में गति आयेगी।

व्यवसाय की सफलता व विकास के लिए स्वच्छ व कुशल पर्यावरण अत्यन्त आवश्यक है। प्रशासनिक व्यवस्था के सुचारु व सुदृढ़ होने पर व्यावसायिक नीतियों का निर्धारण व उनका निष्पादन सरलता के साथ सम्भव हो जाता है। प्रशासनिक सेवाओं के अकुशल तथा भ्रष्ट होने से लाभ के बजाय हानि की अधिक सम्भावना रहती है, क्योंकि अधिकारी वर्ग के भ्रष्ट होने पर सरकारी नीतियों में बार-बार परिवर्तन होता रहता है जिससे आर्थिक विकास में बाधा उपस्थित होती है। श्रीमती बूटन के मतानुसार योग्य, दृढ़ एवं ईमानदार प्रशासन उद्योगों के विकास की पहली कसौटी है। इसी प्रकार के विचार प्रो. लुईस द्वारा भी व्यक्त किये गये हैं। उनका मत है कि "सरकार का व्यवहार आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। शासन में जितनी अधिक स्थिरता होगी विकास योजनाएँ उतनी ही अधिक सफलता के साथ कार्यान्वित की जा सकेंगी। आज तक विश्व का कोई भी राष्ट्र कुशल नेतृत्व व योग्य सरकार के प्रयत्नों के बिना आर्थिक प्रगति नहीं कर सका है।"

(vii) **वैधानिक पर्यावरण** (Legal Environment): किसी देश का वैधानिक पर्यावरण उसके आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को प्रभावित करता है। वैधानिक पर्यावरण से व्यवसाय को संरक्षण भी मिलता है तथा वह सही ढंग से कार्य करने के लिये भी बाध्य किया जा सकता है। वैधानिक ढाँचे के द्वारा जनहित की अभिवृद्धि के प्रयास किये जाते हैं। कानून के द्वारा सामाजिक कल्याण एवं जन आकांक्षाओं के लिये व्यावसायिक क्रियाओं पर अनेक प्रतिबंध लगाये जाते हैं। वैधानिक पर्यावरण का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसके द्वारा आर्थिक जगत में व्यवसाय के सभी पहलुओं पर नियंत्रण रखा जाता है। व्यवसाय से सम्बंधित क्रियाएँ जैसे-अनुज्ञापन, एकाधिकार व प्रतिबन्धित संव्यवहार, प्रतिभूति निर्गमन, स्कन्ध एवं उपज विपणि, संविदा, सम्पत्ति एवं सम्पदा, एजेन्सी, विनिमय साध्य प्रलेख, बैंकों की क्रियाएँ, कम्पनियों के निर्माण से लेकर समापन के बाद तक क्रियाएँ, प्रत्याभूति, निक्षेप, साझेदारी, बीमा, विदेशी विनिमय, उपभोक्ता हित, व्यावसायिक अपराध, प्रदूषण आदि-आदि वैधानिक वातावरण के अन्तर्गत मानी जाती हैं।

(viii) **नैतिक पर्यावरण** (Ethical Environment): जटिल व्यावसायिक परिवेश में नैतिक सिद्धान्त एवं संहिताएँ प्रबंधकों के व्यवहार का मार्गदर्शन करती हैं। विश्व के सफलतम राष्ट्रों- जापान, जर्मनी, अमेरिका ने व्यावसायिक नीतिशास्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्षेत्र में सफलताएँ प्राप्त की हैं। नैतिक मापदण्डों एवं आदर्शों को ध्यान में रखकर ही व्यवसाय के साधनों तथा साध्यों का निर्धारण होता है।

(ix) **अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण** (International Environment): संचार, परिवहन, तकनीकी, प्रौद्योगिकी, बहुराष्ट्रीय व्यवसाय का प्रवेश, देशों के पारस्परिक सम्बन्धों की सुदृढ़ता एवं अनेक क्षेत्रों में आये तीव्र परिवर्तनों से सभी तरह की दूरियाँ कम हुयी हैं। भूमण्डलीकरण ने सम्पूर्ण विश्व को एक बड़े बाजार में बदल दिया है। इन्हीं के परिणामस्वरूप एक देश का दूसरे अन्य देशों पर प्रभाव पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में भी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भौतिक, वैधानिक तथा पर्यावरण जैसे पहले समाहित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की संस्थाएँ एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम अपने प्रभावों का संचरण तेजी से करते हैं। व्यावसायिक एवं औद्योगिक स्तर के ऊँचा होने तथा व्यावसायिक दौड़ में अनेक विकसित देशों का आगे होना भी अन्य देशों के व्यवसाय को एक बड़ी सीमा तक प्रभावित करते हैं।

व्यावसायिक पर्यावरण के अध्ययन का महत्व
(Significance of Study of the Business Environment)

व्यावसायिक पर्यावरण एक ओर जहाँ देश के आर्थिक विकास, समृद्धि एवं रोजगार का मार्ग प्रशस्त करता है; वहीं दूसरी ओर उपयुक्त व्यावसायिक पर्यावरण के अभाव में गरीबी, भुखमरी, बेरोजगारी एवं अशान्ति की स्थितियाँ सम्पूर्ण अर्थतन्त्र को झकझोर देती हैं। **प्रो. फिलिप कोटलर** ने अपनी पुस्तक '**मार्केटिंग मैनेजमेंट**' में यह विचार व्यक्त किया है कि विपणन पर्यावरण अंकेक्षण (Marketing Environment Audit) विपणन का महत्वपूर्ण अंग है। अतः फर्म को व्यावसायिक नीति के निर्धारण का सबसे महत्वपूर्ण बुनियादी (मूल तत्व) यह है कि पर्यावरण में व्याप्त अवसरों, चुनौतियों, कमजोरियों तथा शक्तियों की पहचान कर ली जाये। ये वे तत्व हैं जो फर्म के जीवन तथा विकास के लिए कार्य दिशा निर्धारित करते हैं। विश्व बाजार में जापानी वस्तुओं की सफलता का मुख्य कारण यह रहा है कि उन्होंने पर्यावरण की सामयिक सूझबूझ तथा आन्तरिक शक्ति के आधार पर उपयुक्त वस्तु तथा बाजार का चुनाव किया। **कोटलर** के अनुसार, "जापानी सरकार तथा कम्पनियों ने विश्व के सबसे आकर्षक बाजार की पहचान के लिए बहुत बड़ी मेहनत की है। उन्होंने ऐसे उद्योगों को प्राथमिकता दी है जिनके पास उच्च कोटि का कौशल (Skill) है, जिनमें मजदूरों की संख्या अधिक है।" व्यावसायिक पर्यावरण के अध्ययन के बाद ही जापानी कम्पनियों ने इलेक्ट्रॉनिक्स कैमरा, घड़ियाँ, मोटर साइकिल तथा दवाइयाँ जैसी वस्तुओं का चुनाव किया है। व्यावसायिक पर्यावरण के अध्ययन की महत्ता को निम्नलिखित संदर्भों में समझा जा सकता है-

1. **व्यावसायिक दीर्घकालीन व्यूह रचना के लिए**- व्यवसाय की दीर्घकालीन नीतियाँ, विकास योजनाएँ एवं व्यूह रचनाएँ तैयार करने के लिये पर्यावरण के विभिन्न घटकों की समग्र जानकारी करना व्यवसाय के लिये अत्यन्त जरूरी है। यह व्यक्ति की भाँति एक व्यवसाय का भी समग्र वातावरण के प्रति उत्तरदायित्व होता है, विशेषकर वह पर्यावरण जिसमें वह कार्य करता है। पर्यावरण से परिचित होना आगे बढ़ने के लिये बहुत जरूरी समझा जाता है। इसके साथ ही व्यावसायिक पर्यावरण एवं उसमें होने वाले सतत् परिवर्तनों के अन्तर्गत अनेक अवसरों का अनुकूलतम लाभ उठाया जा सकता है। व्यवसाय के विकास, विस्तार, विविधीकरण एवं सफल प्रगति के मार्ग, व्यावसायिक पर्यावरण के साथ पूर्ण सामंजस्य बनाये रखने पर ही दिखायी देते हैं।

2. **बाजार की परिस्थितियाँ**- व्यवसाय के लिये बाजार की संरचना तथा इसमें होने वाले परिवर्तनों की जानकारी महत्वपूर्ण होती है। वस्तुओं की माँग का सृजन, एकाधिकारी प्रवृत्तियाँ, मंदी व तेजी का दौर, लाभ प्रवृत्तियाँ तथा राज्य द्वारा संचालित व्यावसायिक गतिविधियों की सही जानकारी रखना व्यवसाय के लिये अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। इससे पहले कि व्यवसाय की समस्याएँ एवं नयी-नयी चुनौतियाँ व्यवसाय के ऊपर हावी हो जायें, व्यवसाय के लिये जरूरी है कि इनकी पूरी जानकारी रखे तथा इनके समाधान व इनका मुकाबला करने की युक्तियों पर विचार करे।

3. व्यावसायिक जटिलताओं का अध्ययन- व्यावसायिक जटिलताओं से तात्पर्य उन सभी बाह्य घटकों एवं उनक विविधताओं से लगाया जाता है, जिनके प्रति किसी संस्था को प्रत्युत्तर (Respond) देना होता है। चूँकि आधुनि व्यवसाय के वातावरण को अनेक घटक प्रभावित करते हैं तथा उन घटकों का प्रभाव विविध रूपों में होता है। फल व्यावसायिक वातावरण में अत्यधिक जटिलताएँ उत्पन्न हो गईं। इन जटिलताओं का अध्ययन करने के लिए व्यावसायि वातावरण का अध्ययन करना अनिवार्य हो गया है।

4. वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी विकास की परिस्थितियाँ- देश-विदेश में नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों ए प्रौद्योगिकी विकास की गतिविधियों में वृद्धि व्यवसाय के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। नये उत्पादों, नये डिजाइ एवं उत्पादन की नवीन तकनीकों को अपनाने के लिये नये-नये प्रौद्योगिकीय विकास एवं वैज्ञानिक प्रगति की जानका रखना आवश्यक होता है।

5. संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग करने के लिये- संसाधनों को मूलतः दो भागों में विभाजित किया ज सकता है- प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधन। देश के प्राकृतिक संसाधन व्यवसाय की प्रकृति, उसका स्थानीयकरण, परिणा एवं प्रगति निर्धारण करते हैं। मानवीय संसाधनों द्वारा व्यवसाय में अपनाये जाने वाली तकनीक, ज्ञान, उत्पादन, तकनीकै औद्योगिक सद्भाव, प्रबंधकीय कुशलता एवं सक्षमताएँ बहुत बड़ी सीमा तक प्रभावित होती हैं।

6. व्यावसायिक लाभदेयता- आज के प्रतिस्पर्धी युग में लाभदेयता दाव पर लगी हुयी है। व्यवसाय में ला के अवसरों का अधिकाधिक उपयोग वातावरण के प्रति एवं विशेषकर प्रतिस्पर्धा के प्रति जागरूक रहकर ही किया ज सकता है। प्रतिस्पर्धियों के विरुद्ध सुदृढ़ उपायों तथा प्रतिक्रिया-योजनाओं को अपनाने के लिये पर्यावरण का पर्याप अध्ययन आवश्यक है। लाभदेयता के लिए यह बहुत जरूरी है कि व्यवसाय अपने आन्तरिक वातावरण से पूरी तर परिचित हो। व्यवसाय की नीतियों, लक्ष्यों, साधनों, संगठन-रचना क्रियाविधियों, योजनाओं, व्यूह रचनाओं तथा इनमें हं रहे परिवर्तनों की पूरी जानकारी व्यवसाय के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

7. अनिश्चितताओं का अध्ययन- व्यावसायिक जगत परिवर्तनशील है। अतः इसमें अनिश्चितताएँ या जोखिमें अन्तर्निहित हैं। इन अनिश्चितताओं को मापने एवं समझने के लिए व्यावसायिक वातावरण का अध्ययन आवश्यक है इसके अध्ययन द्वारा व्यावसायिक वातावरण से सम्बन्धित सूचनाएँ एकत्र की जाती हैं। सूचनाओं में जितनी अधिक सच्चाई एवं शुद्धता पायी जायेगी, व्यावसायिक वातावरण की अनिश्चितताओं एवं जोखिमों को उतना ही कम किय जा सकता है। अनिश्चितताओं को कम करने के लिए आन्तरिक पर्यावरण के साथ व्यवसाय के बाहरी पर्यावरण आर्थिक-सामाजिक-राजनीतिक दशाओं एवं नवीन घटनाओं के प्रति जागरूक रहना व्यवसाय के लिये जरूरी होता है

8. घटकों के पारस्परिक प्रभावों का अध्ययन- व्यावसायिक वातावरण के अनेक घटक आपस में एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। किसी एक घटक में परिवर्तन का दूसरे घटकों पर कैसा एवं कितना प्रभाव हो रहा है, इसका अध्ययन करने के लिए सम्पूर्ण व्यावसायिक वातावरण का अध्ययन आवश्यक है। उदाहरण के लिए उदारीकरण का आर्थिक सामाजिक एवं राजनैतिक घटकों पर कितना एवं कैसा प्रभाव हो रहा है, इसका अध्ययन करना आवश्यक है।

9. प्रभावकारी निर्णय लेने की क्षमता का विकास- प्रभावकारी एवं ठोस निर्णय वे होते हैं, जो वातावरण की आवश्यकताओं के अनुरूप हों, परन्तु ऐसे निर्णय वातावरण का अध्ययन किये बिना नहीं लिए जा सकते हैं। **रेनर्क तथा शॉल** के शब्दों में, **"वातावरण सम्बन्धी वास्तविकताओं का समुचित अध्ययन ही ठोस व्यावसायिक निर्णयों क आधार है।"** अतः व्यावसायिक वातावरण का अध्ययन ठोस निर्णय लेने की क्षमता के विश्वास के लिये भी आवश्यक है।

10. सरकार की आर्थिक नीतियाँ- सरकार की आर्थिक नीतियाँ व्यावसायिक पर्यावरण का एक महत्वपूर्ण अंग होती हैं तथा व्यवसाय में इनका महत्वपूर्ण स्थान होता है। सरकार द्वारा घोषित औद्योगिक नीति, अनुज्ञापन नीति आयात-निर्यात नीति, विदेशी विनिमय नीति, मूल्य नीति, राजकोष व करारोपण नीति आदि व्यवसाय पर स्पष्ट रूप से प्रभाव डालती हैं। इस संदर्भ में मुख्य बात यह है कि व्यवसाय को न केवल इन नीतियों की जानकारी होना ही आवश्यक है, बल्कि इनमें किये गये नीतिगत एवं प्रक्रिया सम्बन्धी परिवर्तनों तथा इनके तुरन्त व दीर्घकालीन प्रभावों का आकलन भी जरूरी है।

11. अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं, प्रभावों व दबावों को समझना- आज की अर्थव्यवस्थाओं पर अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम व इसके प्रभाव शीघ्र पड़ने लगते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तनों से कोई भी राष्ट्र व वहाँ का व्यवसाय प्रभावित हुये बिना नहीं रह सकता। अर्थव्यवस्थाओं में लिये जाने वाले अनेक महत्वपूर्ण निर्णय, अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों व संस्थागत एवं शासकीय दबावों से प्रभावित होते हैं और इन सबका असर व्यवसाय पर पड़े बिना नहीं रह सकता।

NOTES

12. शासन प्रणाली एवं उसकी प्रकृति- किसी भी देश की शासन व्यवस्था एवं उसकी प्रकृति उस देश के व्यवसाय, व्यावसायिक स्वतंत्रता, व्यवसाय के आकार व प्रकार, व्यावसायिक प्रगति एवं समृद्धि पर काफी प्रभाव डालती है। साम्यवादी, प्रजातांत्रिक व सैन्य शक्ति प्रशासित प्रणालियों के प्रभावों में व्यापक अन्तर होता है। व्यावसायिक सम्भावनाओं का आकलन भी विभिन्न शासन प्रणालियों में अलग-अलग तरह का होता है।

13. खतरों के प्रति सतर्कता- व्यवसाय एक खुले पर्यावरण में कार्य करता है। विकास की तेज दौड़ ने भौगोलिक सीमाओं को गौण कर दिया है। अर्थव्यवस्थाओं में भी खुलापन आ रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि खुले वातावरण व अर्थव्यवस्थाओं के खुलेपन से जहाँ एक ओर नये अवसर तैयार हुये हैं तो दूसरी ओर प्रतिपल नये खतरों, संकटों व समस्याओं के उत्पन्न हो जाने की आशंका बनी रहती है। आर्थिक नीतियों, माँग वृद्धि व कमी, उपभोग प्रवृत्ति, क्रय प्राथमिकताएँ, प्रतिस्पर्धा आदि में होने वाले परिवर्तन व्यवसाय के लिये अनेक चुनौतियाँ खड़ी कर देते हैं।

14. आर्थिक प्रणालियों के स्वरूप का अध्ययन- यह सर्वविदित है कि आर्थिक प्रणाली का स्वरूप व्यवसाय को कई प्रकार से प्रभावित करता है। पूँजीवादी प्रणाली, समाजवादी व साम्यवादी प्रणाली तथा मिश्रित आर्थिक व्यवस्था अलग-अलग ढंग से व्यवसाय पर प्रभाव डालती हैं। पिछले कुछ वर्षों में, अधिकांश अर्थव्यवस्थाओं में एक बहुत बड़ा परिवर्तन यह आया है कि वे यथार्थ में अपने मौलिक स्वरूप को बनाये नहीं रख पायी हैं। व्यवसाय के लिये इन आर्थिक प्रणालियों के बदलते तथा वास्तविक स्वरूप को पहचानना बहुत जरूरी हो जाता है।

15. **सामाजिक महत्व** (Social Significance): व्यावसायिक इकाइयाँ समाज से ही अपने कार्य करने का परिवेश व विभिन्न आगतें (Inputs), जैसे-श्रम, पूँजी, कौशल, प्रबन्ध, कच्चा माल प्राप्त करती हैं और निर्मित माल का विपणन एवं वितरण भी समाज में ही करती हैं। समाज में होने वाले विभिन्न व्यावसायिक परिवर्तनों ने व्यावसायिक इकाइयों को प्रतिस्पर्धी, कार्यक्षम एवं सक्षम बनाने पर विवश कर दिया है जिसके कारण ही पेशेवर प्रबन्धकों की भूमिका एवं स्थिति (Status) दोनों ही का महत्व बढ़ा है। फलतः समाज में भी प्रबन्धकीय कौशल प्राप्त करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है। उदाहरण के लिए, भारत में पेशेवर प्रबन्धकों की बढ़ती हुई माँग के कारण ही 814 निजी प्रबन्धकीय शैक्षणिक संस्थाएँ कार्यरत हैं। प्रबन्धकीय पारिश्रमिक में भी आकर्षक वृद्धि हुई है। पेशेवर प्रबन्धकों के कारण ही व्यवसाय में नवीन नव-प्रवर्तनों को लागू करने, नये विचारों एवं तकनीकी को अपनाने तथा तीव्र प्रतियोगिता से उत्पादों एवं सेवाओं की गुणवत्ता व लागतों में सुधार हुआ है। विगत वर्षों में समाज में उपभोक्ता सक्रियता (Consumer Activism) तथा उपभोक्तावाद (Consumerism) से वस्तुओं और सेवाओं की माँग बढ़ी है, वहीं विपणन कार्मिकों के समक्ष चुनौतियाँ एवं अवसर दोनों ही विस्तृत हुए हैं। इसी प्रकार उपभोक्ता संरक्षण कानून एवं फर्मों के उदय से व्यवसाय को अधिक उत्तरदायी बनने पर विवश किया गया है और व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति गम्भीर होने तथा सामाजिक अंकेक्षण की आवश्यकता इत्यादि नवीन प्रवृत्तियाँ उत्पन्न की हैं।

भारत में नई आर्थिक नीति का सूत्रपात एवं व्यावसायिक पर्यावरण
(Emergence of New Economic Policy and Business Environment)

स्वतंत्रता के बाद देश में पंचवर्षीय योजनाओं को क्रियान्वित किया गया और परिणामस्वरूप आर्थिक ढाँचे में सुदृढ़ता एवं विविधता आई है। इस अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार हुआ और कुछ क्षेत्रों में निजी क्षेत्र भी विकसित हुआ, किन्तु, बेरोजगारी, गरीबी जैसी समस्याएँ हल नहीं हुईं। वर्ष 1991 के आरम्भ में देश की स्थिति अत्यधिक निराशाजनक हो गई। फलतः अनेक आर्थिक सुधारों का क्रियान्वयन किया गया जिन्हें नई आर्थिक नीति के नाम से जाना जाता है। इन सुधारों के माध्यम से औद्योगिक एवं लाइसेंसिंग नीति में परिवर्तन किए गए और अर्थव्यवस्था को उदारीकृत करके विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़ने का प्रयास किया गया। सन 1991 के बाद व्यावसायिक पर्यावरण में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए हैं, उन्हें निम्न शीर्षकों में रखा जा सकता है :-

(अ) **औद्योगिक एवं लाइसेंसिंग नीतियों में परिवर्तन** :- इन नीतियों के कारण मुख्यतः निम्न परिवर्तन हुए हैं :-

(i) बहुत कम उद्योगों की ही अब लाइसेंस लेने की आवश्यकता है;

(ii) MRTP अधिनियम को समाप्त कर दिया गया है,

(iii) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया गया है;

(iv) सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका को सीमित कर दिया गया है और

(v) पूँजी बाजार में अधिक स्वतंत्रता प्रदान की गई है आदि।

(ब) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति में परिवर्तन** (International Trade Policy Changes):-

(i) अर्थव्यवस्था का विश्वव्यापीकरण,

(ii) आयात करों में निरन्तर कमी,

NOTES

(iii) सामान्य वर्गीकरण के अन्तर्गत आयात की अधिक मदों का समावेश, और

(iv) बिना वित्तीय प्रेरणा दिये निर्यात पर अधिक बल।

(स) **संरचनात्मक समायोजना** (Structural Adjustment):-

(i) आर्थिक सहायता (Subsidies) को धीरे-धीरे कम करना,

(ii) प्रशासनिक मूल तन्त्र को क्रमशः समाप्त करना,

(iii) सार्वजनिक क्षेत्र का विनियोग,

(iv) कम्पनियों का अधिग्रहण (Acquisition) एवं समायोजन (Merger) को सरल बनाना, और

(v) व्यवसायों के लिए निर्गम नीति।

अर्थव्यवस्था में उपर्युक्त सुधारों के कारण वर्तमान में व्यवसाय अधिक प्रतिस्पर्धात्मक हो गया है। यह प्रतिस्पर्धा न केवल बहुराष्ट्रीय निगमों के कारण बल्कि भारतीय उद्योगों, कम्पनियों के कारण भी बढ़ी है। फलतः भारतीय प्रबन्धकों को अब नई-नई चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। इस बदलते हुए व्यावसायिक पर्यावरण में भारतीय प्रबन्धकों के समक्ष निम्नलिखित चुनौतियाँ हैं :

1. **विश्व अर्थव्यवस्था** (World Economy)- आज हम अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था से विश्व अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ रहे हैं। आज सम्पूर्ण विश्व **'एक बाजार'** एवं विश्वव्यापी **विक्रय केन्द्र** (Global Shopping Central) बन गये। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से इसमें एक देश दूसरे देश के साथ व्यवहार करता है, लेकिन विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था में प्रत्येक राष्ट्र अपनी भौगोलिक सीमाओं एवं राजनीतिक विचारधाराओं को भुलाकर एक सूत्र में बँध जाता है। यहाँ यह विशेष महत्वपूर्ण है कि व्यापार को विश्वव्यापीकरण से लाभ तभी होगा जबकि हम जिस देश में व्यापार करना चाहते हों, वहाँ की प्रबन्धन संस्कृति व व्यवहारों (Management Culture and Practices) भली-भाँति परिचित हों। प्रबन्धक को दूसरे देशों (Host Countries) के रीति-रिवाजों, विश्वासों, मूल्यों (Values) व अन्य घटकों जिनका सम्बन्ध प्रबन्धन से हो, भली-भाँति परिचित होना पड़ेगा, तभी वे अपने को सफल प्रबन्धक सिद्ध कर पायेंगे।

2. **ज्ञान अर्थव्यवस्था** (The Knowledge Economy)- विगत वर्षों में ज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण क्रान्ति हुई है और हम **'वस्तु-अर्थव्यवस्था'** से निकलकर ज्ञान अर्थव्यवस्था की ओर अग्रसर हो रहे हैं। डेटा बैंक, इण्टरनेट व कम्प्यूटर सेवाएँ आदि **'ज्ञान क्षेत्र'** (Knowledge Sector) का महत्वपूर्ण अंग बन गयी हैं। **'ज्ञान उद्योगों'** (Knowledge Industries) का तीव्रता से विकास हो रहा है। उद्योगों में 'ज्ञान' केन्द्रीय पूँजी, लागत केन्द्र (Cost Centre) एवं उत्पादन का केन्द्रीय संसाधन बन चुका है। ज्ञान की भूमिका 'कार्यात्मक' एवं 'उत्पादक' (Productive) हो गयी है। इस प्रकार आज के 'ज्ञान-समाज' ने व्यवसाय के लिए नये दायित्व, नये कार्य, नयी चुनौतियों के साथ-साथ नये अवसरों को भी उत्पन्न कर दिया है।

3. **नवीन प्रौद्योगिकी** (New Technologies)- बदलती हुई वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था के सम्बन्ध में एल्विन टोफ्लर लिखते हैं कि **"वर्तमान में हम औद्योगिकवाद के चरम बिन्दु को देख रहे हैं और वास्तव में जो भी घट रहा है, वह औद्योगिक सभ्यता का विघटन है और अब पूर्ण रूप से नयी व प्रबल रूप से भिन्न एक नयी सामाजिक व्यवस्था का जन्म हो रहा है-एक 'महा-औद्योगिक सभ्यता'** (A Super Industrial Civilization) **जो पूर्ण रूप से प्रौद्योगिकीय होगी, औद्योगिक नहीं।"** नवीन प्रौद्योगिकी के कारण न केवल नये-नये उद्योगों का उदय हो रहा है वरन् वर्तमान के उद्योग भी पुराने पड़ते जा रहे हैं। भौतिक शास्त्र, आणविक विज्ञान, ऊर्जा शास्त्र, जीव रसायन, आणविक संरचना, मनोविज्ञान, प्रतीक तर्कशास्त्र की नवीन खोजों ने नये **'विकास उद्योगों'** (Growth Industries) को जन्म दिया है। इससे व्यावसायिक जीवन में गतिशीलता बढ़ गयी है और प्रबन्धकों के सामने प्रबन्धन के नये-नये आयाम खोल दिये हैं।

4. अन्य चुनौतियाँ (Others Challenges)- (i) स्वचलन (Automation), सूचना प्रौद्योगिकी आदि के कारण कार्य की प्रकृति में तेजी से परिवर्तन हो रहा है। मनुष्यों का व्यक्तियों द्वारा प्रतिस्थापन किया जा रहा है।

(ii) श्रमिकों की प्रकृति में भी अन्तर हो रहा है। अशिक्षित व अकुशल श्रमिकों का स्थान शिक्षित-प्रशिक्षित व कुशल श्रमिकों ने ले लिया है इन श्रमिकों की संगठन से प्रत्याशाएँ भी वेतन व कार्य की परिस्थितियों दोनों ही रूप में परिवर्तित हुई हैं। अतः प्रबन्धकों के समक्ष यह भी चुनौती है कि किस प्रकार श्रमिकों की नियुक्ति की जाये, ताकि उनकी निष्ठा (Loyalty) संगठन के प्रति बनी रहे।

(iii) पूरे विश्व में स्त्री श्रमिकों की भूमिका प्रबन्धकीय व गैर-प्रबन्धकीय दोनों ही रूप में बढ़ती जा रही है। ऐसे कर्मचारियों की अपनी अलग विशिष्ट समस्याएँ हैं, जैसे-यौन-उत्पीड़न, प्रसव-काल की छुट्टियाँ, समान रोजगार व उन्नति के अवसर आदि अतः संगठन में इस प्रकार से अनुकूल वातावरण का निर्माण किया जाना चाहिए जिससे स्त्री श्रमिक पूर्ण मनोवेग व सन्तुष्टि से कार्य कर सके।

निष्कर्ष : नई आर्थिक नीति के कारण भारतीय प्रबन्धकों के समक्ष जो चुनौतियाँ आयी हैं और जो भविष्य में आयेंगी, उनका सामना करने के लिए उन्हें अपनी प्रबन्धन की उन नीतियों व व्यवहारों (Practices) को बदलना होगा जो वे उदारीकरण के पूर्व युग में अपनाते रहे हैं। इस प्रतियोगी युग में व्यावसायिक इकाइयों को कुशलतापूर्वक अपनी क्षमताओं का उपयोग करना होगा और चुनौतियों के मध्य सफलता के रास्ते खोजने होंगे।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. व्यावसायिक पर्यावरण से आप क्या समझते हैं? व्यावसायिक पर्यावरण का अध्ययन क्यों आवश्यक है?
2. व्यावसायिक पर्यावरण से आप क्या समझते हैं? व्यावसायिक पर्यावरण की प्रकृति को स्पष्ट रूप से समझाइये।
3. व्यावसायिक पर्यावरण से क्या तात्पर्य है? व्यावसायिक पर्यावरण के प्रमुख संघटकों को लिखिए।
4. आन्तरिक पर्यावरण और बाह्य पर्यावरण के प्रमुख निर्धारकों का विश्लेषण कीजिए। व्यावसायिक पर्यावरण का महत्व भारत के सन्दर्भ में लिखिए।
5. व्यावसायिक पर्यावरण के विभिन्न संघटकों को भारत के विशेष सन्दर्भ में स्पष्ट कीजिए।
6. व्यावसायिक पर्यावरण का क्या अर्थ है? व्यावसायिक पर्यावरण का अध्ययन करना क्यों आवश्यक है?
7. व्यावसायिक वातावरण से क्या तात्पर्य है? इसके आर्थिक एवं गैर-आर्थिक घटकों की विवेचना कीजिए।
8. **निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :-**
   - (i) व्यावसायिक वातावरण के महत्व को समझाइये।
   - (ii) व्यवसाय का आन्तरिक पर्यावरण।
   - (iii) व्यवसाय का बाह्य पर्यावरण।
   - (iv) व्यावसायिक पर्यावरण का अर्थ एवं विशेषताएँ लिखिए।
   - (v) व्यवसाय का आर्थिक पर्यावरण किस प्रकार से व्यवसाय को प्रभावित करता है?
   - (vi) व्यवसाय के गैर-आर्थिक पर्यावरण क्या हैं ?
   - (vii) भारत में व्यावसायिक पर्यावरण का महत्व लिखिए।
   - (viii) व्यावसायिक पर्यावरण का शासकीय परिप्रेक्ष्य में महत्व लिखिए।
   - (ix) व्यावसायिक पर्यावरण का सामाजिक महत्व क्या है?

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

2

निजीकरण, उदारीकरण एवं विश्वीकरण
(PRIVATISATION, LIBERALISATION AND GLOBALISATION)

भारत की नई आर्थिक नीति
(New Economic Policy of India)

नवीन आर्थिक नीति जिसे आर्थिक दर्शन भी कहा जाता है, का प्रारम्भ यद्यपि सन् 1991 से माना जाता है तथापि इसका उद्भव सन् 1984 में स्वर्गीय राजीव गाँधी के सत्ता में आने के बाद से ही हुआ। राजीव गाँधी ने औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति में परिवर्तन करके उदारीकरण की नीति को अपनाने की पहल की। फलतः देश के औद्योगिक परिवेश में बड़े औद्योगिक घरानों एवं विदेशी निवेशकर्ताओं के लिये उन क्षेत्रों को खोला गया जो अभी तक केवल सार्वजनिक क्षेत्र के लिये आरक्षित थे। इसी प्रकार सन् 1985 से 1990 की अवधि में एम.आर.पी.टी. (MRPT) एवं फेरा (FERA) अधिनियमों में परिवर्तन करके निजीकरण की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाये गये, किन्तु इस नई आर्थिक नीति का श्रेय तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री नरसिंहराव एवं वित्त मंत्री डॉ. मनमोहन सिंह को है, जिन्होंने 24 जुलाई 1991 को नई औद्योगिक नीति की घोषणा करके इस दर्शन का सूत्रपात किया।

इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि स्वतंत्रता के बाद सन् 1951 से देश में नियोजित आर्थिक पद्धति को अपनाया गया। तद्नुसार सन् 1951 से 1991 की अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किया गया और निजी एवं विदेशी निवेश को नियंत्रण में रखा गया, किन्तु नियोजित विकास के 40 वर्षों (1951 से 1991) में विकास की गति अत्यधिक धीमी (3.7 प्रतिशत) रहने के कारण अनेक जटिल समस्याओं, जैसे गरीबी, बेरोजगारी, तकनीकी पिछड़ापन, क्षेत्रीय विषमताएँ, विदेशी विनिमय आदि ने विकराल रूप धारण कर लिया। विदेशी मुद्रा की स्थिति वर्ष 1990-91 में इतनी अधिक भयावह बन गई कि विदेशी भुगतानों के लिये सरकार को देश का स्वर्ण भण्डार गिरवी रखना पड़ा।

इसी मध्य विश्व में राजनीतिक परिदृश्य में भी अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुये। समाजवादी सोवियत संघ का विघटन हुआ और यह टूटकर अनेक टुकड़ों में विभक्त हो गया। चीन जैसे साम्यवादी देश ने तीव्र विकास की लालसा से विदेशी निवेश के लिये अपने द्वार खोले और अर्थव्यवस्था का लगभग 70 प्रतिशत भाग निजी क्षेत्र को सौंप दिया। इसके साथ ही साम्यवादी पूर्वी जर्मनी का पूँजीवादी पश्चिमी जर्मनी से विलय हुआ। अनेक समाजवादी देशों ने भी इसी अवधि में आर्थिक विकास की गति में तेजी लाने के लिये उदारीकरण की नीति को अपनाया। अनेक विकासशील देशों, जैसे दक्षिणी कोरिया, हांगकांग, मलेशिया, मैक्सिको आदि देशों में भी बाजार पूलक अर्थव्यवस्था को अपनाकर तीव्र आर्थिक विकास की दिशा में नये कीर्तिमान स्थापित किये। इन्हीं घटकों से प्रभावित होकर भारत ने भी नवीन आर्थिक नीति, जो कि बाजार सम्वर्धक है, को अपनाया गया।

नई आर्थिक नीति के उद्देश्य – इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि भारत में नई आर्थिक नीति का मुख्य उद्देश्य विश्व में हुई प्रगति एवं तकनीकी ज्ञान का लाभ उठाकर देश में आर्थिक विकास की गति को तेज करना है। संक्षेप में, नई आर्थिक नीति के प्रमुख उद्देश्य हैं -

(i) पूर्व में प्राप्त लाभों का समायोजन करना, (ii) विकास की दर में वृद्धि लाना, (iii) कार्यकुशलता एवं उत्पादकता में वृद्धि करना, (iv) अर्थव्यवस्था की प्रतिस्पर्धात्मक क्षमता को बढ़ाना, (v) विश्वव्यापी अनुभव का लाभ उठाकर अर्थव्यवस्था को गतिशील बनाना आदि।

नई आर्थिक नीति के क्षेत्र - नई आर्थिक नीति का अर्थ केवल विदेशी व्यापार या विदेशी पूँजी निवेश तक ही सीमित नहीं है। आशय यह है कि सभी क्षेत्रों या अर्थव्यवस्था के सभी अंगों में नियंत्रणों के स्थान पर उदारीकरण को अपनाया जाये। संक्षेप में नई आर्थिक नीति के प्रमुख अंग हैं- (i) नई औद्योगिक नीति, (ii) नई राजकोषीय नीति, (iii) नई मौद्रिक नीति, (iv) विदेशी निवेश नीति, (v) विनिमय नियंत्रण नीति, (vi) नई व्यापार नीति आदि। वास्तविकता यह है कि किसी भी क्षेत्र में उदारीकरण, निजीकरण एवं विश्वव्यापीकरण की भावना का विस्तार करना।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि—नवीन औद्योगिक नीति के द्वारा देश में विद्यमान प्रशासनिक नियंत्रणों को समाप्त करके उदारीकरण का मार्ग प्रशस्त किया गया। इसके साथ ही निजी निवेश को प्रोत्साहित एवं विदेशी पूँजी को आकर्षित करने से संबंधित उपायों को अपनाकर भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़ने का प्रयास

वीन स्फूर्ति प्रदान करके गतिवान बनाना था जिससे कि देश विद्यमान आर्थिक संकट से मुक्त होने के साथ-साथ रीबी, पिछड़ेपन एवं बेकारी जैसी भयावह समस्याओं को हल करने में समर्थ हो सके।

NOTES

निजीकरण
(Privatisation)

1980 के दशक से पूरे विश्व में बड़ी मात्रा में निजीकरण की प्रक्रिया चल रही है। ब्रिटेन में मार्गरेट थैचर के निजीकरण के प्रयासों के बाद पूरे यूरोप, लैटिन अमेरिका, अफ्रीका तथा एशिया में यह प्रक्रिया तेज हो गयी।

सोवियत संघ के पतन से निजीकरण को और तेजी से प्रोत्साहित किया। पूर्व में सभी समाजवादी देशों तथा बंगलादेश ने भी अपने यहाँ निजीकरण को अपनाकर अपनी अर्थव्यवस्था में प्रशंसनीय सुधार किया है। इन पड़ोसी देशों के विकास से प्रेरित होकर सार्वजनिक क्षेत्र से हतोत्साहित होकर भारत में भी इस प्रक्रिया की शुरुआत हो गयी है। निजीकरण जहाँ प्रतियोगिता में वृद्धि द्वारा बाजार के संवर्धन में सहायक होता है वहाँ इससे अनेक समस्याएँ भी सम्भावित हैं। यहाँ पर इसी संदर्भ में हम निजीकरण का अध्ययन करेंगे।

निजीकरण का आशय
(Concept of Privatisation)

निजीकरण से आशय अर्थव्यवस्था के किसी क्षेत्र में सरकारी सम्बद्धता को किसी भी रूप में वापस लेने से होता है। जब सरकार सार्वजनिक परिसम्पत्ति का विक्रय करती है तो उसे भी निजीकरण कहा जाता है। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का अविनियोग, रुग्ण सार्वजनिक इकाइयों का बंद कर देना या उनका विक्रय कर देना आदि निजीकरण के अंतर्गत ही आते हैं।

भारत में निजीकरण

भारत में आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया के तहत 1991 में निजीकरण की दिशा में कदम उठाये गये जबकि सरकार सार्वजनिक उपक्रमों में 20 प्रतिशत अविनियोग करने का निर्णय लिया। उदारीकरण तथा निजीकरण के द्वारा भारत से कहीं छोटे देश जैसे थाईलैण्ड, इण्डोनेशिया, टर्की, ट्यूनीशिया, ब्राजील, कोरिया तथा मलेशिया आर्थिक विकास में इससे जब आगे निकल गये तो हमें इस दिशा में सोचने को मजबूर होना पड़ा। आज भी हम निजीकरण को निर्भीकता से स्वीकारने में सकुचा रहे हैं।

भारत में निजीकरण को अपनाने के पीछे सबसे प्रमुख कारण सार्वजनिक उपक्रमों की अकुशलता कहा जा सकता है। हमारे यहाँ संगठित औद्योगिक क्षेत्र का लगभग एक-तिहाई भाग सार्वजनिक क्षेत्र का है। 240 केन्द्रीय सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में 2,52,554 करोड़ रुपये की पूँजी लगी हुई है। लगी पूँजी पर केवल 16.2 प्रतिशत का कुल लाभ प्राप्त हो रहा है। इन उपक्रमों में जो लाभ प्राप्त कर रहे हैं इनमें से अधिकांश एकाधिकारी कम्पनियाँ हैं। यदि इसमें विभागीय उपक्रम, जैसे रेलवे, डाक व तार, बन्दरगाहों आदि तथा राज्य सरकारों के उपक्रमों को भी शामिल कर लिया जाये तो यह विनियोग कई गुना हो जायेगा।

सार्वजनिक क्षेत्र की अकुशलता के अतिरिक्त विश्व के घटनाक्रमों के तहत भी सरकार ने निजीकरण पर बल देना प्रारम्भ किया है। उदारीकरण की नीति भी निजीकरण का एक प्रमुख कारण रही है। सार्वजनिक क्षेत्र के लिये सरकार ने आरक्षित उद्योगों की संख्या को कम करके केवल 6 कर दिया है। अब केवल सामरिक महत्व के उद्योग जैसे परमाणु ऊर्जा, भारत सरकार के परमाणु ऊर्जा विभाग की अधिसूचना संख्या एस.ओ. 212 (ई) दिनांक 15 मार्च, 1995 के परिशिष्ट में दर्शाई गई वस्तुएं तथा रेल परिवहन ही सार्वजनिक क्षेत्र में रह गये हैं। खुदरा नीति में भी निजी विनियोग को स्वीकृति प्रदान कर दी गयी है।

भारत में निजीकरण को प्रेरित करने वाले घटक
(Factors Encouraging Privatisation in India)

भारत में निजीकरण को प्रेरित करने वाले घटक प्रमुख रूप से निम्नलिखित है

(1) **भारत में विदेशी कम्पनियों एवं विनियोजकों की उत्सुकता**—विकसित पूँजीवादी देशों में कम्पनियाँ एवं विनियोजक आर्थिक मंदी के परिणामस्वरूप अति-उत्पादन तथा बेरोजगारी की समस्या का सामना कर रहे हैं अतः इन समस्याओं से निपटने के लिये इनका ध्यान तृतीय विश्व के देशों की ओर गया जहाँ इन्हें विस्तृत बाजार उपलब्ध है तथा कम प्रतियोगिता का सामना करना पड़ेगा। इस दृष्टि से इन्हें भारत सर्वथा उचित नजर आ रहा है। भारत भी विश्व परिवर्तनीय इन आर्थिक घटनाओं से अछूता नहीं रहा है और सरकार ने अन्य विकासशील देशों के विकास से प्रेरित

होकर आर्थिक सुधारों एवं उदारीकरण की नीति लागू करके देश में प्रत्यक्ष पूँजी निवेश तथा उद्यम स्थापित करने द्वार खोल दिये। इससे भारत में निजीकरण को प्रोत्साहन मिला।

(2) **आर्थिक सुधार व उदारीकरण**—सरकार ने जुलाई 1991 में अनेक घोषणाएँ आर्थिक सुधार व उदारीकर हेतु कीं। इनमें सार्वजनिक क्षेत्र के लिये आरक्षित उद्योगों में कमी, लाइसेंस समाप्ति एवं सरलीकरण, बड़े औद्योगि घरानों को विस्तार की छूट, विदेशी विनियोजकों को उपक्रम में 51 प्रतिशत तक समता पूँजी रखने की छूट, रुपये व अवमूल्यन, रुपये की पूर्ण परिवर्तनीयता, फेरा एवं अन्य एम.आर.टी.पी. अधिनियमों में ढील, सीमा व उत्पाद शुल्कों कमी, आदि प्रमुख रूप से शामिल हैं। इन सुधारों व उदारीकरण नीतियों के परिणामस्वरूप एक ऐसा वातावरण तैय हुआ है जिसमें निजी उद्यमी अधिक स्वतंत्रता के साथ कार्य कर सकते हैं।

(3) **लाइसेंस की अनिवार्यता वाले उद्योगों की संख्या में कमी**–सरकार द्वारा देश में निजीकरण को बढ़ावा दे के लिए उद्योगों के लिए लाइसेंस लेने की अनिवार्यता को धीरे-धीरे कम किया जा रहा है। 1991 की औद्योगिक नीं में 18 उद्योग वर्ग ऐसे थे, जिनको प्रारम्भ करने के लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य था, किन्तु आज उनकी संख्या को घटाकर 5 कर दिया है। वर्तमान में केवल आणुविक ऊर्जा तथा सामारिक सुरक्षा से सम्बन्धित उद्योगों की स्थापना लिए ही लाइसेंस अनिवार्य है।

(4) **भारतीय उद्यमों की प्रतियोगिता शक्ति में वृद्धि की इच्छा**—भारतीय उद्योगों को गत चालीस वर्षों सरकार ने संरक्षण प्रदान कर रखा था। इससे इन उद्यमों ने न तो लागत कम करने का प्रयास किया और न ही अप वस्तु की किस्म में सुधार किया। उदाहरणार्थ, 1956 में स्टील उद्योग की तकनीक हमारे यहाँ विश्व की तुलना आधुनिकतम थी, परन्तु आज हम स्टील बनाने की तकनीक में 20 वर्ष पीछे हैं। अतः हमारी स्टील की लागत विश के अन्य देशों की लागत से दोगुनी है। हम अपने यहाँ छः मिलों में जितना उत्पादन करते हैं उतना उत्पादन कोरि की केवल एक मिल करती है। स्पष्ट है कि यदि हमें अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अपनी वस्तु बेचनी है तो भारतीय उद्यम को गुणवत्ता व कीमत की दृष्टि से प्रतियोगी बनाना होगा। इसके लिये आवश्यक है कि भारत की औद्योगिक अर्थव्यवस्थ का स्वरूप प्रतियोगी हो और यह निजीकरण के द्वारा भी सम्भव है।

(5) **सार्वजनिक उपक्रमों की अंश पूँजी का विनिवेश**–भारत सरकार ने निजीकरण की दिशा में एक महत्वपू कदम यह उठाया है कि कुछ सार्वजनिक उपक्रमों की अंश पूँजी को जनता में विनिवेश (Disinvestment or Divest किया है। सर्वप्रथम सरकार ने वर्ष 1991-92 में 30 सार्वजनिक उपक्रमों के अंशों का विनिवेश किया, जिससे 8,72 करोड़ रुपये प्राप्त हुए। इसके बाद से विनिवेश की प्रक्रिया जारी है। सन् 2000-01 में 10,000 करोड़ रुपये व 2001-0 में 12,000 करोड़ रुपये लोक उपक्रमों के विनिवेश से प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया। दसवीं योजना में विनिवेश से 80,000 करोड़ रु. प्राप्त करने का लक्ष्य है।

(6) **उत्पादन वृद्धि का व्यापक आधार**—भारत में औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि हेतु सभी आवश्यक घटक उपलब्ध हैं। यहाँ तकनीक एवं प्रबंधकीय कुशलता उपलब्ध है, अपेक्षाकृत सस्ता श्रम है, प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्र में है, आधारिक संरचनाएँ विकसित हो चुकी हैं और सबसे अधिक महत्वपूर्ण तैयार माल की खपत के लिये बड़ा घरेलू बाजार उपलब्ध है। अतः निजी क्षेत्र को बढ़ावा देने पर उत्पादक कम कीमत पर उच्च किस्म की वस्तु का उत्पादन करने में सक्षम हो जायेंगे। ऐसा होने पर वे न केवल घरेलू बाजार में प्रभुत्व स्थापित रख सकेंगे वरन् विदेशी बाजार में भी अपनी वस्तुओं को बेच सकेंगे।

(7) **सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योग वर्गों की संख्या में कमी**–भारतवर्ष की औद्योगिक नीति में सदैव से ही कुछ उद्योगों के सरकारी क्षेत्र के लिए ही आरक्षित किया जाता है। 1956 की नीति में 17 उद्योगों को सरकारी क्षेत्र के लिए आरक्षित किया गया। बाद में इनकी संख्या में कटौती की गई। 1991 की नीति में इनकी संख्या को घटाकर 8 कर दिया, किन्तु 1993 में पुनः इनकी संख्या को घटाकर 6 ही कर दिया गया। अब यह संख्या 4 रह गई है। इस प्रकार सरकार ने सार्वजनिक क्षेत्र के लिए उद्योगों का आरक्षण कुछ ही उद्योगों तक सीमित कर निजीकरण को बढ़ावा दिया है।

(8) **निजी क्षेत्र में बैंकों की स्थापना की अनुमति**–सरकार ने निजीकरण को बढ़ावा देने के लिए अब निजी साहसियों को बैंकों की स्थापना की छूट दे दी है। इसके साथ ही सरकार ने राष्ट्रीयकृत बैंकों की अंश पूँजी में से 70 प्रतिशत पूँजी निजी क्षेत्र के विनियोजकों अर्थात् जनता को जारी करने की व्यवस्था कर दी है।

(9) **सरकार पर बढ़ता ऋण भार**—सरकार ने 1956 की औद्योगिक नीति के अंतर्गत सार्वजनिक क्षेत्र को प्राथमिकता के आधार पर विकसित करने का निर्णय लिया था। सातवीं योजना तक हम इसी पर अमल करते रहे। इस समयावधि में इस रणनीति को कार्यरूप देने के लिये सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं व विदेशी सरकारों से बड़ी मात्रा में ऋण प्राप्त किये। इन राशियों से यह परियोजनाएँ तो पूरी हो गयीं परन्तु वह ऋणों की वापसी करने में

सहायता प्रदान करती रही। अत्यधिक ऋण व ब्याज हो जाने के कारण सरकार 'ऋण जाल' में प्रवेश कर गयी। इस समस्या का निदान निजीकरण में ही है, इससे इन उद्यमों का कुशलतापूर्वक संचालन हो सकेगा तथा सरकार को ऋण नहीं लेने पड़ेंगे, उसकी देयताएँ कम हो जायेंगी।

NOTES

निजीकरण की कठिनाइयाँ या आलोचनाएँ
(Difficulties or Criticism of Privatisation)

भारत में निजीकरण की जो प्रक्रिया चल रही है व उद्यमों को अधिक प्रतियोगी बनाने की बात कही जा रही है, उसमें अनेक कठिनाइयाँ हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(1) **बेरोजगारी का भय**—निजीकरण की नीति से सबसे बड़ा भय कर्मचारियों में बेरोजगारी फैल जाने का है। निजी कम्पनियाँ उच्च तकनीक को अपनाते हुये उत्पादन करेंगी जिससे रोजगार के अवसर उपलब्ध नहीं होंगे। इसका उदाहरण पेप्सी फूड प्रोडक्ट्स है जिसने बड़ी मात्रा में रोजगार देने का वायदा किया था, परन्तु वास्तव में बहुत ही कम लोगों को रोजगार उपलब्ध कराया। निजीकरण से अनेक कर्मचारियों को काम से हटाया जायेगा, अतः वह इससे भयभीत हैं तथा इसका विरोध कर रहे हैं।

(2) **प्रतियोगिता हेतु अवरुद्ध मार्ग**—सरकार ने निजीकरण की प्रक्रिया में विदेशी विनियोजकों, उत्पादकों व बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को प्रतियोगिता हेतु अर्थात् भारत में उत्पादन हेतु आमंत्रित तो कर लिया, परन्तु घरेलू उत्पादकों व कम्पनियों को जो सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिये थीं वह प्रदान नहीं कीं। इन घरेलू उत्पादकों को अन्य देशों की भाँति करों में दीर्घकालीन छूट प्रदान करनी चाहिये, उत्पादन में प्रयुक्त आगत (Inputs) सस्ती कीमत पर अर्थात् जिस कीमत पर यह अन्य प्रतियोगी देशों में उपलब्ध है प्रदान करने चाहिये तभी घरेलू कम्पनियों से यह आशा की जानी चाहिये कि वह प्रतियोगिता ठीक प्रकार से कर सकेंगी।

(3) **उच्च तकनीक वाली वस्तुओं के उत्पादन को प्राथमिकता**—निजीकरण की एक समस्या है कि इन कम्पनियों की इच्छा केवल उपभोक्ता वस्तुओं जिनमें से अधिकांश विलासिता की वस्तुएँ हैं, का ही उत्पादन करना चाहती हैं। इसका कारण यह है कि इन वस्तुओं के उत्पादन हेतु भारत में जहाँ कच्चा माल उपलब्ध है वहाँ इनमें भारी लाभ की सम्भावना मौजूद है। अतः हमें केवल उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन की छूट प्रदान करनी चाहिये जिनमें अत्यधिक आधुनिक तकनीक की आवश्यकता है और जिससे हमारी आधारिक संरचना का आधार मजबूत होता हो।

(4) **अनावश्यक दबाव**—निजीकरण की नीति हमारे स्वतः के प्रयत्नों का परिणाम होनी चाहिये थी, परन्तु अमेरिकी दबाव व आर्थिक साम्राज्यवाद की नीति का परिणाम हमारे यहाँ निजीकरण व उदारीकरण रहा है। अमेरिका चाहता है कि भारत 'बौद्धिक सम्पदा अधिकार' को स्वीकार करे। इससे हमारे यहाँ औषधियों की कीमतों में बेतहाशा वृद्धि होगी और हमारी अर्थव्यवस्था बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हाथों में चली जायेगी।

इसी के साथ वह भारत पर 'उत्पादन पेटेंट' कानून को लागू करने के लिये भी दबाव डाल रहा है। इसे स्वीकार करने के परिणामस्वरूप हम कृषि एवं पशुपालन, इलेक्ट्रॉनिक्स, कम्प्यूटर, इंजीनियरिंग तथा औषधियों का उत्पादन करने के लिये बहुराष्ट्रीय कम्पनियों पर आश्रित हो जायेंगे। हमारी सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था विदेशियों की गिरफ्त में आ जायेगी। अतः कृषि व उद्योग क्षेत्र दोनों इसका प्रबल विरोध कर रहे हैं।

निजीकरण के सफल निष्पादन हेतु सुझाव

भारत में निजीकरण के सफल निष्पादन हेतु कुछ सुझाव दिये जा सकते हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(1) विदेशी पूँजी विनियोग प्रस्ताव देश की आवश्यकताओं तथा निर्यात सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर स्वीकार किये जाने चाहिये। उच्च तकनीक व आधारिक संरचना सुविधाओं के क्षेत्र में अधिक प्रोत्साहन देना चाहिये। विलासिता से संबंधित उद्यमों को स्थापना को हतोत्साहित करना होगा।

(2) सम्पूर्ण देश में समान प्रशासनिक नियंत्रण व कर प्रणाली लागू करनी होगी। कर का ढाँचा अन्य प्रतियोगी देशों के समान बनाना होगा।

(3) देश के वर्तमान कानूनों के अंतर्गत विदेशियों के सहयोग से औद्योगिक बस्तियों की स्थापना की जानी चाहिये।

(4) क्षेत्रीय विकास की विषमताओं को कम करने हेतु निजीकरण को बढ़ावा देना चाहिये।

(5) बेरोजगारी न फैलकर रोजगार के अवसर बढ़ें ऐसी परियोजनाओं को ही स्वीकार किया जाना चाहिये।

NOTES

(6) सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यमों में अविनियोग से जो राशि प्राप्त हो उसे बाह्य ऋण चुकाने तथा आधारि संरचना के विकास में लगाना चाहिये।

(7) सरकार निजीकरण या सार्वजनिक क्षेत्र के संकुचन का दीर्घकालीन वायदा करे। जो सार्वजनिक उपक्र प्रतियोगिता के बावजूद लाभ प्राप्त कर रहे हैं उन्हें निजी क्षेत्र में सर्वप्रथम लाया जाये।

(8) निजीकरण में श्रमिकों का सहयोग लिया जाये तथा यह निर्णय सामूहिक होना चाहिये।

अतः निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि निजीकरण की नीति को अपनाने में कोई दोष नहीं है क्यों विश्व के अन्य देशों के अनुरूप हमें भी चलना होगा। इससे संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग होगा, देश का विका होगा तथा देशी कम्पनियों की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता शक्ति में वृद्धि होगी। निजीकरण में बेरोजगारी का भय स्वाभावि है, परन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिये कि अन्य देशों जैसे चिली व मैक्सिको में निजीकरण से रोजगार और बढ़ गया विदेशी कम्पनियाँ यहाँ सस्ते श्रम का लाभ उठाने के लिये ही आ रही हैं परन्तु इसके साथ-साथ देश के हितों व अनदेखा नहीं किया जा सकता है। केवल आवश्यकता वाले क्षेत्रों में ही निजीकरण को प्रोत्साहित करना चाहिये। इसव लाभ हमें भी प्राप्त होना चाहिये न कि केवल विदेशी कम्पनियों को। सर्वाधिक ध्यान हमें अपनी आर्थिक सम्प्रभुस को बनाये रखने की दिशा में एकाग्र करना होगा।

उदारीकरण
(Liberalisation)

अस्सी के दशक से विश्व की आर्थिक परिस्थितियों में हुये परिवर्तनों ने आर्थिक सिद्धान्तों के नये पहलुओं प विचार करने पर बाध्य कर दिया है। इसी बीच अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ऐसी घटनाएँ घटीं कि पूर्व-सन्तुलनों के स्था पर नये सन्तुलन स्थापित हो गये। विश्व की महाशक्ति सोवियत संघ का विघटन, पूर्व एवं पश्चिमी जर्मनी का एकीकरण इजराइल व फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन का निकट आना; आदि राजनीतिक घटनाओं ने विश्व के आर्थिक वातावरण व भी प्रभावित किया। अत्यधिक विकसित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था आज आर्थिक मन्दी के दौर में फँसी हुई है। वहाँ अति उत्पादन तथा बेरोजगारी की समस्याएँ विद्यमान हैं। इन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप एक नई विचारधारा को बल मिला, वह है—उदारीकरण की नीति विश्व में फैलाकर ही यह देश अपनी वस्तु को अन्य देशों, विशेषकर तृतीय विश्व के विकासशील देशों में बेचने में सफल हो सकते हैं। साम्यवाद व समाजवाद के पतन से भी इस विचारधारा को बल मिला है। परिणामस्वरूप 'संरक्षणवादी' नीति के स्थान पर 'उदारवादी' नीति का पक्ष लिया जाने लगा। विकासशील देशों पर इस प्रकार की नीति अपनाने के लिये दबाव प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से डाला जा रहा है। अनेक तर्क प्रस्तुत करके उसके लाभों की बातें गिनाई जा रही हैं। भारत भी इस उदारीकरण की नीति से अछूता नहीं है। भारत में एक बड़ा बाजार उपलब्ध है, अतः सबकी निगाहें इस ओर हैं। हमारे यहाँ भी अनेक समस्याएँ हैं, अतः उनका समाधान हम इस नीति के द्वारा खोजने का प्रयास कर रहे हैं। इसमें हम कितने सफल होंगे यह तो आने वाला समय बतायेगा, परन्तु उदारीकरण की नीति अपनाते समय हमें किन बातों से सावधान रहना चाहिये यह अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

उदारीकरण का अर्थ
(Meaning of Liberalisation)

उदारीकरण का सामान्य रूप से अर्थ नियमनों व नियंत्रणों में ढील देने से लगाया जाता है। जब सरकार वि नीति, आयात-निर्यात नीति, औद्योगिक नीति, श्रम नीति, वाणिज्य नीति आदि के माध्यम से अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में निवेश, उत्पादन, विपणन, इत्यादि में नियंत्रणों को हटाती है तो उसे उदारवादी नीति कहा जा सकता है। इस नीति के अंतर्गत बाजार-शक्तियाँ स्वतंत्र रूप से कार्य करती हैं।

उदारीकरण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उद्देश्य घरेलू उत्पादन प्रक्रिया में सुधार करना होता है, परन्तु इसी के साथ रोजगार के अवसरों का सृजन, वस्तुओं तथा सेवाओं की श्रेष्ठ किस्म अधिक से अधिक लोगों तक उचित लागतों पर पहुँचाना, घरेलू उत्पादन क्षमता का विकास करना जो कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतियोगी हो, आदि भी इसके प्रमुख उद्देश्य हैं।

भारत में उदारीकरण
(Liberalisation in India)

भारतीय अर्थव्यवस्था एक लम्बे समय तक नियंत्रण व नियमनों के अंतर्गत कार्य करती रही। सत्तर व अस्सी के दशक तक राज्य के नियंत्रणों व विदेशी पूँजी से दूर रहने की विचारधारा को ही महत्व दिया जाता रहा, परन्तु नब्बे के दशक से प्रारम्भ। इसमें क्रान्तिकारी परिवर्तनों की शुरुआत की गयी। 1991 में सरकार ने जो आर्थिक सुधार कार्यक्रम प्रारम्भ किये उनका प्रमुख उद्देश्य आर्थिक स्थिरीकरण तथा संरचनात्मक सुधार लाकर अर्थव्यवस्था को

अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतिस्पर्द्धात्मक व आत्मनिर्भर बनाना है। भारत में जो उदारीकरण के लिये कदम उठाये गये उनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(1) **रुपये का अवमूल्यन**—विदेशी अदायगियों की क्षमता में वृद्धि, भारत से पूँजी के बाह्य प्रवाह को रोकने तथा गैर-कानूनी माध्यमों से विदेशों से प्रेषणाओं को हतोत्साहित करने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने 1 व 3 जुलाई, 1991 को दो चरणों में प्रमुख मुद्राओं की तुलना में रुपये का मूल्य 20 प्रतिशत कम कर दिया।

(2) **रुपये की पूर्ण परिवर्तनीयता**—नियंत्रित विनिमय दर प्रणाली से उत्पन्न विदेशी मुद्रा की कालाबाजारी (हवाला बाजार) की समस्या से निपटने हेतु सरकार ने 1992-93 के बजट में **उदारीकरण विनिमय दर प्रबंध प्रणाली** (LERMS) प्रारम्भ की। इसके अन्तर्गत रुपया आंशिक रूप से परिवर्तनीय कर दिया गया। 1993-94 के बजट में सरकार ने रुपये को पूर्ण परिवर्तनीय बनाकर एकल विनिमय दर प्रणाली प्रारम्भ की। इसके पश्चात् 1994-95 के बजट में सरकार ने भुगतान सन्तुलन के चालू खाते में रुपये को पूर्ण परिवर्तनीय कर दिया।

(3) **औद्योगिक नीति प्रस्ताव**— 24 जुलाई, 1994 को सरकार ने नई औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति में 18 प्रमुख उद्योगों को छोड़कर शेष उद्योगों को लाइसेंस से मुक्त कर दिया गया। 15 अप्रैल, 1993 को इन उद्योगों की संख्या 18 से घटाकर 15 कर दी गयी। वर्तमान में यह संख्या 5 है। इस नीति में सार्वजनिक क्षेत्रों के लिये आरक्षित उद्योगों की संख्या को 17 से घटाकर 6 कर दिया गया।

(4) **विदेशी विनिमय नियमन अधिनियम (फेरा— FERA) में संशोधन**—सरकार ने 8 जनवरी, 1993 को एक अध्यादेश जारी करके 'फेरा' में संशोधन कर दिये हैं। इस संशोधन के अनुसार भारतीय कम्पनियों को विदेशों में संयुक्त उद्यम स्थापित करने की अनुमति प्रदान कर दी गयी है। इस अधिनियम की लगभग एक दर्जन ऐसी धाराओं को समाप्त कर दिया गया है जिनकी प्रासंगिकता समाप्त हो चुकी है।

(5) **विदेशी निवेश व विदेशी प्रौद्योगिकी विनियमों में सुधार**—औद्योगिक नीति, 1991 में ही उच्च प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों में विदेशी इक्विटी की अधिकतम सीमा को 40 प्रतिशत से बढ़ाकर 51 प्रतिशत कर दिया गया है। इसी के साथ उच्च प्रौद्योगिकी तथा भारी विनियोग प्राथमिकता वाले उद्योगों को विनिर्दिष्ट सूची के लिये फर्मों को कुछ मार्गदर्शी सिद्धान्तों के अंतर्गत विदेशी प्रौद्योगिकी करार करने की स्वतः अनुमति प्राप्त हो गयी है।

(6) **आयात-निर्यात नीति**—उदारीकरण की नीति के अंतर्गत सरकार ने आठवीं पंचवर्षीय योजना के लिये एक नई आयात-निर्यात नीति की घोषणा की है। इस नीति का प्रमुख उद्देश्य व्यापार में न्यूनतम प्रतिबंध, अधिक स्वतंत्रता एवं कम से कम प्रशासनिक नियंत्रण सुनिश्चित करना है। अप्रैल 1993 को इस नीति को संशोधित करके और उदार बनाने का प्रयास किया गया जिसमें कृषि क्षेत्र को निर्यातोन्मुखी इकाइयों को प्रोत्साहित करने की योजना बनाई गई है। इसी के साथ आयात-निर्यात की निषिद्ध सूचियों में बड़ी कटौती की गयी है। 27 जुलाई, 1994 को आयातों को और उदारीकृत कर दिया गया। इसमें उपभोक्ता टिकाऊ वस्तुओं, पेट्रोलियम उत्पादों तथा इलेक्ट्रॉनिक सामान और जोड़ दिया गया है। इस प्रकार आयात में छूट की वस्तुओं की संख्या बढ़कर 71 हो गयी। उदारीकरण की इस प्रक्रिया के अंतर्गत 1 अप्रैल, 1999 को आयात में छूट दी गयी, वस्तुओं की संख्या बढ़कर 894 हो गयी है।

(7) **विदेशी संस्थागत निवेशकों को भारतीय पूँजी बाजार में विनियोग की छूट**—अधिक से अधिक विदेशी पूँजी निवेश को भारत में आकर्षित करने के लिये सरकार ने विदेशी संस्थागत निवेशकों को भारतीय पूँजी बाजार में प्रत्यक्ष विनियोग करने की छूट प्रदान कर दी है। ये विनियोगकर्ता अब सभी प्रकार की प्रतिभूतियों में विनियोग कर सकेंगे, परन्तु ऐसा करने से पूर्व इन्हें भारतीय प्रतिभूति एवं विनिमय बोर्ड (SEBI) के अंतर्गत पंजीकरण कराना होता है तथा 'फेरा' के अंतर्गत भारतीय रिजर्व बैंक की अनुमति प्राप्त करनी होती है।

(8) **कर ढाँचे में सुधार**—सरकार ने अपने गत वर्षों के बजट में सीमा शुल्कों तथा उत्पाद शुल्कों में व्यापक राहत की घोषणा की है व कर ढाँचे को अधिक विवेकीकृत किया है। प्रत्यक्ष करों में भी सरकार ने अनेक राहतों की घोषणा की है।

भारत में अपनाई गयी उदारीकरण की नीति के परिणामस्वरूप देश में विदेशी पूँजी विनियोगों की संख्या तथा मात्रा में अत्यधिक वृद्धि हो गयी है। हवाला बाजार की गतिविधियों पर नियंत्रण लग गया है। विदेशी विनिमय कोषों में भारी वृद्धि हो गयी है, परन्तु इस नीति की यह उपलब्धियाँ दीर्घकाल तक प्राप्त होती रहें तथा देश का तेजी से आर्थिक विकास हो तभी इस नीति को उचित कहा जा सकता है। उदारीकरण से आयातों में ही नहीं निर्यातों में भी वृद्धि होनी चाहिये।

NOTES

उदारीकरण की नीति में कठिनाइयाँ
(Problems in Liberalisation Policy)

भारत में गत कुछ वर्षों से जो उदारीकरण की नीति अपनाई गई है उसमें कुछ कठिनाइयाँ या कमियाँ हैं, जि से प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(1) **कर प्रणाली में सुधार**—उदारीकरण के परिणामस्वरूप प्रतियोगिता में वृद्धि होती है। कोई भी कम्पनी प्रतियोगिता में तभी सफल हो सकती है जबकि उसकी वस्तु की किस्म श्रेष्ठ हो और वह अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की हो इसके लिये संसाधनों की आवश्यकता होती है। हमारे यहाँ करों की दरें इतनी ऊँची हैं कि कम्पनी के पास अनुसन्ध या वस्तु की किस्म में सुधार के लिये पर्याप्त साधन बचते ही नहीं हैं।

(2) **आयात एवं निर्यात नीति**—हमारे यहाँ उद्योग जिन आगतों व मध्यवर्ती वस्तुओं का आयात करते हैं उ पर ऊँची दर से कर लगे हुये हैं। इसके अतिरिक्त, यहाँ उत्पादित वस्तुओं पर उत्पाद कर, बिक्री कर, स्थानीय कर आ के नाम पर ऊँची दर से कर लगाये हुये हैं। इसके विपरीत, निर्मित वस्तु जो बाहर से आती है उस पर अपेक्षाकृत क कर लगे हुये हैं। ऐसे में घरेलू कम्पनियों का प्रतियोगिता में पीछे रह जाना स्वाभाविक है।

(3) **नियमित आगतों की ऊँची कीमतें**—भारत में सरकार द्वारा नियमित आगतों, जैसे पेट्रोलियम, विद्युत आ की दरें बहुत ऊँची हैं जिससे उत्पाद की लागत बढ़ जाती है। इसके अतिरिक्त यहाँ उद्योगों को वित्तीय संस्थाओं ऊँची ब्याज दर पर पूँजी प्राप्त होती इससे भी इनकी लागत ऊँची आती है और यह प्रतिस्पर्धा में पिछड़ जाते हैं।

(4) **वित्तीय सुदृढ़ता**—भारत में जो अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ विनियोग कर रही हैं वह उस पर भविष्य में प्रतिफ प्राप्ति की आशा कर रही हैं और उनकी क्षमता इतनी है कि वह विनियोग व प्रतिफल के मध्य के लम्बे समय की प्रतीक्ष कर सकती हैं, परन्तु भारतीय कम्पनियाँ वित्तीय दृष्टि से इतनी सुदृढ़ नहीं हैं कि वह विदेशों में पूँजी लगाकर लम्ब समय बाद प्रतिफल की आशा करें। अतः भारतीय कम्पनियाँ प्रतियोगिता में टिक नहीं पायेंगे।

(5) **अनुप्रयुक्त क्षेत्र में निवेश**—भारत में इन अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियों की दिलचस्पी ऐसी वस्तुओं के उत्पाद में अधिक है जिनका उत्पादन हमारे यहाँ पहले से ही हो रहा है और जिनमें ऊँची तकनीक की आवश्यकता नहीं है चुइंगम तथा टॉफी, आलू के चिप्स, फल या नारियल का पानी, मिनरल वाटर, प्रसाधन सामग्री, आदि वस्तुओं के उत्पाद में इन्हें आमंत्रित करना उचित नहीं है।

(6) **विदेशी मुद्रा कोष पर दबाव**—उदारीकरण की नीति के परिणामस्वरूप भारत में विदेशी पूँजी व विनियो में भारी वृद्धि हो रही है, परन्तु जब इन विनियोगों पर अर्जित लाभांश विदेशी मुद्रा के रूप में बाहर जायेगा तो भार में विदेशी विनिमय कोषों पर दबाव बढ़ेगा तथा रुपये की स्थिति कमजोर हो जायेगी।

उदारीकरण नीति के संबंध में सावधानियाँ एवं सुझाव
(Precautions and Suggestions regarding Liberalisation Policy)

भारत में जो आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया के तहत उदारीकरण की नीति अपनायी जा रही है उसमें निम्नलिखित बातें ध्यान रखने योग्य हैं :

(1) **उपयुक्त क्षेत्र में निवेश**—सर्वाधिक आवश्यकता इस बात की है कि हम इस बात को सुनिश्चित करें कि कौन-से उद्योग व आयात हमारे देश के लिये आवश्यक हैं जिनसे कि हमारा आर्थिक विकास होगा तथा हमारी अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में उपयोगिता बढ़ेगी। केवल उच्च तकनीक जो कि हमारे पास न हो तथा आधारिक संरचना के आधार को सुदृढ़ करने वाले क्षेत्रों में पूँजी को आमंत्रित करना चाहिये। जिन वस्तुओं का उत्पादन हम स्वतः अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कर सकते हैं या जो वस्तुएँ विलासिता की हैं उनमें विदेशी कम्पनियों को आमंत्रण न दिया जाये।

(2) **रोजगार व निर्यातों में वृद्धि**—उदारीकरण की नीति के परिणामस्वरूप देश की रोजगार व निर्यात क्षमता में वृद्धि होनी चाहिये। अतः विदेशी विनियोग केवल ऐसे ही क्षेत्रों में लगाने की अनुमति प्रदान करनी चाहिये। चीन ने इसी बात को अपनाकर तेजी से आर्थिक विकास किया है। उसके इस अनुभव को अपनाना चाहिये।

(3) **लागतों में कमी हेतु** कदम—सरकार घरेलू उत्पादकों को भी सस्ती कीमत पर आगत उपलब्ध कराये ताकि वह प्रतियोगिता ठीक प्रकार से कर सकें। हमारे यहाँ ब्याज की दरें भी ऊँची हैं उन्हें भी अन्य देशों की भाँति नीची दर पर लाना होगा।

(4) **कर ढाँचे में सुधार**—हमारे यहाँ भी कनाडा की भाँति यह व्यवस्था हो कि जिस कम्पनी में अधिकांश शेयर देशवासियों के हैं उन पर 10 प्रतिशत नीची दर से कर लगाया जायेगा। इससे इन कम्पनियों के पास अतिरिक्त संसाधन होंगे जिसे यह अनुसंधान, वस्तु की किस्म में सुधार, आधारिक संरचना में सुधार, कर्मचारियों के प्रशिक्षण, आदि पर व्यय कर सकेंगी।

स्पष्ट है कि उदारीकरण की नीति के परिणामस्वरूप यदि देश में रोजगार बढ़ता है, आर्थिक विकास होता है तथा उद्योगों की प्रतियोगिता शक्ति बढ़ती है तो यह नीति उचित ही कहलायेगी, परन्तु यदि उदारीकरण किसी दबाव में किया गया है जिसमें विदेशी कम्पनियाँ केवल अपना हित देख रही हैं तथा देश की सरकार आँख मूँद कर सब स्वीकार कर रही है तो इसका परिणाम आर्थिक-सामाजिक गुलामी के रूप में ही सामने आयेगा।

विश्वीकरण
(Globalisation)

बढ़ते अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा विनियोग के माध्यम से विश्व अर्थव्यवस्था आज विश्वीकरण की ओर अग्रसर हो रही है। कुछ अपवादों को छोड़कर विश्व व्यापार विश्व के सकल घरेलू उत्पाद की तुलना में तेजी से बढ़ रहा है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था तेजी से एक-दूसरे पर निर्भर होती जा रही है। अब यह स्पष्ट हो चुका है कि नब्बे के दशक व उससे आगे के समय में विश्वीकरण जीवन का एक हिस्सा होगा।

विश्वीकरण कोई नवीन विचारधारा नहीं है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद से ही यह माना जाने लगा था कि अनियंत्रित और मनमाने संरक्षणवाद के कारण ही आर्थिक अराजकता की स्थिति पैदा हुई जो कि विश्वयुद्ध का एक प्रमुख कारण बनी। यदि भविष्य में विश्वयुद्ध रोकना है तो एक बहुपक्षीय ढाँचे के द्वारा व्यापार का उदारीकरण आवश्यक है। "मुक्त व्यापार ही विश्व की समृद्धि और शान्ति का सुनहरा अवसर है" यह विचार चौथे दशक के प्रारम्भ में अमेरिका में विकसित हुआ था। अपने प्रभाव को कायम रखने के लिये वह तब से प्रयासरत रहा है, परन्तु अभी हाल में सोवियत संघ व अन्य पूर्वोत्तर यूरोपीय देशों में साम्यवाद की समाप्ति तथा समाजवादी प्रणाली के विघटन से अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों का संतुलन परिवर्तित हो गया तथा इस परिवर्तन ने विश्वीकरण को नया महत्व तथा दिशा प्रदान की।

सोवियत संघ के पतन के अतिरिक्त जापान का विश्व की महान शक्ति के रूप में प्रकट होना, नये औद्योगिक देशों—कोरिया, सिंगापुर, हांगकांग, ताईवान का उदय, इजराइल एवं फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन तथा उसके अन्य सहयोगी देशों की निकटता, यूरोप के पूर्ण आर्थिक एकीकरण की सम्भावना, वृहत इलेक्ट्रॉनिक्स तथा कम्प्यूटर तकनीक के क्षेत्र में तीव्र प्रगति, जैव तकनीक का उभार, आदि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं जिन्होंने अर्थव्यवस्था को विश्वीकरण की दिशा में चलने को प्रोत्साहित किया है। अमेरिका सहित अनेक यूरोपीय देशों में मन्दी छायी हुई है। इन देशों में अति उत्पादन की स्थिति प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान है। बेरोजगारी बढ़ती जा रही है तथा विकास की दर धीमी हो गयी है। निर्यात इन देशों के आशानुकूल नहीं हो पा रहे हैं, अतः इन समस्याओं के समाधान के लिये यह देश विश्वीकरण पर अधिक जोर दे रहे हैं।

विश्वीकरण का आशय
(Concept of Globalisation)

विश्वीकरण का सामान्य रूप से आशय पूरे विश्व को एक सत्ता (entity) के रूप में मानने से है, इसमें सभी आर्थिक बाधाओं को हटा दिया जाता है जिससे कि बाजार शक्तियाँ स्वतंत्र रूप से अपनी भूमिका अदा कर सकें। इस प्रकार विश्वीकरण शब्द से तात्पर्य **'विश्व एक बाजार के रूप में'** से होता है। विश्वीकरण में विश्व के वित्तीय तथा तकनीकी संसाधनों का स्वतंत्र आवागमन होता है।

विश्वीकरण का विचार अपने में सम्पूर्णता लिये हुये है। विश्वीकरण का अर्थ इस विभिन्नता वाले विश्व में कोई समरूप हल लागू करने से नहीं है। इसका अर्थ है विश्व दृष्टि तथा व्यूह रचना। यह हमें नवीनतम तकनीक तथा उत्पाद से अवगत कराता है ताकि विश्व में हम अपनी पहचान बनाये रख सकें।

वास्तव में, विश्वीकरण व्यापारिक क्रियाकलापों का अन्तर्राष्ट्रीयकरण है जिसमें पूरे विश्व को एक ही क्षेत्र के रूप में देखा जाता है। इस प्रकार यह व्यापार को न्यूनतम लागत में दक्ष बनाकर उसे प्रतियोगी रूप देने का एक प्रयास है।

विश्वीकरण को प्रोत्साहित करने वाले तत्व
(Factors encouraging Globalisation)

विश्वीकरण को प्रोत्साहित करने वाले प्रमुख तत्व निम्नलिखित हैं :

(1) **प्रतियोगिता**—पूँजीवादी अर्थप्रणाली की एक प्रमुख संस्था प्रतियोगिता होती है। इस प्रतियोगिता के कारण अनेक कम्पनियों को विदेशों में नये बाजार ढूँढने पड़े। इस प्रतियोगिता से ही उत्पादन व विपणन की नई विधियों का विकास हुआ। एक घरेलू कम्पनी भी विदेशी कम्पनियों से अपने को बचाने के लिये विश्व परिप्रेक्ष्य में अपने को विकसित करने लगी है।

NOTES

(2) **बाजार**—वस्तु की किस्म के लिये नई माँग, परिवर्तित होती रुचि व फैशन तथा वस्तु के छोटे जीवन च ने कम्पनियों को विश्वीकरण के लिये प्रेरित किया है।

(3) **तकनीक**—विश्वीकरण को प्रोत्साहित करने में तकनीक की भूमिका प्रमुख रही है। वस्तुओं को न्यूनत लागत पर उत्पन्न करना, श्रेष्ठ किस्म का उत्पादन आदि इसके द्वारा सम्भव हो सका है।

भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्वीकरण
(Globalisation of Indian Economy)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में उत्पन्न हुये परिवर्तनों से भारत जैसा देश भी अछूता न रह पाया। भारतीय अर्थव्यवस्था को बन्द एवं प्रतिबन्धित अर्थव्यवस्था बनाये रखने की विचारधारा पर एक प्रश्नचि लग गया। अपनी इस बन्द विचारधारा के कारण हम विकास में पिछड़ गये। हमारी आँखें उस समय खुलीं जब अस्स के दशक में हम ब्राजील, कोरिया, थाईलैण्ड, टर्की, इण्डोनेशिया जैसे देशों से भी पिछड़ गये। हम एक ऐसी अवस्था पहुँच गये कि इस स्थिति को और अधिक समय तक सहन करना दुष्कर हो गया। हमारे ऋण भार में निरन्तर वृ जारी है तथा भुगतान असन्तुलन की समस्या बढ़ती जा रही है। जहाँ विश्व व्यापार देश की सीमाओं में प्रतिबन्धित रहकर सम्पूर्ण विश्व तक विस्तृत रूप धारण कर रहा है ऐसी दशा में अपनी अर्थव्यवस्था को विश्व अर्थव्यवस्था जोड़ना एक अनिवार्यता बन गयी है। यह अनुभव किया गया कि विश्व व्यापार में अपना स्थान बनाने के लिये भारती अर्थव्यवस्था का अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्डों के आधार पर विश्वीकरण कर दिया जाये। हमारे वर्तमान निर्यात कोरिया व ताईवान की तुलना में एक-चौथाई ही हैं। निर्यातकों में हमारा स्थान 'गैट' की सूची में तैंतीसवाँ है। इस स्थिति में सुध विश्व में अपनी अर्थव्यवस्था को समन्वित करने पर ही सम्भव है। यही कारण है कि नब्बे के दशक में प्रारम्भ कि गये विभिन्न आर्थिक सुधारों एवं उदारीकरण की नीति का प्रत्यावर्तन विश्वीकरण की नीति के रूप में देखने को मिल है।

हमारे यहाँ विश्वीकरण की प्रक्रिया नब्बे के दशक के प्रारम्भ में शुरू हो गयी जबकि सरकार ने विश्व की प्रमुख मुद्राओं के मुकाबले रुपये का 20 प्रतिशत अवमूल्यन कर दिया। इसी के साथ रुपये को पहले आंशिक रूप से तथ उसके बाद पूर्ण रूप से परिवर्तनीय कर दिया। 1994-95 के बजट में भुगतान सन्तुलन के चालू खाते में रुपये व पूर्ण परिवर्तनीय कर दिया।

विश्वीकरण की दिशा में दूसरा कदम तटकरों में कमी करके उठाया गया। अन्य देशों की भाँति सरकार ने सीमा शुल्कों में भारी कटौती की। तटकरों में यह कमी 1991-92 से अब तक के सभी बजटों में की गयी।

केवल तटकरों में ही कमी नहीं की गयी वरन् अर्थव्यवस्था को विदेशी प्रत्यक्ष विनियोग (FDI) तथा विदेश प्रौद्योगिकी के लिये खोल दिया गया। 1991 की नई औद्योगिक नीति में उच्च प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों में विदेशी इक्विटी की अधिकतम सीमा को बढ़ाकर 51 प्रतिशत कर दिया गया। इस कदम से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के लिये हमने अपने द्वार बड़ी मात्रा में खोल दिये हैं। इसी के साथ आयात-निर्यात व अन्य नीतियों के द्वारा विदेशी पूँजी को आमंत्रित करने के लिये हमने अपने यहाँ अनुकूल वातावरण तैयार किया है।

भारतीय अर्थव्यवस्था के विश्वीकरण की समस्याएँ
(Problems of Globalisation of Indian Economy)

भारत ने अपनी अर्थव्यवस्था के विश्वीकरण का निर्णय ले लिया है। विदेशी कम्पनियों से प्रतियोगिता हेतु वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन बढ़ाने, किस्म में सुधार तथा बाजार के विस्तार के लिये आर्थिक सुधार तथा उदारीकरण के कदम उठाये जा रहे हैं। इन कदमों से हम जहाँ अपनी आर्थिक समस्याओं से निजात पाने की आशा किये हुये है वहाँ इसमें कुछ समस्याएँ या कठिनाइयाँ भी हैं जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं :

(1) **प्रतिकूल वातावरण**—भारत ने जिस समय विश्वीकरण का निर्णय लिया उस समय अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण बहुत अनुकूल नहीं कहा जा सकता है। अमेरिका ने भारत पर 'सेक्शन 301' की धारा लागू करने की धमकी दे रखी है। वह भारत पर 'बौद्धिक सम्पदा' अधिकार संबंधी अवधारणा को स्वीकार करने के लिये भी दबाव डाल रहा है। यदि भारत इससे इन्कार करता है तो विश्वीकरण में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। यदि इसे स्वीकार किया जाता है तो हमारी अर्थव्यवस्था बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हाथों में चली जायेगी।

विदेशी विनियोजक भारतीय वातावरण को अभी निवेश के लिये उपयुक्त नहीं समझते हैं। इसी कारण चीन विदेशी प्रत्यक्ष निवेश को अधिक आकर्षित करने की स्थिति में है। दीर्घकाल में चाहे क्यों न विश्वीकरण से रोजगार बढ़े परन्तु इसका तुरन्त प्रभाव रोजगार पर प्रतिकूल पड़ेगा, अतः देश में नौकरी पेशा लोग इसका विरोध कर रहे हैं।

(2) **सीमित वित्तीय साधन**—अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में वस्तु प्रतियोगिता कर सके इसके लिये वस्तु की किस्म में सुधार व उत्पादन बढ़ाने के लिये बड़ी मात्रा में पूँजी की आवश्यकता होगी। सभी विकासशील देशों की पूँजी आवश्यकता

हो कोई भी विकसित पूँजीवादी देश पूरा करने में सक्षम नहीं है। परिणामस्वरूप इन देशों को विश्व बैंक व मुद्रा कोष के पास जाना पड़ेगा और यह संस्थाएँ इन देशों को अनुचित शर्तें मानने के लिये बाध्य करेंगी।

(3) **राजनीतिक एवं प्रशासनिक समस्या**—भारत में कृषि, विद्युत तथा आधारभूत सामाजिक सेवाओं के विकास का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों पर है और यह सरकारें राजनीतिक अस्थिरता की समस्या से ग्रसित हैं, अतः इन सेवाओं का विकास उचित गति से नहीं हो पा रहा है। इसके अतिरिक्त, यहाँ राजनीतिक व प्रशासन में बड़ी मात्रा में भ्रष्टाचार व्याप्त है, ऐसे में विश्वीकरण की नीति की सफलता पर एक प्रश्नचिह्न लगना स्वाभाविक है।

(4) **धीमी प्रगति**—जिन देशों ने विश्वीकरण को अपनाया उन्होंने उससे पूर्व अपने यहाँ इसके लिये वातावरण तैयार किया। हमने विश्वीकरण हेतु अपनी दिशा तो परिवर्तित कर ली परन्तु स्वतंत्र बाजार की दिशा में गति बहुत धीमी रखी है। संरचनात्मक सुधार अर्थव्यवस्था में उचित व पूर्ण रूप से नहीं हो सके हैं।

(5) **अनुचित क्षेत्र में प्रवेश**—विश्वीकरण की नीति के तहत उठाये गये उदारीकरण कदमों से बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने हमारे देश में रुचि लेना प्रारम्भ कर दिया है। वह उपभोक्ता क्षेत्र के साथ-साथ सेवा क्षेत्र में भी प्रवेश करना चाहती हैं जो हमारे देश के लिये उचित नहीं है। इन कम्पनियों को केवल आधारिक संरचना क्षेत्र में प्रवेश की ही अनुमति दी जानी चाहिये जिसमें कि ऊँची तकनीक की आवश्यकता होती है।

विश्वीकरण के संबंध में सुझाव
(Suggestions regarding Globalisation)

भारतीय अर्थव्यवस्था के संदर्भ में विश्वीकरण हेतु कुछ अग्रलिखित प्रमुख सुझाव दिये जा सकते हैं:

(1) **दीर्घकालीन कर ढाँचा**—हमारे यहाँ कर की दरों में प्रत्येक वर्ष परिवर्तन होते हैं। हमें नहीं मालूम होता है कि अगले वर्ष कर की दरों में क्या परिवर्तन होंगे। ऐसे वातावरण में विनियोग निर्णय में कठिनाई आती है। अतः अन्य देशों की भाँति हमें दीर्घकालीन कर नीति बनानी चाहिये।

जो उद्योग इकाइयाँ निर्यात कर रही हैं या अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतियोगिता कर रही हैं उन्हें उत्पाद करों में छूट भी देनी चाहिये ताकि जब तक हमारी अर्थव्यवस्था में संरचनात्मक सुधार पूरी तरह से हों तथा वह स्थिर हो सके तब तक वह उग्रम प्रतियोगिता में पीछे न रह जायें।

(2) **ऊंच कीमत व अच्छी किस्म के आगत**—हम प्रतियोगिता में इसलिए भी पिछड़ जाते हैं क्योंकि हमारे यहाँ आगतों की कीमतें ऊँची हैं व उनकी किस्म खराब है। हमारे यहाँ कुशल श्रमशक्ति है, सभी प्रकार के कच्चे साधन मौजूद हैं, विस्तृत बाजार है तथा निर्यात की सम्भावनाएँ मौजूद हैं, अतः यदि पड़ोसी देशों को जिन कीमत पर आगत (Inputs) प्राप्त हो रहे हैं उसी कीमत पर हमारे यहाँ भी उपलब्ध हो जायें तो हम अपनी अर्थव्यवस्था का आसानी से विश्वीकरण कर लेंगे।

(3) **उद्यमों का अनुकूलतम आकार**—जो उद्योग संसाधन आधारित होते हैं; जैसे स्टील, सीमेण्ट, ऑटोमोबाइल तथा विद्युत आदि उनका एक न्यूनतम आर्थिक आकार होना चाहिये। हमारे उद्योग आकार में छोटे हैं। अतः एक-सी वस्तुएँ उत्पादित करने वाली इकाइयों का वित्तयीकरण कर देना चाहिये। इससे वह न्यूनतम लागत पर उत्पादन करने में सक्षम हो जायेंगी।

(4) **वित्तीय क्षेत्र में सुधार**—विश्वीकरण हेतु संरचनात्मक सुधार किये जा रहे हैं परन्तु वास्तविक अर्थ में संरचनात्मक सुधार तब तक पूरे नहीं कहे जा सकते जब तक कि साथ-साथ वित्तीय क्षेत्र में भी सुधार न किये जायें। वित्तीय उदारीकरण में साख उपयोग व ब्याज दरों पर लगे नियंत्रणों को हटाना आवश्यक है।

(5) **मधुर औद्योगिक संबंध**—देश में मधुर औद्योगिक संबंध होने पर ही विदेशी विनियोग हमारे यहाँ आकर्षित होगा। इसके लिये सरकार को श्रमशक्ति के विवेकीकरण की स्पष्ट नीति बनानी चाहिये।

(6) **आवश्यक क्षेत्र में प्रवेश की अनुमति**—विदेशी कम्पनियों को केवल उन क्षेत्रों में ही विनियोग की अनुमति देनी चाहिये जो कि उच्च तकनीक वाले क्षेत्र हैं जैसे आधारिक संरचना क्षेत्र आदि। सेवा या ऐसे क्षेत्रों में जहाँ हम स्वयं उत्पादन कर रहे हैं विनियोग की अनुमति देना उचित नहीं है।

अतः **निष्कर्ष** के रूप में कहा जा सकता है कि यद्यपि हमारी अर्थव्यवस्था विश्वीकरण की दिशा में चल चुकी है, परन्तु इस दिशा में किये गये प्रयासों की सफलता में संदेह ही है। इस समय न तो अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण ही उपयुक्त है और न ही हमारी आन्तरिक आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियाँ ही इसके लिये तैयार हैं। विश्वीकरण के लिये कहा जाता है कि इसके लिये जो चार घटक प्रमुख रूप से आवश्यक हैं वे हैं—व्यूह रचना, प्रक्रिया, प्रौद्योगिकी तथा व्यक्ति। अतः हमें सर्वप्रथम इन घटकों पर ध्यान देना होगा। वास्तव में हमने अभी उदारीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ ही की थी कि हमें विश्वीकरण की ओर आने पर मजबूर होना पड़ा है। यह सही है कि यह समय की माँग है, परन्तु इससे देश

NOTES

का आर्थिक विकास हो, रोजगार बढ़े, आत्मनिर्भरता बढ़े तभी यह उचित कहलायेगा। यदि देश की आर्थिक व सामाजि सम्प्रभुता खतरे में पड़े तो इस पर पुनर्विचार करना आवश्यक है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. निजीकरण, उदारीकरण एवं विश्वीकरण पर एक आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।
2. उदारीकरण क्यों ? उदारीकरण के उद्देश्य क्या हैं ? उदारीकरण की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए
3. उदारीकरण से क्या तात्पर्य है ? भारत में उदारीकरण की आवश्यकता क्यों महसूस की गई ? भारत उदारीकरण की आधुनिक प्रवृत्तियाँ बताइए।
4. निजीकरण क्या है ? इसके पक्ष एवं विपक्ष में तर्क देकर इसके औचित्य को सिद्ध कीजिए।
5. भारत में उदारीकरण की नीति की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
6. निजीकरण की अवधारणा को समझाइए तथा भारत में निजीकरण की प्रगति का विवरण दीजिए।
7. निजीकरण से आप क्या समझते हैं ? निजीकरण की प्रमुख विशेषताओं को समझाइए।
8. भूमण्डलीकरण से आप क्या समझते हैं ? भूमण्डलीकरण की नीति के प्रभावों की विवेचना कीजिए।
9. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :-
   (i) भारत की नई आर्थिक नीति
   (ii) भारत में उदारीकरण
   (iii) भारत में निजीकरण।
   (iv) भारत में भूमण्डलीकरण

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

3

NOTES

आर्थिक पर्यावरण
(ECONOMIC ENVIRONMENT)

भूमिका (Introduction) :

विश्व के विभिन्न देशों में हुए आर्थिक विकास का अध्ययन करने से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि इन देशों में विकास की दर एक-दूसरे से भिन्न रही है। इसका मुख्य कारण यह है कि इन देशों में व्यवसाय को प्रभावित करने वाला पर्यावरण भिन्न-भिन्न रहा है। दूसरे शब्दों में, विकास की दरों में विभिन्नता उनकी आर्थिक, सामाजिक, तकनीकी, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों में भिन्नता के कारण रहती है। इन्हीं स्थितियों को अर्थशास्त्र में आर्थिक विकास के तत्व या घटक कहा जाता है।

व्यवसाय या आर्थिक गतिविधियों को प्रभावित करने वाले तत्वों के सन्दर्भ में सभी अर्थशास्त्री एकमत नहीं हैं। कुछ अर्थशास्त्री जहाँ कुछ तत्वों को विशेष महत्व देते हैं, वहीं अन्य अर्थशास्त्री कुछ भिन्न तत्वों को महत्व देते हैं। जे. हेरोड एवं डोमर ने आर्थिक विकास के चार तत्व माने हैं, यथा - जनसंख्या की वृद्धि दर, औद्योगिक विकास की दर, पूँजी उत्पादन अनुपात और बचत-आयु अनुपात। श्रीमती जॉन राबिन्सन के अनुसार विकास एक सतत् प्रक्रिया है। अतः विकास के प्रधान तत्व, अनुपूरक तत्वों के साथ ही क्रियाशील होने लगते हैं। जनसंख्या, उत्पादन अनुपात, पूँजी निर्माण की दर आदि पूरक तत्व विकास की प्रक्रिया को सतत् बनाये रखने में योगदान देते हैं। प्रो. डब्ल्यू.डब्ल्यू. रोस्टव ने आर्थिक विकास को प्रभावित करने वाले दो प्रमुख तत्वों का उल्लेख किया है: प्रथम, पूँजी संचयन और द्वितीय, श्रमशक्ति। जे. रोस्टव का मत है कि इन दो तत्वों को अनेक तत्व प्रेरित करते हैं- जैसे, (i) आधारभूत विज्ञान को विकसित करने की प्रवृत्ति; (ii) संतान उत्पन्न करने की प्रवृत्ति; (iii) विज्ञान का आर्थिक लक्ष्यों के लिए प्रयोग करने की प्रवृत्ति; (iv) स्वीन परिवर्तन करने और उन्हें व्यावहारिक स्वरूप देने की भावना; (v) उपभोग करने की प्रवृत्ति; और (vi) भौतिक गति करने की इच्छा आदि।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक क्रियाओं अथवा व्यवसाय को प्रभावित करने वाले पर्यावरणीय तत्वों की अलग-अलग ढंग से व्याख्या की है। अध्ययन की सुविधा के लिए इन तत्वों को दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, यथा- पर्यावरण के आर्थिक तत्व और अनार्थिक तत्व। प्रस्तुत अध्याय में व्यवसाय को प्रभावित करने वाले आर्थिक पर्यावरण अथवा आर्थिक तत्वों एवं गैर-आर्थिक पर्यावरण या गैर-आर्थिक तत्वों का विस्तार से अध्ययन किया गया है।

आर्थिक पर्यावरण को प्रभावित करने वाले तत्व
(Factors affecting Economic Environment)

प्रो. मेयर एवं बाल्डविन तथा प्रो. रिचर्ड टी. गिल जैसे अनेक अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक पर्यावरण के विकास की प्रक्रिया में आर्थिक तत्वों को विशेष महत्व दिया है। इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार भारत जैसे विकासशील देशों में विद्यमान प्रमुख आर्थिक तत्व निम्न प्रकार हैं -

1. प्राकृतिक संसाधन (Natural Resources): प्रकृति से खनिज, जल, भूमि, मिट्टी आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं और इन पदार्थों पर आर्थिक विकास निर्भर करता है। प्रो. लुइस के अनुसार, "अन्य बातें समान रहने पर सामान्यतः मनुष्य अल्प-साधनों की अपेक्षा प्रचुर साधनों का अच्छा उपयोग कर सकता है अतः जिन देशों में प्राकृतिक संसाधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं, वहाँ तीव्र गति से विकास हो सकता है।"

किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि प्रचुर प्राकृतिक साधन वाले देशों में पर्यावरण विकास की गति सदैव तीव्र रहती है। इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि यदि किसी देश में प्राकृतिक साधनों का अभाव है, तो वह आर्थिक विकास नहीं कर सकता। वास्तविकता यह है कि प्राकृतिक साधन स्वयं निष्क्रिय होते हैं। अतः पर्यावरण के विकास की गति को तीव्र करने के लिए इन साधनों को पूँजी, मानवीय शक्ति एवं तकनीकी दक्षता आदि की आवश्यकता होती है।

NOTES

भौतिक पर्यावरण में प्रमुखतः जिन तत्वों को सम्मिलित किया जाता है, वे हैं–

(i) **प्राकृतिक संसाधन**–भूमि, खनिज, तेल, कोयला, सौर-ऊर्जा, कच्चा माल एवं जल; (ii) **जलवायु**–वर्षा, तापमान, बर्फीले और रेगिस्तानी प्रभाव; (iii) **स्थानाकृति**–पहाड़, पठार, मैदान, समुद्र, नदियाँ, नहरें, बंदरगाह आदि और (iv) **पर्यावरण**–प्राकृतिक पर्यावरण जो पंच महाभूतों यथा (पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश) आदि हैं।

2. **मानवीय साधन** (Human Resource):- व्यावसायिक क्रियाओं के विकास में जनसंख्या की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है। आज जो विशालकाय उद्योग, तकनीकी का चमत्कार, यातायात का जाल, विद्युत शक्ति का बहु-आयामी उपयोग, संचार साधनों का विस्तार, मनुष्य के जीवन को सुखमय बनाने के साधन आदि उपलब्ध हैं वे सभी मानवीय बुद्धिमत्ता एवं श्रम का परिणाम हैं। सृजन की अभूतपूर्व शक्ति मानव में विद्यमान है। प्रो. टी. गिल के अनुसार, "**आर्थिक विकास कोई यांत्रिक प्रक्रिया मात्र नहीं है। यह तो एक मानवीय उपक्रम है जिसकी प्रगति उन लोगों की कुशलता, गुणों, दृष्टिकोणों एवं अभिरुचियों पर निर्भर करती है जो इसको साकार स्वरूप प्रदान करते हैं।**" मानवीय साधन और व्यावसायिक क्रियाओं के विकास या आर्थिक विकास में परस्पर सम्बन्ध के रूप में दो प्रकार की स्थितियाँ हैं। **प्रथम,** भारत जैसे अनेक अर्ध-विकसित देशों में मानवीय साधन का समुचित उपयोग न होने से बेरोजगारी, गरीबी आदि समस्याओं ने गंभीर रूप धारण कर लिया है। **द्वितीय,** अनेक देशों में मानवीय साधन वहाँ की आवश्यकताओं से कम है। उदाहरण के लिए अफ्रीका के देशों को लिया जा सकता है। ऐसे देशों में जनसंख्या वृद्धि से आर्थिक विकास प्रोत्साहित होता है। इस स्थिति में जनसंख्या में वृद्धि होने से **जनशक्ति की पूर्ति बढ़ती** है और फलस्वरूप उत्पादन, आय, बचत एवं विनियोग की दरों में वृद्धि के साथ-साथ आर्थिक विकास की दर में भी गति आती है।

3. **तकनीकी परिवर्तन** (Technological Changes):- वैज्ञानिक आविष्कारों ने न केवल विशाल मशीनों को जन्म दिया है, वरन् सम्पूर्ण उत्पादन के स्वरूप को ही बदल डाला है। अतः यह कहा जा सकता है कि विकास की धारणा तकनीकी के उपयोग पर आधारित है। तकनीकी के महत्व की व्याख्या करते हुए प्रो. रिचर्ड गिल ने लिखा है "**आर्थिक विकास अपने लिए महत्वपूर्ण पौष्टिकता मूलतः नवीन विचारों, तकनीकों, आविष्कारों एवं उत्पादन विधियों के स्रोतों से प्राप्त करता है, जिनके अभाव में अन्य साधन कितने ही विकसित क्यों न हों, आर्थिक विकास असम्भव ही बना रहता है।**" नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों एवं तकनीकी विकास से कृषि, उद्योग आदि का तेजी से विकास होता है। नई-नई उत्पादन विधियों के फलस्वरूप देश के उत्पादन में वृद्धि, लागत में कमी, नई-नई वस्तुओं का उत्पादन, नवीन कच्चे माल की खोज, नये बाजारों की खोज होती है।

4. **सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थाएँ** (Social & Cultural Institutions):- किसी भी देश में विद्यमान सामाजिक एवं सांस्कृतिक संस्थाएँ भी आर्थिक वातावरण को प्रभावित करती हैं। उन्नत एवं प्रगतिशील सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ देश के आर्थिक विकास एवं समृद्धि में सहयोग देती हैं। परम्परागत रीति- रिवाज, सामाजिक व्यवस्थायें, धार्मिक अन्धविश्वास, रूढ़िवादी परम्पराये एवं नैतिक मूल्य आर्थिक विकास के मार्ग में बाधक होते हैं। आलस्य, भाग्यवादिता, अन्धविश्वास, काम को टालने की प्रवृत्ति आदि आर्थिक वातावरण को दूषित करने के लिए उत्तरदायी हैं। भारत में प्राचीन परम्परागत समाज, रूढ़िवादिता, अन्धविश्वास, भाग्यवादिता ने आर्थिक विकास में बाधा उत्पन्न की है। "**सादा जीवन**" की विचारधारा से भी व्यावसायिक पर्यावरण प्रभावित होता है। संक्षेप में, सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ बहुत अधिक सीमा तक आर्थिक पर्यावरण को प्रभावित करती हैं।

5. **आर्थिक प्रणाली का स्वरूप** (Form of Economic System):- सामान्यतः विश्व में तीन प्रकार की आर्थिक प्रणालियाँ विद्यमान हैं, यथा- (अ) **पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली,** (ब) **समाजवादी आर्थिक प्रणाली,** और (स) **मिश्रित आर्थिक प्रणाली**। इन आर्थिक प्रणालियों का आर्थिक पर्यावरण के उपयोग तथा विकास पर प्रभाव पड़ता है। पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली में **निजी लाभ,** उच्च ऐषण, कुशल प्रबन्ध एवं शीघ्र निर्णय के कारण तेजी से विकास होता है। इस व्यवस्था में आर्थिक शोषण, आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण, व्यापार चक्र, भ्रष्टाचार आदि को बढ़ावा मिलता है। समाजवादी आर्थिक प्रणाली में **आर्थिक नियोजन,** सामाजिक स्वामित्व कुशल व पेशेवर प्रबन्ध से अधिकतम सामाजिक कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त किया जाता है। इस व्यवस्था में अकुशलता, भ्रष्टाचार, कठोरता, कुप्रबन्ध व अधिनायकवादी प्रवृत्तियों को जन्म मिलता है। मिश्रित आर्थिक प्रणाली में दोनों प्रणालियों के दोषों को दूर कर निजी एवं सार्वजनिक स्वामित्व, निजी लाभ पर सामाजिक हित में नियन्त्रण, विकेन्द्रीयकरण आदि द्वारा तीव्र आर्थिक विकास का प्रयास किया जाता है। इस प्रकार उचित आर्थिक प्रणाली अपनाकर देश का तीव्र आर्थिक विकास किया जा सकता है।

6. **पूँजी संचय** (Capital Accumulation) - आर्थिक पर्यावरण या व्यवसाय के विकास के लिए पूँजी निर्माण की आवश्यकता होती है। यह तभी सम्भव होता है जबकि एक देश अपने कुल उत्पादन (राष्ट्रीय आय) का एक भाग पूँजीगत वस्तुओं, जैसे यंत्र, मशीनें, यातायात के साधन, उद्योग आदि में लगाये। प्रो. नर्कसे का मत है कि "पूँजी-निर्माण का अर्थ है कि समाज में समस्त उत्पादक इकाइयों का आवश्यकता व इच्छाओं के अनुरूप उपभोग नहीं किया जाता, बल्कि उसके एक भाग को पूँजीगत वस्तुओं के बनाने में, यथा यन्त्र व मशीन, यातायात साधनों, प्लाण्ट व यन्त्र में लगा दिया जाता है। इससे वास्तविक पूँजी का विस्तार होता है और उत्पादन क्षमता में वृद्धि होती है।" परिणामस्वरूप

आर्थिक पर्यावरण के विकास को गति मिलती है। देश की श्रम-शक्ति को शिक्षित एवं प्रशिक्षित करके मानव-पूँजी को भी कुशल बनाया जाता है।

7. **उद्यमशीलता** (Entrepreneurship):- आर्थिक पर्यावरण या व्यवसायों के विकास की प्रक्रिया में साहसी का महत्व जलयान के कप्तान के समान होता है। वह समस्त तूफानों से बचता हुआ विकास के यान को आगे बढ़ाता है। अर्थव्यवस्था में सभी प्रकार के तकनीकी परिवर्तनों को अपनाने के लिए साहसियों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। साहसी वर्ग जितनी अधिक जोखिम उठाने के लिए तत्पर होता है, विकास की दर भी उतनी ही अधिक होती है। विकसित देशों में तीव्र आर्थिक विकास का मूल कारण यही है कि इन देशों में जोखिम उठाने वालों की संख्या अधिक है। इसके विपरीत, भारत जैसे विकासशील देशों में 'सादा जीवन' में अधिक विश्वास है, जिसके कारण इन देशों में जोखिम उठाने वालों की संख्या बहुत कम है।

8. **मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियाँ** (Monetary and Fiscal Policies)– सरकार की मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियाँ देश के आर्थिक वातावरण को प्रभावित करती हैं। देश के आर्थिक विकास में इनका विशेष महत्व है। मौद्रिक नीति के द्वारा सरकार निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए देश में मुद्रा व साख की मात्रा को नियन्त्रित करती है। मन्दी काल में मुद्रा व साख की मात्रा बढ़ाकर आर्थिक विकास को गति दी जाती है। जबकि तेजी काल में मुद्रा व साख की मात्रा में कमी द्वारा मुद्रास्फीति को नियन्त्रित कर आर्थिक स्थिरता प्रदान की जाती है। मौद्रिक उपाय अपनाकर अर्थव्यवस्था को व्यापक चक्रों से सुरक्षा प्रदान की जाती है।

राजकोषीय नीति द्वारा सरकार विभिन्न करों द्वारा आय जुटाती है। इस आय को विकास कार्यों पर व्यय किया जाता है। सार्वजनिक ऋणों की व्यवस्था एवं हीनार्थ प्रबन्धन इसके भाग हैं। सरकार की कर नीति, व्यय नीति, सार्वजनिक ऋण नीति आर्थिक पर्यावरण को प्रभावित करती हैं। इसके माध्यम से सरकार फिजूल खर्चों को रोककर, साधनों को विकास कार्यों में लगाती है। मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों में परस्पर सामंजस्य भावी विकास में सहायक होता है।

9. **बाजार का आकार** (Size of Market):- आर्थिक विकास के लिए विस्तृत बाजार का होना भी आवश्यक है। इसका कारण यह है कि उत्पादन की मात्रा का निर्धारण एवं तकनीकी का चयन मुख्यतः बाजार के स्वरूप के द्वारा ही निर्धारित होता है। यदि किसी वस्तु विशेष का बाजार विस्तृत है तो उत्पादन में वृद्धि एवं उच्च तकनीकी का चयन सरलता से किया जा सकता है। इसके विपरीत यदि बाजार सीमित या संकुचित है, तब उत्पादित वस्तु की माँग भी सीमित होगी और परिणामस्वरूप उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करना सम्भव नहीं होगा। प्रसिद्ध परम्परावादी अर्थशास्त्री एडम स्मिथ ने लिखा है, "**श्रम-विभाजन बाजार के विस्तार पर निर्भर करता है।**" दूसरे शब्दों में, बाजार के विस्तृत होने पर ही श्रम-विभाजन से होने वाले लाभों को प्राप्त किया जा सकता है।

10. **व्यावसायिक ढाँचा** (Occupational Structure):- व्यावसायिक ढाँचे से आशय विद्यमान कार्यशील जनशक्ति का विभिन्न उत्पादन क्रियाओं में वितरण से है। सामान्यतः व्यावसायिक क्रियाओं को तीन भागों में वर्गीकृत किया जाता है। ये वर्ग हैं- (अ) **प्राथमिक क्षेत्र** (Primary Sector), (ब) **द्वितीयक क्षेत्र** (Secondary Sector) एवं (स) **तृतीयक क्षेत्र या सेवा क्षेत्र** (Tertiary Sector)।

प्राथमिक क्षेत्र के अन्तर्गत मुख्यतः कृषि, मछली पालन, वन आदि व्यवसायों को रखा जाता है। **द्वितीयक क्षेत्र** में उद्योग, खनिज व्यवसाय, विद्युत, गैस आदि को सम्मिलित किया जाता है। **तृतीयक क्षेत्र**, जिसे सेवा क्षेत्र भी कहा जाता है, में उन सभी सेवाओं को रखा जाता है जो प्राथमिक एवं द्वितीयक क्षेत्र की उत्पादन क्रियाओं में सहायक होती हैं, जैसे यातायात एवं संचार, वितरण प्रणाली, मनोरंजन, लोक प्रशासन आदि।

विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं के व्यावसायिक ढाँचे के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ विकासशील देशों के आर्थिक ढाँचे में प्राथमिक क्षेत्र की प्रधानता होती है, वहाँ विकसित देशों में द्वितीयक एवं तृतीयक क्षेत्रों के व्यवसाय प्रधान रहते हैं। सामान्यतः जैसे-जैसे किसी देश में विकास की प्रक्रिया गतिवान होती है, वैसे-वैसे कार्यशील जनसंख्या का प्राथमिक क्षेत्र से द्वितीयक एवं तृतीयक क्षेत्रों की ओर हस्तान्तरण होता है।

11. **संगठन** (Organisation) :- संगठन का मुख्य कार्य उत्पत्ति के विभिन्न साधनों, यथा- भूमि, श्रम, पूँजी, साहसी आदि को उत्पादन कार्यों में लगाना है। कुशल संगठन के द्वारा ही प्राकृतिक साधनों का समुचित विदोहन होता है तथा उत्पादन, रोजगार एवं राष्ट्रीय आय आदि में वृद्धि होती है। संगठन की सहायता से ही भूमि को कृषि योग्य बनाने, अच्छे बीज व खाद की व्यवस्था करने, जल-स्रोतों का दोहन करने आदि के द्वारा हरित क्रान्ति को सफल बनाया जाता है।

12. **बुनियादी सुविधाएँ** (Basic Facilities):- किसी भी देश के आर्थिक पर्यावरण पर वहाँ उपलब्ध बुनियादी सुविधाओं का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। जिन देशों में विद्युत, सड़क, रेल, संचार सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध

NOTES

होती हैं, वहाँ आर्थिक पर्यावरण भी तेजी से विकसित होता है। बुनियादी सुविधाओं से ही उद्योग, कृषि, खनिज व अन्य व्यावसायिक क्रियाओं का विस्तार होता है।

13. श्रमिकों की दशा (Labour Conditions):- श्रमिक आर्थिक क्रियाओं में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं जहाँ एक ओर पर्याप्त व कुशल श्रमशक्ति, श्रम विभाजन, उत्पादन का बड़ा आकार, मधुर औद्योगिक सम्बन्ध, अच्छ कार्य दशायें, तीव्र आर्थिक विकास का मार्ग प्रशस्त करती हैं; वहीं दूसरी ओर श्रम का अभाव अकुशलता एवं उस प्रवासी प्रकृति व्यवसाय में बाधा, प्राकृतिक साधनों के विदोहन में रुकावट, उत्पादन की मात्रा में कमी तथा उत्पादन अनिश्चितता उत्पन्न करती है। श्रमिकों के शोषण से औद्योगिक अशान्ति उत्पन्न होती है। इससे आर्थिक विकास बाधा आती है।

14. वैधानिक पर्यावरण (Legal Environment) – किसी देश का वैधानिक पर्यावरण उसके आर्थि सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को प्रभावित करता है। वैधानिक पर्यावरण से व्यवसाय को संरक्षण भी मिलता तथा वह सही ढंग से कार्य करने के लिये भी बाध्य किया जा सकता है। वैधानिक ढाँचे के द्वारा जनहित की अभिवृ के प्रयास किये जाते हैं। **कानून के द्वारा सामाजिक कल्याण** एवं **जन आकांक्षाओं** के लिये व्यावसायिक क्रियाओं अनेक प्रतिबंध लगाये जाते हैं।

वैधानिक पर्यावरण का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसके द्वारा आर्थिक जगत् में **व्यवसाय के सभी पहलुओं** **नियंत्रण रखा जाता है**। व्यवसाय से संबंधित क्रियाएँ जैसे—अनुज्ञापन, एकाधिकार व प्रतिबन्धित संव्यवहार, प्रतिभू निर्गमन, स्कन्ध एवं उपज विपणि, संविदा, सम्पत्ति एवं सम्पदा, एजेन्सी, विनिमय साध्य प्रलेख, बैंकों की क्रियाएँ, कम्पनि के निर्माण से लेकर समापन के बाद तक क्रियाएँ, प्रत्याभूति, निक्षेप, साझेदारी, बीमा, विदेशी विनिमय, उपभोक्ता हि व्यावसायिक अपराध, प्रदूषण आदि-आदि वैधानिक वातावरण के अंतर्गत मानी जाती हैं।

15. नैतिक पर्यावरण (Ethical Environment) – जटिल व्यावसायिक परिवेश में नैतिक सिद्धान्त ए संहिताएँ प्रबंधकों के व्यवहार का मार्गदर्शन करती हैं। विश्व के सफलतम राष्ट्रों—जापान, जर्मनी, अमेरिका ने व्यावसायि **नीति शास्त्र के सिद्धान्तों** के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार क्षेत्र में सफलताएँ प्राप्त की हैं। नैतिक मापदंडों ए आदर्शों को ध्यान में रखकर ही व्यवसाय के साधनों तथा साध्यों का निर्धारण होता है।

प्रतिस्पर्धा, कीमत व किस्म निर्धारण, आय वितरण, विज्ञापन, विक्रय, कार्य की दशायें, श्रम कल्याण व सामाजिक सुरक्षा आदि से संबंधित निर्णय नैतिक परिवेश में ही लिये जा रहे हैं। सामाजिक लागतों (Social costs) की समस्य इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है। व्यावसायिक क्रियाओं को नीतिशास्त्र के अनुकूल संचालित करने के लिये कानून तथ सरकार विशेष बल दे रही है।

16. अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण (International Environment)– संचार, परिवहन, तकनीकी, प्रौद्योगिकी बहुराष्ट्रीय व्यवसाय का प्रवेश, देशों के पारस्परिक संबंधों की सुदृढ़ता एवं अनेक क्षेत्रों में आये तीव्र परिवर्तनों से सभ तरह की दूरियाँ कम हुयी हैं। इन्हीं के परिणामस्वरूप एक देश का दूसरे अन्य देशों पर प्रभाव पड़ता है। अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में भी **आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, भौतिक, वैधानिक तथा पर्यावरण** जैसे पहलू समाहित हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की संस्थाएँ एवं अन्तर्राष्ट्रीय घटनाक्रम अपने प्रभावों का संचरण तेजी से करते हैं। व्यावसायिव एवं औद्योगिक स्तर के ऊँचा होने तथा व्यावसायिक दौड़ में अनेक विकसित देशों का आगे होना भी अन्य देशों के व्यवसाय को एक बड़ी सीमा तक प्रभावित करते हैं। कुछ देशों ने विशेष क्षेत्रों में समय एकाधिकार स्थापित कर लिया है तथा वे अन्य देशों को अपनी शर्तें मानने के लिये बाध्य करते हैं। इन क्षेत्रों में तेल एवं पेट्रोलियम, इलेक्ट्रॉनिक उत्पादक, औषधियाँ, वित्त, तकनीकी ज्ञान, प्रबंधकीय कौशल, युद्ध सामग्री, शोध, कई तरह का कच्चा माल, खाद्यान्न व्यापारिक फसलें, यंत्र, मशीनें, कम्प्यूटर्स आदि उल्लेखनीय हैं।

17. **सरकार की भूमिका** (Role of Government) – सरकार की भूमिका की सीमा आवश्यक रूप से सभी आर्थिक व शासन प्रणालियों में एक जैसी नहीं होती। सामान्यतया किसी देश की सरकार निम्नलिखित चार प्रकार की आर्थिक भूमिकाएँ अदा करती है—

(i) **नियमनकर्ता की भूमिका** (Regulatory Role of Government) : सरकार की नियमनकर्ता की भूमिका अत्यन्त व्यापक है। यदि यह कहा जाये कि व्यावसायिक संस्था के जन्म से पूर्व ही नियमन की शुरुआत हो जाती है और यह उस संस्था के जीवन-पर्यन्त चलती है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। व्यावसायिक उपक्रम के प्रारम्भिक जीवन को अनुज्ञापन व्यवस्था, संविदा व्यवस्था, आयात-निर्यात नियंत्रण व्यवस्था तथा कम्पनी कानून जैसी व्यवस्था से विनियमित किया जाता है।

सरकार के द्वारा जो नियंत्रण एवं विनियमन किया जाता है उसे मोटे रूप में **प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियमन** के रूप में विभक्त किया जा सकता है। अप्रत्यक्ष नियंत्रण प्रमुखतः सरकारी नीतियों के माध्यम से लागू किया जाता है तथा प्रत्यक्ष नियंत्रण में अनेक विद्यमान कानूनों की सहायता ली जाती है।

(ii) **प्रवर्तन या संवर्धन भूमिका** (Promotional Role of Government) : सभी अर्थव्यवस्थाओं में चाहे वे विकसित, अर्धविकसित या अविकसित अर्थव्यवस्था की श्रेणी में आती हों, सरकार की प्रवर्तन भूमिका महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस प्रकार की भूमिका के निर्वाह में सरकार विनियमन की अपेक्षा **व्यावसायिक संवर्धन** पर अधिक बल देती है। सरकार उद्योग एवं व्यवसाय के विकास तथा संवर्धन की दृष्टि से उद्योगों को अधिक सहायता प्रदान करने की योजना बनाती है।

(iii) **उद्यमिता की भूमिका** (Entrepreneurial Role of Government) : अनेक देशों में सरकार एक औद्योगिक साहसी की भूमिका का निर्वाह करती है। इसके अधीन सरकार के द्वारा **उपक्रमों की स्थापना तथा संचालन** किया जाता है तथा व्यवसाय से सम्बद्ध अनेक जोखिमों को भी सरकार के द्वारा स्वीकार किया जाता है। सरकार के द्वारा साहसी की भूमिका कुछ देशों में तेजी से बढ़ी है तो कुछ देशों में विगत कुछ वर्षों में तेजी से घटी भी है। इसके कुछ प्रमुख कारण हैं—सामाजिक-राजनीतिक विचारधाराएँ, निजी क्षेत्र की अविकसित स्थिति, अलाभदायक क्षेत्रों में निजी साहस के द्वारा भाग नहीं लेना, प्रतिस्पर्धा का अभाव या अपर्याप्त प्रतिस्पर्धा, एकाधिकार प्रवृत्तियाँ, उपभोक्ताओं का अत्यधिक शोषण आदि।

(iv) **नियोजनकर्ता की भूमिका** (Planning Role of Government) : सरकार की नियोजनकर्ता की भूमिका भी सभी देशों में किसी न किसी रूप में देखने को मिलती है, लेकिन विकासशील अर्थव्यवस्थाओं में जिनमें संसाधनों की बाहुल्यता न होकर कमी रहती है, वहाँ नियोजन की महती भूमिका होती है। नियोजन के बिना संसाधनों का आवंटन, प्राथमिकताओं का निर्धारण, लक्ष्यों का निर्धारण तथा प्राप्ति, पूर्वानुमान, विस्तार एवं विकास कार्यक्रम, कल्याणकारी कार्यक्रमों का निर्माण, गरीबी एवं अशिक्षा उन्मूलन आदि महत्वपूर्ण मुद्दों का क्रियान्वयन प्रायः असम्भव हो जाता है।

निष्कर्ष :- उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि किसी भी देश के आर्थिक पर्यावरण पर अनेक तत्वों, जैसे- प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता एवं दशाएँ, मानवीय संसाधन एवं परिस्थितियाँ, सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्थाएँ, आर्थिक प्रणाली का स्वरूप, तकनीकी विकास की अवस्था, सरकार की आर्थिक नीतियाँ, शासन व्यवस्था एवं उसकी प्रकृति, श्रम सम्बन्धी दशायें, बाजार परिस्थितियाँ एवं दशायें, परिवहन एवं संचार, बैंकिंग-बीमा कार्य, अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ, सहायता सहयोग व नीतियाँ, वैज्ञानिक विकास आदि का प्रभाव पड़ता है। यदि किसी क्षेत्र में अधिकांश आर्थिक पर्यावरण से सम्बन्धित गतिशील एवं उन्नत स्थिति में होते है, तो उस देश का आर्थिक एवं व्यावसायिक विकास एवं विस्तार तेजी से होता है।

गैर-आर्थिक पर्यावरण को प्रभावित करने वाले घटक
(Factors affecting Non-Economic Environment)

व्यावसायिक पर्यावरण को न केवल आर्थिक घटक प्रभावित करते हैं, वरन् गैर-आर्थिक घटकों, यथा सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक एवं कानून का भी प्रभाव पड़ता है। गैर-आर्थिक पर्यावरण का निर्माण उन गैर-आर्थिक घटकों से होता है, जिनके मध्य या परिवेश में किसी देश की व्यावसायिक संस्थाओं अथवा एक व्यावसायिक इकाईयों को कार्य करना पड़ता है। यदि गैर-आर्थिक पर्यावरण प्रगतिशील एवं नवीन विचारों को अपनाने वाला है, तब व्यावसायिक गतिविधियों का तेजी से विकास होता है। इसके विपरीत, यदि गैर-आर्थिक जड़वत् एवं गतिहीन है, तब इनका आर्थिक एवं व्यावसायिक क्रियाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और परिणामस्वरूप विकास की गति धीमी हो जाती है। अनेक अर्थशास्त्रियों ने अनार्थिक तत्वों को, आर्थिक तत्वों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण बताया है। प्रो. नर्कसे का मत है, "आर्थिक विकास मानवीय गुणों, सामाजिक प्रवृत्तियों, राजनैतिक परिस्थितियों एवं ऐतिहासिक संयोगों से बहुत निकट का सम्बन्ध रखता है।"

भारत जैसे किसी भी देश के व्यावसायिक पर्यावरण को प्रभावित करने वाले गैर-आर्थिक घटक या तत्व निम्न प्रकार हैं :-

I सामाजिक पर्यावरण (Social Environment):-

गैर-आर्थिक तत्वों में सामाजिक पर्यावरण का विशेष महत्व है। सामाजिक पर्यावरण के द्वारा ही किसी देश में सामाजिक परिवर्तन या नियोजित परिवर्तन सम्भव होते हैं। सामाजिक पर्यावरण के अत्यन्त व्यापक आयाम हैं और इनसे सम्पूर्ण व्यावसायिक पर्यावरण प्रभावित होता है। भारत में सामाजिक पर्यावरण अनेक तत्वों से निर्मित होता है, जैसे

NOTES

रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, परम्पराएँ, फैशन आदि। इन सभी तत्वों से मिलकर सामाजिक व्यवहार का निर्माण होता है। इन त का विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है :-

लोकाचार एवं रूढ़ियाँ—मानव व्यवहार के वे प्रतिमान हैं जिनका उल्लंघन करना समाज का अपमान क समझा जाता है। ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते रहते हैं, जिन्हें बिना किसी विचार या तर्क के स्वी कर लिया जाता है। लोकाचार के प्रमुख उदाहरणों में एक विवाह प्रथा, सती प्रथा, पतिव्रत, पति सेवा, मातृ-पितृ से बाल-विवाह, विधवा विवाह निषेध, सम्पत्ति उत्तराधिकार के नियम आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रथाएँ—ये भी अनौपचारिक सामाजिक प्रतिमान हैं। जब जनरीतियों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित किया ज है, तो वे प्रथाएँ बन जाती हैं। प्रथाएँ हमारी संस्कृति की धरोहर मानी जाती हैं, उनमें तर्क का होना आवश्यक नहीं प्रथाएँ ऐसी जनरीतियाँ हैं जो एक पीढ़ी तक निरन्तर प्रचलन में रहते हुये औपचारिक मान्यता प्राप्त कर लेती हैं।

परम्पराएँ— यह मनुष्य को विरासत में मिलती है। व्यक्ति के जीवनयापन के लिये अनेक भौतिक व अभौति वस्तुओं की आवश्यकता होती है। यह सब उसे समाज द्वारा प्रदत्त सामाजिक विरासत के रूप में मिलता है। परम में विश्वास की दृढ़ता ही प्रबल शक्ति है। परम्पराएँ हमें धैर्य, साहस एवं आत्मविश्वास प्रदान करती हैं।

फैशन—ये समाज में निरन्तर बनी रहती हैं। इन्हें समझने व इनका विश्लेषण करना व्यवसाय के लिए जरू है। मनुष्य नवीनता एवं भिन्नता के लिये परिवर्तन चाहता है। वह प्राचीन आदर्शों का अन्धानुकरण करता हुआ नवीनता व परिवर्तन का प्रेमी है। जनरीतियाँ, लोकाचार, प्रथा, परम्परा, नैतिकता, परिपाटी एवं शिष्टाचार में अपेक्षाकृ स्थायित्व पाया जाता है, जबकि फैशन पूर्णतः अस्थायी प्रकृति के होते हैं। औद्योगीकरण की वृद्धि के साथ-साथ फैश का प्रचलन भी बढ़ा है।

सामाजिक पर्यावरण, जो व्यावसायिक संरचना को निर्धारित करता है, में जाति प्रथा, वर्ग व्यवस्था, पारिवारि संरचना, सामाजिक संस्थाएँ, सामाजिक मूल्य का विशेष महत्व है। भारत के सन्दर्भ में इसका विस्तृत विवरण निम्नानुस है :-

(अ) **जाति प्रथा** (Caste System) : जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता जन्मजात होती प्रत्येक जाति का एक नाम और एक व्यवसाय होता है। एक जाति के लोगों का एक वंशानुगत पेशा होता है और ए जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते हैं। वर्तमान समय में जाति में अनेक परिवर्तन हुये हैं और उसक परम्परागत स्वरूप विघटित हुआ है। जाति व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन या इसको निर्बल बनाने वाले कारक इ प्रकार हैं—

(i) धन का बढ़ता महत्व, (ii) यातायात व संचार के साधनों में उन्नति, (iii) स्त्री शिक्षा का विस्तार स्त्री को समाज में उच्च स्थान, (iv) संयुक्त परिवारों का विघटन, (v) स्वतंत्रता आंदोलन व प्रजातंत्र की स्थापन और (vi) औद्योगीकरण एवं नगरीकरण आदि।

इन कारणों के परिणामस्वरूप जाति-व्यवस्था की संरचना एवं कार्यों में अनेक परिवर्तन आये हैं और जाति निम्नांकित नवीन प्रवृत्तियों का उदय हुआ है—

(i) जातियों के पारस्परिक संबंधों में परिवर्तन आया है, (ii) व्यक्ति के महत्व को आँकने का आधार अ किसी जाति विशेष में जन्म लेना नहीं है, और (iii) वर्तमान में जाति के विवाह संबंधी नियंत्रण शिथिल हुये हैं; अ अन्तर्जातीय विवाह, विलम्ब विवाह, विवाह विच्छेद एवं पुनर्विवाह आमतौर से होने लगे हैं आदि।

(ब) **वर्ग व्यवस्था** (Class System) : वर्तमान में हमारे यहाँ जाति प्रथा दिनों दिन कमजोर होती जा रही है और इसके स्थान पर वर्ग व्यवस्था का विकास हो रहा है। आज हमें प्रशासक वर्ग, कृषक वर्ग, मजदूर वर्ग, व्यापार वर्ग, पूँजीपति वर्ग, अध्यापक वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग, नौकरशाही वर्ग आदि के रूप में अनेक वर्ग दिखायी देते है।

भारतवर्ष में वर्गों के बनने के अनेक आधार हैं, जैसे—

(1) व्यवसाय की प्रकृति, (2) विभिन्न धर्म एव सम्प्रदाय, (3) निवास की स्थिति तथा अवधि, (4) सम्पत्ति धन और आय का वितरण, और (5) शिक्षा, प्रशिक्षण एवं पेशेवर शिक्षा आदि।

(स) **पारिवारिक संरचना** (Structure of Family) : समाज के सभी स्तरों में चाहे उन्हें उन्नत कहा जाये या निम्न, किसी न किसी प्रकार का पारिवारिक संगठन अनिवार्यतः पाया जाता है। मनुष्य की समस्त सामाजिक संस्थाओं में परिवार एक आधारभूत एवं सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। परिवार एक समूह, एक संघ तथा एक संस्था के रूप में समाज में विद्यमान है। मानव समाज के विकास के साथ-साथ परिवार के भी अनेक रूप अस्तित्व में आये हैं। प्रत्येक स्थान की भौगोलिक, आर्थिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की परिवार व्यवस्था को जन्म दिया है। मुख्य रूप से केन्द्रीय या एकल परिवार, संयुक्त परिवार तथा विस्तृत परिवारों की विद्यमानता समाज में रही हैं। विस्तृत

परिवार का प्रायः लोप हो चुका है तथा अब केन्द्रीय या नाभिक परिवार अधिक संख्या में पनपने लगे हैं। नवीन परिस्थितियों के कारण संयुक्त परिवार में होने वाले परिवर्तनों को कुछ विद्वानों ने 'पारिवारिक विघटन' माना है, तो कुछ इसे स्वरूप परिवर्तन ही कहते हैं। पारिवारिक संरचना का भी व्यवसायों पर प्रभाव पड़ता है।

(द) समाज एवं संस्थाएँ (Society and Institutions) : समाज व देश में अनेक सामाजिक संस्थाएँ होती हैं। सामाजिक संस्था समाज की एक ऐसी संरचना है जिसे मुख्यतः सुस्थापित प्रणालियों के द्वारा लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये संगठित किया जाता है। किसी देश में पायी जाने वाली संस्थाएँ अनेक प्रकार की होती हैं, जैसे— धार्मिक संस्थाएँ, राजनीतिक संस्थाएँ, सांस्कृतिक संस्थाएँ, शैक्षणिक संस्थाएँ, आर्थिक संस्थाएँ और सामाजिक संस्थाएँ।

समाज में विद्यमान संस्थाएँ समाज के कल्याण एवं एक नयी सामाजिक संरचना में योगदान के लिये निम्नलिखित कार्य करती हैं—

(i) व्यक्तियों के कार्य को सरल बनाती हैं।

(ii) परिवार और जाति नामक संस्थाएँ हजारों वर्षों से अनेक रूपों में अपने सदस्यों के व्यवहारों को नियंत्रित कर रही हैं।

(iii) संस्थाएँ संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करने का महत्वपूर्ण कार्य करती हैं।

(iv) संस्थाएँ सामाजिक परिवर्तन में सहायक होती हैं।

(इ) सामाजिक मूल्य (Social Values) : सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य, समाज तथा संस्कृति की देन हैं। समाज में रहते हुये, व्यवसाय में कार्यरत एक व्यावसायिक उपक्रम को सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्यों को समझना आवश्यक हो जाता है। ऐसा करना उपक्रम की व्यावसायिक सफलता के लिये जरूरी है और इसलिये भी कि वह समाज का ही एक अंग है, उसने भी संस्कृति से अनेक संस्कार ग्रहण किये हैं तथा समाज और संस्कृति की सेवा करना, उसका कर्तव्य तथा दायित्व हो जाता है। यह भी सच है कि सामाजिक मूल्यों का संबंध किसी व्यक्ति विशेष से न होकर सम्पूर्ण समाज से होता है। आधुनिक समय में जो भी व्यवसायी सामाजिक मूल्यों के प्रति सजग रहा है, उसकी गरिमा में वृद्धि हुई है। सामाजिक मूल्यों में समय-समय पर परिवर्तन भी होते रहते हैं। सामाजिक मूल्यों में परिवर्तनों के कारण ही पिछले कुछ दशकों में नयी सामाजिक मान्यताओं की स्थापना हुई है, जिनका व्यावसायिक दर्शन के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। नयी मान्यताओं में से कुछ प्रमुख मान्यताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) जाति, धर्म और सम्प्रदाय से अलग हटकर व्यक्ति के प्रति आदर-भावना में वृद्धि हुई है।

(ii) व्यवसाय में प्रतिस्पर्धा की भावना का विकास हुआ है।

(iii) विज्ञान एवं तकनीक तथा तर्कसंगत बातों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है।

(iv) व्यवसाय के प्रति सद्भावना एवं विश्वास में पहले की अपेक्षा वृद्धि हुई है।

(v) व्यक्तियों के पद व घरानों से संबंध की बजाय उनके कार्यों, योग्यताओं व व्यवहार का सम्मान होने लगा है।

(vi) शिक्षण, प्रशिक्षण तथा ज्ञानार्जन के प्रति रुचि एवं अभिरुचि में अभिवृद्धि हुई है।

(vii) उच्च जीवन स्तर-यापन में विश्वास के फलस्वरूप नयी सामाजिक संरचना ने व्यवसाय की कार्य पद्धतियों व प्रणालियों में गहन परिवर्तन किये हैं।

(viii) कार्य के नये ढंग, विधि, प्रविधि तथा तकनीक विकसित करने के लिये परिवर्तन, प्रयोग एवं शोध का महत्व बढ़ा है।

2. **सांस्कृतिक पर्यावरण** (Cultural Environment) - संस्कृति जीवन की सम्पूर्ण विधि है तथा मानसिक, सामाजिक एवं भौतिक साधन है, जिससे कि जीवन की सम्पूर्ण विधि बनी हुई है। संस्कृति मानव की श्रेष्ठतम धरोहर है, जिसकी सहायता से वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ता जा रहा है। बिना संस्कृति के मानव समाज का निर्माण सम्भव नहीं है। ई.डब्ल्यू. टेलर कहते हैं कि "संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा एवं ऐसी ही अन्य क्षमताओं एवं आदतों का समावेश है जो मनुष्य द्वारा समाज का एक सदस्य होने के नाते प्राप्त की जाती हैं।"

संस्कृति मानव के सीखे हुये व्यवहार-प्रतिमानों का योग है। संस्कृति मनुष्य को अपने माता-पिता द्वारा उसी प्रकार वंशानुक्रमण में प्राप्त नहीं होती, जिस प्रकार से शरीर रचना प्राप्त होती है। एक मनुष्य जिस समाज में पैदा होता है, उसी संस्कृति को धीरे-धीरे समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखता है। एक मनुष्य का पालन-पोषण किसी सांस्कृतिक

NOTES

पर्यावरण में ही होता है। संस्कृति में प्रचलित रीति-रिवाजों, धर्म, दर्शन, कला, संगीत, विज्ञान, प्रथाओं व व्यवहार की छाप व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ती है।

संस्कृति की विशेषताएँ (Characteristics of Culture) : भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) संस्कृति में संतुलन एवं संगठन होता है।

(ii) संस्कृति मनुष्य और जीवन से ऊपर व श्रेष्ठ है।

(iii) संस्कृति किसी भी समाज की एक अमूल्य धरोहर है।

(iv) संस्कृति समूह के लिये आदर्श होती है।

(v) मानव व्यक्तित्व के निर्माण से संस्कृति निरन्तर सहायक होती है।

(vi) पीढ़ी-दर-पीढ़ी संस्कृति का हस्तान्तरण होता रहता है।

(vi) संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।

3. धार्मिक पर्यावरण (Religious Environment) – किसी भी देश में वहाँ के धार्मिक विश्वासों व आर्थिक विकास पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। प्रायः यह देखा गया है कि धार्मिक तत्व अर्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास में सहायक न होकर बाधक सिद्ध हुए हैं। धार्मिक कट्टरता से अन्धविश्वासों का जन्म होता है जो कि आर्थिक विकास में रुकावटें पैदा करते हैं। उदाहरणार्थ - भारत में लड़कियों का शीघ्र विवाह करना एक धार्मिक कर्तव्य माना जाता है, किन्तु इस विश्वास से देश में जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई जो आर्थिक विकास के मार्ग में एक बाधा के रूप में आई।

भारत जैसे धर्म-प्राण देश में धर्म का विशेष महत्व रहा है। हमारा देश एक विशाल जनसंख्या और काफी विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र वाला देश है। इस देश के निवासी विभिन्न धर्मों के अनुयायी हैं। भारतीय समाज में हिन्दू, जैन, सिख, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई तथा पारसी धर्म के मानने वाले लोग पाये जाते हैं। धर्म के आधार पर ही समाज व्यवस्था, सामाजिक संस्थाओं एवं समस्त मानव जीवन को व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया है। धर्म ही एक ऐसी सामाजिक संस्था है जो व्यक्ति को अपने आप को परिस्थितियों से अनुकूलन करने में सहायता देता है। दुर्खीम का मत है कि धर्म उन सभी लोगों को एकता के सूत्र में पिरोता है, जो इसमें विश्वास करते हैं। धर्म सामाजिक कल्याण एवं मूल्यों को महत्वपूर्ण स्थान देकर सामाजिक एकीकरण में वृद्धि करता है। धर्म के द्वारा सामाजिक नियमों एवं नैतिकता की पुष्टि सम्भव होती है।

4. राजनैतिक तत्व (Political Factors) – आर्थिक विकास पर राजनैतिक तत्वों का भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। सरकार की दृढ़ इच्छा-शक्ति, कुशल प्रशासन एवं राजनैतिक स्थिरता से विकास तेजी से होता है। इसके विपरीत राजनैतिक अस्थिरता, सरकार की उदासीनता एवं भ्रष्ट प्रशासन की स्थिति का आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता है। प्रो. नर्कसे ने ठीक ही लिखा है, "कोई भी देश योग्य सरकार के प्रयासों के बिना आर्थिक प्रगति नहीं कर सकता है।"

विश्व इतिहास पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि संसार में विकास और अल्प-विकास की प्रक्रियाएँ एक साथ चलती हैं। भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश, श्रीलंका, मलेशिया, कीनिया आदि देशों का अल्प-विकास इंग्लैंड के विकास का परिणाम है। इंग्लैंड ने इन उपनिवेशों का जिस प्रकार शोषण किया उससे इंग्लैंड में तो भारी विकास हुआ परन्तु ये सभी देश आर्थिक दृष्टि से पिछड़ गए। इसी प्रकार फ्रांस का विकास, अल्जीरिया तथा हिंदचीन के अल्प-विकास, नीदरलैंड्स का विकास, इंडोनेशिया के अल्प-विकास और लैटिन अमेरिकी देशों का अल्प-विकास संयुक्त राज्य अमेरिका के विकास से जुड़ा हुआ है। वास्तव में इसे एक-दूसरे से अलग करके समझ सकना कठिन है। संक्षेप में, ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता कि औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत किसी देश का आर्थिक विकास हुआ हो। अतः आर्थिक विकास के लिए राजनैतिक स्वतंत्रता का विशेष महत्व है।

5. न्यायपूर्ण सामाजिक संगठन (Justified social organisation)- विकास की प्रक्रिया उसी समय तेज हो सकती है जब देश के विकास कार्यक्रमों में सभी व्यक्तियों की भागीदारी हो और यह उसी समय संभव होगा जबकि सामाजिक संगठन न्यायपूर्ण हो। जिस समाज का गठन इस प्रकार का है कि राष्ट्रीय आय में होने वाली सम्पूर्ण वृद्धि देश के सबसे अधिक सम्पन्न वर्गों के पास पहुँच जाती है वहाँ जनसाधारण से आर्थिक विकास में योगदान की आशा करना व्यर्थ है। भारत में औद्योगिक क्षेत्र में एकाधिकारी तत्वों के हाथ में आय और संपत्ति का केन्द्रीकरण बढ़ा है तथा ग्रामीण क्षेत्रों में हरित क्रांति के परिणामस्वरूप धनी किसानों की आय अपेक्षाकृत तेजी से बढ़ी है। इन दोनों प्रवृत्तियों

के परिणामस्वरूप आर्थिक असमानताएँ बढ़ी हैं जिससे भारत में सामाजिक ढाँचा न्यायपूर्ण नहीं है। यही कारण है कि आज साधारण भारतीय को विकास योजनाओं में कोई रुचि नहीं है।

NOTES

6. शिक्षा एवं तकनीकी ज्ञान (Education & Technical Knowledge)– सभी लोग इस बात को स्वीकार करते हैं कि तकनीकी ज्ञान का विकास दर पर सीधा प्रभाव पड़ता है। जैसे-जैसे वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रगति होती है वैसे-वैसे अधिक उत्पादकता वाली तकनीकों का ज्ञान होता है जिससे उत्पादन का स्तर तेजी से बढ़ता है। शुम्पीटर ने तो उद्यमियों द्वारा किए जाने वाले **नव-प्रवर्तनों** (innovations) को पूँजीवादी विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान दिया है। अमर्त्य कुमार सेन के अनुसार मानव पूँजी में निवेश (अर्थात् शिक्षा पर व्यय) से आर्थिक विकास में तेजी आती है, परन्तु शिक्षा पर निवेश से आर्थिक विकास में कितना योगदान मिलता है इसकी परिमाणात्मक जाँच (quantitative measurement) आसान नहीं है।

7. भ्रष्टाचार से मुक्ति (Eradication of corruption)– भारत जैसे विकासशील देशों में व्याप्त भ्रष्टाचार का इन देशों के आर्थिक विकास पर व्यापक प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। जब तक सरकारी तन्त्र भ्रष्ट है उस समय तक लोकतंत्रीय प्रणाली में सम्पन्न पूँजीपति, व्यापारी तथा अन्य लोग विभिन्न प्रकार से अपने व्यक्तिगत हित में राष्ट्रीय साधनों का दुरुपयोग करेंगे। भ्रष्ट समाज में योजनाओं पर होने वाले व्यय का एक भाग तो सरकारी अफसर और दूसरे कर्मचारी हड़प कर जाते हैं। सरकार गलत लोगों को लाइसेंस देती है। टैक्सों की चोरी में करदाताओं के साथ सरकारी अफसर मिले रहते हैं।

8. कानून एवं व्यवस्था (Law and Order) – आर्थिक पर्यावरण के विस्तार के लिए शान्ति, स्थिरता, प्रशासकीय व्यवस्था आदि आवश्यक हैं, किन्तु यह तभी सम्भव है जब देश में वैधानिक सरकार हो तथा कानून एवं व्यवस्था का कड़ाई से पालन हो रहा हो। आतंकवाद एवं अन्य इसी प्रकार के दोषों से आर्थिक गतिविधियाँ धीरे-धीरे समाप्त हो जाती हैं। कश्मीर की अर्थव्यवस्था इसका उदाहरण है।

गैर-आर्थिक घटकों (सामाजिक-सांस्कृतिक) की विशेषताएँ
(Characteristics of Non-Economic Factors - Socio-cultural)

गैर-आर्थिक तत्वों अथवा सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य भिन्नताएँ लिये होते हैं—प्रत्येक समाज एवं संस्कृति के अपने मूल्य होते हैं, जो दूसरे समाज और संस्कृति से भिन्न होते हैं। भारतीय समाज व संस्कृति एवं पश्चिमी समाजों व संस्कृतियों के मूल्य में भिन्नता पायी जाती है।

2. सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य गतिशील होते हैं– सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य हमेशा एक समान नहीं होते। समय और परिस्थितियों के साथ इनमें परिवर्तन आता रहता है। मूल्यों का उद्देश्य समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है, अतः जब समाज की आवश्यकताएं बदलती हैं, तो ये मूल्य भी परिवर्तित होते हैं।

3. सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य सामाजिक कल्याण व आवश्यकताओं के लिये महत्वपूर्ण— सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य समूह के कल्याण एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक हैं। इनके अनुरूप आचरण करने पर ही समूह में संगठन, एकमतता व एकरूपता बनी रहती है। इनके अभाव में सामाजिक संबंधों में समानता लाना कठिन है।

4. सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य भावनाओं से जुड़े होते है—मूल्यों के साथ लोगों की भावनाएँ जुड़ी हुई रहती हैं। यही कारण है कि वे व्यक्तिगत हितों को तिलांजलि देकर भी इनकी रक्षा करते हैं। देशभक्ति के मूल्यों की रक्षा के लिये ही लोग युद्ध में अपना बलिदान देते हैं।

5. सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य-समूह सामाजिक मानक है—मानक का तात्पर्य है जिनके द्वारा हम किसी वस्तु या व्यवहार को मापते हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य भी मानक हैं, जिनके द्वारा हम किसी वस्तु, व्यवहार, लक्ष्य, साधन, गुण आदि को अच्छा या बुरा, उचित या अनुचित, वांछित या अवांछित ठहराते हैं।

6. सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य समाज द्वारा स्वीकार किये जाते हैं—समूह एवं समाज के सभी लोगों में इन मूल्यों के बारे में एकमतता पायी जाती है। वे सभी उन्हें स्वीकार करते हैं और सहमति प्रदान करते हैं।

7. सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य सामूहिक होते है—मूल्यों का किसी व्यक्ति विशेष से सम्बंध नहीं होता बल्कि ये सारे समाज व समूह की धरोहर होते हैं। इनका निर्माण किसी एक व्यक्ति के द्वारा नहीं किया जाता, बल्कि ये सामूहिक अन्तःक्रिया की उपज एवं परिणाम होते हैं।

NOTES

सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों में भारतीय परम्पराओं का महत्व
(Importance of Indian Traditions in Socio-cultural Values)

एडवार्ड शिल्स यह कहते हैं कि "वर्तमान में जितनी भी चीजें हैं, उनका एक भूतकाल (इतिहास) रहा है। जो कु भी घटित होता है, वह अपनी भूतकाल की पकड़ से पूर्णतः मुक्त नहीं होता। जो भी नवीनताएँ हैं, वे पूर्व में जो कु मौजूद था, उसी का रूपान्तरण हैं।" परम्पराएँ एक ऐसी प्रक्रिया का परिणाम है जिसमें सांस्कृतिक विरासत के तत्व ए पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित किये जाते हैं। परम्पराओं का मुख्य वाहक भाषा है।

भारतीय परम्पराएँ भारतीय समाज की अमूल्य निधि हैं। अपनी मौलिक परम्पराओं के कारण ही भारतीय समा आज भी जीवित है, जबकि विश्व के अनेक प्राचीन समाज पतन के गर्त में जा चुके हैं। भारतीय समाज का विश इतिहास में अनूठा स्थान है।

भारतीय परम्पराओं की कुछ प्रमुख व महत्वपूर्ण विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. **खण्डात्मकता**—प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी परिवार, वंश, जाति, उपजाति व नातेदारी समूह का सदस होता है। यह खण्डात्मकता हमें धर्म व देवी-देवताओं में भी मिलती है।

2. **परलोकवाद**—भारतीय परम्परा में इस भौतिक जगत के स्थान पर परलोक अर्थात् आध्यात्मिक जगत व अधिक महत्व दिया गया है। इस जगत को 'माया' की संज्ञा दी गयी है, जिसका तात्पर्य है कि हम जो कुछ देख र हैं वह सब नश्वर है।

3. **धर्म**—भारतीय समाज की परम्परा धर्म प्रधान रही है। यहाँ धर्म के द्वारा मानव जीवन के प्रत्येक व्यवहा को नियंत्रित करने का प्रयास किया गया है। भारतीयों का धर्म सभी जीवों के कल्याण, क्षमा और दया में विश्वा करता है।

4. **पुरुष-प्रधानता**—यहाँ स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को श्रेष्ठ माना जाता है। भारतीय समाज पुरुष-प्रधान समा है। कई ऐसे कार्य हैं जो केवल पुरुषों के लिये ही निर्धारित हैं।

5. **संगति**—यह विभिन्न रूपों व अवस्थाओं में दिखायी देती है। मानव शरीर के विभिन्न अंगों की तरह मनुष्य और अलौकिक शक्ति के बीच, परिवार में विभिन्न सदस्यों के बीच, ग्रामीण जीवन व राजनीति के बीच संगति रहत है। इसके अभाव में विघटन शुरू हो जाता है।

6. **संस्तरण**—समाज उच्च व निम्न समूहों में बँटा हुआ है। आधुनिक औद्योगिक संगठनों तथा अन्य संगठनें में भी एक निश्चित संस्तरण (Hierarchy) देखने को मिलता है।

7. **बौद्धिकवाद**—बौद्धिकवाद को जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। बौद्धिक एवं धार्मिक क्रियाओं का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति का शरीर के बंधन से मुक्त होना है।

8. **जीवन चक्र**—जीवों को जन्म-मरण के चक्र से गुजरना होता है। भारतीय परम्परा में 84 लाख योनियों की कल्पना की गयी है, जिनमें से व्यक्ति को गुजरना पड़ता है। मोक्ष प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति ही जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होता है।

9. **कौटुम्बिकता**—भारतीय परम्पराओं में व्यक्ति की अपेक्षा परिवार और नातेदारी को अधिक महत्व दिया गया है। विवाह को दो व्यक्तियों का नहीं, बल्कि दो परिवारों का मिलन माना जाता है।

10. **अहिंसा**—बुद्ध, महावीर और गाँधी भारत में अहिंसा के पुजारी माने जाते हैं। व्यक्तियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे प्रत्येक जीवन का आदर करें और उसके प्रति मन, कर्म तथा वचन से किसी प्रकार से भी हिंसा न करें।

11. पवित्रता-अपवित्रता की धारणा—इन्हें हमारे समाज में उच्च विचार से देखा गया है। पवित्रता की अपेक्षा अनेक स्थानों, अवसरों पर व्यक्ति/जाति विशेष के लिए की जाती है। अनेक बातों को अपवित्र माना गया है तथा उनसे दूर रहने की अपेक्षा की जाती है।

(i) निष्काम कर्म व पुनर्जन्म सिद्धान्त में विश्वास।

(ii) नैतिकता का निर्वाह।

(iii) लोगों का अध्यात्मवाद में विश्वास।

(iv) वैराग्य और सहिष्णुता व प्रेम-भाव की विद्यमानता

(v) सत्य आत्मा व ईश्वर में विश्वास।

(vi) सर्वोदय एवं सर्वांगीणता की विचारधाराओं में विश्वास।

(vii) न्यासिता की प्रबलता में विश्वास।

NOTES

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. आर्थिक पर्यावरण को परिभाषित कीजिए और इसके विभिन्न तत्वों की विवेचना कीजिए।
2. आर्थिक पर्यावरण क्या है ? इसकी विशेषताएँ बताते हुए इसके उद्देश्य समझाइए।
3. व्यावसायिक वातावरण से क्या तात्पर्य है? इसके आर्थिक एवं गैर आर्थिक घटकों की विवेचना कीजिए।
4. व्यावसायिक वातावरण के घटकों का उल्लेख कीजिए। गैर-आर्थिक घटक किस प्रकार से व्यवसाय को प्रभावित करते हैं ? समझाइये।
5. व्यवसाय के गैर-आर्थिक पर्यावरण की विवेचना कीजिए।
6. **निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए :-**
   - (i) सामाजिक पर्यावरण (Social Environment)
   - (ii) सामाजिक मूल्य (Social values)
   - (iii) गैर-आर्थिक घटकों की विशेषताएँ।
   - (iv) आर्थिक पर्यावरण को प्रभावित करने वाले आर्थिक तत्व।
   - (v) आर्थिक पर्यावरण में सरकार की भूमिका।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

4

आर्थिक प्रणाली
(ECONOMIC SYSTEM)

आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समस्याओं का समाधान एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को पूर्ण क के लिए कोई न कोई विधि, व्यवस्था, प्रणाली अथवा पद्धति का अपनाना अत्यन्त ही आवश्यक है। यही कारण है संसार के विभिन्न राष्ट्रों में भिन्न-भिन्न आर्थिक पद्धतियों का प्रादुर्भाव समय-समय पर होता रहा है जिसका आ लेकर देशवासी अपने ही उपभोग के लिए उत्पादन करते हैं तथा वस्तुओं का विनिमय करते हैं। प्रत्येक समाज में व संस्थाएँ, मान्यताएँ एवं परम्पराएँ होती हैं जिनके सम्बन्ध में आर्थिक क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं। ये संस्थाएँ तथा मान्यत परिवर्तित होती रहती हैं और उसी प्रकार आर्थिक पद्धतियाँ भी प्रभावित होती रहती है।

गत-दो तीन शताब्दियों में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था भली-भाँति पनप चुकी है। औद्योगिक क्रान्ति के प्रभावस्वर पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का विभिन्न देशों के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। कुछ देशों में पूँजीवा अर्थव्यवस्था एवं पद्धति का विकास आज भी होता जा रहा है। जहाँ एक ओर इस आर्थिक पद्धति की विशेषताएँ वहाँ दूसरी ओर इस पद्धति में कुछ स्पष्ट त्रुटियाँ हैं। शायद इसी कारण बीसवीं शताब्दी में साम्यवाद एवं तानाशा पद्धतियों का विकास हुआ और कुछ देशों ने स्पष्ट रूप से पूँजीवाद को समाप्ति करके साम्यवादी अर्थव्यवस्था आश्रय लिया।

प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध के पश्चात कुछ देशों ने समाजवादी अर्थव्यवस्था को स्वीकार किया है। समाजवा अर्थव्यवस्था पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से बहुत कुछ भिन्न है। इस पद्धति का परिपालन रूस में प्रथम महायुद्ध के पश्च एक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ। साम्यवाद तथा समाजवाद का बोलबाला रूस में आज भी चरम सीमा पर है।

इन दो महायुद्धों के आन्तरिक काल में इटली तथा जर्मनी में कुछ अन्य प्रकार की आर्थिक पद्धति का विका हुआ। इन दोनों देशों में मुसोलिनी तथा हिटलर के नेतृत्व में तानाशाही पद्धति का उदय हुआ। इस प्रकार पूँजीवा समाजवाद, साम्यवाद तथा तानाशाही आर्थिक पद्धतियों की विचारधारा भिन्न-भिन्न देशों में आज तक पनपती रही है

पूँजीवाद
(Capitalism)

व्यक्तिवाद के अन्तर्गत राज्य को व्यक्ति की सुख-सुविधा का साधन मात्र माना गया और राज्य के कर्तव्यों क क्षेत्र को अत्यन्त सीमित रखा गया। राज्य को मुख्य रूप से दो कार्य ही करने चाहिए शान्ति-रक्षा तथा न्याय व्यवस्था एडम स्मिथ, माल्थस, रिकार्डो तथा जॉन स्टुअर्ट आदि अर्थशास्त्रियों ने व्यक्तिवाद का समर्थन किया। व्यक्तिवादी अर्थशास्त्र का जन्म फ्रांस में भौतिक अर्थशास्त्री विचारकों द्वारा किया गया, जिसे 'स्वतन्त्रता' (physiocrats) के नाम से जान जाता था। इनके विचारों को अंग्रेजी अर्थशास्त्रियों द्वारा उत्तरोत्तर विकसित किया गया। वर्तमान समय में विभिन्न राष्ट्रों का आर्थिक विकास पूँजीवाद या समाजवाद में से किसी एक सिद्धान्त पर आधारित रहता है। पूँजीवाद के अन्तर्गत निजी अर्थव्यवस्था का अधिक महत्व रहता है और निजी व्यक्ति ही देश की अर्थव्यवस्था का पूर्ण रूप से नियमन एव संचालन करते हैं। इसके विपरीत, समाजवादी अर्थव्यवस्था में देश के आर्थिक विकास का संचालन, नियंत्रण एवं नियम सरकार के हाथ में केन्द्रीत हो जाता है। इसमें निजी अर्थव्यवस्था को प्रायः विशेष स्थान नहीं दिया जाता। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के आधार पर विकास करने वाले राष्ट्रों में ग्रेट ब्रिटेन, अमरीका एवं जापान आदि का स्थान महत्वपूर्ण है इसी प्रकार समाजवादी अर्थव्यवस्था के आधार पर विकास करने वाले राष्ट्रों में रूस, चीन एवं पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों को सम्मिलित करते हैं। वर्तमान समय में विकासशील देशों के आर्थिक विकास के लिए **मिश्रित अर्थव्यवस्था** को ही अपनाया जा रहा है। मिश्रित अर्थव्यवस्था का विचार न केवल भारत के लिए वरन् समस्त विश्व के लिए एक नवीन विचारधारा है। मिश्रित अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक एवं निजी दोनों ही क्षेत्रों को समान महत्व दिया जाता है और दोनों ही साथ-साथ मिलकर कार्य करते हैं।

NOTES

पूँजीवाद का अर्थ
(Meaning of Capitalism)

मानव सभ्यता के विकास के इतिहास का सम्बन्ध पूँजीवादी अर्थव्यवस्था से जोड़ा जा सकता है। पूँजीवाद में पूँजी की सहायता से पूँजी में वृद्धि करना ही प्रमुख उद्देश्य माना जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रणाली अत्यन्त प्राचीन आर्थिक प्रणाली है। स्वतंत्र उपक्रम एवं न्यूनतम राजकीय हस्तक्षेप इस प्रणाली के दो आवश्यक लक्षण माने जाते हैं। पूँजीवाद का प्रारम्भ भूमि एवं उत्पत्ति के अन्य साधनों के स्वामित्व की प्रणाली के प्रारम्भ से माना जाता है। पूँजीवाद में विनियोजन एवं विनिमय संस्थाओं की स्थापना को सम्मिलित किया जाता है। पूँजीवाद में सम्पन्न एवं धनी व्यक्तियों द्वारा साधनहीन एवं निर्धन व्यक्तियों का शोषण करके अपनी धन-सम्पन्नता में वृद्धि करना एक आधारभूत विशेषता मानी जाती है। पूँजीवाद में वर्ग-भेद एवं वर्ग-संघर्ष का विस्तार होता है तथा श्रमिकों के शोषण करने के प्रयत्न किये जाते हैं। इस प्रकार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में निजी उपक्रम, प्रतियोगिता एवं निजी सम्पत्ति आदि बातें उपलब्ध रहती हैं। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में नियोजन मूल्य यंत्रीकरण द्वारा किया जाता है। इस सम्बन्ध में **प्रो. लुइस** के अनुसार, "राज्य अपनी इच्छानुसार योजना का निर्माण कर सकता है, परन्तु योजना का निर्माण निर्देशन (direction) द्वारा न होकर बाजार के शोषण (manipulation) द्वारा होना चाहिए।"

पूँजीवाद की परिभाषाएँ
(Definitions of Capitalism)

पूँजीवाद की कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं –

(1) **प्रो. डी. मैकराइट** के अनुसार, "पूँजीवाद एक ऐसी पद्धति है, जिसमें औसतन रूप में, आर्थिक जीवन का अधिकांश भाग और विशेषकर नवीन विनियोग निजी व्यक्तियों (गैर सरकारी) द्वारा पूर्ण स्वतंत्रता की क्रियात्मक (active) परिस्थितियों एवं लाभ की आशा की प्रेरणा से किया जाता है।"

इस परिभाषा का विश्लेषण करने से पूँजीवाद में तीन विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं– निजी उपक्रम, स्वतंत्र प्रतियोगिता एवं लाभ भावना।

(2) **लुक्स व हुट्स** के अनुसार, "पूँजीवाद आर्थिक संगठन की एक ऐसी पद्धति है जो निजी स्वामित्व और निजी लाभ के प्रयोग से, जो कि मानव द्वारा एवं प्रकृति द्वारा बनायी पूँजी से बनता है, सुशोभित (featured) है।"

इस परिभाषा में निजी सम्पत्ति एवं लाभ की भावना पर अधिक जोर दिया गया है और इसका गैर-आर्थिक संस्थाओं, जैसे– धर्म, संस्कार, आदि से कोई सम्बन्ध नहीं है।

(3) **मौरिस डॉब** के अनुसार, "पूँजीवाद एक ऐसी पद्धति है, जो निजी उपक्रम की बहुतायत से पहचानी जाती है। यह एक ऐसी पद्धति है जहां आर्थिक व सामाजिक सम्बन्धों को अनुबन्ध द्वारा निश्चित किया जाता है, जहाँ मनुष्य अपने जीवन-निर्वाह के लिए एक स्वतंत्र एजेण्ट माना जाता है तथा जहाँ कानूनी मान्यताओं व प्रतिबन्धों का अभाव बना रहता है। इसी कारण पूँजीवाद स्वतंत्र व्यापार की सीमा (regime of laisses fair) एक स्वतंत्र प्रतिस्पर्द्धा के वाक्यों से मिलता-जुलता है।"

वेब्स ने पूँजीवाद के बारे में कहा है कि "पूँजीवाद या पूँजीवादी सभ्यता का अर्थ उद्योग के विकास एवं वैधानिक संगठन की उस व्यवस्था से है जिसमें श्रमिकों का समुदाय उत्पत्ति के साधनों के स्वामित्व से वंचित कर दिया जाता है, तथा ऐसे पारिश्रमिक अर्जित करने वालों में परिणत कर दिया जाता है जिससे इनका जीवन निर्वाह तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता राष्ट्र के उन कतिपय व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर होता है जो भूमि, यंत्र एवं श्रम शक्ति के स्वामी हैं तथा जो अपने वैधानिक स्वामित्व के द्वारा उनके प्रबन्ध का नियमन करते हैं तथा सभी कार्य निजी एवं व्यक्तिगत लाभ हेतु करते हैं।"

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ
(Characteristics of Capitalist Economy)

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं –

(1) **सम्पत्ति पर निजी अधिकार व स्वामित्व** (Private Right and Ownership on Property)– सम्पत्ति पर निजी अधिकार व स्वामित्व होना पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का प्रमुख लक्षण है। व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार समाज द्वारा स्वामी को प्रदान किया जाता है, जिसके आधार पर वह अपने अधिकार में हुई वस्तुओं पर नियंत्रण रखता है, उसे प्राप्त करता है, रखता है, उपयोग करता है एवं बेचने के अधिकार रखता है। वर्तमान समय में भौतिक वस्तुओं के अतिरिक्त अभौतिक वस्तुएँ, जैसे संस्था की साख (goodwill) एवं अन्य सेवाओं को भी व्यक्तिगत सम्पत्ति में सम्मिलित किया जाता है।

NOTES

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में निजी सम्पत्ति अनेक कार्य करती है, जैसे कि–

(i)उत्पत्ति में निर्णय करने का अधिकार,

(ii)धन व बचत के संचय को प्रोत्साहन, एवं

(iii)धन को नष्ट होने से बचाना।

(2) **निजी व्यक्ति की आर्थिक कार्य की स्वतंत्रता** (Freedom of Economic Functions to Individual – पूँजीवादी अर्थव्यस्था में प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति को आर्थिक कार्य करने की स्वतंत्रता दी जाती है। उपभोक्ता के रूप व्यक्ति को यह अधिकार होता है कि वह अपनी आय से अपनी इच्छानुसार किसी वस्तु या सेवा का उपयोग करे उत्पादन के क्षेत्र में व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह किसी भी प्रकार का उत्पादन कार्य करे, श्रमिक स्तवंत्र है अं अपनी इच्छानुसार किसी भी उद्योग में कार्य कर सकता है। साहसी को स्वतंत्रता है कि वह जिस उद्योग में अधिक ला समझे उसी की जोखिम उठाये। इस आर्थिक स्वतंत्रता के कारण प्रत्येक साधन का अधिकतम लाभप्रद एवं कुशलत उपयोग सम्भव हो जाता है व अपव्यय भी न्यूनतम हो जाता है।

परन्तु आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में इस प्रकार की स्वतंत्रता नहीं दी जाती क्योंकि समाज में सार्वजनि स्वास्थ्य, न्याय व नैतिकता आदि बातों को ध्यान में रखते हुए व्यक्ति के विभिन्न प्रकार के कार्यों पर सरकार द्वारा नियंत्र लगाया जाता है, जैसे कारखाना अधिनियम द्वारा बालकों द्वारा कार्य लेने पर प्रतिबन्ध, न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, श्रमि क्षतिपूर्ति अधिनियम, आदि सामाजिक नियंत्रण के उदाहरण हैं।

(3) **लाभ भावना की प्रेरणा** (Incentive of Profit Motive) - लाभ की भावना एक केन्द्रीय यन्त्र है ज समस्त आर्थिक क्रिया को नियंत्रित करता है जो साहसी को किसी नवीन कार्य करने का साहस प्रदान करता है। उत्पाद क्रिया एवं कार्य की कुशलता आदि लाभ भावना पर आधारित हैं।

(4) **समाज का दो वर्गों में विभाजन** – पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में समूचे समाज का विभाजन दो वर्गों में क दिया जाता है – पूँजीपति एवं श्रमिक। इन दोनों वर्गों में सदैव संघर्ष होता रहा है जो प्रायः हड़ताल, तालाबन्दी ए औद्योगिक संघर्ष का रूप धारण कर लेता है। पूँजीवाद के अभाव में यह दोनों वर्ग नहीं पाये जाते हैं तथा उत्पाद कार्य सरलता से सम्पन्न होता रहता है।

(5) **साहसी का अधिक महत्व** (More Importance of Entrepreneur) – पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में साहसी को बहुत महत्व दिया जाता है, जो उद्योग में उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को एकत्रित करने, काम में लगाने, आदि के समन्वय में उचित कार्य करता है।

(6) **उत्तराधिकार का अधिकार** (Right of Inheritance) – उत्तराधिकार के अधिकार का निजी सम्पत्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि निजी सम्पत्ति व उत्तराधिकार का अधिकार एक ही हों। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सम्पत्ति को हस्तान्तरित करने सम्बन्धी दो अधिकार प्राप्त होते हैं :
(i) निश्चित रिश्तेदारी, एवं (ii) सम्पत्ति हस्तान्तरण का अधिकार।

(7) **प्रतियोगिता** (Competition) – पूँजीवाद में प्रतियोगिता करने की स्वतंत्रता पायी जाती है। जिसके परिणामस्वरूप समाज में केवल शक्तिशाली व्यक्ति ही ठहर पाता है और अभीष्ठ सफलता प्राप्त कर सकता है। प्रतियोगिता के कारण उत्पादन के क्षेत्र में कुशलता बढ़ जाती है। प्रत्येक उत्पादक न्यूनतम मूल्य पर वस्तुओं को उत्पन्न करने का प्रयास करता है। इसी प्रकार श्रमिक भी अधिक कार्यकुशल हो जाता है और अन्य श्रमिकों से प्रतियोगिता बनी रहने के कारण वह अपनी कुशलता में वृद्धि करने के प्रयास करता है।

प्रतियोगिता के प्रमुख आधार की **चार प्रमुख पूँजीवादी स्वतंत्रताएँ** है। ये हैं : (अ) व्यापार व व्यवसाय की स्वतत्रता (Freedom of Trade and Occupation), (ब) प्रसंविदा की स्वतंत्रता (Freedom of Contract), (स) सम्पत्ति की स्वतत्रता (Freedom of Property) तथा (द) लाभोपार्जन की स्वतत्रता (Freedom of profit-making)।

(8) **मूल्य यंत्र संस्था** (Price Mechanism) – मूल्य यंत्र पूँजीवाद की एक महत्वपूर्ण संस्था है और इसके अभाव में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था शीघ्र नष्ट हो जाती है तथा उसके पुनः जीवित होने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। मूल्य तंत्र एक निर्देशक यंत्र के समान होता है जो उत्पादक एवं उपभोक्ता का मार्गदर्शन करता रहता है।

19वीं शताब्दी का युग पूँजीवाद का युग रहा परन्तु अन्तिम वर्षों में जो व्यक्ति इसके समर्थक थे, वे ही इसे समाप्त करने के लिए सबसे आगे आये। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही पूँजीवाद की बुराइयों ने समाज के व्यक्तियों का ध्यान इस ओर आकर्षित कराया और विश्व के अनेक राष्ट्रों पर इसका कुप्रभाव पड़ा।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के दोष
(Defects of Capitalistic Economy)

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में बहुत से आर्थिक एवं सामाजिक दुर्गुण पाये जाते हैं, क्योंकि उत्पादन एवं वितरण पर प्रभावशाली शासकीय नियंत्रण की शिथिलता पायी जाती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के दोषों ने ही नियोजन के महत्व में वृद्धि की है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं :

(1) **सम्पत्ति व आय का असमान वितरण** (Unequal Distribution of Wealth and Income)– पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत सम्पत्ति, उत्तराधिकार के नियम एवं स्वतंत्र बाजार के कारण समाज के व्यक्तियों के पास सम्पत्ति एवं आय का वितरण समान रूप से नहीं हो पाता। इंग्लैण्ड में 1 प्रतिशत व्यक्ति के पास देश की 60% सम्पत्ति है जबकि 75% व्यक्तियों के पास केवल 5% सम्पत्ति ही है। सम्पत्ति के असमान वितरण के अतिरिक्त आय का वितरण भी असमान रहता है। भारत में 34% व्यक्तियों को राष्ट्रीय आय का 65% भाग तथा 66% व्यक्तियों को राष्ट्रीय आय का 35% भाग प्राप्त होता है। विश्व की सम्पूर्ण जनसंख्या का 65% भाग को प्रति व्यक्ति आय 300 डालर वार्षिक से भी कम है। 100 डालर से कम आय वाले 36 राष्ट्रों में 1,674 मिलियन जनसंख्या अत्यन्त निम्न जीवन-स्तर व्यतीत करने को मजबूर हैं। 100 डालर से कम आय प्राप्त करने वाले विश्व के लगभग 50% व्यक्ति हैं। वास्तविक स्थिति इससे भी खराब है, क्योंकि विश्व में 24 राष्ट्र ऐसे हैं जिनकी प्रति व्यक्ति आय 65 डालर वार्षिक से भी कम है। उदाहरणार्थ, बर्मा में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 65 डालर, इथोपिया में 55 डालर, अपरवोल्टा में 50 डालर एवं मलावी में 40 डालर है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर आय की विषमता का अनुमान इस आधार पर लगाया जा सकता है कि जहाँ एक ओर मलावी की प्रति व्यक्ति आय 40 डालर है, वहाँ दूसरी ओर कुवैत की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय 3,270 डालर व अमरीका की 3,240 डालर है। इस प्रकार विश्व में भयानक आर्थिक विषमता विद्यमान है।

आधुनिक युग में आय के असमान वितरण में वृद्धि ही रही है और विश्व के अनेक राष्ट्रों में पूँजीपति वर्ग पनपता ही जा रहा है जिससे देश में **वर्ग-संघर्ष** उत्पन्न होकर आर्थिक जटिलता को जन्म मिलता है तथा समाज पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं। असमान वितरण से उत्पत्ति के साधनों का अपव्यय होता है। आर्थिक, राजनीतिक एवं नैतिक दृष्टि से धन के असमान वितरण को अनुचित माना गया है। आर्थिक दृष्टि से व्यक्तियों को विकास के समान अवसरों से वंचित कर दिया जाता है और समाज सीमित साधनों से अधिकतम लाभ प्राप्त नहीं कर पाता। देश में राजनीतिक आन्दोलनों का प्रमुख कारण आर्थिक असमानता ही माना जाता है, जिसके फलस्वरूप समय-समय पर युद्ध व क्रान्तियाँ होने लगती हैं। नैतिक दृष्टिकोण से सम्पत्ति व आय की असमानता अन्यायपूर्ण है क्योंकि समाज में थोड़े-से व्यक्ति विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करें जबकि अधिकांश व्यक्ति निर्धनता में रहें। शिक्षा की लागत इतनी अधिक रहती है जो धनी वर्ग ही सहन कर पाता है। ऐसी परिस्थिति में धनोपार्जन की योग्यता धनी वर्ग को ही प्राप्त होती है और रोजगार के अवसर भी इसी वर्ग को ही प्राप्त होते हैं। अतः धन व अवसर की विषमता के कारण ही आय की विषमता सदैव बनी रहती है।

(2) **बिना श्रम के धन प्राप्ति** (Income without Labour) – पूँजीवाद में बहुत-से व्यक्ति ऐसे होते हैं जो बिना किसी प्रकार श्रम किये हुए ही धन प्राप्त करते हैं। उत्तराधिकार के नियम के अनुसार बहुत-से व्यक्ति अपार सम्पत्ति प्राप्त करते हैं और भविष्य में भी कोई कार्य या श्रम किये बिना निरन्तर आय प्राप्त करते हैं। यह व्यक्ति स्वयं किसी प्रकार का श्रम न करके दूसरे व्यक्तियों के श्रम पर आधारित रहते हैं। श्रम करने वाले व्यक्तियों की संख्या भी अधिक होती है जो कम आय पर ही जीवन-निर्वाह करने को मजबूर हो जाते हैं। समाज की कुल आय का अधिकांश भाग उन थोड़े-से व्यक्तियों द्वारा हड़प लिया जाता है जो समाज में किसी भी प्रकार का कोई श्रम नहीं करते हैं।

(3) **मितव्ययिता का अभाव** (Lack of Economy) – पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रतियोगिता के कारण मितव्ययता का अभाव पाया जाता है क्योंकि कर्मचारियों एवं साधनों का दोहराव रहने से अपव्यय की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। पूँजीवाद में प्रत्येक उत्पादन को उत्पादक कार्यों हेतु श्रमिकों व मशीनों की आवश्यकता होती है, परन्तु उत्पादकों में तीव्र प्रतियोगिता होने कारण वह उन साधनों का पूर्ण उपयोग करने में असमर्थ होता है, परिणामस्वरूप अनेक साधन बेकार पड़े रहते हैं तथा उनका अपव्यय होता है। प्रतियोगिता के कारण विज्ञापन आदि पर बहुत अधिक व्यय करना पड़ता है और किसी भी वस्तु को उपभोक्ता तक पहुँचाने में विभिन्न उत्पादकों को एक साथ विभिन्न प्रकार के प्रयास करने पड़ते हैं जिससे कार्य में दोहराव हो जाता है तथा व्ययों में अपार वृद्धि हो जाती है। भारत में रेल व सड़क प्रतियोगिता प्राचीन समय से ही विद्यमान रही है। इसके विपरीत, अनेक स्थानों पर परिवहन के साधनों का अभाव पाया जाता है। लाभ को अधिकतम करने की इच्छा से उत्पादक साधनों के दुरुपयोग करने से भी नहीं चूकते। यही कारण है कि प्राकृतिक साधनों का उचित उपयोग सम्भव नहीं हो पाता और कुछ थोड़े देश के प्राकृतिक साधनों का भण्डार समाप्त प्राय हो जाता है। व्यापारी अपना धन केवल उस उद्योग में लगाता है जिससे उसे लाभ प्राप्त होने की अधिक सम्भावना हो।

(4) आर्थिक सुरक्षा का अभाव एवं बेरोजगारी (Absence of Economic Security an Unemployment) – पूँजीवाद में आर्थिक सुरक्षा का अभाव पाया जाता है अर्थात् व्यक्तिगत आय में अनिश्चित बनी रहती है। प्राय: प्रत्येक प्रकार के आर्थिक कार्य में अनिश्चितता एवं जोखिम विद्यमान रहती है। प्राचीन समय आय में अनिश्चितता प्राकृतिक कारणों से थी जिस पर काबू पा लिया गया, परन्तु वर्तमान समाज में आर्थिक सुरक्षा अभाव का कारण पूँजीपादी अर्थव्यवस्था है। पूँजीवाद में व्यापार-चक्रों का भी प्रभाव पड़ता है। मन्दीकाल में वस्तुः की माँग कम हो जाती है और उद्योगों को अपने उत्पादन में कमी करनी पड़ती है। बाजार में प्रतियोगिता के कारण ब बिक्री कम होकर उत्पादन गिरकर मजदूरी में कमी एवं बेरोजगारी में वृद्धि हो जाती है। बेरोजगारी को दूर करने ए रोजगार को प्राप्त करने हेतु सरकारी हस्तक्षेप व प्रयास किये जाते हैं।

(5) माँग व पूर्ति के नियम का अभाव (Absence of Law of Demand and Supply) – पूँजीवाद माँग व पूर्ति का नियम लागू नहीं होता, क्योंकि बाजार की स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है और उत्पादक प्रतियोगिता हो के कारण एकाधिकारिक संघों का निर्माण कर लेते हैं और श्रमिकों का शोषण करने के प्रयास किये जाते हैं। इस शोषण प्रवृत्ति से तंग आकार श्रमिक, श्रम-संघों में संगठित हो जाने को बाध्य हो जाते हैं और राज्य द्वारा इन उद्योगों पर अपन अधिकार जमा लेने पर ही इस प्रवृत्ति का अन्त हो पाता है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि पूँजीवाद के सिद्धान्त स्वः ही पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को समाप्त कर देते हैं।

(6) पूँजीवादी विरोधाभास (Capitalistic Paradox) – पूँजीवादी विरोधाभास की स्थिति पाये जाने से समाज में वस्तुओं के उपलब्ध होने पर भी व्यक्ति उनका उपयोग नहीं कर पाता। पूँजीवाद में सस्ते मूल्यों पर अधिक उत्पादन किया जाता है। परन्तु पूँजीवाद में उत्पादन बढ़ने पर भी उपभोक्ताओं को उपभोग के लिए वस्तुएँ उपलब्ध नहीं हो पाती क्योंकि अधिक उत्पादन होने के कारण वस्तुओं की बिक्री सम्भव नहीं हो पाती और श्रमिकों को रोजगार से पृथक क दिया जाता है जिससे उनकी क्रय-शक्ति में कमी हो जाती है। इसी स्थिति को पूँजीवादी विरोधाभास कहा गया है, जिसमें अधिक उत्पादन होने व वस्तुओं के मूल्य गिरने पर भी श्रमिकों को काम से हटाने से उनकी क्रय शक्ति में कमी हो जाने से वस्तुओं का उपभोग सम्भव नहीं हो पाता।

(7) पूँजीपतियों द्वारा धन का अपव्यय (Misuse of Wealth by Capitalists) – पूँजीवाद में व्यक्तियों के पास इतना अधिक धन एकत्रित हो जाता है कि वे उसका अपव्यय करने लगते हैं और उसका सही दिशा में प्रयोग नहीं कर पाते हैं।

(8) **समन्वय का अभाव** (Lack of Co-ordination) – पूँजीवादी में किसी ऐसी संस्था या अधिकारी का अभाव पाया जाता है जो विभिन्न प्रकार के निर्णयों में समन्वय ला सके। पूँजीवाद में प्रत्येक उत्पादक अपना स्वयं निर्णय करता है और उसका दूसरे उत्पादकों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता, क्योंकि प्रत्येक उत्पादक अपना पृथक पृथक अनुमान लगाता है जो प्राय: गलत भी सकते हैं। इस प्रकार संगठन व व्यवस्था का अभाव पाया जाता है एवं विभिन्न प्रकार के उत्पादकों की नीतियों में समन्वय का अभाव पाया जाता है।

(9) **स्वार्थ को महत्व** (Importance of Selfishness) – पूँजीवाद में प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ को महत्व देता है और अधिक से अधिक धन-प्राप्त करने में संलग्न रहता है। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में मुद्रा का महत्व बढ़ जाता है तथा व्यक्ति के आदर्श, गुण एव उसका व्यक्तित्व आदि को कोई महत्व नहीं दिया जाता। समाज में दुराचारी व्यक्ति के पास भी यदि अधिक धन है तो उसे सम्मानित किया जाता है। इसी प्रकार समाज में उस नीति को सबसे उत्तम माना जाता है जिसमें सबसे अधिक धन प्राप्त होता हो। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा को ही मापदण्ड मानकर स्वार्थी व्यक्तियों को प्रोत्साहन मिलता है जो कि धन प्राप्ति के समस्त कार्यों को करते रहते हैं।

(10) **आर्थिक स्थिरता का अभाव** (Absence of Economic Stability) पूँजीवाद मे व्यापार चक्रों के निरन्तर आते रहने से आर्थिक स्थिरता का अभाव पाया जाता है, परिणामस्वरूप यह भय बना रहता है कि न मालूम कब तेजी या कब मन्दी आ जाय। इस प्रकार व्यापारक-चक्र प्राय: पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में ही आते हैं। समाजवादी अर्थव्यवस्था में नियोजन के द्वारा व्यापार चक्र को रोक दिया जाता है और यह व्यवस्था पूँजीवाद में सम्भव नहीं हो पाती। व्यापार-चक्र से समाज में आर्थिक अस्थिरता एवं अनिश्चितता आ जाती है जो देश के आर्थिक विकास में बाधक सिद्ध होती है। तेजी व मन्दी दोनों का देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ता है, परन्तु मन्दी का प्रभाव तेजी की अपेक्षा अधिक बुरा पड़ता है, जिसमें बेरोजगारी के बढ़ने एवं उत्पादन शक्ति के ह्रास होने का भय बना रहता है। मन्दीकाल में उत्पादन में कमी हो जाने से बेरोजगारी बढ़ती है। सन् 1929 के विश्वव्यापी मन्दीकाल में बेरोजगार व्यक्तियों की संख्या लगभग 1 करोड़ थी।

(11) **कृत्रिम आर्थिक अभाव** (Artificial Economic Contraception) – पूँजीपति बाजार में वस्तुओं की पूर्ति कम करके बाजार में कृत्रिम अभाव उत्पन्न करके मनमाने मूल्य वसूल करके अधिकाधिक लाभ अर्जित करने

के प्रयास करते हैं। लाभ प्राप्त करने के लिए पूँजीपति विभिन्न प्रकार की कुरीतियों का सहारा लेते हैं, जिन्हें रोकने हेतु सरकारी प्रयास भी सफल नहीं हो पाते।

(12) मानव को कम महत्व (Less Importance of Human Being) – पूँजीवाद में लाभ को सर्वोपरि स्थान दिया जाता है और मानव के लाभार्थ कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं किये जाते हैं। समाज में एक ओर कुछ व्यक्ति तो विलासिता का जीवन व्यतीत करते हैं जबकि दूसरी ओर अधिकांश व्यक्तियों को भर पेट भोजन भी प्राप्त नहीं होता है। पूँजीवाद में मजदूर इतना उत्पीड़ित होता है कि वह अपनी जीवन-निर्वाह के लिए भी आवश्यक साधन जुटाने में असमर्थ रहता है।

(13) वर्ग-संघर्ष (Class Conflict) – पूँजीवाद में श्रमिक व नियोक्ता में सदैव संघर्ष चलता रहता है क्योंकि श्रमिक यह सोचते हैं कि समस्त वस्तुएँ व सेवाएँ केवल उन्हीं के प्रयासों द्वारा उत्पन्न की जाती हैं, जबकि नियोक्ता यह विचार करते हैं कि केवल उन्हीं के द्वारा उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को रोजगार दिया जाता है तथा उत्पत्ति के विभिन्न साधनों को पारिश्रमिक देने के उपरान्त शेष भाग पर साहसी का अधिकार रहता है। श्रमिकों की शक्ति की तुलना में पूँजी की अधिक शक्ति रहती है और पूँजीपति मनमाने ढंग से कार्य करते हैं। इस प्रकार श्रमिक व नियोक्ता में वर्ग-संघर्ष चलता ही रहता है।

(14) अनियंत्रित आर्थिक पद्धति (Uncontrolled Economic System) – पूँजीवाद उपभोक्ताओं के चुनाव में कोई रुकावटें उत्पन्न नहीं करता है। इस व्यवस्था में उत्पादक उन्हीं वस्तुओं की उत्पत्ति में प्रेरणा प्राप्त करता है जिसकी बाजार में अधिक माँग होती है, फलस्वरूप उत्पत्ति के कुछ क्षेत्रों में केन्द्रीयकरण हो जाता है। इससे गलाकाट प्रतियोगिता को जन्म मिलता है तथा आर्थिक क्षय होता है। प्रतियोगिता के कारण कमजोर उत्पादकों को उत्पादन कार्य बन्द कर देना पड़ता है जबकि कुछ अन्य सुदृढ़ उत्पादक अधिक मात्रा में उत्पादन करने से भी नहीं चूकते, परिणामस्वरूप व्यापार-चक्र, अनियंत्रित आर्थिक पद्धति एवं पूँजीवाद की अन्य बुराइयों को प्रोत्साहन मिलता है।

(15) व्यापार-चक्र की सम्भावना (Possibilities of Trade Cycles) – पूँजीवाद में प्रतियोगिता होने से अधिक उत्पादन द्वारा लागत को न्यूनतम करने एवं कम कुशल व सीमान्त उत्पादकों को क्षेत्र से बाहर निकालने के प्रयास किये जाते हैं, परिणामस्वरूप अति-उत्पादन एवं संकट उत्पन्न हो जाते हैं। यही संकट देश में व्यापार-चक्र को प्रोत्साहित करते हैं। पूँजीवाद में व्यापार-चक्र देश के विकास में रुकावटें उत्पन्न करते हैं तथा स्थायी आर्थिक नीति के क्रियान्वयन में भी अवरोध उत्पन्न करते हैं।

(16) सामाजिक अन्याय (Social Parasitism) – पूँजीवाद में उत्तराधिकार का नियम व्यक्तियों को यह सुविधा प्रदान करता है कि वे अपने उत्तराधिकारी को भारी सम्पत्ति छोड़ सकते हैं। यह वास्तविक जीवन में होता भी है जिससे समाज में एक विभिन्न प्रकार के वर्ग का उदय हो जाता है जो अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित सम्पत्ति पर निर्भर रहते हैं और किसी प्रकार के कोई आर्थिक प्रयास नहीं करते। इन परानों में उत्पन्न बालक जन्म से ही चाँदी के चम्मच (Silver Spoon) के साथ जन्म लेता है और आगे बढ़ता है तथा अपना एक पृथक् अस्तित्व बनाये रखता है। यह आर्थिक दृष्टि से उचित हो सकता है, परन्तु सामाजिक दृष्टि से नहीं। पूँजीवाद में सामाजिक अन्याय एक साधारण-सी बात है, जो सामाजिक न्याय प्रदान करने में असमर्थ है।

(17) सामाजिक कल्याण का अभाव (Absence of Social Welfare) – पूँजीवाद में अधिकतम उत्पादन एवं अधिकतम लाभ को ही प्रधानता दी जाती है जो श्रमिकों के शोषण द्वारा ही संभव हो पाता है। लाभ को अधिकतम करने के लिए श्रमिकों की आय में कमी की जाती है तथा सामाजिक कल्याण जैसे कार्यों पर कोई व्यय नहीं किया जाता। सामाजिक कल्याण सुविधाओं के अभाव में श्रमिकों का जीवन दूभर हो जाता है तथा श्रमिक भी असन्तुष्ट रहने लगते हैं व वर्ग संघर्ष को जन्म देते हैं।

(18) पूँजीवाद स्वयं विनाशक है (Capitalism is Self destructive) – अत्यधिक पूँजीवाद सम्पत्ति व आय को कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित कर देता है। यह पूँजीपति एक-दूसरे से प्रतियोगिता द्वारा उसके बाजार को हड़पने के प्रयास करते हैं, परिणामस्वरूप कुछ व्यक्तियों को दिवालिया होना पड़ता है। ऐसी परिस्थिति में श्रमिकों व उपभोक्ताओं का शोषण किया जाता है जो बाद में वर्ग-संघर्ष का रूप धारण कर लेता है।

क्या भारत के लिए पूँजीवादी अर्थव्यवस्था उपयुक्त है?

भारत एक विकासोन्मुख देश है जहाँ आर्थिक विकास की बहुत अधिक सम्भावनाएँ हैं और देश का द्रुत तथा सन्तुलित विकास करके ही हम लोगों की प्रति व्यक्ति आय और जीवन-स्तर में सुधार कर सकते हैं। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आयोजित अर्थव्यवस्था प्रणाली को अपनाना जरूरी है। यही नहीं, देश में व्यापक आर्थिक विषमता विद्यमान है, इस दृष्टिकोण से भी भारत के लिए पूँजीवादी अर्थव्यवस्था उपयुक्त नहीं है। फिर हम देश में एक समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहते हैं जिससे यही स्पष्ट होता है कि भारत में पूँजीवादी प्रथा को किसी भी प्रकार का प्रोत्साहन

NOTES

मिलना कठिन है। अतः भारत में जैसे-जैसे नियोजित अर्थव्यवस्था के क्षेत्र का विस्तार होता जायेगा वैसे-वैसे देश समाजवाद की स्थापना होती जायेगी और पूँजीवाद शनैः-शनैः समाप्त हो जायेगा।

समाजवाद
(Socialism)

समाजवाद का अर्थ

यद्यपि समाजवाद शब्द से वर्तमान युग में सभी परिचित हैं लेकिन इसका वास्तविक अर्थ क्या है इस पर प्रत्ये व्यक्ति एकमत नहीं है। कठिनाई यह है कि यह विचारधारा काफी विस्तृत हो चुकी है और विभिन्न समाजवादियों समाजवाद के संबंध में अपने अलग-अलग विचार व्यक्त किये हैं, क्योंकि उन्होंने इसे अलग-अलग रूपों में समझा और जिस प्रकार समझा है उसी प्रकार उसकी परिभाषा भी दी है। जोड (Joad) के इस वाक्य में काफी सत्यता है कि संक्षेप में, "समाजवाद एक ऐसी टोपी है जिसकी शक्ल सभी लोगों द्वारा पहने जाने के कारण बिगड़ गयी है।"

समाजवाद में इतनी अधिक विभिन्नता होने पर भी अनेक विद्वानों व लेखकों ने इसकी परिभाषा करने का प्रयत्न किया है। इनमें से निम्न परिभाषाएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :

विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाएँ : (1) **डॉ. तुगन बारानोवस्की** (Tugan Baranowasky) का मत है "समाजवाद का तत्व यह है कि उसके अन्तर्गत समाज के किसी व्यक्ति का शोषण नहीं हो सकता है। वर्तमान आर्थिक व्यवस्था लाभ की प्रवृत्ति के आधार पर चल रही है, परन्तु समाजवाद के अन्तर्गत उसका उद्देश्य अधिकतम कल्याण प्राप्त करना होता है। ..... वस्तुओं का उत्पादन समाज के लिए उनकी उपयोगिता के आधार पर होता है।"

(2) **प्रो. पीगू** (A.C. Pigou) ने समाजवाद की परिभाषा इस प्रकार दी है- "एक समाजीकृत प्रणाली वह है जिसके उत्पादक साधनों का प्रमुख भाग समाजीकृत उद्योगों में लगा होता है" और "एक समाजीकृत उद्योग वह है जिसके अन्तर्गत उत्पादन के भौतिक साधनों पर किसी राजकीय अधिकारी अथवा ऐच्छिक संस्था का स्वामित्व होता है और जो दूसरे व्यक्तियों को बेचकर लाभ कमाने के उद्देश्य से नहीं चलाये जाते, बल्कि उन लोगों की प्रत्यक्ष सेवा के लिए, जिनका कि अधिकारी अथवा संस्था प्रतिनिधित्व करती है।"

(3) **वैब्स** (Webbs) के अनुसार, "समाजीकृत उद्योग (अर्थव्यवस्था) वह है जिसमें उत्पादन के साधनों पर एक सार्वजनिक सत्ता या ऐच्छिक संघ का स्वामित्व होता है। ऐसी व्यवस्था लोगों से लाभ प्राप्त करने के लिए नहीं अपितु उनकी प्रत्यक्ष सेवा करने के लिए चलायी जाती है।"

प्रो. पीगू तथा वैब्स की परिभाषा यद्यपि पर्याप्त समय तक प्रचलित रहीं परन्तु ये परिभाषाएँ समाजवाद के आधुनिक विस्तार के अनुकूल नहीं हैं। इसके दो कारण हैं- प्रथम, यह बहुत विस्तृत है और सहकारी उपभोक्ता भण्डार तक इसमें सम्मिलित हो जाते हैं और द्वितीय, यह आर्थिक नियोजन की ओर संकेत नहीं करती जो वर्तमान समाजवाद की आवश्यक विशेषता है।

(4) उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए **प्रो. डिकिन्सन** (Dickenson) ने समाजवाद की परिभाषा इस प्रकार दी है- "समाजवाद समाज का एक ऐसा आर्थिक संगठन है जिसके अन्तर्गत एक साधारण आर्थिक योजना के अनुसार उत्पादन के भौतिक साधनों पर पूर्ण समाज का स्वामित्व होता है तथा समान अधिकारों के आधारों पर समाज के सभी सदस्य समाजवादी आयोजन द्वारा किये गये उत्पादन का लाभ प्राप्त करते हैं।"

इस परिभाषा में समाजवाद के तीन आवश्यक लक्षण बताये गये हैं- उत्पत्ति के साधनों पर सामाजिक स्वामित्व आर्थिक नियोजन तथा सम्पूर्ण आय का समान विभाजन। इस परिभाषा से समाजवाद की प्रकृति पर्याप्त सीमा तक स्पष्ट हो जाती है।

उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि समाजवाद "एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है जिसमें उत्पादन के साधनों पर किसी एक व्यक्ति का नियन्त्रण व स्वामित्व न होकर सारे समाज का या राज्य का स्वामित्व एवं नियन्त्रण होता है। इन साधनों का प्रयोग किसी एक व्यक्ति के हित में नहीं किया जाता बल्कि सामूहिक हित में किया जाता है। परिणाम यह होता है कि मनुष्य, मनुष्य का शोषण नहीं कर पाता।"

समाजवाद की प्रमुख विशेषताएँ

समाजवाद के संबंध में जो विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं उनसे समाजवादी अर्थव्यवस्था की निम्न प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं

(1) **उद्देश्यपूर्ण अर्थव्यवस्था**- समाजवादी अर्थव्यवस्था के सुनियोजित लक्ष्य होते हैं और इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिए विवेकपूर्ण सतत् प्रयत्न किये जाते हैं। अतः समाजवादी अर्थव्यवस्था, व्यक्तिवादी उत्पादन पर आधारित पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की भाँति, उद्देश्यहीन व अविवेकी नहीं होती है। इसलिए समाजवादी अर्थव्यवस्था को व्यक्तिवादी

अर्थव्यवस्था (Individualistic Economy) से भिन्न सामूहिकवादी अर्थव्यवस्था (Collectivist Economy) कहा जाता है।

(2) **उत्पादन के साधनों का सामाजिक स्वामित्व**- समाजवादी अर्थव्यवस्था का एक आवश्यक लक्षण यह है कि इसमें उत्पत्ति के साधन पूर्णतया या सामूहिक रूप से समाज के अधिकार में होते हैं। इसमें व्यक्तियों को निजी सम्पत्ति का अधिकार नहीं होता और न साधनों का उपयोग ही व्यक्तिगत लाभ के लिए किया जाता है। उत्पत्ति के साधनों पर समाज के अधिकार का परिणाम यह होता है कि लाभ कमाने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है और आर्थिक क्रियाओं का मार्गदर्शन व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से न होकर कुछ सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करने की दृष्टि से किया जाता है। समाजवाद की यह विशेषता ही इसको पूँजीवाद से अलग करती है।

(3) **आर्थिक नियोजन**- समाजवादी अर्थव्यवस्था पूर्णरूप से योजनाबद्ध होती है, यद्यपि पूँजीवाद में भी नियोजन होता है परन्तु जितना विस्तृत व पूर्ण नियोजन समाजवाद में होता है उतना पूँजीवाद में नहीं होता। समाजवाद में आर्थिक नियोजन की आवश्यकता इस कारण अधिक होती है क्योंकि वहाँ मूल्य यन्त्र (Price Mechanism) का सर्वथा अभाव होता है जिसके कारण उत्पत्ति के साधनों का वितरण विभिन्न उद्योगों में नहीं होता। इस कमी को आर्थिक नियोजन द्वारा पूरा किया जाता है, जिसमें राज्य की ओर से नियुक्त केन्द्रीय नियोजन अधिकारी यह निश्चित करता है कि किस वस्तु का कहाँ और कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाय। **डिकिन्सन** के मतानुसार, "आर्थिक नियोजन में मुख्य आर्थिक निर्णय किया जाता है कि कौन-सी वस्तु कितनी मात्रा में उत्पन्न की जाय तथा एक सुनिश्चित अधिकारी के विचारयुक्त निश्चयानुसार सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था के विस्तृत निरीक्षण के आधार पर यह किसको बाँटा जाय।" संक्षेप में, समाजवादी अर्थव्यवस्था में एक निश्चित योजना बनायी जाती है जिसमें कुछ लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं और इन लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उपलब्ध उत्पत्ति के साधनों को प्राथमिकता के अनुसार वितरित किया जाता है। किन्तु समाजवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक नियोजन का उद्देश्य किसी व्यक्ति या वर्ग को लाभ पहुँचाना नहीं होता है बल्कि सम्पूर्ण समाज को लाभ पहुँचाना होता है। इस संबंध में **प्रो. पीगू** ने ठीक ही कहा है कि "लाभ उपार्जन के बहिष्कार तथा उत्पादन के साधनों पर सामूहिक स्वामित्व के साथ नियोजन ही समाजवादी अर्थव्यवस्था का प्रमुख उद्देश्य है।"

(3) **सामाजिक कल्याण की प्राप्ति**- समाजवादी व्यवस्था में व्यक्तिगत हित के स्थान पर सामाजिक कल्याण को महत्व दिया जाता है। इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं का विश्लेषण तथा उनके बीच समन्वय स्थापित करने का कार्य एक निश्चित योजना के अनुसार किया जाता है, जिसमें उत्पत्ति के साधनों को विभिन्न उद्योगों में इस प्रकार बाँटा जाता है कि समाज के सभी व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण हो सके। अतः इस उत्पादन प्रणाली में अनुपार्जित आय के लिए कोई स्थान नहीं होता। **मोरीसन** के शब्दों में, "समाजवाद का महत्वपूर्ण सार यह है कि इसमें उत्पत्ति के साधनों का उपयोग एक राष्ट्रीय आर्थिक योजना के अनुसार व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर समान लाभ के लिए होता है।"

(4) **आर्थिक समानता**- आर्थिक समानता तथा मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को रोकना, समाजवाद की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत सम्पत्ति और लाभोपार्जन प्रवृत्ति की समाप्ति के कारण स्वभावतया आर्थिक असमानता की संभावना कम हो जाती है। समानता का अभिप्राय केवल धन के वितरण से नहीं है, बल्कि एक ऐसे वितरण से भी है जो कि केवल मनुष्य के श्रम अथवा उत्पादन के अनुसार ही नहीं बल्कि उनकी आवश्यकतानुसार भी हो। इसमें प्रत्येक व्यक्ति के लिए समान अवसर का सिद्धान्त भी सम्मिलित है। संक्षेप में, समाजवादी अर्थव्यवस्था का मुख्य सिद्धान्त "प्रत्येक व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुसार कार्य कराना तथा प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार प्रदान" करना होता है। इस प्रकार इस प्रणाली में सामाजिक वर्गभेद का अंत हो जाता है और किसी भी व्यक्ति द्वारा शोषण नहीं होता।

(5) **मानवीय आदर्शों को अधिक महत्व**- पूँजीवाद में भौतिकता को महत्व दिया जाता है जबकि समाजवादी अर्थव्यवस्था में भौतिकता और धन के स्थान पर मानव आदर्शों, स्वतंत्रता, समानता व भ्रातृभाव को अधिक महत्व दिया जाता है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था के लाभ

वास्तव में समाजवाद पूँजीवाद का विकल्प (alternate) है। समाजवाद का जन्म पूँजीवाद के दोषों व कमियों के कारण ही हुआ। समाजवादी अर्थव्यवस्था के मुख्य लाभ व सफलताएँ इस प्रकार हैं :

(1) **उत्पादन में संवर्धित लाभ**- इस प्रणाली के अन्तर्गत पूँजीवादी प्रणाली की अपेक्षा उत्पादन अधिक कौशलपूर्ण होता है। इसका कारण यह है कि आर्थिक क्रियाओं का संचालन एक केन्द्रीय सत्ता के द्वारा निश्चित योजना के अनुसार किया जाता है तथा जो भी कार्य किया जाता है उसमें व्यक्तिगत लाभ के स्थान पर सामूहिक लाभ को महत्व दिया जाता है। सब चीजें केन्द्र से नियन्त्रित रहती हैं तथा समस्त चीजों का सर्वेक्षण उनके द्वारा आसानी से किया जा सकता है

जबकि व्यक्ति विशेष इतना नहीं कर पाता। **प्रो. डार्विन** ने उचित ही कहा है, "पहाड़ी पर खड़ा जनरल आफिसर आ देखने के लायक हो सकता है अपेक्षाकृत युद्ध की कतार में खड़े वाहक के।" केन्द्रीय अधिकारी उन बातों का ज्ञान आसानी से प्राप्त कर सकते हैं जो धीरे-धीरे परिवर्तन के रूप में आती हैं। संक्षेप में, उत्पादन के क्षेत्र में समाजवाद अनेक प्रकार के लाभ प्राप्त होते हैं जिनका वर्णन इस प्रकार से किया जा सकता है।

(अ) वस्तुओं का प्रचुर उत्पादन- इस व्यवस्था के अन्तर्गत बड़े पैमाने के उत्पादन के समस्त लाभ प्राप्त ह हैं, परन्तु उनके दोषों को आसानी से दूर किया जा सकता है। समाजवाद में लाभ की भावना के लोप होने के का उत्पादन समाज की आवश्यकताओं को देखकर किया जाता है जिसके कारण उत्पादन अधिकतम होता है और वस्त प्रचुर मात्रा में प्राप्त होती हैं।

(ब) मनुष्य मशीन का दास नहीं- चूँकि समाजवादी व्यवस्था में मशीनों का उपयोग केवल धन व लाभ प्रा के लिए ही नहीं किया जाता वरन् इसका उपयोग इस प्रकार किया जाता है कि मनुष्य को धन प्राप्त होने के साथ साथ उसका कल्याण भी हो, इसलिए समाजवाद में धन की कमी नहीं रहती और सामाजिक व मानवीय कल्याण अधिक होता है।

(स) मशीनों पर सामूहिक अधिकार- पूँजीवाद में मशीनों पर विशेष वर्गों का अधिकार व आधिपत्य होता जिससे केन्द्रीकरण व वर्ग संगठन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है, परन्तु समाजवाद में मशीनों पर अधिकार पूर्ण से समाज का होता है।

(द) **प्रतियोगिता के अवगुणों की समाप्ति-** समाजवादी अर्थव्यवस्था में प्रतियोगिता पूर्ण अर्थव्यवस्था के अवगु जैसे- साधनों की बरबादी, श्रमिकों एवं कार्यकर्त्ताओं का दुहरीकरण (Duplication of Staff) समाप्त हो जाते हैं दूसरे शब्दों में, पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की अपेक्षा समाजवादी अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उत्पादन अधिक मितव्ययी हो है।

(य) **साधनों का उपयुक्त उपयोग और कृत्रित कमी की समाप्ति-** समाजवादी अर्थव्यवस्था में साधनों व संतुलित और समीकृत (Co-ordinated) उपयोग किया जाता है ताकि नागरिकों के रहन-सहन का स्तर ऊंचा उ सके। पूँजीवाद अर्थव्यवस्था में ऐसा नहीं होता क्योंकि उत्पादक उन्हीं चीजों का उत्पादन करते हैं जिनमें उन्हें अधि लाभ होता है। यही नहीं, बल्कि उत्पादन वस्तुओं की कृत्रिम कमी उत्पन्न कर कीमतें बढ़ाकर अधिक लाभ कमाते हैं कृत्रिम कमी उत्पन्न करने के लिए वे मूल्य नेतागिरी (Price Leadership), ट्रस्ट, कार्टेल, मूल्य समझौता (Pric agreement) आदि का निर्माण करते हैं। समाजवादी अर्थव्यवस्था में इन पर नियन्त्रण लगाया जा सकता है।

(फ) **श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि-** समाजवादी अर्थव्यवस्था में चूँकि श्रमिकों को उचित स्थान और महत्व दिया जाता है, उनके रहन-सहन का स्तर ऊंचा किया जाता है, उन पर उत्तरदायित्व का बोझ लादा जाता है, इसलि उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाती है, जिसका प्रभाव देश की आर्थिक स्थिति पर अच्छा पड़ता है।

(2) **आर्थिक समानता-** आर्थिक समानता भी समाजवादी अर्थव्यवस्था का एक प्रमुख गुण है। आर्थिक समानत देश के विकास और लोगों की सम्पन्नता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु जैसा कि **प्रो. डार्विन** ने कहा है, "सामाजिक समानता एक अनियोजित अर्थव्यवस्था में प्राप्त नहीं की जा सकती।" ऐसा इसलिए कि अनियोजित अर्थव्यवस्था में प्रायः समस्त कार्य व्यक्तिगत हित के दृष्टिकोण से अधिक किये जाते हैं।

समाजवाद में धन तथा सम्पत्ति की विषमता को दूर करके न्याय तथा योग्यता के अनुसार उसके वितरण की व्यवस्था की जाती है, जिससे एक ऐसे समाज की स्थापना हो जिसमें अमीर और गरीब का अन्तर कम से कम हो इसीलिए राज्य विभिन्न प्रकार के कर लगाकर अमीरों से रुपया वसूल करता है और उसे ऐसे कार्यों में व्यय करता है जिनसे गरीबों को अधिक से अधिक सुविधा प्राप्त हो तथा असमानता दूर हो। समाजवाद प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी योग्यतानुसार उन्नत करने के अवसर प्रदान करता है। यह ठीक है कि समाजवाद यद्यपि पूर्ण समानता की गारंटी नहीं करता परन्तु फिर भी व्यक्तिगत सम्पत्ति का उत्तराधिकार और लाभ कमाने की प्रवृत्ति न होने के कारण पूँजीवाद की अपेक्षा यह अधिक समानता उत्पन्न कर सकता है। **प्रो. पीगू** के शब्दों में, "आर्थिक विषमता को समाप्त करने में पूँजीवाद की अपेक्षा समाजवाद अधिक सार्थक सिद्ध हो सकता है।"

(3) **आर्थिक स्थिरता-** समाजवादी प्रणाली में आर्थिक जीवन विस्तृत रूप से नियोजित होता है। अतः उन व्यक्तियों का प्रभाव समाप्त हो जाता है जो कि व्यापार चक्रों को उत्पन्न करते हैं जैसे अनिश्चितता। इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था में आर्थिक जीवन अपेक्षाकृत अधिक स्थायी हो जाता है। यही कारण है, समाजवादी अर्थव्यवस्था में पूँजीवादी अर्थव्यवस्था की अपेक्षा बेकारी और भुखमरी बहुत कम देखने को मिलती है। **प्रो. पीगू** ने भी कहा है कि "बेरोजगारी की समस्या को सुलझाने में एक समाजवादी अर्थव्यवस्था को केन्द्रीय नियोजन के साथ पूँजीवाद की तुलना में निश्चित लाभ प्राप्त है।" **प्रो. कोल** का भी कहना है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था में बेकारी की समस्या नहीं हो सकती।

(4) सामाजिक लागतों की बुराइयों का निवारण- पूँजीवाद अर्थव्यवस्था में उद्योगों का व्यक्तिगत संचालन कुछ हानियों का कारण होता है, जिन्हें 'सामाजिक लागतें' कहा जाता है, जैसे औद्योगिक बीमारियाँ, औद्योगिक खतरे, औद्योगिक भीड़-भाड़ आदि। व्यक्तिगत पूँजीपति इन लागतों को स्वयं वहन नहीं करते वरन् समाज पर ही उसका भार डाल देते हैं। समाजवादी अर्थव्यवस्था में ऐसा नहीं होगा, क्योंकि जैसे-जैसे औद्योगिक विकास होता है वैसे ही वैसे सामाजिक कल्याण और सामाजिक सुरक्षा के साधनों में भी वृद्धि की जाती है।

(5) **वास्तविक स्वतंत्रता-** पूँजीवाद में स्वतंत्रता केवल नाममात्र को होती है, क्योंकि वास्तव में केवल धनी वर्ग को ही स्वतंत्रता प्राप्त होती है और सरकार पर कुछ गिने-चुने व्यक्तियों का अधिकार होता है। जैस अमेरिका में केवल 30-50 परिवारों के द्वारा ही सारा आर्थिक जीवन नियन्त्रित किया जाता है। **डॉ. कुमारप्पा** के शब्दों में, "यह स्वतंत्रताएँ जिनका पूँजीवाद के अन्तर्गत बहुत अधिक वर्णन किया जाता है केवल कुछ चुने हुए व्यक्तियों के लिए होती हैं, श्रमिक के लिए नहीं जो निर्धनता का दास बना दिया जाता है।" इसके विपरीत समाजवाद में लोग वास्तविक अर्थ में स्वतंत्र होते हैं, क्योंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत व्यक्तियों को बेकारी का भय नहीं रहता, भविष्य की चिन्ता नहीं होती, रोटी, कपड़ तथा अनिवार्यताओं की पूर्ति के नारे से चिन्तित नहीं होना पड़ता।

(6) **सामाजिक वर्ग-संघर्ष का अभाव-** समाजवादी अर्थव्यवस्था में शोषक व शोषित अथवा धनी और निर्धन, दो विरोधी वर्गों का जन्म नहीं होता जिसके कारण वर्ग-संघर्ष का अभाव बना रहता है और देश में शांति रहती है। चूँकि व्यवहार में अधिकतर झगड़े व अपराध व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार के कारण होते हैं इसलिए समाजवाद में इन दोनों संस्थाओं के लोप के साथ-साथ अपराधों की मात्रा में भी कमी हो जाती है।

(7) **अधिकतम संतुष्टि-** समाजवादी व्यवस्था में, उपभोक्ताओं को मिलने वाली संतुष्टि की मात्रा, पूँजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा अधिक होती है। पूँजीवाद में तो केवल उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन होता है जिनके उत्पन्न करने में अधिक लाभ होता है अर्थात् जिनकी माँग बाजार में अधिक होती है। चूँकि पूँजीवाद में धन का वितरण असमान होता है इसलिए माँग विलासदायक वस्तुओं की अधिक होती है और उनका ही उत्पादन अधिक होता है। इसलिए अधिकांश मनुष्य उन अनेक वस्तुओं को नहीं खरीद पाते जिनकी उनको आवश्यकता होती है और इस प्रकार उनकी संतुष्टि अधिकतम नहीं हो पाती, किन्तु समाजवादी व्यवस्था में उन वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिनकी जनसाधारण को आवश्यकता होती है तथा इस प्रणाली में राष्ट्रीय आय का लगभग समान वितरण होता है इसलिए एक सामान्य व्यक्ति भी अधिकाधिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करने में समर्थ होता है।

(8) **पूँजी निर्माण की ऊँची दर-** एक समाजवादी अर्थव्यवस्था में पूँजी निर्माण की दर अपेक्षाकृत कहीं अधिक होती है। इसके दो कारण हैं- प्रथम, नियोजित अर्थव्यवस्था वर्तमान की अपेक्षा भविष्य की आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान देती है तथा इस संबंध में बलिदान करने को भी तैयार रहती है। दूसरे, नियोजित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उद्योगों में जो बचत होती है वह निजी हाथों में न जाकर राज्य के पास जाती है जिसका उपयोग पुनः विनियोग (Ploughing back for investment) में होता है जिससे और अधिक विस्तार होता है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था के दोष

समाजवादी अर्थव्यवस्था के मुख्य दोष निम्नलिखित हैं :

(1) **समाजवाद के स्वयं-संचालित मूल्य-यंत्र की अनुपस्थिति-** समाजवादी अर्थव्यवस्था की सबसे बड़ी आलोचना यह है कि इसके अन्तर्गत लागत-आगणन (Cost-calcualtion) का कोई उचित आधार नहीं होता जिसकी अनुपस्थिति में अर्थव्यवस्था सुचारु रूप से संचालित नहीं हो पाती अथवा साधनों का सर्वश्रेष्ठ वितरण नहीं हो पाता। यह आलोचना सर्वप्रथम प्रो. वॉन मिसिस (Van Mises) द्वारा की गई। उनके मतानुसार, "आर्थिक गणना के अभाव में किसी भी प्रकार की अर्थव्यवस्था असंभव है। अतएव समाजवादी अर्थव्यवस्था में जहाँ आर्थिक गणना का कार्य असंभव है, किसी भी प्रकार की अर्थव्यवस्था संभव नहीं है। वहाँ यह निश्चित करने के लिए कोई तरीका नहीं होता कि क्या विवेकपूर्ण है और इसलिए यह स्पष्ट है कि उत्पादन का निर्देशन कभी भी आर्थिक धारणाओं से नहीं होगा।" संक्षेप में, आलोचना का सार इस प्रकार है- (अ) समाजवादी अर्थव्यवस्था में सम्पत्ति के साधनों पर समाज का स्वामित्व होता है जिसके कारण उनकी कोई कीमत नहीं होती। (ब) उत्पत्ति के साधनों की सेवाओं के स्वतंत्र मूल्य-निर्धारण की अनुपस्थिति में किसी वस्तु की लागत का आगणन नहीं किया जा सकता। (स) इसलिए यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि वस्तु का कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाये। परिणामतः यह निश्चय करना असंभव हो जाता है कि उत्पादन के साधनों का विभिन्न वस्तुओं व सेवाओं के उत्पादन में किस प्रकार वितरण किया जाए।

समाजवादी लेखकों ने आपत्ति का उत्तर देते हुए कहा है कि एक समाजवादी अर्थव्यवस्था में प्रतिस्पर्धात्मक मूल्य-यन्त्र पूर्णता से क्रियाशील नहीं होता, यह सत्य है किन्तु यह बिल्कुल ही विद्यमान न हो ऐसी बात नहीं है। उदाहरण के लिये, रूस एक मूल्य-नीति का पालन कर रहा है। वहाँ केवल वस्तु के ही मूल्य नहीं, बल्कि उत्पादन के साधनों के

मूल्य का भी निर्धारण नियोजन अधिकारी के द्वारा होता है। उससे साधनों के वितरण में सहायता अवश्य ही मिल है। इस प्रकार एक समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी मूल्य-यन्त्र भले ही वह कितना कृत्रिम हो, साधनों के वितरण संबंध में अपना मार्गदर्शन प्रदान करता रहता है। समाजवादी मूल्य-यन्त्र के कृत्रिम होते हुए भी इसमें कुछ लाभ जिसके कारण इसको एकदम नहीं छोड़ा जा सकता, जैसे- (क) समाजवादी मूल्य-यन्त्र में आकस्मिक व भीषण परिव नहीं हो पाते जैसा कि पूँजीवाद मूल्य-यन्त्र में होते रहते हैं। (ख) इस अर्थव्यवस्था में मूल्य-यंत्र में लोचकता परिवर्तनशीलता भी होती है। बाजार की स्थिति व वस्तु की माँग व पूर्ति के अनुसार इसमें परिवर्तन किये जा सव हैं।

फिर भी पूँजीवाद के समान समाजवादी अर्थव्यवस्था में कोई यंत्र नहीं होता जिससे वह यह मालूम कर स कि नागरिकों को किस वस्तु की अधिक आवश्यकता है और किस उद्योग में लगाने से उत्पत्ति के साधनों का अधि अच्छा उपयोग हो सकेगा।

(2) **आर्थिक प्रेरणाओं का अभाव**- समाजवादी अर्थव्यवस्था के सम्मुख एक समस्या यह भी है कि व्यक्ति में कार्य करने की प्रेरणा किस प्रकार उत्पन्न की जाये, क्योंकि समाजवादी प्रणाली में उद्योग व व्यवसाय सरका कर्मचारियों द्वारा चलाये जाते हैं और उनमें लाभ-भावना न होने के कारण कार्य करने की या अपनी कार्य-क्षमता व बढ़ाने की प्रेरणा नहीं मिलती। एक और कारण यह भी है, जिसकी वजह से समाजवादी व्यवस्था में यंत्रात्मक कुशलत नहीं होती। इस व्यवस्था में पूँजीवादी प्रतियोगिता का अभाव रहता है जिसके कारण सरकारी कर्मचारियों में उद्योगों व कुशलता बढ़ाने, उत्पादन की नवीन विधियों एवं तकनीकों को अपनाने तथा उत्पादन के नये-नये क्षेत्रों में भाग लेने व कोई प्रलोभन नहीं रह जाता।

किन्तु समाजवाद के समर्थकों के अनुसार यह आलोचना भ्रामक है। इन समर्थकों का कहना है कि यह तो सह है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत निजी लाभ की प्रेरणा नहीं पायी जाती, परन्तु अन्य प्रकार की अधिक शक्तिशाली प्रेरणा व्यक्तियों को यंत्रात्मक उन्नति की ओर प्रेरित करेंगी, जैसे- देश प्रेम, स्वाभिमान, समाज-सेवा, राष्ट्रीयता की भावना आदि इसके अतिरिक्त जब प्रत्येक व्यक्ति को उसके परिश्रम के अनुसार वेतन दिया जाता है तो स्वाभाविक रूप से उसमें अधि कार्य करने तथा कार्यक्षमता को बढ़ाने का प्रलोभन प्राप्त होता है। जहाँ तक अनुसंधान (Research) का संबंध उसकी व्यवस्था स्वयं राज्य करता है।

(3) **उपभोक्ताओं को स्वतंत्रता नही होती**- समाजवादी अर्थव्यवस्था के विरुद्ध यह मानते हैं कि उपभोक्ता क चुनाव की स्वतंत्रता प्रदान करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक उपभोक्ता इतना विवेकशील नहीं होता कि वा लाभदायक निर्णय ले सके। फिर यह भी संभव है कि उपभोक्ता द्वारा जो निर्णय लिया गया है वह सार्वजनिक हित मे न हो। इसलिए उपभोक्ता को चुनाव की स्वतंत्रता नहीं देनी चाहिए।

समाजवादी व्यवस्था में इस बात का प्रयत्न किया जाता है कि उपभोक्ता की रुचि, इच्छा तथा अनुग्रह आदि क आवश्यक महत्व दिया जाये।

(4) **व्यावसायिक स्वतंत्रता का अभाव**- समाजवादी अर्थव्यवस्था में परिस्थितियों एवं राज्य के इच्छानुसार श्रमिक एक पेशे से दूसरे पेशे में आते-जाते रहते हैं, जिससे उपक्रम अथवा व्यवसाय चुनने में उनकी कोई स्वतंत्रता नहीं रह जाती। इसमें सम्पूर्ण देश के लिए एक योजना बना ली जाती है तथा श्रमिकों को एक निश्चित कार्य करने के लिए दे दिया जाता है और इस कार्य को बिना राज्य की आज्ञा के बदला नहीं जा सकता। इस प्रकार से व्यक्ति को राज्य का 'दास' बना लिया जाता है और उसको अपनी व्यक्तिगत योग्यता को प्रदर्शित करने तथा उससे लाभ उठाने का अवसर नहीं दिया जाता।

इस आरोप का भी समाजवादियों द्वारा समुचित उत्तर दिया गया है। उनका कहना है कि पूँजीवाद में भी श्रमिकों को व्यवसाय के चुनाव की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं होती, क्योंकि प्राय: श्रमिकों को यह स्वतंत्रता माता-पिता के प्रभाव धन-सम्पत्ति आदि के कारण सीमित होती है। इसके विपरीत समाजवादी अर्थव्यवस्था में इन सब चीजों का महत्व श्रमिकों के चुनाव में बिल्कुल ही नही रहता। जहाँ तक संभव होता है उनकी इच्छा और झुकाव के अनुसार काम दिया जाता है। अर्थशास्त्री **मॉरिस डॉब्, श्रीमती बारबरा वूटन** ने भी यह विचार व्यक्त किया है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में विभिन्न कारणों से, काम के चुनाव में स्वतंत्रता नहीं रह सकती, बल्कि नियोजित अर्थव्यवस्था में रहती है।

(5) **शक्ति का केन्द्रीकरण**- समाजवाद में शक्ति के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है। डॉ. कुमारप्पा का कथन है, "जिस प्रकार से पूँजीवाद ने सम्पत्ति को ले लिया (जो वास्तव में व्यक्तियों की थी) और इसे पूँजीपतियों के हाथों में संचित कर दिया, उसी प्रकार समाजवाद उस शक्ति को ले लेता है जो वास्तव में व्यक्तियों की है और राज्य में केन्द्रित कर देता है। शक्ति का यह केन्द्रीकरण धन के केन्द्रीकरण से कम हानिकारक नहीं है, क्योंकि जो व्यक्ति शक्ति के नशे में है वह अपने विरोधियों के विरुद्ध इसका उपयोग विपत्तिदायक प्रभाव के साथ कर सकता है।"

डॉ. कुमारप्पा का उपरोक्त कथन अंशतः सत्य है, क्योंकि समाजवादी देशों में नागरिकों की राजनीतिक स्वतंत्रता नाममात्र की होती है और जो व्यक्ति सरकार के विरुद्ध एक शब्द भी कहता है उसको समाप्त कर दिया जाता है, परन्तु यदि हम ध्यानपूर्वक सोचें तो इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि पूँजीवादी व्यवस्था इससे भी भयंकर होती है क्योंकि इसके अन्तर्गत राजनीतिक वास्तविक स्वतंत्रता केवल पूँजीपतियों तक ही सीमित रहती है और श्रमिकों की राजनीतिक स्वतंत्रता बेकारी, भूख और वस्त्रहीनता के कारण एक उपहास मात्र होती है।

(6) **समाजवाद और नौकरशाही**- समाजवाद के अन्तर्गत कर्मचारियों तथा अधिकारियों द्वारा देश की अर्थव्यवस्था संचालित की जाती है, परन्तु जैसा कि सर्वविदित है, सरकारी कर्मचारी द्वारा अपना कार्य प्रायः कुशलतापूर्वक सम्पन्न नहीं किया जा सकता। इसका प्रथम कारण तो यह है कि सरकारी व्यवसायों में प्रायः लाल फीताशाही का बोलबाला रहता है जिसके कारण प्रत्येक कार्य बहुत देर में होता है। दूसरे, सरकारी कर्मचारियों के वेतन-क्रम तथा कार्य करने की अवस्थाएँ कानून द्वारा निश्चित होती हैं और उन्हें नियमपूर्वक वेतन वृद्धियाँ दी जाती हैं। इस तरह उन्हें काम में विशेष रुचि लेने का प्रोत्साहन नहीं मिलता। तीसरे, चूँकि नौकरशाही में तात्कालिक निर्णय लेना कठिन होता है, इसलिए कोई भी आगे बढ़कर काम करने वाला व्यक्ति सरकारी विभागों में असाधारण सफलता प्राप्त करने में असमर्थ रहता है।

यह कोई ऐसी कठिनाई नहीं है जिसे समाप्त न किया जा सके। रूस में कुछ वर्ष पहले से सरकारी शासन व्यवस्था में सुधार के लिए विकेन्द्रीकरण (Decentralisation) व अधिकारी तंत्र को दूर करने (Bureaucratisation) की योजना लागू की गयी। अतः यह एक विवादपूर्ण प्रश्न है कि रूस का औद्योगिक प्रबन्ध अमेरिका से अधिक कार्यक्षम है या कम?

(7) **पूँजी निर्माण का अभाव**- कुछ अर्थशास्त्रियों का यह तर्क है कि समाजवादी अर्थव्यवस्था में पूँजी का निर्माण संतोषजनक ढंग से नहीं हो पाता क्योंकि सरकार न तो पूँजी के विनियोग की अनुमति देती है और न उसे व्यक्तिगत लाभ के किसी कार्य के लिए प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु यह तर्क भी ठीक नहीं दीखता, क्योंकि जैसा प्रो. डार्विन ने कहा कि "जो भी 'बचत' समाजीकरण किये गये उद्योगों से हो, अगर उसका व्यय कुछ लोगों के रहन-सहन के विकास पर नहीं कर दिया गया, बल्कि वह 'सर्वोच्च आर्थिक अधिकारों' के हाथों में चली जाये और वह उपयुक्त प्रबन्ध करे तो प्रजातन्त्रीय नियोजित अर्थव्यवस्था में भी पूँजी का निर्माण अधिक मात्रा में हो सकता है।"

(8) **विशाल जन-शक्ति की आवश्यकता**- आर्थिक नियोजन समाजवादी अर्थव्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता होती है, परन्तु जैसा कि प्रो. लुईस ने बताया कि नियोजन को बनाने, विभिन्न विवरण तैयार करने के लिए और तदुपरान्त उसे कार्यान्वित करने के लिए विशाल संख्या में कर्मचारियों तथा अधिकारियों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है। उनका तात्पर्य है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में इस प्रकार के श्रम-शक्ति के अपव्यय को आसानी से रोका जा सकता है, क्योंकि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था स्वयंचालित होती है, किन्तु यह तर्क उपयुक्त नहीं लगता। एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में भी तो अनेक मध्यस्थों, विज्ञापनकर्त्ताओं एवं विक्रेताओं आदि की आवश्यकता पड़ती है।

(9) **भ्रष्टाचार एवं अनियमितताओं को प्रोत्साहन**- समाजवाद के विरुद्ध यह आरोप भी लगाया जाता है कि इसके अन्तर्गत योजनाएँ चलाने वाले कर्मचारी सरकारी धन व सामान की कोई परवाह नहीं करते जिससे साधनों का अपव्यय होता है। इसके अतिरिक्त जैसा कि प्रो. मीड ने बताया कि समाजवाद के अन्तर्गत देश के आर्थिक जीवन पर सरकारी नियन्त्रण होने से भ्रष्टाचार के अवसर बढ़ जाते हैं।

परन्तु इसके विरुद्ध समाजवादियों का कहना है कि जैसे निजी सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार को सरकार द्वारा नियन्त्रित किया जाता है, वैसे ही भ्रष्टाचार के अवसरों में कमी होनी चाहिए। उनका कहना है कि बड़े-बड़े निजी व्यवसायों में सरकारी व्यवसायों की अपेक्षा अधिक भ्रष्टाचार होता है। उदाहरणार्थ, अमेरिका के बड़े-बड़े निजी व्यवसायों में भ्रष्टाचार की कई प्रकार की कुप्रथाएँ प्रचलित हैं।

(10) **गरीबों द्वारा धनिकों का शोषण**- एक फ्रेंच लेखक ने समाजवाद की आलोचना यह कहकर की है कि "अगर पूँजीवाद धनियों द्वारा गरीबों का शोषण है तो उसी प्रकार समाजवाद धनिकों का शोषण है।"

क्या समाजवाद पूँजीवाद के दोषों को दूर करता है

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाजवाद का विकास पूँजीवादी व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए हुआ। दूसरे शब्दों में, समाजवाद का जन्म पूँजीवाद के दोषों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ। पूँजीवाद के जो दोष हैं वही समाजवाद के लाभ हैं। संक्षेप में, समाजवाद पूँजीवाद के केवल दोषों को ही दूर नहीं करता वरन् उसके कुछ धनात्मक और अधिक महत्वपूर्ण लाभ भी हैं, जैसे (i) उत्पादन का विस्तार होता है, (ii) धन की असमानता में कमी आती है, (iii) बेरोजगारी का अंत होता है, (iv) सामाजिक कल्याण में वृद्धि होती है, (v) श्रमिकों के शोषण का अंत होता है, (vi) वर्गविहीन समाज की स्थापना होती है। समाजवाद के विपक्ष में जो बहुत से तर्क दिये गये हैं, वे उचित योजना

शिक्षा और प्रशिक्षण द्वारा दूर किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी है कि उक्त दोष समाजवाद की स्थापना के प्रारम्भिक काल में ही उदय होते हैं और जब समाज-सेवा की उच्च भावना नागरिकों में जागृत हो जाती है तो बहुत से दोष स्वतः ही लोप हो जाते हैं। स्पष्ट है कि समाजवाद पूँजीवाद के दोषों को दूर करने का साधन है। वस्तुतः जहाँ पूँजीवाद असफल होता है वहाँ समाजवाद सफल होता है। इसी दृष्टिकोण से पीगू ने कहा है कि "वर्तमान पूँजीवादी ढंग की अपेक्षा समाजवादी केन्द्रीय योजना का ढंग, यदि उसे ठीक प्रकार चलाया जाये, अधिक उत्तम है।"

मिश्रित अर्थव्यवस्था
(Mixed Economy)

मिश्रित अर्थव्यवस्था एक नवीन आर्थिक पद्धति के रूप में चर्चित है। ऐतिहासिक आधार पर आर्थिक पद्धतियों के प्रचलन के संबंध में यदि विचार किया जाये तो यह स्पष्ट होता है प्राचीन समय में आर्थिक स्वतंत्रता व सरकारी अनहस्तक्षेप का युग रहा है। जब तक पूँजीवादी व्यवस्था प्रचलन में रही स्वतंत्र व्यापार की नीति (Laissez Faire) तथा आर्थिक स्वतंत्रता अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण तत्व के रूप में बनी रही। पूँजीवादी व्यवस्थाओं में आगे चलकर अनेक आर्थिक-सामाजिक समस्याओं ने अर्थशास्त्रियों एवं विचारकों का ध्यान आकर्षित किया। इससे समाजवादी विचारधारा का अभ्युदय हुआ तथा क्रमशः समाजवादी विचारधारा पर आधारित आर्थिक व्यवस्था अनेक देशों के द्वारा अपनाई जाने लगी। इस प्रकार समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं का गठन प्रारंभ हुआ। विशेष रूप से बीसवीं शताब्दी में ही समाजवादी विचारधारा को अधिक बल मिला। कुछ देशों में पूँजीवादी व समाजवादी विचारधारा के बीच का मार्ग अपनाना श्रेयस्कर समझा ताकि एक तरफ पूँजीवादी प्रणाली के गुणों का लाभ तथा दूसरी तरफ समाजवादी प्रणाली के गुणों लाभ संयुक्त रूप से उठाया जा सके। इन मध्यममार्गी देशों में समाजवादी व पूँजीवादी प्रणाली का मिश्रित रूप अपनाया गया। इसीलिए ऐसे देशों की अर्थव्यवस्था को मिश्रित अर्थव्यवस्था कहा जाता है। प्रस्तुत अध्याय में मिश्रित अर्थव्यवस्था के अभ्युदय के कारण, मिश्रित अर्थव्यवस्था का स्वरूप एवं विशेषताएँ तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था की समीक्षा विस्तारपूर्वक की गई है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था का अभ्युदय : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि (Evolution of Mixed Economy : Historical Background)- प्राचीन काल में राज्य के द्वारा आर्थिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। उस समय यह माना जाता था कि राज्य को देश की आर्थिक क्रियाओं में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति और संस्था को पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त थी। अर्थशास्त्रियों का विचार था कि व्यक्ति अपनी स्वप्रेरणा से अपने हितों के लिए अधिक संगठित प्रयास कर सकता है तथा अधिकतम कल्याण प्राप्त कर सकता है, जबकि सरकार को आर्थिक क्रियाओं के संचालन की न तो कुशलता ही रहती है और वह उनका संचालन मितव्ययितापूर्वक कर सकती है। निजी उपक्रमियों में अधिक लाभ की आकांक्षा रहने के कारण वे क्रियाओं का संचालन पूर्ण जिम्मेदारी, कुशलता एवं मितव्ययिता के साथ करते हैं। प्रत्येक उपक्रमी लाभ हानि के लिए स्वयं उत्तरदायी रहता है अतः वह किसी भी प्रकार का अपव्यय नहीं होने देता है। इसके विपरीत राज्य द्वारा आर्थिक क्रियाओं के संचालन की दशा में व्यक्तिगत रुचि एवं लाभ का अभाव पाया जाता है, जिम्मेदारी का विकेन्द्रीकरण पाया जाता है तथा अपव्ययों से बचने के संबंध में कोई विशेष सावधानी नहीं बरती जाती है। काफी लम्बे समय तक स्वतंत्र साहस एवं व्यापार की नीति अनेक प्रतिष्ठित, अर्थशास्त्रियों जैसे एडम स्मिथ, जे.बी. से, डेविड रिकार्डो, मिल आदि का व्यापक समर्थन मिलता रहा। इन अर्थशास्त्रियों का दृढ़ विश्वास था कि आर्थिक स्वतंत्रता ही पूर्ण रूप से आर्थिक प्रगति का साधन है। धीरे-धीरे स्वतंत्रता अर्थव्यवस्था की बुराइयाँ उजागर होने लगीं तथा अर्थशास्त्रियों ने इस विचारधारा से अपनी असहमति प्रकट करना प्रारम्भ कर दिया। स्वतंत्र अर्थव्यवस्था में गलाकाट प्रतियोगिता, आर्थिक उच्चावचन, सामाजिक शोषण एवं आर्थिक संकट की दशाएँ उत्पन्न ही नहीं हुईं, बल्कि इन अर्थव्यवस्थाओं की स्थायी विशेषताएँ बन गईं। इन समस्याओं ने राष्ट्र के आर्थिक एवं सामाजिक जीवन में अशांति के ज्वालामुखी को जन्म दिया। इससे बुद्धिजीवियों, विचारकों तथा नागरिकों का स्वतंत्र व्यापार की विचारधारा से विश्वास उठ गया।

धीरे-धीरे स्वतंत्र व्यापार अथवा पूँजीवादी विचारधारा का प्रभाव कम होता चला गया तथा लोगों का ध्यान समाजवादी विचारधारा की ओर आकृष्ट होना प्रारम्भ हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध तक स्वतंत्र व्यापार विचारधारा काफी विलीन हो चुकी थी। सन् 1926 में कीन्स की पुस्तक "स्वतंत्र व्यापार का अंत" (End of Laissez Faire) का प्रकाश हुआ जिसमें स्वतंत्र व्यापार के दोषों को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया। सन् 1929 की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी ने कीन्स की विचारधारा की पुष्टि में सहयोग प्रदान किया। परिणामतः अन्य अर्थशास्त्रियों के द्वारा भी कीन्स के विचारों का समर्थन किया गया। आर्थिक मन्दी से त्रस्त जनता ने भी स्वतंत्र व्यापार की नीति का खुलकर विरोध प्रारम्भ किया। प्रो. पीगू ने अपनी पुस्तक 'समाजवाद बनाम पूँजीवाद' (Socialism versus Capitalism) में स्पष्ट रूप से लिखा कि "उत्पादन के साधनों का समाजीकरण आर्थिक शांति के लिए आवश्यक है और उसे जितने जल्दी अपनाया जाय

उतना ही अच्छा होगा।" प्रो. कीन्स का स्पष्ट मत था कि केन्द्रीय नियोजन की प्रणाली पूँजीवादी व्यवस्था से कहीं अच्छी है।

सन् 1917 में रूस में जो अक्टूबर क्रान्ति हुई, उसका मुख्य उद्देश्य पूँजीवादी व्यवस्था की समाप्ति तथा उत्पत्ति के साधनों का समाजीकरण करना था। लेनिन की विचारधारा का यह प्रमुख अंग था कि श्रमिकों द्वारा प्रबन्धित एवं संचालित अर्थव्यवस्था में ही आर्थिक प्रगति संभव है। प्रारम्भ में लेनिन सरकार साधनों के पूर्ण समाजीकरण के पक्ष में नहीं थीं, किन्तु उद्देश्य यही था कि क्रमशः समस्त साधनों का राष्ट्रीयकरण किया जाय ताकि द्रुतगति से आर्थिक विकास का कार्य किया जा सके। इस प्रकार रूस ने सर्वप्रथम "स्वतंत्र व्यापार-व्यवस्था" का अंत कर साम्यवादी अर्थव्यवस्था को अपनाया। इसके पश्चात् चीन के द्वारा भी समाजवादी व्यवस्था को अपनाया गया। रूस व चीन ने समाजवादी नियोजन के अन्तर्गत जो उल्लेखनीय प्रगति हासिल की, उससे विश्व के अनेक देश प्रभावित हुए बिना न रह सके। इस प्रकार समाजवादी अर्थव्यवस्था वाले देशों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती चली गई।

विश्व के कुछ देश ऐसे भी थे जिन्हें एकदम समाजवादी व्यवस्था को अपनाने में अनेक आर्थिक कठिनाइयों की आशंका थी। विशेष रूप से नव-स्वतंत्रता प्राप्त अर्ध-विकसित देशों में सरकार इतनी कुशल एवं सक्षम नहीं है कि वे आर्थिक क्रियाओं के संचालन एवं प्रबन्ध का सम्पूर्ण दायित्व अपने ऊपर ले सकें। देश की परिस्थितियाँ व आवश्यकताएँ भी कुछ इस प्रकार की रहीं जिनके कारण उक्त देशों ने समाजवादी व पूँजीवादी व्यवस्था का मिश्रित रूप से अपनाना स्वीकार किया। इस संबंध में कुछ देशों की सरकार का यह मत था कि पूर्ण केन्द्रीय नियंत्रण से कुछ दोषों को जन्म मिल सकता है अतः ऐसे स्वरूप को अपनाया जाए जिसके अन्तर्गत एक तरफ आवश्यक सरकारी हस्तक्षेप भी बना रहे तथा दूसरी तरफ निजी उपक्रमियों का लाभ अर्थव्यवस्था के विकास में प्राप्त किया जा सके। इस प्रकार मिश्रित अर्थव्यवस्था का प्रचलन वर्तमान समय में लोकप्रिय हुआ है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था से तात्पर्य (Concept of Mixed Economy)- मिश्रित अर्थव्यवस्था की एक सामान्य परिभाषा निम्नलिखित ढंग से दी जा सकती है : "मिश्रित अर्थव्यवस्था एक ऐसी आर्थिक प्रणाली है जिसके अन्तर्गत सरकारी व निजी क्षेत्र को साथ-साथ विकास के अवसर प्राप्त होते हैं।" इस प्रकार मिश्रित अर्थव्यवस्था में पूँजीवादी व समाजवादी विचारधाराओं को मिश्रित रूप में अपनाया जाता है अर्थात् आर्थिक क्षेत्र में सरकार व निजी उपक्रमी दोनों साथ-साथ मिलकर कार्य करते हैं। अर्थव्यवस्था में सरकारी व निजी दो क्षेत्र पाये जाते हैं। सरकारी क्षेत्र पर सरकार का प्रबन्ध एवं स्वामित्व तो रहता है साथ-साथ वह निजी क्षेत्र का उचित नियमन एवं नियन्त्रण का कार्य भी करती है। निजी क्षेत्र को अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की जाती है, किन्तु उस पर उचित नियन्त्रण भी रखा जाता है ताकि व्यक्तिगत हितों व सामाजिक हितों के बीच उचित संतुलन बना रह सके। सरकार व निजी क्षेत्र दोनों राष्ट्रीय विकास एवं सामाजिक हितों को ध्यान में रखकर ही कार्य करते हैं। इस प्रकार मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का इस प्रकार समन्वय किया जाता है जिनसे अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सके।

मिश्रित अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ (Features of Mixed Economy)- मिश्रित अर्थव्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं :

(1) **विविध स्वरूप**- मिश्रित अर्थव्यवस्था का स्वरूप विविधता लिए होता है, यह विविधता आर्थिक क्षेत्रों के संबंध में पाई जाती है। सामान्यतः मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रमुख आर्थिक क्षेत्र पाये जाते हैं :

(अ) **सार्वजनिक क्षेत्र**- सार्वजनिक क्षेत्र से आशय ऐसे आर्थिक क्षेत्र से है जो पूर्णतः सरकारी स्वामित्व एवं प्रबन्ध के अन्तर्गत होता है। इस क्षेत्र के अन्तर्गत निर्धारित उत्पादन एवं वितरण की महत्वपूर्ण क्रियाएँ सरकार द्वारा संचालित की जाती हैं। इस क्षेत्र में भाग लेने के लिए निजी उपक्रमी को अनुमति प्रदान नहीं की जाती है। सामान्यतः प्रमुख भारी एवं आधारभूत उद्योग, सुरक्षा उद्योग एवं आवश्यक सामाजिक सेवाओं को सरकारी क्षेत्र में ही रखा जाता है।

(ब) **निजी क्षेत्र**- कुछ निर्धारित आर्थिक क्रियाएँ निजी उपक्रमियों के द्वारा संचालित की जाती हैं। ऐसी आर्थिक क्रियाओं का प्रबन्ध नियन्त्रण, स्वामित्व एवं वित्त प्रबन्धन का कार्य निजी व्यक्तियों के हाथ में रहता है। सरकार निजी क्षेत्र पर उचित नीतियों के माध्यम से नियमन एवं नियन्त्रण का कार्य करती है ताकि उसके द्वारा सामाजिक एवं राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा न की जा सके। निजी क्षेत्र के अन्तर्गत कम महत्वपूर्ण उद्योग सामाजिक सेवाएँ आदि का कार्य रखा जाता है।

(स) **मिश्रित क्षेत्र**- अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं के संबंध में एक क्षेत्र ऐसा भी होता है जिसमें सरकार व निजी उपक्रमी संयुक्त रूप से कार्य कर सकते हैं। किसी उद्योग अथवा आर्थिक कार्य में सरकार व निजी उपक्रमी मिल-जुलकर पूँजी लगाते हैं। साधारणतः सरकार का पूँजी-योगदान निजी-उपक्रमी की तुलना में ज्यादा होता है जैसे सरकार का 51 प्रतिशत और निजी उपक्रमी का 49 प्रतिशत। यह इसलिये आवश्यक होता है ताकि उपक्रम पर सरकारी नियन्त्रण बना रह सके। इस क्षेत्र में भी प्रायः उपभोक्ता उद्योगों व अन्य कम महत्वपूर्ण उद्योगों की स्थापना का कार्य

NOTES

होता है। मिश्रित क्षेत्र में सार्वजनिक उपक्रम व निजी उपक्रम के लाभों को संयुक्त रूप से प्राप्त किया जाता है, जब अनेक दोषों से मुक्त रहने का प्रयास किया जाता है।

(द) **सहकारी क्षेत्र-** अर्थव्यवस्था में सहकारी क्षेत्र को भी महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की जाती है। सहकारी क्षे आर्थिक क्रियाओं के विकास एवं विस्तार में बड़ा उपयोगी होता है। सहकारी आधार पर संचालित आर्थिक क्रिया में जन-भागीदारी व सहयोग में वृद्धि होती ही है, साथ ही साथ आर्थिक क्रियाओं में अर्जित लाभ सीधे व्यक्तियों प्राप्त होता है, इससे आय के समुचित वितरण में सहायता मिलती है। आर्थिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण में भी सहक क्षेत्र की प्रमुख भूमिका रहती है।

(2) **मिश्रित स्वामित्व-** मिश्रित अर्थव्यवस्था में संसाधनों पर स्वामित्व मिश्रित पाया जाता है, अर्थात् कुछ साध सरकारी-स्वामित्व के अन्तर्गत होते हैं तो कुछ साधन निजी स्वामित्व के अन्तर्गत। सामान्यतः सरकारी क्षेत्र का स्वामि अर्थव्यवस्था के प्रमुख उद्योगों, बैंकों, बीमा कम्पनियों और अनेक वित्तीय संस्थाओं के संबंध में पाया जाता है। समाजवा विचारधारा की ओर अग्रसर अर्थव्यवस्था में सरकार आर्थिक क्रियाओं का क्रमशः राष्ट्रीयकरण करता जाता है। इ प्रकार निजी स्वामित्व की तुलना में सरकारी स्वामित्व की मात्रा एवं क्षेत्र विस्तृत होता जाता है।

(3) **निजी क्षेत्र का पर्याप्त महत्व-** विकास की प्रारम्भिक अवस्था में सरकार के सीमित साधन एवं प्रशासनि क्षमता दुर्बल होती है अतः सरकार को निजी उपक्रम की पूँजी, साहस, विशेष अनुभव एवं अन्वेषकीय प्रवृत्तियों पर बहु अधिक निर्भर रहना पड़ता है। इसीलिये निजी उपक्रमियों को आर्थिक क्रियाओं में भाग लेने के व्यापक अवसर प्रदा किये जाते हैं। सरकार उनका नियमन एवं नियन्त्रण का कार्य करती है जिससे उन्हें सही दिशा-निर्देश दिया जा सके तथा सामाजिक हितों की अधिकतम पूर्ति हो सके।

(4) **सार्वजनिक व निजी क्षेत्र की परिपूरक भूमिका-** मिश्रित अर्थव्यवस्था की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि दो परस्पर विरोधी विचारधाराओं का ऐसा युक्ति-संगत समन्वय स्थापित किया जाता है कि अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र परस्पर विरोधी होने के बजाय एक दूसरे के परिपूरक के रूप में कार्य करते हैं। इस अर्थव्यवस्था में जो सरकारी नीतियाँ प्रभावशील होती हैं उनका मूल उद्देश्य दोनों क्षेत्रों के विकास में सहायता पहुँचाना होता है।

(5) **आर्थिक क्रियाओं का विस्तार-** मिश्रित अर्थव्यवस्था में सरकार साधारणतः उन्हीं आर्थिक क्रियाओं में विशेष रूप से भाग लेती है जिनमें निजी उपक्रमियों की कम रुचि है अथवा जिनको सार्वजनिक क्षेत्र में रखा जाना राष्ट्रीय एवं सामाजिक हितों की दृष्टि से आवश्यक होता है। परिणामतः सरकार के द्वारा नई-नई आर्थिक क्रियाओं को प्रारम्भ किय जाता है जबकि निजी उपक्रमी परम्परागत आर्थिक क्रियाओं में कार्यरत रहते हैं। इस कारण आर्थिक क्रियाओं में तेजी से विस्तार होता जाता है।

(6) **अधिकतम सामाजिक हित-** मिश्रित अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र दोनों पर उत्पादन व वितरण का दायित्व होता है। दोनों क्षेत्रों का मूल उद्देश्य व्यक्तिगत एवं सामाजिक हितों में अधिकतम वृद्धि करना होत है। सरकार के द्वारा निजी उपक्रमियों पर उचित अंकुश इस बात को ध्यान में रखकर रखा जाता है जिससे अधिकतम सामाजिक हितों की पूर्ति हो सके।

मिश्रित अर्थव्यवस्था की विशेषताओं से स्पष्ट होता है कि देश की परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर आर्थिक क्षेत्रों के विभाजन का कार्य किया जाता है। प्रायः राष्ट्रीय एवं सामाजिक महत्व के उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र में रखे जाते हैं जैसे लोहा एवं इस्पात, कोयला, यातायात, मशीन निर्माण, शक्ति, सुरक्षा उद्योग आदि। ऐसे उद्योगों को निजी क्षेत्र में इसलिए नहीं रखा जाता है कि निजी उपक्रमी राष्ट्रीय हित की उपेक्षा कर निजी लाभ को बढ़ाने में अधिक रुचि ले सकते हैं। साधारणतः उपभोक्ता उद्योग जैसे सूती वस्त्र, चीनी, कागज, सीमेण्ट, जूट आदि उद्योग निजी क्षेत्र में रखे जाते हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था का मुख्य उद्देश्य आर्थिक क्षेत्रों को अधिक क्रियाशील एवं उत्पादक बनाकर देश की आर्थिक प्रगति को अग्रसर करना होता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था के प्रचलन के कारण (Causes of Adoption of Mixed Economy)- वर्तमान समय में अनेक देशों के द्वारा मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया गया है। विशेषकर, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अनेक अविकसित एवं अर्ध-विकसित देशों में आर्थिक-जागरण की एक तीव्र लहर पैदा हुई तथा इन देशों की सरकार ने यह बात स्वीकार की कि वे भी विकसित देशों के समान आर्थिक प्रगति हासिल कर सकते हैं। अर्ध-विकसित देशों ने अपनी आर्थिक सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाना श्रेयस्कर समझा, क्योंकि आर्थिक विकास के विशाल कार्य का दायित्व सरकार व निजी उपक्रमियों दोनों के द्वारा वहन किए जाने की दशा में आर्थिक उन्नति संभव थी। अर्ध विकसित देशों द्वारा मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाए जाने के कारणों का यहाँ विस्तृत विवेचना की जा सकती है :

(1) पूँजीवादी व्यवस्था के दोषों से मुक्ति- मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाए जाने का मुख्य कारण यह है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत पूँजीवादी व्यवस्था को इस रूप में रखा जाता है कि उसके दोषों को उत्पन्न होने का अवसर नहीं दिया जाता है जबकि उसके गुणों का लाभ प्राप्त किया जाता है। इस कारण अर्थव्यवस्था में उन आर्थिक-सामाजिक बुराइयों को पनपने का अवसर नहीं मिल पाता है जो सामान्यतः पूँजीवादी व्यवस्था के अन्तर्गत पाई जाती हैं।

(2) पूँजी की प्राप्ति- अर्ध-विकसित देशों में पूँजी साधनों की कमी पाई जाती है। सरकार के पास पर्याप्त पूँजी उपलब्ध नहीं रहती है जिससे समूचे विकास कार्यों का वित्त प्रबन्धन किया जा सके। यही बात निजी उपक्रमियों के संबंध में भी पाई जाती है। इस कारण दोनों में से कोई भी अकेला आर्थिक विकास के वृहद् कार्य के लिए पूँजी विनियोग करने में समर्थ नहीं रहता है। ऐसी दशा में मिश्रित अर्थव्यवस्था का स्वरूप उपयोगी सिद्ध होता है।

(3) प्रशासनिक व्यवस्था का उपयुक्त संचालन- अर्ध-विकसित देशों की प्रशासनिक व्यवस्था में कुशल संचालकों की कमी पाई जाती है। अतः निजी क्षेत्र के कुशल एवं अनुभवी संचालकों का मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उपयोग कर सम्पूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था को उपयुक्त ढंग से संचालित किया जा सकता है, बल्कि दोनों क्षेत्रों के बीच कार्यों एवं उपलब्धियों के संबंध में स्वस्थ प्रतियोगिता को भी जन्म देकर प्रशासनिक कुशलता को बढ़ाया जा सकता है।

(4) प्रशिक्षित व्यक्तियों की कमी - अर्ध-विकसित देशों में प्रशिक्षित व्यक्तियों की कमी पाई जाती है। यह कमी सरकारी क्षेत्र व निजी क्षेत्र दोनों के संबंध में रहती है अतः एक ही क्षेत्र के द्वारा विकास का कार्य किए जाने की दशा में कठिनाई होती है, किन्तु जब दोनों क्षेत्र मिल-जुलकर विकास के कार्य में जुटते हैं तो प्रशिक्षित व्यक्तियों की कमी के कारण उत्पन्न कठिनाई को दूर किया जा सकता है।

मिश्रित अर्थव्यवस्था में आर्थिक नियोजन
(Economic Planning under Mixed Economy)

वर्तमान काल में, मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक नियोजन अधिक प्रचलन में आया है। इस संबंध में मुख्य बात यह है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था आर्थिक क्रियाओं के कुशल संचालन का उपयुक्त अवसर प्रदान करती है। ऐसी अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीय एवं सामाजिक हितों को ध्यान में रखकर समुचित आधार पर आर्थिक क्रियाओं का वितरण विभिन्न क्षेत्रों के अन्तर्गत कर दिया जाता है तथा केन्द्रीय निर्देशन के अन्तर्गत व्यक्तिगत एवं सामाजिक हितों की पूर्ति के लिए विकास संबंधी कार्य सरलतापूर्वक संचालित होते हैं। मिश्रित अर्थव्यवस्था प्रायः अर्ध-विकसित देशों के द्वारा अपनायी गयी है तथा अधिकांश अर्ध-विकसित देश योजनाबद्ध विकास के मार्ग को अपनाये हैं। इन देशों की परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं, जहाँ न तो पूर्ण राष्ट्रीयकरण की नीति से समस्याओं का हल निकाला जा सकता है और न ही निजी आर्थिक स्वतंत्रता के द्वारा योजना को संचालित किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीयकरण व निजी उपक्रम दोनों के संबंध में उपयुक्त नीतियों के आधार पर विकास कार्य किया जाता है। इसमें एक तरफ सरकार देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। साथ ही साथ निजी उपक्रमियों से भी निर्धारित नीतियों के अन्तर्गत सहयोग प्राप्त करती है। अर्ध-विकसित देशों में पूँजी, साहस, प्रबन्ध एवं तकनीकी ज्ञान एवं अनुभव का अभाव पाया जाता है। ऐसी दशा में सरकार अकेले ही विकास की बड़ी-बड़ी योजनाओं का क्रियान्वयन नहीं कर सकती है। उसे पूँजी, साहस, प्रबन्ध आदि के संबंध में बहुत कुछ निजी उपक्रमियों पर आश्रित रहना पड़ता है। इससे स्पष्ट होता है कि अर्ध-विकसित देशों की दृष्टि से मिश्रित अर्थव्यवस्था उपयुक्त रहती है जिसके अन्तर्गत सरकार निजी क्षेत्र के सहयोग से योजनाबद्ध विकास का कार्य कर सकती है। सरकार व निजी क्षेत्र एक-दूसरे के परिपूरक घटक के रूप में निर्दिष्ट लक्ष्यों की दिशा में योजनाओं का क्रियान्वयन करते हैं तो इससे विकास के कार्य में गतिशीलता आयेगी।

भारत, ग्रेट-ब्रिटेन तथा फ्रांस मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाने वाले प्रमुख देश हैं। इन देशों ने मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत रहते हुए आर्थिक विकास का कार्य किया है। मिश्रित अर्थव्यवस्था में नियोजन के संबंध में थोड़ी कठिनाई यह आ सकती है कि नियोजन में केन्द्रीय नियन्त्रण की आवश्यकता होती है जबकि मिश्रित अर्थव्यवस्था की दशा में उतना अधिक केन्द्रीय नियन्त्रण संभव नहीं होता है। इस व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वतंत्रता को पर्याप्त स्थान प्रदान किया जाता है। इस कारण निजी उपक्रमियों के द्वारा निजी लाभ को बढ़ाने के उद्देश्य से ऐसे कदम उठाये जाते हैं जो सामाजिक हितों पर आघात पहुँचा सकते हैं। इसके अतिरिक्त मिश्रित अर्थव्यवस्था में सरकारी क्षेत्र व निजी क्षेत्र के परस्पर परिपूरक सह-अस्तित्व की जो सैद्धान्तिक परिकल्पना है वह व्यवहार में उतनी सही नहीं होती है। निजी व सरकारी क्षेत्रों के बीच स्वस्थ प्रतियोगिता को जन्म नहीं मिल पाता है तथा निजी क्षेत्र को उचित प्रोत्साहन नहीं मिल पाता है। निजी क्षेत्र के विस्तार एवं पूँजी विनियोजन में वृद्धि में रोक लग जाती है, क्योंकि निजी उपक्रमियों को राष्ट्रीयकरण का भय बना रहता है। निजी उपक्रमी अपने साधनों को अन्यत्र विनियोजित करते हैं जहाँ विनियोगों को सुरक्षा बनी रहे। आर्थिक क्रियाओं पर प्रभावशाली नियन्त्रण नहीं रह पाता है तथा नियन्त्रणों में समन्वय का अभाव पाया जाता है। इसके फलस्वरूप आर्थिक अपराधों में वृद्धि होती जाती है।

NOTES

उपर्युक्त समस्याओं के बावजूद भी मिश्रित अर्थव्यवस्था में नियोजन का सफलतापूर्वक संचालन संभव है। विशेष रूप से प्रजातान्त्रिक देश, जिनका समाजवादी विचारधारा के प्रति गहरा झुकाव है, मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाये बिना नहीं रह सकते हैं, क्योंकि एक तरफ निजी क्षेत्र में विद्यमान पूँजी, साहस, प्रबन्ध एवं अनुभव का देश विकास में समुचित उपयोग करने और व्यक्तिगत स्वतंत्रता को बनाये रखने की दृष्टि से निजी क्षेत्र का अपना म होता है तथा दूसरी तरफ देश के राष्ट्रीय एवं सामाजिक हितों की पूर्ति के लिए सरकार का भी आर्थिक क्रियाओं भाग लेना आवश्यक होता है। समाजवादी नीतियों को कार्य रूप देने व सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरव क्षेत्र का निरन्तर विकास किया जाता है। इस प्रकार सरकारी व निजी क्षेत्र के माध्यम से देश के योजनाबद्ध विकास कार्य किया जा सकता है।

भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था
(Mixed Economy in India)

भारत में द्रुत गति से आर्थिक विकास के प्रमुख उद्देश्य को लेकर मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाया गया देश की विपुल प्राकृतिक सम्पदाओं का अधिकतम विदोहन, सीमित पूँजी साधनों का सर्वोचित उपयोग तथा उपल प्रबन्धकीय कुशलता एवं प्रशिक्षित श्रम शक्ति का योजनाबद्ध नियोजन मिश्रित अर्थव्यवस्था में ही संभव था। स्वतंत्र प्राप्त के पूर्व तक देश में निजी उपक्रम का बोलबाला था जबकि सरकार का आर्थिक मामलों में बहुत कम हस्तक्षेप पा जाता था। परिणामतः देश में सन् 1947 के पूर्व तक कोई उल्लेखनीय सार्वजनिक क्षेत्र का अस्तित्व नहीं था। भा सरकार ने सर्वप्रथम सन् 1948 की औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अन्तर्गत मिश्रित अर्थव्यवस्था संबंधी विचारधारा अपनाया। सन् 1948 की औद्योगिक नीति में सम्पूर्ण उद्योगों को चार वर्गों में विभाजित किया गया- पहले वर्ग में उद्योग रखे गए जो मुख्यतः सरकारी प्रबन्ध एवं स्वामित्व के अन्तर्गत होंगे, दूसरे वर्ग में 6 उद्योग रखे गए जिनकी नवं इकाइयाँ स्थापना का दायित्व सरकार पर था, तीसरे वर्ग में राष्ट्रीय महत्व के 18 उद्योगों को रखा गया था, जिन सरकार के द्वारा समुचित नियन्त्रण रखा जाना था तथा चौथा वर्ग अन्य सभी उद्योगों का था जिन्हें निजी उपक्रम द्व स्थापित और विकसित किया जा सकता था। इस प्रकार औद्योगिक नीति के प्रस्ताव में सार्वजनिक और निजी दोनों प्रकार के उपक्रमों का महत्व स्वीकार किया गया। औद्योगिक नीति सन् 1948 के फलस्वरूप ही भारतीय अर्थव्यवस्व में 'सार्वजनिक क्षेत्र' की स्थापना हुई। यह क्षेत्र तभी से निरन्तर प्रगति करता चला आ रहा है।

विगत पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत मिश्रित अर्थव्यवस्था संबंधी विचारधारा को विशेष रूप से ध्यान रखा जाता रहा है। विकास-योजनाओं का प्रमुख लक्ष्य देश में समाजवादी समाज की स्थापना करना है अतः विग सभी योजनाओं के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार में अधिक परियोजना व्यय किया गया। मिश्रित अर्थव्यवस्व को अधिक सक्रिय रूप प्रदान करने के उद्देश्य से अप्रैल 1956 में एक नया औद्योगिक नीति प्रस्ताव पारित किया गया इस नीति का प्रमुख उद्देश्य शीघ्र आर्थिक विकास, तीव्र औद्योगीकरण, आधारभूत उद्योग का विकास, सार्वजनिक क्षे का विस्तार तथा आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को समाप्त करना था। सन् 1956 की औद्योगिक नीति प्रस्ताव में निज व सार्वजनिक दोनों ही क्षेत्रों के सहअस्तित्व के साथ-साथ इनके बीच परस्पर सहयोग पर जोर दिया गया। इस नीं के अन्तर्गत उद्योगों को तीन वर्गों में बाँटा गया - केन्द्रीय सरकार का एकाधिकार क्षेत्र, सार्वजनिक व निजी उपक्रमों व मिश्रित क्षेत्र तथा निजी उद्योग क्षेत्र। सन् 1956 की औद्योगिक नीति की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसमें सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार पर अधिक जोर दिया गया तथा निजी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की संभावना को समाप्त कर दिया गया इससे निजी क्षेत्र में अनिश्चितता का वातावरण समाप्त हो गया। इसके अलावा सरकार ने निजी क्षेत्र के विकास के लिए आवश्यक सहायता प्रदान करने का भी आश्वासन दिया। सन् 1956 की औद्योगिक नीति काफी लम्बे समय तक प्रभावशील रही। इसी नीति के अनुसार द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पाँचवीं योजनाओं के अन्तर्गत विकास संबंध कार्यक्रमों का निर्धारण किया जाता रहा। इन योजनाओं के वित्तीय प्रावधानों से यह स्पष्ट होता है कि सरकार के द्वार सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार के लिए भारी मात्रा में पूँजी विनियोजन किए जा रहे हैं।

औद्योगिक लाइसेंस नीति में फरवरी 1970 तथा फरवरी 1973 में आवश्यक संशोधन किये गए। संशोधन के बाद नीति में एक प्रमुख क्षेत्र का निर्धारण किया गया जिसमें आधारभूत, सुरक्षा संबंधी तथा केन्द्रीय महत्व के उद्योग हैं। इन क्षेत्र के उद्योगों को 9 बड़े समूहों में बाँटा गया है। ऐसे समूह हैं - (1) कृषि आदाय, (2) लोहा एवं इस्पात (3) अलौह धातुएँ, (4) पेट्रोलियम, (5) कोकिंग कोयला, (6) भारी औद्योगिक मशीनें, (7) जहाजरानी बड़ेजर्स, (8 अखबारी कागज, (9) इलेक्ट्रॉनिक्स। इन उद्योगों के विकास की ओर विशेष ध्यान रखा जाना था। पूँजी विनियोजन के आधार पर तीन क्षेत्र वर्गीकृत किये गये - (i) भारी विनियोग क्षेत्र जिसमें 5 करोड़ रु. से अधिक तक का विनियोग होगे। (ii) मध्यम विनियोग क्षेत्र जिसमें 1 करोड़ रु. से 5 करोड़ रु. तक के विनियोग होंगे, तथा (iii) लघु विनियोग क्षेत्र जिसमें 1 करोड़ रु. से कम के विनियोग होंगे। सरकार ने 1 करोड़ रु तक के विनियोग के संबंध में औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत लाइसेंस प्राप्त करने की आवश्यकता को समाप्त कर दिया। उक्त नीति में संयुक्त क्षेत्र संबंधी व्यवस्था को अधिक स्पष्ट किया गया। संयुक्त क्षेत्र के आशय सार्वजनिक क्षेत्र एवं निजी क्षेत्र के

किसी उपक्रम में सहअस्तित्व से है। संयुक्त क्षेत्र के उपक्रम में सरकार निजी उपक्रमों के साथ मिलकर पूंजी विनियोजन का कार्य के करती है। संयुक्त क्षेत्र संबंधी व्यवस्था को लोकप्रिय बनाने का प्रमुख उद्देश्य सरकार व निजी क्षेत्र औद्योगिक विकास में सक्रिय भूमिका निभानी है। साथ ही साथ इस व्यवस्था की दशा में सरकार बिना राष्ट्रीयकरण के उद्योगों पर सामाजिक नियन्त्रण बनाये रख सकती है, लघु एवं मध्यम स्तर के उपक्रमियों के द्वारा सरकारी सहयोग के बल पर उपक्रमों की स्थापना की जा सकती है, आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण एवं एकाधिकारी प्रवृत्तियों को रोका जा सकता है तथा निजी क्षेत्र के सहयोग पर व्यक्तिगत एवं सामाजिक लाभों की पूर्ति की जा सकती है।

भारत सरकार के द्वारा 23 दिसम्बर, 1977 को नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा की गई। इस नीति में बेरोजगारी उन्मूलन तथा आय व धन की विषमताओं को समाप्त करने की आवश्यकता पर सर्वाधिक ध्यान दिया गया है। सरकार ने सर्वप्रथम ग्रामोन्मुख औद्योगिक नीति को प्रस्तावित किया है। लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास को विशेष महत्व प्रदान किया गया है जो देश की आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियों के काफी अनुकूल है। औद्योगिक नीति के अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र को भी महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की गई है। यह क्षेत्र केवल प्रमुख उत्पादक के रूप में ही कार्य नहीं करेगा बल्कि अनिवार्य वस्तुओं की यथोचित पूर्ति बनाए रखने में भी सहयोग देगा। सार्वजनिक क्षेत्र पर अनेक सहायक उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित करने का भी दायित्व सौंपा गया है। बड़े औद्योगिक गृहों के संबंध में कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का पालन किया जायेगा ताकि कोई भी व्यापारिक गृह या उद्योग बाजार में एकाधिकारी स्थिति न बना सके। भारत सरकार ने औद्योगिक लाइसेंस नीति को भी अधिक उदार बनाने का प्रयास किया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था के स्वरूप को एक निश्चित नीति के रूप में स्वीकार किया गया है। सरकार सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र की संयुक्त भूमिका के आधार पर देश के योजनाबद्ध विकास का कार्य कर रही है। सरकार ने जहाँ एक ओर सार्वजनिक क्षेत्र के विकास एवं विस्तार का दायित्व अपने हाथ में लिया है, वहाँ दूसरी ओर निजी उपक्रमियों को समुचित प्रोत्साहन एवं सहायता प्रदान करने का कार्य भी करती है ताकि निजी क्षेत्र देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान कर सके। निजी उपक्रमियों के द्वारा व्यक्तिगत लाभों में वृद्धि तथा निजी साधनों के विस्तार के लिए सामाजिक व राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा न की जाए इस कारण सरकार उचित नीतियों एवं नियन्त्रणों के द्वारा प्रतिरोध बनाए रखती है। इस प्रकार देश के योजनाबद्ध विकास के लिए 'मिश्रित अर्थव्यवस्था' एक उपर्युक्त व्यवस्था के रूप में लाभकारी हुई है। फिर भी इस व्यवस्था के संबंध में अनेक आलोचनाएँ की जाती रही हैं जिन पर भी प्रकाश डालना अनुचित न होगा।

मिश्रित अर्थव्यवस्था की आलोचना (Criticism of Mixed Economy)- मिश्रित अर्थव्यवस्था एक नवीन आर्थिक प्रणाली के रूप में प्रचलन में आई है, किन्तु इस व्यवस्था के बारे में विभिन्न आधारों पर आलोचना की है। पूँजीवादी व समाजवादी दृष्टियों से मिश्रित व्यवस्था के संबंध में निम्नांकित आलोचनाएँ प्रमुख हैं :

(1) **विदेशी पूँजी आगमन में रुकावट**- मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत सरकार के द्वारा राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई जाती है। विभिन्न आर्थिक क्रियाओं व उपक्रमों के संबंध में राष्ट्रीयकरण की सभावना के कारण विदेशी पूँजी का प्रवाह रुक जाता है, क्योंकि विदेशी विनियोजक ऐसी स्थिति में अपनी पूँजी विनियोग करना उचित नहीं समझते। इसका प्रतिकूल प्रभाव देश के विकास पर पड़ता है।

(2) **भ्रष्टाचार एवं अकुशलता**- मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत सरकारी क्षेत्र में भ्रष्टाचार एवं अकुशलता के दोष बड़ी तेजी से उत्पन्न होते हैं। नौकरशाही तथा लालफीताशाही के कारण सरकारी उपक्रमों में कार्यक्षमता निजी उपक्रमों की तुलना में बहुत कम पाई जाती है। सरकारी उपक्रम की कुशलता एवं लाभ का दायित्व सभी लोगों पर रहता है अतः किसी के द्वारा भी गम्भीरतापूर्वक दायित्व वहन नहीं किया जाता है।

(3) **सरकारी नियन्त्रणों की अधिकता**- मिश्रित अर्थव्यवस्था में राष्ट्रीयकरण की नीति के अलावा अनेक प्रकार के सरकारी नियन्त्रण प्रभावशील होते हैं। सैद्धान्तिक रूप में भले ही इन नियमों व नियन्त्रणों का उद्देश्य आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना होता है। किन्तु व्यवहार में यह पाया जाता है कि उक्त नियंत्रणों के कारण इतनी अधिक जटिलताएँ आ जाती हैं कि आर्थिक क्रियाओं के विकास में बाधाएँ उत्पन्न होने लगती हैं। निजी क्षेत्र को पर्याप्त प्रेरणा के बजाय नियन्त्रणों के जाल में कस दिया जाता है जिसके कारण उसकी स्वाभाविक प्रगति भी रुक जाती है।

(4) **निजी क्षेत्र के प्रति सौतेला व्यवहार**- मिश्रित अर्थव्यवस्था के संबंध में यह भी एक प्रमुख आलोचना की जाती है कि सरकार केवल सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार की ओर विशेष ध्यान रखती है, जबकि निजी क्षेत्र की उपेक्षा की जाती है। निजी उपक्रमियों को सरकारी क्षेत्र के समान अनेक सुविधाओं से वंचित रखा जाता है। इस कारण निजी क्षेत्र के विकास में गतिशीलता नहीं आ पाती है।

(5) **पूँजीपतियों को प्रोत्साहन**- मिश्रित अर्थव्यवस्था में पूँजीपतियों को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया जाता है। सरकार पूँजीपतियों को नये-नये उपक्रमों की स्थापना करने के लिए प्रोत्साहित करती है। इसके फलस्वरूप पूँजीपतियों

की आर्थिक शक्ति में निरन्तर वृद्धि होती रहती है, जबकि श्रमिक वर्ग का शोषण और अधिक बढ़ जाता है। इस संबं में बहुधा यह आलोचना की जाती है कि सरकार मिश्रित अर्थव्यवस्था की नीति की आड़ में पूँजीवादी ताकतों को बढ़ का अवसर प्रदान करती है। स्वाभाविक है कि ऐसी व्यवस्था मिश्रित अर्थव्यवस्था के मूल उद्देश्य को पूरा करने असफल रह जाती है, क्योंकि इसमें एक वर्ग विशेष के निजी हितों की पूर्ति होती रहती है।

(6) **कमजोर नीति-** मिश्रित अर्थव्यवस्था के संबंध में एक प्रमुख आलोचना यह भी है कि मिश्रित अर्थव्यवस्थ की नीति एक अत्यंत कमजोर नीति है। इस नीति के अन्तर्गत सार्वजनिक व निजी क्षेत्र दोनों के संयुक्त प्रयत्नों अर्थव्यवस्था के शीघ्र आर्थिक विकास का लक्ष्य रखा जाता है, किन्तु वास्तव में न तो सरकारी क्षेत्र ही कुछ महत्वपू योगदान दे पाता है और न ही निजी क्षेत्र।

(7) **प्रतिक्रियावादी नीति-** मिश्रित अर्थव्यवस्था की नीति एक प्रतिक्रियावादी नीति के रूप में भी मानी जाती क्योंकि इस नीति के अन्तर्गत जनता को राजनैतिक अधिकारों के प्रति जागरूकता का लाभ नहीं मिल पाता है। समा में कोई विशेष राजनैतिक चेतना नहीं आ पाती है तथा शोषित वर्ग शोषित ही बना रह जाता है। इस व्यवस्था नागरिकों का पूर्ण राजनैतिक चेतना में विकास नहीं हो पाता है।

उपर्युक्त आलोचनाओं से मिश्रित अर्थव्यवस्था के कमजोर पक्ष उजागर होते हैं, किन्तु इस संबंध में यह महत्वपू लक्ष्य है कि यदि सरकार मिश्रित अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उपयुक्त नीतियों का पालन करे और सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र को कंधे से कंधा मिलाकर विकास की ओर अग्रसर करे तो ऐसी व्यवस्था में आर्थिक विकास को गति प्रदान कर जा सकती है। आवश्यकता इस बात की होती है कि सार्वजनिक क्षेत्र व निजी क्षेत्र के बीच आवश्यक समन्वय स्थापित किया जाये तभी व्यक्तिगत व सामाजिक हितों की अधिकतम पूर्ति की जा सकेगी। उत्पादन एवं वितरण के क्षेत्र में यदि दोनों क्षेत्र अपने संयुक्त उत्तरदायित्व का निर्वाह प्रभावशाली ढंग से करते हैं तो जनता की आवश्यकताओं की आवश्यक पूर्ति की जा सकती है तथा अर्थव्यवस्था को संतुलित एवं आत्मनिर्भर बनाया जा सकता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

(1) पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण क्या हैं? इसके गुण-दोषों की विवेचना कीजिए।

(2) एकाधिकारी पूँजीवाद किसे कहते हैं?

(3) पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सरकार के योगदान की विवेचना कीजिए।

(4) समाजवादी आर्थिक प्रणाली किसे कहते हैं? इसके गुण व दोषों का विवेचन कीजिए।

(5) समाजवादी अर्थव्यवस्था में सरकारी योगदान की विवेचना कीजिए।

(6) समाजवादी प्रणाली की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं?

(7) पूँजीवादी अर्थव्यवस्था एवं समाजवादी अर्थव्यवस्था में अन्तर स्पष्ट कीजिए। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में सरकारी योगदान की विवेचना कीजिए।

8. मिश्रित अर्थव्यवस्था को समझाइए। भारतीय सन्दर्भ में मिश्रित अर्थव्यवस्था के गुण एवं दोषों की विवेचना कीजिए।

9. "मिश्रित अर्थव्यवस्था पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का ही एक परिवर्तित रूप है।" इस कथन की समालोचना कीजिये।

10. "मिश्रित अर्थव्यवस्था की परिभाषा निजी एवं राज्य द्वारा नियंत्रित उपक्रमों की एक मिली-जुली अर्थव्यवस्था के रूप में की जा सकती है। यह एक ऐसी प्रणाली है जिसमें व्यावसायिक गतिविधियों का संचालन अनेक स्वरूपों एवं व्यवस्थाओं के साथ सम्पन्न किया जाता है।" भारत की मिश्रित अर्थव्यवस्था के विशेष सन्दर्भ में उपर्युक्त कथन की व्याख्या कीजिये।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

11. मिश्रित अर्थव्यवस्था को समझाइये तथा बतलाइये कि वे आर्थिक समस्याएँ कौनसी हैं, जिन्हें हल करना है?

12. "मिश्रित अर्थव्यवस्था का सिद्धान्त हमारी औद्योगिक नीति का मेरुदण्ड है और यह सन्तोषजनक एवं हानिकारक दोनों ही है।" व्याख्या कीजिये।

13. क्या आपके मतानुसार सार्वजनिक तथा निजी अर्थव्यवस्था का भारतीय अर्थव्यवस्था में सह-अस्तित्व सम्भव है। इस सम्बन्ध में सरकार की वर्तमान नीति का विवेचन कीजिये।

14. मिश्रित अर्थव्यवस्था क्या होती है? इस अवधारणा का अनुसरण क्यों किया जाता है? यह हमारे देश के लिए किस प्रकार सर्वोपयोगी कही जा सकती है?

15. पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और मिश्रित अर्थव्यवस्था के बीच अन्तर बताइए।

5

भारत में आर्थिक नियोजन
(ECONOMIC PLANNING IN INDIA)

स्वतंत्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था
(Indian Economy on the Eve of Independence)

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत विश्व के धनी एवं सम्पन्न देशों में से एक था। यह विशाल कृषि प्रधान और औद्योगिक दृष्टि से आत्मनिर्भर देश था। भारत की आर्थिक सम्पन्नता से आकृर्षित होकर ही अंग्रेज भारत आये और इंग्लैण्ड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत में व्यापार प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे इस कम्पनी ने भारत के राजनैतिक मामलों में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया और बंगाल पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। तदुपरान्त राजनैतिक सत्ता के ब्रिटिश सरकार के हाथों में चले जाने से **भारत एक उपनिवेश** बन गया। स्वतंत्रता से पूर्व लगभग 200 वर्षों तक ब्रिटिश सरकार ने भारत पर शासन किया। ब्रिटिश शासन काल में **भारतीय अर्थव्यवस्था गतिहीन स्थिति** में रही और परिणामस्वरूप गरीबी एवं बेरोजगारी की समस्याओं ने जटिल रूप धारण कर लिया। संक्षेप में, स्वतंत्रता के समय की भारतीय अर्थ व्यवस्था को निम्न प्रकार समझा जा सकता है :-

1. **औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था** (Colonial Economy) – "आर्थिक दृष्टि से उपनिवेश विदेशी शासकों की मातृभूमि की सीमा के बाहर वह देश या क्षेत्र है जिसके सम्बन्ध में व्यापारिक नीति एवं आर्थिक विकास के स्वरूप के निर्धारण में अन्तिम निर्णय लेने का अधिकार विदेशी शासकों के हाथ में होता है।" इस प्रकार उपनिवेश के अन्तर्गत एक शासक देश होता है जो शासन करता है। (यहाँ ब्रिटेन) और दूसरा शासित देश (यहाँ भारत) होता है जिस पर शासन किया जाता है। ब्रिटेन का उपनिवेश होने के कारण उस समय भारत की अर्थव्यवस्था की विशेषताएँ निम्न प्रकार थीं :-

(अ) **कच्चे माल का निर्यात** – औद्योगिक क्रान्ति के बाद इंग्लैण्ड को अनेक प्रकार के कच्चे माल की आवश्यकता थी। भारत ने इनकी पूर्ति की तथा इस अवधि में अनेक प्रकार के खनिज पदार्थ, अनाज, रबड़, कपास, जूट, चाय, काफी आदि का निर्यात किया, किन्तु इन वस्तुओं का इतना कम मूल्य दिया गया कि इस निर्यात से भारतीय उत्पादकों का शोषण हुआ। देश के भीतरी भागों को बन्दरगाहों से जोड़ने के लिये रेल-लाइनें बिछाई गईं। ब्रिटेन जाने वाले माल के माल-भाड़े में अनेक प्रकार की छूटें दी गईं। संक्षेप में कच्चे माल के निर्यात से भारतीय अर्थव्यवस्था का शोषण ही हुआ।

(ब) **निर्मित माल के लिये बाजार** – औद्योगिक क्रान्ति के बाद ब्रिटेन में अनेक प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुई। इस अवधि में कपड़ा उद्योग का तेजी से विस्तार हुआ। ब्रिटिश सरकार ने अपने देश में बने हुए माल के लिये **भारत को एक बड़ा बाजार बना दिया**। फलतः मशीन से बना ब्रिटिश माल भारतीय बाजारों में तेजी से बिकने लगा। इस नीति ने **भारतीय लघु एवं कुटीर उद्योगों** को नष्ट कर दिया और परिणामस्वरूप यहां भयावह गरीबी फैल गई।

(स) **विदेशी निवेश के क्षेत्र** – ब्रिटेन ने भारत के लाभदायक क्षेत्रों में अपने निवेश को बढ़ाने के लिये अनेक प्रकार की छूटें दी गईं। भारत में रेलों के विकास के लिये विदेशी नियंत्रकताओं या कम्पनियों को बहुत सस्ते भाव पर जमीनें दी गईं तथा उन्हें पूँजी पर ब्याज की गारन्टी भी दी गई। बागान, खनिज, जहाजरानी, बैंकिंग, बीमा-व्यवसाय आदि क्षेत्रों में ब्रिटिश निवेश को बढ़ावा दिया गया। संक्षेप में, अधिक लाभ कमाने के लिये भारत की प्राकृतिक सम्पदा तथा सस्ते श्रम का अधिकाधिक उपयोग करने का प्रयास किया गया।

2. **आर्थिक गतिहीनता** – आर्थिक गतिहीनता से आशय निवासियों की आर्थिक स्थिति के स्थिर रहने से है, अर्थात कृषि, उद्योग, खनिज आदि के उत्पादन में किसी प्रकार की कोई वृद्धि न होने से। इससे आय, उत्पादन एवं रोजगार का स्तर भी अपरिवर्तित बना रहता है। ब्रिटिश शासन काल में भारत की अर्थव्यवस्था भी गतिहीन बनी रही। उपलब्ध आंकड़ों के अनुमान के अनुसार 1900 से ब्रिटिश शासन के अन्त तक भारत की राष्ट्रीय आय लगभग 0.5 प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ी। इस अवधि में देश की जनसंख्या में भी इसी दर से वृद्धि हुई। अतः प्रति व्यक्ति आय में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं आया। इस सन्दर्भ में **सुरेन्द्र जे. पटेल** द्वारा जो अनुमान लगाये हैं, उनके अनुसार 1900 से

NOTES

1947 के मध्य भारत की प्रति व्यक्ति आय में कमी हुई है। भारतीय अर्थव्यवस्था के गतिहीन रहने के प्रमुख कार निम्न प्रकार हैं –

(i) प्राकृतिक संसाधनों एवं तकनीकी ज्ञान का अभाव – शिक्षा, प्रशिक्षण, अनुसंधान आदि की कमी के साथ-सा पूँजी की कमी के कारण ब्रिटिश शासन काल में देश में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधन का दोहन नहीं हो सका। ब्रिटि शासन की उदासीनता ने भी प्राकृतिक साधनों के उपयोग को कोई प्रोत्साहित नहीं किया।

(ii) जनसंख्या में वृद्धि – अनुमान है कि सन् 1881 से 1946 के मध्य भारत की जनसंख्या में कुल 55 प्रतिश की वृद्धि हुई जबकि इसी अवधि में राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर लगभग 0.5 प्रतिशत रही। स्पष्ट है कि जनसंख के बढ़ने से राष्ट्रीय आय में हुई वृद्धि का देशवासियों की आर्थिक स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा तथा देश का आर्थि ढाँचा लगभग स्थिर बना रहा।

(iii) धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टिकोण – प्रायः यह माना जाता है कि हिन्दू-धर्म के प्रभाव के कारण यहाँ के लोग भौतिक वस्तुओं से कम लगाव रखते हैं और परलोक सम्बन्धी बातों को अपने जीवन में अधिक महत्व देते हैं 'सादा जीवन उच्च विचार' यहाँ की संस्कृति का मुख्य अंग है। फलतः यहाँ पर आर्थिक गतिविधियों में कोई विशे परिवर्तन नहीं हुआ।

(iv) सामाजिक ढाँचा – भारत में विद्यमान सामाजिक ढाँचा भी आर्थिक गतिहीनता के लिये कुछ सीमा तक जिम्मेदार है। संयुक्त परिवार प्रथा, जाति-प्रथा, परिवार के प्रति मोह, श्रम की गतिशीलता का अभाव आदि ने भी भार की अर्थव्यवस्था को आगे बढ़ने से रोका है। संक्षेप में, भारतीय सामाजिक संस्थाओं ने भी आर्थिक विकास में रुकावट पैदा की।

(v) विदेशी सरकार की नीति – प्रायः यह माना जाता है कि ब्रिटिश सरकार ने कभी भी यह नहीं चाहा कि भारत का आर्थिक विकास हो। इसके विपरीत, विदेशी सरकार ने भारतीय अर्थव्यवस्था को औपनिवेशक अर्थव्यवस्था का रूप दिया और ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के विकास के लिये इसका हर ढंग से शोषण किया।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश काल में आर्थिक गतिहीनता का मूल कारण यह था कि सरकार ने आर्थिक क्षेत्र में अपना आवश्यक योगदान नहीं दिया। ब्रिटिश शासन ने रेल-निर्माण एवं शिक्षा आदि के क्षेत्र में जो कदम उठाये थे, उनका उद्देश्य भी आर्थिक विकास नहीं था वरन् अर्थव्यवस्था के उन क्षेत्रों को मजबूत करना था जिससे कि ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के लिये और अधिक शोषण सम्भव हो सके। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वतंत्रता के समय भारतीय अर्थव्यवस्था अत्यधिक दयनीय स्थिति में थी।

योजना आयोग
(Planning Commission)

सर्वप्रथम भारत में आर्थिक नियोजन की आवश्यकता सन् 1934 में बतायी गयी थी, जबकि सर एम. विश्वेश्वरैया ने अपनी पुस्तक "Planned Economy for India" प्रकाशित कर भारतीय जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। तदुपरान्त, सन् 1938 में पं. नेहरू की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय नियोजन समिति का गठन किया गया। सन् 1944 में बम्बई के आठ उद्योगपतियों ने एक योजना बनाई जिसे "बम्बई योजना का नाम दिया गया। इसी वर्ष साम्यवादी नेता श्री एम.एन. राय द्वारा 'जन योजना' प्रकाशित हुई, किन्तु ये सभी योजनाएँ कागजी ही रहीं, उन्हें क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

भारत 1947 में स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रतापश्चात देश में विद्यमान विभाजन, ब्रिटिश सरकार की नीतियों एवं विश्व युद्ध के कारण उत्पन्न समस्याओं से निपटने तथा देश का शीघ्र आर्थिक विकास के लिए आर्थिक नियोजन को नीति को अपनाया गया। 'आर्थिक कार्यक्रम समिति' की सिफारिश पर 15 मार्च, 1950 को योजना आयोग की स्थापना की गई। योजना आयोग सरकार को आर्थिक मामलों में सलाह देने, योजनाएँ बनाने और उनकी प्रगति का मूल्यांकन करने का काम करता है। इसका मुख्यालय 'योजना भवन' नई दिल्ली है।

योजना आयोग का अध्यक्ष प्रधानमंत्री होता है। अध्यक्ष के अलावा एक उपाध्यक्ष एवं कुछ सदस्य जो विभिन्न क्षेत्रों जैसे - कृषि, उद्योग, वित्त, परिवहन आदि के विशेषज्ञ होते हैं। योजनाओं के निर्माण, संचालन एवं मूल्यांकन आदि कार्यों के लिए योजना आयोग में 8 साधारण विभाग एवं 18 विषयों से सम्बन्धित विभाग होते हैं। योजना आयोग के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं –

(1) **साधनों का अनुमान लगाना** (Assessment of Resources) - योजना आयोग देश में उपलब्ध भौतिक व मानवीय साधनों का अनुमान लगाता है ताकि उनका विभिन्न क्षेत्रों में क्रियान्वित होने वाले कार्यक्रमों में आवश्यकतानुसार उपयोग किया जा सके।

(2) प्राथमिकताओं का निर्धारण (Determination of Priorities) - देश के विभिन्न क्षेत्रों की रही योजनाओं में प्राथमिकता का निर्धारण योजना आयोग द्वारा किया जाता है।

(3) उपलब्ध साधनों का बँटवारा (Allotment of Available Resources) - देश के उपलब्ध साधनों का विभिन्न क्षेत्रों एवं कार्यक्रमों में आवंटन से सम्बन्धित निर्णय भी योजना आयोग ही लेता है।

(4) योजना का निर्माण (Formulation of Plans) - योजना आयोग पंचवर्षीय योजना तैयार कर सरकार को सौंपता है तथा स्वीकृति हेतु उच्चस्तरीय बैठकें आयोजित करता है।

(5) बाधक तत्वों को इंगित करना (To Point-out Obstacles) - आयोग योजनाओं में आने वाले बाधक तत्वों के बारे में सरकार को जानकारी देता है।

(6) सुझाव देना (To make Suggestions) - आयोग नीतिगत, साधनों, आवश्यकताओं एवं प्राथमिकताओं के बारे में सरकार एवं उसके विभिन्न विभागों को सुझाव देता है।

(7) मूल्यांकन (Evaluation) - आयोग योजनाओं में क्रियान्वित विभिन्न कार्यक्रमों की सफलता की जाँच के लिए उनका मूल्यांकन करता है तथा कठिनाइयों को हल करने हेतु सुझाव देता है।

राष्ट्रीय विकास परिषद
(National Development Council)

योजना कार्यों की सहमति, स्वीकृति एवं समन्वय के लिए प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में राष्ट्रीय विकास परिषद का गठन किया गया है। इसके सदस्य योजना आयोग के सदस्य एवं सभी राज्यों के मुख्यमंत्री होते हैं। राष्ट्रीय विकास परिषद की स्वीकृति के बाद ही योजना आयोग द्वारा बनाई गई पंचवर्षीय योजना को अन्तिम रूप दिया जाता है। राष्ट्रीय विकास परिषद के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं -

(i) नवीन योजनाओं पर विचार कर उन पर स्वीकृति देना।

(ii) सामाजिक व आर्थिक नीतियों के मुख्य प्रश्नों पर विचार करना।

(iii) कम विकसित क्षेत्र के विकास पर सुझाव देना।

(iv) आयोग के कर्मचारियों को दिशा-निर्देश देना।

(v) योजना की प्रगति की समीक्षा करना आदि।

भारतीय योजनाओं के विकास मॉडल
(Growth Models of Indian Plans)

प्राय: रणनीति से आशय उन नीतिगत निर्णयों से जिनके द्वारा योजनाओं में रखे गये उद्देश्यों को प्राप्त किया जा सके और देश को सुदृढ़ आर्थिक ढाँचा प्रदान किया जा सके। वास्तव में रणनीति या व्यूह रचना शब्द सैन्य विज्ञान का है, जिसका आशय यह निश्चित करना है कि दुश्मन पर कब, कितनी ताकत से और कैसे आक्रमण किया जाए कि निर्धारित लक्ष्य प्राप्त किये जा सकें। आर्थिक योजना का भी मुख्य लक्ष्य होता है कि निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त किया जाये। अत: निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने की विधि और कला ही 'व्यूह रचना' है। भारतीय योजनाओं में उद्देश्यों में परिवर्तन के साथ व्यूह रचना में भी परिवर्तन हुआ है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के दो मुख्य लक्ष्य थे, यथा प्रथम – खाद्यान्नों के संकट से निपटना और द्वितीय– सर्वांगीण विकास प्राप्त करना ताकि जन-साधारण का जीवन-स्तर उन्नत किया जा सके। संयोग से इस समय विकास की अर्थशास्त्र प्रयोग की अवस्था में ही था। इसी मध्य हैरड-डोमर ने विकास का मॉडल तैयार किया जिसमें प्रो. जे.एम. कींस के विनियोग गुणांक (Investment Multiplier) का प्रयोग किया था। प्रो. कींस के गुणक सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भिक विनियोग में वृद्धि से अर्थव्यवस्था में कुल आय में कई गुना अधिक वृद्धि होती है। भारत ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में अप्रत्यक्ष रूप से इसी मॉडल या व्यूह रचना का प्रयोग किया। यही कारण है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना में बचत एवं निवेश पर विशेष बल दिया गया।

कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि भारत में व्यूह रचना या रणनीति की अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम द्वितीय योजना से किया गया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में औद्योगीकरण का जो उद्देश्य निर्धारित किया गया था, वह प्रो. पी.सी. महालनोबिस (P.C. Mahalanobis) के द्वि-क्षेत्रीय विकास मॉडल और बाद में चार-क्षेत्रीय विकास पर आधारित थी। इस व्यूह-रचना के अनुसार तीव्र गति से औद्योगीकरण के लिये भारी मशीनों के उत्पादन पर विशेष जोर दिया गया और कृषि के साथ सौतेला व्यवहार किया गया। औद्योगीकरण में भी आयात प्रतिस्थापन पर विशेष जोर दिया गया। इसी व्यूह रचना का प्रयोग तृतीय पंचवर्षीय योजना में किया गया। किन्तु, तृतीय योजना के बाद देश खाद्यान्न संकट में फँस गया तथा निर्धनता एवं क्षेत्रीय विषमताओं में वृद्धि हुई।

NOTES

परिणामस्वरूप चौथी पंचवर्षीय योजना में महालनोबिस के मॉडल के स्थान पर आदा-प्रदा (Input-outpu पर आधारित लियोंटिफ (W.W. Leontief) के मॉडल को अपनाया गया। चौथी योजना के बाद की सभी योजनाः में भी यही व्यूह-रचना अपनाई गई। लियोंटिफ का यह विकास मॉडल "प्रावैगिक इन्पुट-आउटपुट या आदा-प्रदा विका सिद्धान्त" के नाम से जाना जाता है।

देश की पाँचवीं योजना में न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम (Minimum Needs Programme) चला गया। छठीं और सातवीं योजनाओं में गरीबी उन्मूलन पर विशेष जोर दिया गया। इन योजनाओं में लाभदायक रोजग को ही गरीबी निवारण का प्रमुख यंत्र माना गया। इन योजनाओं में इनपुट-आउटपुट मॉडल के साथ-साथ निरन्तर (Consistency) मॉडल का भी प्रयोग किया गया तथा गरीबी उन्मूलन पर विशेष जोर दिया गया।

आयोजन की व्यूह-रचना में आठवीं योजना से मूल परिवर्तन किया गया। अभी तक की योजनाएँ स्वभाव निर्देशात्मक (Planning by Direction) थीं किन्तु आठवीं योजना से दिशापरक (Indicative Planning) नियोज को अपनाया गया। यहाँ यह तथ्य ध्यान में रखा जाना चाहिये कि दिशापरक नियोजन में योजनाओं का स्वरूप अप्रत्य हो जाता है और वह सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र के मध्य सहयोग एवं सहकारिता का स्वरूप धारण कर लेती हैं। सरका निजी क्षेत्र को प्रोत्साहनात्मक कार्यवाही द्वारा सुविधाएँ प्रदान करती हैं और स्पष्ट आदेश न देकर केवल अनेक काय को दिशा और कार्य पद्धति के प्रति संकेत करती है।

आठवीं योजना में यह स्वीकार किया गया कि "योजना एक राष्ट्रीय प्रयास है" और इसमें आम जनता व सहभागिता आवश्यक है। इस योजना से पंचायती राज संस्थाओं को विकास की जिम्मेदार सौंप कर "नीचे से नियोजन (Planning from the Below) के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया। इस योजना में "मानव संसाधन विकास" व सभी विकास प्रयासों का मूल बिन्दु स्वीकार किया गया। नई आर्थिक नीति को मूर्त रूप देने के उद्देश्य से आठवी नौवीं एवं दसवीं योजनाओं में गुणवत्ता, कुशलता एवं उत्पादकता बढ़ाने के उद्देश्य से प्राथमिकता प्राप्त क्षेत्रों में भी निज निवेश को प्रोत्साहित किया गया।

भारत में योजनाएँ
(Planning in India)

भारत में आर्थिक नियोजन की आवश्यकता पर सर एम. विश्वेश्वरैया (1934) ने Planned Economy in India नामक पुस्तक लिखी थी। सन् 1938 में पं. नेहरू की अध्यक्षता में "राष्ट्रीय नियोजन समिति" का गठन किय गया। सन् 1944 में "बम्बई योजना" एवं 1944 में ही एम.एन .राय ने 'जन योजना' प्रस्तुत की, किन्तु इन योजनाओं को क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

15 मार्च, 1950 में प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में "योजना आयोग" का गठन किया गया। पहली अप्रैल, 1951 से देश में प्रथम योजना लागू की गई। अब तक देश मे दस पंचवर्षीय योजनाएँ पूरी हो चुकी है और ग्यारहवीं योजना का कार्यान्वयन प्रगति पर है। इनका कार्यकाल और व्यय तालिका-एक में दर्शाया गया है।

तालिका-एक
योजना-अवधि एवं सार्वजनिक क्षेत्र में व्यय राशि

योजना	प्रारम्भ एवं समाप्त होने की तिथि	व्यय राशि
प्रथम योजना	1 अप्रैल 1951 से 31 मार्च 1956	1,960 करोड़ रु
दूसरी योजना	1 अप्रैल 1956 से 31 मार्च 1961	4,672 करोड़ रु
तीसरी योजना	1 अप्रैल 1961 से 31 मार्च 1966	8,577 करोड़ रु
तीन वार्षिक योजनाएं	1 अप्रैल 1966 से 31 मार्च 1969	6625 करोड़ रु
चौथी योजना	1 अप्रैल 1969 से 31 मार्च 1974	15,779 करोड़ रु
पाँचवीं योजना	1 अप्रैल 1974 से 31 मार्च 1979	39,426 करोड़ रु
एक वार्षिक योजना	1 अप्रैल 1979 से 31 मार्च 1980	12,176 करोड़ रु
छठी योजना	1 अप्रैल 1980 से 31 मार्च 1985	109,292 करोड़ रु
सातवीं योजना	1 अप्रैल 1985 से 31 मार्च 1990	218,730 करोड़ रु
दो वार्षिक योजनाएं	1 अप्रैल 1990 से 31 मार्च 1992	1,27,334 करोड़ रु
आठवीं योजना	1 अप्रैल, 1992 से 31 मार्च 1997	5,08,187 करोड़ रु.

ाठवीं योजना	1 अप्रैल, 1997 से 31 मार्च 2002	8,59,200 करोड़ रु.
ःसवीं योजना	1 अप्रैल, 2002 से 31 मार्च 2007	15,25,639 करोड़ रु.
यारहवीं योजना	1 अप्रैल, 2007 से 31 मार्च 2012	36,44,718 करोड़ रु.

NOTES

भारत में आर्थिक नियोजन के उद्देश्य
(Objectives of Economic Planning in India)

भारतीय योजना आयोग ने समय-समय पर प्रत्येक योजना के लिए विभिन्न उद्देश्य निर्धारित किये। इन सभी द्देश्यों को सामान्य रूप में निम्न प्रकार से रखा जा सकता है :-

(1) **आत्मनिर्भरता** (Self Dependence) - प्रथम योजना से आठवीं योजना तक **आत्मनिर्भरता** को मुख्य द्देश्य माना गया। पाँचवीं योजना में **विदेशी सहायता की निर्भरता** को कम करने का लक्ष्य रखा गया। आठवीं योजना में **खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता** का उद्देश्य रखा गया।

(2) **शुद्ध राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि का लक्ष्य** (Increase in Net National Income and Per-capita Income) - भारतीय योजनाओं में शुद्ध राष्ट्रीय आय एवं प्रति व्यक्ति आय में **वृद्धि का उद्देश्य** खा गया है। राष्ट्रीय आय की वार्षिक विकास दर प्रथम योजना में 3.6%, द्वितीय योजना में 3.9%, तृतीय योजना में 2.3%, चौथी योजना में 3.3%, पाँचवीं योजना में 4.9%, छठीं योजना में 5.4%, सातवीं योजना में 5.8% रही। आठवीं योजना में विकास दर 6.7% रही तथा नवीं योजना में यह 5.5% रही। इस प्रकार पिछले 57 वर्षों में भारत की राष्ट्रीय आय में औसतन 4.3 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई। इस अवधि में यह 5708 रुपये से बढ़कर 22,553 रु. हो गई।

(3) **कल्याणकारी राज्य की स्थापना** (Establishment of Welfare State) - कल्याणकारी राज्य की स्थापना के उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रथम योजना में ही **आय एवं सम्पत्ति की असमानता** को दूर करने का लक्ष्य रखा गया। इसे बाद की सभी योजनाओं में अपनाया गया। पाँचवीं योजना में गरीबी हटाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। छठीं, सातवीं और आठवीं योजना में भी **गरीबी के स्तर को कम करने** का उद्देश्य रखा गया।

(4) **रोजगार के अवसरों में वृद्धि** (Increase in Employment Opportunities)- आर्थिक नियोजन का प्रमुख लक्ष्य रोजगार के अधिकाधिक अवसरों का निर्माण करना रहा है। रोजगार के लिए कृषि, लघु, मध्यम एवं वृहद् उद्योग, सिंचाई, सामाजिक सेवा क्षेत्रों का विस्तार करने का उद्देश्य रखा गया है।

(5) **समाजवादी समाज की स्थापना** - प्रथम योजना से लेकर आठवीं योजना काल तक देश में समाजवादी समाज की रचना के उद्देश्य को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। इस हेतु आर्थिक असमानताओं को कम करने तथा सामान्य नागरिकों को सामाजिक न्याय दिलाने का उद्देश्य रखा गया। आठवीं योजना में बाजार सम्बन्धी नीतियों के माध्यम से निजीकरण, उदारीकरण एवं भूमण्डलीकरण से सम्बन्धित कार्यक्रम अपनाए गए।

(6) **सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार** (Expansion of Public Sector) - भारतीय नियोजन का प्रमुख लक्ष्य सार्वजनिक क्षेत्र को विस्तृत करना है ताकि मूलभूत सुविधाओं, भारी एवं बुनियादी पूँजीप्रधान उद्योगों की स्थापना की जा सके। इसके साथ ही निजी क्षेत्र को विनियोग के लिए प्रोत्साहित करने का भी लक्ष्य रखा गया है।

(7) **अन्य उद्देश्य** (Other Objectives) - (i) जनसंख्या वृद्धि पर रोक लगाना, (ii) मूल्यों में स्थिरता लाना, (iii) बुनियादी सेवाओं एवं उद्योगों का विस्तार करना और (iv) औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करना आदि।

भारत में क्रियान्वित विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अलग-अलग **प्रमुख उद्देश्य** निम्न प्रकार थे :-

1. **प्रथम पंचवर्षीय योजना** (1951 – 56) – प्रथम योजना (1951-56) के दो प्रमुख उद्देश्य थे - (1) द्वितीय महायुद्ध तथा देश के बंटवारा के कारण उत्पन्न असंतुलन को दूर करना तथा (2) सर्वांगीण विकास की प्रक्रिया को प्रारम्भ करना ताकि राष्ट्रीय आय में तीव्र गति से वृद्धि हो और लोगों का जीवन उन्नत हो सके।

2. **द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-61)** – 1954 में भारतीय संसद् ने घोषणा की, कि आर्थिक नीति का उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना होना चाहिए। इसकी प्राप्ति के लिए निजी लाभ की जगह सामाजिक लाभ को प्राथमिकता दी गई तथा आय और सम्पत्ति के समान वितरण पर जोर दिया गया।

इस योजना के मुख्य उद्देश्य थे- (1) राष्ट्रीय आय में 25% की वृद्धि ताकि लोगों के जीवन स्तर को उन्नत किया जा सके, (2) तीव्रगति से इस प्रकार औद्योगीकरण करना ताकि भारी और मूलभूत उद्योगों का अधिक विकास हो, (3) रोजगार के अवसरों में भारी वृद्धि करना और (4) आय और सम्पत्ति के वितरण की विषमता को दूर करना तथा धन के संकेन्द्रण को रोकना। निवेश की मात्रा को राष्ट्रीय आय के 5% से 11% करना।

NOTES

3. तृतीय पंचवर्षीय योजना (1961-66) – तृतीय योजना के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार थे –

(1) सकल राष्ट्रीय उत्पाद में 5 प्रतिशत प्रति वर्ष से अधिक वृद्धि दर प्राप्त करना।

(2) खाद्यानों के मामले में पूर्ण आत्मनिर्भरता प्राप्त करना।

(3) आधारभूत उद्योगों को बढ़ावा देकर अगले दशक तक एक सुदृढ़ औद्योगिक आधार तैयार करना ताकि स्वजीवी औद्योगिक संरचना का विकास हो सके।

(4) देश में उपलब्ध जनशक्ति का पूर्ण उपयोग करना और रोजगार के अवसरों का पर्याप्त सृजन करना।

(5) 'स्वयं स्फूर्ति' की स्थिति प्राप्त करना।

4. चतुर्थ पंचवर्षीय योजना (1969-74)– चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार थे –

(1) राष्ट्रीय आय में प्रति वर्ष 5.7% की दर को प्राप्त करना।

(2) कृषि के उत्पादन में उच्चावचन को कम करना ताकि मूल्यों में स्थिरता स्थापित की जा सके।

(3) योजना के दौरान विदेशी सहायता पर निर्भरता में भारी कमी करने का लक्ष्य रखा गया।

(4) समाज के अपेक्षाकृत निर्धन व पिछड़े हुए व्यक्तियों जैसे, अनुसूचित जातियों, जन-जातियों, भूमिहीन श्रमिकों व छोटे कृषकों को आर्थिक कल्याण के लिए विशेष कार्यक्रम।

(5) विदेशी भुगतान के खाते में संतुलन स्थापित करने के उद्देश्य से निर्यात में 7% प्रति वर्ष की वृद्धि का लक्ष्य रखा गया।

(6) प्रादेशिक असंतुलन कम करने के लिए समुचित उपाय काम में लेने के लिए प्रस्ताव भी रखे गये।

5. पाँचवीं पंचवर्षीय योजना (1974-79) – इस योजना के दो प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार थे –

(1) गरीबी का उन्मूलन करना और

(2) अर्थव्यवस्था के प्रत्येक क्षेत्र में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना।

इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए योजना के मुख्य तत्व निम्नलिखित हैं –

(1) सकल घरेलू उत्पाद में विकास की दर 5.5% प्रति वर्ष।

(2) उत्पादक रोजगार के अवसरों का विस्तार।

(3) निम्नतम आवश्यकताओं का राष्ट्रीय कार्यक्रम जिसमें शिक्षा, जल आदि की व्यवस्था के लिए 20 सूत्रीय कार्यक्रम चलाया गया।

(4) कृषि व आधारभूत उद्योगों व आम जनता के उपयोग का माल बनाने वाले उद्योगों पर बल।

(5) आवश्यक उपभोग योग्य वस्तुओं का उचित व स्थिर भावों पर निर्धन वर्ग को सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से उपलब्ध कराना।

(6) निर्यात प्रोत्साहन व आयात प्रतिस्थापन।

6. छठी पंचवर्षीय योजना (1980-85) – छठीं पंचवर्षीय योजना में गरीबी-उन्मूलन व आत्मनिर्भरता पर पुनः ध्यान केन्द्रित किया गया। मुद्रास्फीति को नियंत्रित करने, उद्योगों में उत्पादन क्षमता का अधिक उपयोग करने तथा भुगतान शेष के घाटे को दूर करने के लिए निर्यात सम्वर्द्धन पर अधिक जोर दिया गया। इस योजना के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार थे –

(1) अर्थव्यवस्था की विकास दर में सार्थक वृद्धि, संसाधनों के प्रयोग में कुशलता को बढ़ाना और उत्पादकता में वृद्धि करना।

(2) आर्थिक व तकनीकी आत्मनिर्भरता प्राप्त करने हेतु आधुनिकीकरण को बढ़ावा देना।

(3) ऊर्जा के घरेलू ससाधनों का तेजी से विकास करना।

(4) न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम द्वारा आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से कमजोर लोगों के जीवन स्तर में पर्याप्त सुधार करना।

(5) सार्वजनिक नीतियों व वितरण प्रणाली को गरीबों के अनुकूल बनाना।

(6) स्वैच्छिक रूप से जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करने वाली नीतियों को बढ़ावा देना आदि।

7. सातवीं योजना के उद्देश्य (1985-90) – सातवीं योजना में मुख्य रूप से रोटी, रोजी उत्पादकता और सामाजिक न्याय पर अधिक जोर दिया गया। यह अनुभव किया गया कि पिछले वर्षों के दौरान सामाजिक न्याय सम्बन्धी

प्रगति अधिक उत्साहवर्द्धक नहीं है। अतः सामाजिक न्याय दिलाने वाले प्रयासों को तेज करने के साथ-साथ, लाभदायक रोजगार बढ़ाने व गरीबी को दूर करने का संकल्प लिया गया। इन संकल्पों को पूरा करने के लिए निम्न उद्देश्य निर्धारित किए गए –

NOTES

(1) कृषि गत उत्पादन विशेषतया खाद्यान्नों के उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि करने की बात कही गई।

(2) सिंचाई की सुविधाओं में विस्तार करने का निर्णय लिया गया। कृषिगत उत्पादन बढ़ाने के लिए जरूरी औद्योगिक इन्फ्रास्ट्रक्चर तैयार करने में पूँजी लगायी जायेगी।

(3) रोजगार सृजन की वृद्धि में औद्योगिक प्रक्रिया तेज की जायेगी।

(4) उत्पादन की वर्तमान क्षमता का गहनता से प्रयोग करने का निर्णय लिया गया।

(5) निर्धनता दूर करने व रोजगार बढ़ाने पर विशेष बल दिया गया।

8. **आठवीं पंचवर्षीय योजना (1992-1997)** – आठवीं योजना का प्रारम्भ अप्रैल, 1990 से होना था, किन्तु राजनैतिक परिस्थितियों के कारण इसे अप्रैल, 1992 से प्रारम्भ किया गया। इस योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार थे –

(i) रोजगार के अवसरों में पर्याप्त वृद्धि करना,

(ii) लोगों के सक्रिय सहयोग से जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करना,

(iii) सभी गाँवों में स्वच्छ पेय जल एवं स्वास्थ्य केन्द्रों की व्यवस्था करना,

(iv) खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता के साथ-साथ निर्यात व्यापार हेतु अतिरिक्त उत्पादन करना, और

(v) आधारभूत ढाँचे को सुदृढ़ करने के लिये ऊर्जा, परिवहन, संचार, सिंचाई आदि पर ध्यान देना आदि।

9. **नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002)** – नौवीं योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार रखे गये :–

(i) पर्याप्त उत्पादक रोजगार पैदा करना,

(ii) निर्धनता उन्मूलन की दृष्टि से कृषि एवं ग्रामीण विकास पर जोर देना,

(iii) स्वच्छ पेयजल, प्राथमिक स्वास्थ, सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा एवं आवास जैसी मूलभूत सेवाएँ उपलब्ध करना,

(iv) जनसंख्या वृद्धि को नियंत्रित करना,

(v) पंचायत राज संस्थाओं को बढ़ावा देना और

(vi) आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के प्रयासों को सुदृढ़ करना आदि।

10. **दसवीं योजना (2002-07)** – भारत की दसवीं योजना में 8 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया है तथा इस योजना में संयुक्त राष्ट्र द्वारा निर्देशित मानव विकास सूचकांक पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। दसवीं योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्नानुसार हैं :–

(i) निर्धनता अनुपात को कम करके 2007 तक 20 प्रतिशत एवं 2012 तक 10% तक लाना।

(ii) अतिरिक्त श्रमिकों को रोजगार उपलब्ध कराना।

(iii) 2007 तक सबको प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध कराना।

(iv) साक्षरता दर में वृद्धि करना तथा शिशु मृत्यु दर में कमी करना।

(v) सन् 2012 तक सभी गाँवों में पेयजल उपलब्ध कराना आदि।

11. **ग्यारहवीं योजना (2007-12)**- भारत की ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में 9 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि दर प्राप्त करने का लक्ष्य रखा गया है जिसे प्रधानमंत्री की पहल पर वर्ष 2011-12 के लिए बढ़ाकर 10 प्रतिशत कर दिया गया है, जिससे भारत को तेजी से विकसित हो रहे देशों की अग्रिम पंक्ति में लाया जा सके। कृषि क्षेत्र के लिए योजना आयोग ने 4.1 प्रतिशत की औसत वार्षिक दर का लक्ष्य रखा है। ग्यारहवीं योजना के प्रमुख उद्देश्य निम्नानुसार हैं:-

(i) ग्यारहवीं योजना में 9 प्रतिशत वार्षिक की संवृद्धि का लक्ष्य है जिसे योजना के अन्तिम वर्ष (2011-12) में बढ़ाकर 10 प्रतिशत किया जाना है।

(ii) निर्धनता अनुपात में 2007 तक 5 प्रतिशत एवं 2010 तक 15 प्रतिशत तक की कमी लाना।

(iii) ग्यारहवीं योजना के दौरान श्रम बल की वृद्धि को उच्च गुणवत्तायुक्त रोजगार उपलब्ध कराना।

(iv) योजनावधि में साक्षरता दर को बढ़ाकर 75 प्रतिशत करना।

NOTES

(v) जनसंख्या वृद्धि की दशकीय वृद्धि दर को 2001 से 2011 के दशक में घटाकर 16.2 प्रतिशत के स्तर प लाना।

(vi) योजनावधि में रोजगार के 7 करोड़ नये अवसर सृजित करना।

(vii) देश के सभी गाँवों में 2010 तक स्वच्छ पेयजल की व्यवस्था करना।

(viii) वर्ष 2009 तक देश के सभी गाँव एवं निर्धनता रेखा के नीचे जीवनयापन करने वाले परिवारों में विद्युत संयोज तथा सन् 2012 तक 24 घण्टे विद्युत आपूर्ति की व्यवस्था करना।

(ix) वर्ष 2007 तक देश के प्रत्येक गांव में टेलीफोन सुविधा प्रदान करना तथा वर्ष 2012 तक प्रत्येक गांव के ब्रॉडबैंड सुविधा से जोड़ना।

(x) वर्ष 2007 तक 1000 जनसंख्या वाली सभी गाँवों (पर्वतीय एवं जनजातीय क्षेत्रों में 500 जनसंख्या) तक वर्ष भर के लिए उपयुक्त पक्की सड़कें सुनिश्चित करना।

भारत में नियोजन की उपलब्धियाँ
(Achievements of Planning in India)

भारत में **नियोजित विकास के 55 वर्ष पूर्ण हो चुके हैं** और इस अवधि में देश में नौ पंचवर्षीय योजनाएँ पूर्ण हो चुकी हैं तथा दसवीं योजना का क्रियान्वयन प्रगति पर है। इन योजनाओं के दौरान अर्थव्यवस्था औसतन 4.5 प्रतिशत की दर से विकास पथ पर आगे बढ़ी है। योजनावधि में देश का औद्योगिक ढाँचा सुदृढ़ हुआ है और अनेक क्षेत्रों में अब देश विदेशी प्रतियोगिता के लिए तत्पर है। योजनाकाल में प्रमुख उपलब्धियां निम्न प्रकार रहीं –

(1) **कृषिगत विकास** (Agricultural Development) - पिछली योजनाओं में भारत के कृषि उत्पादन में लगभग साढ़े तीन गुना से भी अधिक की वृद्धि हुई है। देश में खाद्यान्नों का उत्पादन 1950-51 में 5.50 करोड़ टन था जो 2006-2007 तक बढ़कर लगभग 21.6 करोड़ टन हो गया, किन्तु 2004-05 में प्रतिकूल मौसम के कारण यह घटकर 20.5 करोड़ टन रह गया। योजनाकाल में कपास का उत्पादन 24 लाख गाँठों एवं जूट का उत्पादन 35 लाख गाँठों से बढ़कर क्रमशः 170 लाख गाँठें एवं 103 लाख गाँठें हो गया। कृषिगत उत्पादन बढ़ाने में सिंचाई सेवाओं का विशेष योगदान रहा है। योजनाओं के प्रारंभ में केवल 2.26 करोड़ हैक्टर भूमि पर सिंचाई होती थी जो 2002-2003 तक बढ़कर 9.50 करोड़ हैक्टर हो गई।

(2) **औद्योगिक क्षेत्र में सफलताएँ** (Success in Industrial Sector) - योजनाओं के पहिले तक भारत मे औद्योगिक विकास नहीं के बराबर था। केवल कुटीर एव कुछ मध्यम उद्योग ही कार्यरत थे। योजनाएं प्रारभ करने पर देश में बुनियादी उद्योगों की स्थापना की गई। इससे औद्योगिक आत्मनिर्भरता बढ़ी। 1950-51 से 2004-05 के बीच इस्पात का उत्पादन 40 गुना, सीमेन्ट का 48 गुना, कागज का 30 गुना, मशीनी औजार का 2700 गुना, एल्यूमीनियम का 129 गुना, नाइट्रोजन खाद का उत्पादन 1260 गुना बढ़ा।

(3) **परिवहन एवं संचार साधनों के क्षेत्र में सफलताएँ** (Success in Transport & Communications Sector) - सन् 1950-51 में 53000 किलोमीटर रेलवे लाइन थी जो 2004-2005 तक 63,100 किलोमीटर हो गई। इस बीच सड़कों की लम्बाई 4 लाख किलोमीटर से बढ़कर 33.2 लाख किलोमीटर हो गई। 1950-51 में जहाजरानी की लदान क्षमता 3.7 लाख GRT थी जो वर्तमान में 62.1 लाख GRT है। इसी दौरान डाकखानों की संख्या 36 हजार से बढ़कर 162 हजार तथा टेलीफोन की संख्या 1.73 लाख से बढ़कर मार्च, 2005 तक 765 लाख हो गई। इसकी साथ ही मोबाइल टेलीफोन का प्रचलन देश में तेजी से बढ़ा है।

(4) **विद्युत उत्पादन में सफलता** (Success in Electricity Production) - देश में प्रथम योजना काल के प्रारंभ में कुल विद्युत उत्पादन 5 लाख किलोवाट था जो 1990-91 में बढ़कर 265 लाख किलोवाट तथा 2004-05 में 608 लाख किलोवाट हो गया। 1955-56 में प्रतिव्यक्ति विद्युत खपत 2.4 किलोवाट घंटे से बढ़कर 355.0 किलोवाट हो गई। वर्ष 2004-05 में देश में कुल विद्युत उपभोग का लगभग 36 प्रतिशत भाग उद्योगों में, 23 प्रतिशत भाग कृषि में, 25 प्रतिशत भाग घरेलू कार्यों में शेष 16 प्रतिशत अन्य कार्यों मे प्रयुक्त होता है।

(5) **सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार** (Expansion of Public Sector) योजना काल में सार्वजनिक क्षेत्र का भी तेजी से विकास हुआ। 1950-51 में देश में केवल 5 सार्वजनिक उपक्रमों में 29 करोड़ रुपये की पूँजी लगी थी। मार्च 2007 तक इनकी संख्या 244 एवं विनियोजित पूँजी की मात्रा 4,21,089 करोड़ रु. हो गयी।

(6) **शिक्षा का प्रसार** (Expansion of Education) - योजनाओं के प्रारंभ में देश में 27 विश्व- विद्यालय थे। वर्तमान में उनकी संख्या 146 है। देश में 1951 में 18.3 प्रतिशत लोग साक्षर थे। 2001 में यह प्रतिशत 65.38 हो गया। 1950-51 में प्राथमिक स्कूलों की संख्या 2.1 लाख थी, स्नातक व स्नातकोत्तर कालेज 542 थे, इनकी संख्या

2003-2004 में क्रमशः 10.42 लाख और 9,427 है। 1950-51 में 6 से 11 वर्ष की आयु के 42.6 प्रतिशत बच्चे स्कूल जाते थे। सन् 2001 में इनका प्रतिशत 87 हो गया। वर्ष 1950-51 में 11 से 14 वर्ष की उम्र के 12.8 प्रतिशत तथा 14 से 23 वर्ष की उम्र के 6.1 प्रतिशत बच्चे पढ़ने जाते थे। वर्तमान में इनका प्रतिशत क्रमशः 67.6 एवं 42 है।

(7) **स्वास्थ्य एवं समाज सेवाओं में सफलताएँ** (Success in Health and Social Welfare) - वर्ष 1950-51 में 28 मेडीकल कालेज थे जो वर्तमान में 186 हैं। सन् 1951 में मृत्यु दर 27.4 प्रति हजार थी जो घटकर 7.5 प्रति हजार हो गई। इसी अवधि में औसत जीवन प्रत्याशा 23 वर्ष से बढ़कर 65 वर्ष हो गई। वर्ष 1950-51 में ग्रामीण क्षेत्रों में कोई भी स्वास्थ्य केन्द्र नहीं था अब वहाँ 23000 से भी अधिक स्वास्थ्य केन्द्र कार्यरत हैं। मलेरिया, टी.बी., चेचक, प्लेग जैसी महामारियों को लगभग समाप्त कर दिया गया है।

(8) **आयात-निर्यात में सफलता** (Success in Imports and Exports) - आर्थिक नियोजन के पिछले 56 वर्षों में देश के आयात-निर्यात में भी पर्याप्त वृद्धि हुई है। 1950-51 में देश का आयात-निर्यात क्रमशः 608 एवं 606 करोड़ रुपयों का था जो 2004-2005 तक बढ़कर 4,90,532 करोड़ एवं 3,61,879 करोड़ रुपये का हो गया। यद्यपि भारत का व्यापार घाटे का है, तथापि निर्यात व्यापार की विविधता आई है। मशीनें, कम्प्यूटर साफ्टवेअर, निर्मित वस्तुएँ आदि का बड़ी मात्रा में निर्यात किया जा रहा है। वर्तमान में भारत अकेले ब्रिटेन से ही नहीं विश्व के 100 से भी अधिक देशों से व्यापार कर रहा है।

(9) **बैंकिंग क्षेत्र में सफलता** (Success in Banking Sector) - वर्ष 1969 एवं उसके बाद में देश के बैंकिंग क्षेत्र का राष्ट्रीयकरण किया गया। वर्तमान में बैंकों का 90 प्रतिशत भाग सरकार के अधीन काम कर रहा है। 1951 में वाणिज्य बैंकों की शाखाओं की संख्या 2647 थी जो 2007 में बढ़कर 72,165 हो गई है। इन बैंक शाखाओं का 48% ग्रामीण क्षेत्रों में है।

(10) **बचत और विनियोग दरों में वृद्धि** (Increase in Savings and Investment Rates) - पिछली योजनाओं में घरेलू शुद्ध बचत एवं शुद्ध विनियोग में सतत् वृद्धि हुई है। वर्ष 1950-51 में घरेलू बचत की दर 10.4% थी जो 2003-2004 में बढ़कर 28 प्रतिशत हो गई है। इसी दौरान सकल घरेलू पूँजी निर्माण की दर 11.0 प्रतिशत से बढ़कर 27.3 प्रतिशत हो गई।

(11) **राष्ट्रीय आय में वृद्धि** (Increase in National Income) - वर्ष 1950-51 में राष्ट्रीय आय चालू मूल्यों पर 9,142 करोड रुपये थी जो 1990-91 तक 4,50,145 करोड़ रु. और 2004-2005 में 25,31,223 करोड़ रु. हो गई। इस प्रकार योजनावधि के 57 वर्षों में भारत की राष्ट्रीय आय में औसतन 4.3 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि हुई।

(12) **प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि** (Increase in Per-capita Income) - योजना काल में चालू मूल्यों पर प्रतिव्यक्ति आय 1950-51 में 255 रु. थी जो बढ़कर 2000-01 में 16,555 रुपये और 2004-2005 में 23,222 रु. हो गई। वर्ष 1993-94 की कीमतों पर सन् 2003-2004 में प्रति व्यक्ति आय 11,790 रु. थी।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि भारत में योजनाकाल आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक लाभप्रद रहा है।

भारत में आर्थिक नियोजन की असफलताएँ
(Failures of Economic Planning in India)

यद्यपि भारत में योजना काल में अनेक सफलताएँ मिली हैं किन्तु असफलताएँ भी कम नहीं हैं। भारतीय योजनाएँ निम्न क्षेत्र में असफल रही हैं -

(1) **लक्ष्य प्राप्त नहीं हुए** (Failure to Achieve Targets) - भारत में विभिन्न योजनाओं में जिन लक्ष्यों का अनुमान लगाया था उनमें पूर्णतः सफलता नहीं मिली। लक्ष्यों में सफलता न मिलने के कई कारण हैं जैसे - (i) जन सहयोग पर्याप्त मात्रा में नहीं मिला। (ii) प्रशासन एवं प्रबन्धन अयोग्य लोगों के हाथों में रहा। (iii) औद्योगिक सम्बन्ध तनाव पूर्ण रहे। (iv) योजनाओं के लक्ष्य काफी ऊँचे निर्धारित कर दिये गए। (v) विनियोग योग्य पूँजी का अभाव रहा। (vi) विकसित देशों से पर्याप्त सहयोग नहीं मिला। (vii) घाटे की वित्त व्यवस्था ने मुद्रास्फीति बढ़ाई। (viii) निजी क्षेत्र लाभदायक क्षेत्र में ही विनियोग करता रहा।

(2) **सार्वजनिक उपक्रमों की असफलताएँ** (Failures of Public Enterprises) - योजनाकारों ने सार्वजनिक उपक्रमों में बड़ी मात्रा में बचत कर विनियोग किया था किन्तु सार्वजनिक क्षेत्र ने सचमुच अधिक निराश किया है। 10 लाख करोड रुपये से अधिक की पूँजी लगाने के बाद भी अनेक उपक्रम हानि में चल रहे हैं। इन उपक्रमों का हानि में चलने के निम्न कारण है - (i) वे अपनी क्षमता का पूर्णतः उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। (ii) इनमें कर्मचारियों के वेतन-भत्ते अधिक हैं। (iii) इनके पास भारी मात्रा में स्टाक जमा रहता है। (iv) प्रबन्ध योग्य लोगों के हाथों में नहीं है। (v) आशानुकूल परिणाम नहीं दे पाये हैं।

(3) **विदेशी ऋणों का बोझ** (Burden of Foreign Loans) - भारतीय आर्थिक नियोजन विदेशी सहाय पर आधारित है। इस विदेशी सहायता का लाभ आम लोगों को नहीं मिल रहा है। विदेशी सहायता भी अपर्या असमय एवं ऊँची ब्याज दर पर मिली है। वर्तमान समय में भारत पर लगभग 5,00,000 करोड़ रु. से भी अधिक कर्ज है ।

(4) **नियंत्रण नीति का दोषपूर्ण होना** (Defective Control Policy) - आर्थिक नियोजन काल में लग गये नियंत्रण दोषपूर्ण थे जिससे विकास नहीं हुआ। विभिन्न प्रकार के नियंत्रण असमय, अविवेकपूर्ण और अनावश्य थे। इन नियंत्रणों से निजी क्षेत्र को विकास के पर्याप्त अवसर नहीं मिले। इसके साथ ही संरक्षण के कारण अर्थव्यवस में प्रतियोगी शक्ति का विकास नहीं हुआ।

(5) **आय और धन की असमानता** (Inequality of Income & Wealth) - आर्थिक नियोजन से आ और धन के समान वितरण होने की बजाय इनकी असमानता में तेजी से वृद्धि हुई। अमीर अधिक अमीर तथा गरी अधिक गरीब हो गये हैं।

(6) **बेरोजगारी में वृद्धि** (Increase in Un-employment) - आर्थिक नियोजन की दोषपूर्ण नीति के कार एक ओर तो जनसंख्या तेजी से बढ़ी तथा दूसरी ओर बेरोजगारी ने विकराल रूप धारण कर लिया। भारत में बेरोजगा के विश्वसनीय आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं किन्तु यह सही है कि प्रत्येक योजना के अन्त में बेरोजगारी बढ़ी है। योजनाओ के प्रारंभ होने के पूर्व 33 लाख लोग बेरोजगार थे। वर्तमान में उनकी संख्या 3.5 करोड़ से भी अधिक है। जनसंख्य का लगभग 26 प्रतिशत भाग गरीबी रेखा के नीचे जीवन-यापन कर रहा है।

(7) **क्षेत्रीय असन्तुलन** (Regional Imbalance) - आर्थिक नियोजन के दौरान सन्तुलित विकास होने व अपेक्षा असन्तुलन तेजी से बढ़ा है। आज भी महाराष्ट्र, गुजरात, हरियाणा, पंजाब, कर्नाटक विकसित एवं असम, मेघालय उड़ीसा, बिहार एवं आन्ध्रप्रदेश पिछड़े राज्य हैं।

(8) **मूल्यों में वृद्धि** (Price Rise) - योजना काल में प्रतिवर्ष लगभग औसतन 6.6 प्रतिशत से अधिक गति से मूल्य बढ़े हैं। कम उत्पादन, घाटे की वित्त व्यवस्था, अनावश्यक व्यय, कालाधन आदि ने मूल्य वृद्धि को सबसे अधिक प्रोत्साहित किया है।

(9) **प्रतिव्यक्ति आय धीमी गति से बढ़ी है** (Slow Progress of Per-capita Income) - 53 वर्षों के आयोजन काल में वास्तविक प्रतिव्यक्ति आय के बढ़ने की गति बहुत कम रही इससे बचत, विनियोग एवं रोजगार प बुरा असर पड़ा है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत में योजनाएँ पूर्णतः सफल नहीं हुई हैं। योजनाओं में बेरोजगारी बढ़ी है गरीबी रेखा के नीचे रह रहे लोगों की संख्या में वृद्धि हुई है, मूल्य वृद्धि से मध्यम एवं गरीबी वर्ग का जीना कठिन हो गया है और प्राकृति साधनों का विदोहन नहीं हुआ है। इस अवधि में एक नया धनाढ्य वर्ग अवश्य बन गया है जो जन-साधारण का शोषण करके धन एवं आय के केन्द्रीयकरण में लगा है। यही कारण है कि सन् 1991 से भारत मे पुनः **निजीकरण एवं उदारीकरण** की नीति को अपनाया है। वास्तविकता यह है कि भारत में योजनाओं के असफल रहने के कारण ही अब सांकेतिक नियोजन को अपनाया है तथा अर्थ व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में निजी क्षेत्र को बढ़ावा दिया गया है।

योजनाओं को सफल बनाने के सुझाव
(Suggestions for the Success of Plans)

(1) **मूल्य स्थिरता** (Price Stability) - योजनाएँ मूल्य स्थिरता की दशा में ही सफल हो सकती है। योजनाओं में मूल्य वृद्धि सीमित दायरे में ही होनी चाहिये। अत्यधिक मूल्य वृद्धि लागत बढ़ाती है। जिससे योजनाओं के लाभ बेकार हो जाते हैं। अतः योजनाओं को सफल बनाने के लिए मूल्य स्थिरता आवश्यक तत्व है।

(2) **गैर कृषि क्षेत्र का विकास** (Development of Non-Agricultural Sector) - भारत की 74.3% जनसंख्या गाँवों में रहती है। वहाँ कृषि पर जनभार बढ़ रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि कृषि से जनभार हटाकर उसे गैर कृषि कार्यों में लगाया जाये। इस हेतु लघु उद्योग, कृषि पर आधारित उद्योग, कुटीर उद्योग, दुग्ध उद्योग, मत्स्य पालन, मुर्गी पालन आदि को वित्तीय व तकनीकी सहायता देकर विकसित किया जाये।

(3) **सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों में समन्वय** (Coordination between Public and Private Sectors)- भारतीय योजनाओं में सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र में समन्वित ढग से विकास हो ताकि वे एक दूसरे के प्रतियोगी न होकर पूरक और सहयोगी हों। भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाने के बाद भी उनमें समन्वय का नितान्त अभाव है। इस कमी को शीघ्र दूर किया जाना चाहिये।

NOTES

(4) **केन्द्र व राज्यों के सम्बंधों में सुधार** (Improvement in Centre-State Relations) - भारत में संघीय व्यवस्था है। संविधान में केन्द्र व राज्य के मध्य अधिकार और उत्तरदायित्व बाँट दिये गये हैं। किन्तु फिर भी केन्द्र व राज्य तथा परस्पर राज्यों में आपस में मनमुटाव है जिससे विकास नहीं हो रहा है। इनके झगड़ों को तुरन्त निपटाया जाना चाहिए।

(5) **तकनीकी में समन्वय** (Technological Coordination) - भारत में आर्थिक नियोजन की सफलता के लिए आवश्यकतानुसार श्रमप्रधान एवं पूँजीप्रधान तकनीकी अपनाई जाये। उनमें होने वाले दोहरेपन को रोका जाये। विश्व में उन्नत पूँजी प्रधान तकनीकी एवं देश में उपलब्ध श्रम शक्ति के विदोहन के लिए समन्वित एवं प्रभावी समन्वय अत्यावश्यक है। इस ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

(6) **कुशल प्रशासन व मूल्यांकन** (Efficient Administration & Evaluation) - आर्थिक योजनाओं को सफलतापूर्वक संचालन करने के लिए प्रशासन की कुशलता आवश्यक है। हर स्तर पर बर्बादी रोककर मितव्ययिता को प्रोत्साहित किया जाये। पारदर्शी नीतियों के द्वारा भ्रष्टाचार को नियंत्रित किया जाये समय-समय पर योजनाओं का मूल्यांकन करना भी अत्यावश्यक है ताकि गलतियों को सुधारा जा सके।

(7) **जनसहयोग** (Public Cooperation) - योजनाएँ तभी सफल होती हैं जब उन्हें पर्याप्त मात्रा में जन सहयोग प्राप्त हो। इस हेतु सरकार को चाहिए कि वह जनता में योजनाओं का पर्याप्त प्रचार-प्रसार करे ताकि लोग योजनाओं को अपने विकास का आधार मानकर सरकार का सहयोग करे।

(8) **व्यावहारिक नीतियाँ** (Practical Policies) - आर्थिक नियोजन तभी सफल होता है जब उसके लिये व्यावहारिक और वास्तविक नीतियाँ बनाई जायें। भारत में इस स्थिति का अभाव है। वास्तविकता यह है कि यहाँ योजनाएँ योजना भवन के वातानुकूलित कमरों में बनाई जाती हैं। यही कारण है कि वे असफल रहती हैं। पंचायती राज संस्थाओं को शक्तिशाली बनाकर विकास कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया जाना चाहिए।

(9) **मानव शक्ति का विदोहन** (Utilisation of Human Resources) - भारतीय योजनाओं की सफलता के लिए आवश्यक है कि मानव शक्ति का पूर्णतः विदोहन किया जाये। उसकी क्षमता का आर्थिक विकास में उपयोग किया जाये। प्रयास ऐसा होना चाहिए कि योजना के लाभ गरीब वर्ग को प्राप्त हों। यदि ऐसा नहीं होता है तो योजनाओं को कभी भी सफलता नहीं मिलेगी।

(10) **अन्य सुझाव** (Other Suggestions) - भारतीय योजनाओं को सफल बनाने के लिए कुछ और उपाय भी अपनाये जाएँ, जैसे - (i) बढ़ती जनसंख्या पर प्रभावपूर्ण रोक लगाई जाये। (ii) विदेशी सहायता पर निर्भर न रहकर घरेलू साधनों को बढाया जाये। (iii) साधनों के आधार पर विकास के लक्ष्य निर्धारित किये जाएँ। (iv) प्रशुल्क व मौद्रिक नीति में समन्वय किया जाए। (v) प्रशासन को अधिक चुस्त व कार्य कुशल तथा क्षमतावान बनाया जाये। (vi) अनावश्यक राजनैतिक हस्तक्षेप रोका जाए आदि।

11वीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012)
(Eleventh Five Year Plan-2007-2012)

भारत की ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना (2007-2012) के दृष्टिकोण पत्र को योजना आयोग ने 19 अक्टूबर, 2007 को तथा राष्ट्रीय विकास परिषद ने 9 दिसम्बर, 2006 को स्वीकृति प्रदान की। योजना आयोग ने मूलरूप से 9 प्रतिशत वार्षिक की विकास दर का लक्ष्य रखा था जिसे प्रधानमंत्री की पहल पर वर्ष 2011-12 के लिए बढ़ाकर 10 प्रतिशत कर दिया गया है। इसका उद्देश्य भारत को तेजी से विकसित हो रहे देशों में अगली स्थान प्रदान करना है। कृषि क्षेत्र के लिए योजना में 4.1 प्रतिशत की औसत विकास दर का लक्ष्य रखा गया है। इसके साथ ही 11वीं योजना में 60 से 70 हजार मेगावॉट अतिरिक्त विद्युत क्षमता के सृजन का लक्ष्य रखा गया है। आधारभूत संरचना के विकास हेतु रेलवे, सड़क, बन्दरगाहों हवाई अड्डों एवं विद्युत क्षेत्र के व्यापक विकास के साथ-साथ इनकी गुणवत्ता में सुधार की आवश्यकता बतायी गई है। इस क्षेत्रों में भारी निवेश की आवश्यकता को दृष्टिगत करते हुए सार्वजनिक- निजी भागीदारी की सफलता को महत्वपूर्ण माना गया है। सर्व शिक्षा अभियान पर होने वाले व्यय के लिए केन्द्र एवं राज्यों की हिस्सेदारी को 11वीं योजना में 50:50 के अनुपात में रखा जायेगा।

प्रमुख लक्ष्य

ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना के प्रमुख लक्ष्य निम्न प्रकार रखे गये हैं

(1) योजना में 9 प्रतिशत वार्षिक संवृद्धि का लक्ष्य है जिसे योजना के अंतिम वर्ष (2011-12) में बढ़ाकर 10 प्रतिशत किया जाना है।

(2) निर्धनता अनुपात में 2007 तक 5 प्रतिशत एवं 2012 तक 15 प्रतिशत तक की कमी लाना।

NOTES

(3) ग्यारहवीं योजना में होने वाली श्रम बल की वृद्धि को उच्च गुणवत्तायुक्त रोजगार उपलब्ध कराना।

(4) योजनावधि में साक्षरता दर को बढ़ाकर 75 प्रतिशत करना।

(5) जनसंख्या वृद्धि की दशकीय वृद्धि दर को 2001 से 2011 के दशक में घटाकर 16.2 प्रतिशत के स्तर लाना।

(6) योजनावधि में रोजगार के 7 करोड़ नये अवसर सृजित करना।

(7) देश के सभी गाँवों में 2012 तक स्वच्छ पेयजल की व्यवस्था करना।

(8) वर्ष 2009 तक देश के सभी गाँव एवं निर्धनता की रेखा के नीचे जीवन-यापन करने वाले परिवारों में विद्यु संयोजन करना तथा सन् 2012 तक 24 घण्टे विद्युत आपूर्ति की व्यवस्था करना।

(9) देश के प्रत्येक गाँव में वर्ष 2007 तक टेलीफोन सुविधा प्रदान करना तथा वर्ष 2012 तक प्रत्येक गाँव व बॉडबैण्ड सुविधा से जोड़ना।

(10) सन् 2009 तक 1000 जनसंख्या वाले सभी गाँवों (पर्वतीय एवं जन-जातीय क्षेत्रों में 500 जनसंख्या) तक व भर के लिए उपयुक्त पक्की सड़के सुनिश्चित करना

तालिका-2

ग्यारहवीं योजना के वृहत आर्थिक सूचक (2007-12)

	पद	10वीं योजना (वास्तविक)	11वीं योजना (औसत लक्ष्य)
1.	सकल घरेलू उत्पाद की संवृद्धि दर (प्रतिशत) जिसमें से	7.2	9.0
	(i) कृषि	1.7	4.1
	(ii) उद्योग	8.5	[illegible]
	(iii) सेवाएँ	9.0	9.9
2.	निवेश दर (सकल घरेलू उत्पाद का %) जिसमें से	27.8	35.1
	(i) सार्वजनिक	6.7	10.2
	(ii) निजी	21.1	24.9
3.	घरेलू बचत दर (सकल घरेलू उत्पाद का %)	28.2	32.3
4.	चालू खाते का घाटा (सकल घरेलू उत्पाद का %)	0.2	–2.8
5.	सरकारी राजस्व अधिशेष (सकल घरेलू उत्पादक का %)	–4.4	–0.2
6.	सरकारी राजकोषीय अधिशेष (सकल घरेलू उत्पाद का %)	–8.0	–6.0

बजटीय संसाधन एवं प्राथमिकताएँ

11वीं पंचवर्षीय योजना में 2007-12 अवधि में केन्द्र एवं राज्यों की सम्मिलित सकल बजटीय सहायता राशि दसवीं योजना (2002-07) के स्तर से 2.5 प्रतिशत (सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में) अधिक रहेगी। इसे राजकोषीय विवेकशीलता जैसी सीमाओं के साथ बेहतर कर संग्रह तथा गैर-योजना व्यय के विवेकीकरण द्वारा पूर्ण किया जायेगा। संसाधनों के संबंध में बड़े आकार की योजना का समर्थन किया गया है किन्तु यह राजकोषीय विवेकशीलता तथा स्थायित्व की कीमत पर नहीं होगा। उपलब्ध संसाधनों को सर्वप्रथम सामाजिक-आर्थिक प्राथमिकताओं के लिए प्रयुक्त करने पर जोर दिया है। ग्यारहवीं योजना की प्राथमिकताएँ निम्न प्रकार रखी गई हैं- (i) कृषि, (ii) सिंचाई, (iii) जल संसाधन विकास एवं उनका दोहन, (iv) स्वास्थ्य, (v) शिक्षा, (vi) ग्रामीण आधारिक संरचना में क्रांतिक निवेश, (vii) सामान्य आधारिक संरचना में आवश्यक सार्वजनिक निवेश।

योजना का परिव्यय

विकास शीर्षों के अनुसार केन्द्र, राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों का ग्यारहवीं योजना (2007-12) का परिव्यय तालिका-3 में दर्शाया गया है।

NOTES

तालिका - 3

ग्यारहवीं योजना का परिव्यय (2007-12)

विकास शीर्ष (मद)	राशि (करोड़ रु.)	प्रतिशत वितरण
1. कृषि और संबंधित क्रियाएँ	1,36,381	3.7
2. ग्रामीण विकास	3,01,069	8.3
3. विशेष क्षेत्र कार्यक्रम	26,329	0.7
4. सिंचाई और बाढ़ नियन्त्रण	2,10,326	5.8
5. ऊर्जा	8,54,123	23.4
6 उद्योग और खनिज	1,53,600	4.2
7. परिवहन	5,72,443	15.7
8. संचार	95,380	2.6
9. विज्ञान, प्रौद्योगिकी और पर्यावरण	87,933	2.4
10. सामान्य आर्थिक सेवाएँ	65,523	1.7
11. सामाजिक सेवाएँ	11,02,327	30.2
12. सामान्य सेवाएँ	42,283	1.2
योग	36,44,718	100.0

स्रोत : आर्थिक समीक्षा 2007-08, सारणी- 2.11, पृष्ठ A-47

तालिका-3 से स्पष्ट है कि ग्यारहवीं योजना में **कृषि और संबंधित क्रियाएँ तथा ग्रामीण विकास कार्यक्रमों** पर 4,37,450 करोड़ रुपए का व्यय किया जायेगा जो कि कुल योजना व्यय का 12 प्रतिशत है। **विशेष क्षेत्र कार्यक्रम** पर 26,329 करोड़ रुपए (0.7 प्रतिशत), **सिंचाई और बाढ़ नियन्त्रण** पर 2,10,326 करोड़ रुपए (5.8 प्रतिशत) व्यय होगा। ऊर्जा, जिसमें विद्युत, पेट्रोलियम, कोयला और लिग्नाइट, तथा ऊर्जा के गैर-परम्परागत स्रोत शामिल हैं, पर 8,54,123 करोड़ रुपए (23.4 प्रतिशत) व्यय किया जायेगा।

उद्योग (प्रमाण व लघु उद्योग, अन्य उद्योग) और **खनिज** के क्षेत्र में 1,53,600 करोड़ रुपए (4.2 प्रतिशत) व्यय किया जायेगा। **परिवहन एवं संचार** के क्षेत्र में 6,67,823 करोड़ रुपए (185.3 प्रतिशत), **विज्ञान, प्रौद्योगिकी और पर्यावरण** पर 87,933 करोड़ (2.4 प्रतिशत) तथा सामान्य आर्थिक सेवाओं पर 65,523 करोड़ रुपए (1.7 प्रतिशत) व्यय किया जाना है।

सामाजिक सेवाएं जिसमें शिक्षा, चिकित्सा व जन स्वास्थ्य, परिवार कल्याण, आवास, शहरी विकास एवं अन्य सामाजिक सेवाएँ सम्मिलित हैं, पर 11,02,327 करोड़ रुपए (30.2 प्रतिशत) व्यय किये जायेंगे। इसके अतिरिक्त **सामान्य सेवाओं** पर 42,283 करोड़ रुपए (1.2 प्रतिशत) व्यय होंगे।

उल्लेखनीय है कि 11वीं योजना के कुल परिव्यय 36,44,718 करोड़ रुपए में से केन्द्रीय आयोजना व्यय का भाग 21,56,571 करोड रुपए (59.2 प्रतिशत) तथा राज्य और केन्द्रशासित प्रदेशों का आयोजना व्यय 14,88,147 करोड़ रुपए (40.8 प्रतिशत) होगा।

11वीं योजना के सामाजिक-आर्थिक लक्ष्य

भारत की 11वीं पंचवर्षीय योजना के प्रमुख सामाजिक-आर्थिक लक्ष्य निम्न प्रकार रखे गये हैं-

(1) **आय और निर्धनता**- योजना में आय की वृद्धि एवं गरीबी उन्मूलन पर विशेष बल दिया गया है। वर्ष 2016-17 तक प्रति व्यक्ति आय को दो गुना करने हेतु सकल घरेलू उत्पाद (GDP) की वार्षिक संवृद्धि दर को 8 प्रतिशत से बढ़ाकर 10 प्रतिशत करने तथा इसे 10 से 12 प्रतिशत के बीच बनाये रखने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। इस हेतु कृषि की वार्षिक वृद्धि दर को 4 प्रतिशत तक बढ़ाने, रोजगार के 7 करोड़ नये अवसर सृजित करने तथा शिक्षित बेरोजगारी को 5 प्रतिशत से नीचे लाने का लक्ष्य रखा गया है। निर्धनता अनुपात में योजना के अंत तक 10 प्रतिशत की कमी लायी जायेगी।

(2) **शिक्षा-** प्राथमिक शिक्षा के स्तर पर विद्यालय छोड़ने वाले बालकों की दर को वर्ष 2003-04 में 5 प्रतिशत से घटाकर 2011-12 तक 20 प्रतिशत के स्तर पर लाने का लक्ष्य है। साक्षरता में लिंग अन्तराल को 10 प्रति तक नीचे लाने तथा 7 वर्ष से अधिक आयु वर्ग में साक्षरता दर को बढ़ाकर 85 प्रतिशत करने का लक्ष्य है। प्राथमि विद्यालयों में शैक्षणिक ज्ञान के न्यूनतम मानक स्तरों को प्राप्त करने तथा गुणवत्ता बढ़ाने के लिए शिक्षा की प्रभावशील का मूल्यांकन सतत् रूप से किया जायेगा। इसके साथ ही उच्च शिक्षा प्राप्त करने वालों के अनुपात को ग्यारहवीं योज के अन्त तक 15 प्रतिशत करने का लक्ष्य रखा गया है।

(3) **स्वास्थ्य व पोषण-** इस योजना में स्वास्थ्य सुविधाओं के विकास पर बल देते हुए शिशु मृत्यु दर घटाकर 28 प्रति हजार, मातृत्व मृत्यु दर को घटाकर प्रति एक हजार जीवित जन्म के स्तर पर लाने तथा कुल प्रजनन दर को 2.1 तक नीचे लाने का लक्ष्य रखा गया है। इसके साथ ही 3 वर्ष तक की आयु वर्ग के बच्चों में कुपोषण वर्तमान के स्तर से 2012 तक आधा करने का भी लक्ष्य है। वर्ष 2009 तक सभी को स्वच्छ पेयजल उपलब्ध कर तथा योजना के अंत तक पर्याप्त उपलब्धता सुनिश्चित करने का लक्ष्य रखा गया है।

(4) **महिला एवं बालिका विकास** - सभी सरकारी योजनाओं के कुल प्रत्यक्ष एवं परोक्ष लाभार्थियों में महिला और बालिकाओं की हिस्सेदारी कम से कम 33 प्रातशत करने का लक्ष्य है। इसके अतिरिक्त 0-6 आयु वर्ग में लिंगानुप को वर्ष 2011-12 तक बढ़ाकर 935 तथा 2016-17 तक 950 प्रति हजार करने का लक्ष्य है।

(5) **आधारभूत संरचना-** आधारभूत संरचना के विकास एवं इसकी गुणवत्ता में सुधार करने पर विशेष जो दिया गया है। इसके अन्तर्गत वर्ष 2009 तक सभी गाँवों में तथा निर्धनता रेखा से नीचे के परिवारों में विद्युत संयोज सुनिश्चित करने और 2012 तक इनमें 24 घण्टे विद्युत आपूर्ति उपलब्ध कराने का लक्ष्य है। वर्ष 2009 तक 100 जनसंख्या वाले सभी गाँवों (पर्वतीय एवं जनजातीय क्षेत्रों में 500 जनसंख्या) तक सभी मौसमों के लिए उपयुक्त पक्क सड़कों का निर्माण करने का लक्ष्य रखा गया है। वर्ष 2012 तक सभी को घर बनाने हेतु भूमि उपलब्ध कराने त सभी गाँवों में ब्रॉडबैण्ड सुविधा उपलब्ध कराने का लक्ष्य है।

(6) **पर्यावरण सुधार-** प्रदूषण को समाप्त करने तथा पर्यावरणीय सुधार हेतु वनों एवं पेड़ों के अन्तर्गत क्षेत्रफ को योजना अवधि में 5 प्रतिशत बढ़ाने का लक्ष्य है। नदियों के जल को स्वच्छ बनाने हेतु समस्त शहरी तरल कच को उपचारित किया जायेगा। इसके साथ ही वर्ष 2012 तक देश के सभी बड़े शहरों में वायु गुणवत्ता के मामले विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के मानक को प्राप्त करने तथा 2016-17 तक ऊर्जा क्षमता को 20 प्रतिशत बढ़ा का भी लक्ष्य रखा गया है।

निष्कर्ष - भारत की ग्यारहवीं पंचवर्षीय योजना में उच्च विकास दर के साथ देश को तेजी से विकसित ह रहे देशों की अग्रिम पंक्ति में लाने पर विशेष बल दिया गया है। योजना की सफलता के लिए सार्वजनिक - निज भागीदारी की सफलता महत्वपूर्ण मानी गई है। किन्तु योजना के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जहाँ आर्थिक एवं संरचनात्मक सुधारों की आवश्यकता है, वहीं राजनैतिक इच्छा शक्ति की भी जरूरत है। वास्तविकता यह है कि कुछ स्वार्थी लोग राजसत्ता का प्रयोग अपने हितों में करने में सफल हो रहे हैं। योजना में जहाँ निजी क्षेत्र को प्रोत्साहित किया गया है वहीं सार्वजनिक क्षेत्र को सीमित रखा गया है। योजना के अंतर्गत कृषि-उद्योग एवं सेवा क्षेत्र के लिए क्रमशः 4 प्रतिशत, 10.5 प्रतिशत एवं 9.9 प्रतिशत औसत वृद्धि का लक्ष्य रखा गया है जिसे प्राप्त करना कठिन कार्य है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

1. भारत में आर्थिक नियोजन के उद्देश्यों एवं प्राथमिकताओं की विवेचना कीजिए।
2. भारतीय योजनाओं के विकास मॉडल (व्यूह रचना) की व्याख्या कीजिए।
3. भारतीय आर्थिक योजनाएँ अपने उद्देश्यों में कहाँ तक सफल हुई है? विवेचना कीजिए।
4. भारत में आर्थिक नियोजन की उपलब्धियों एवं असफलताओं की विवेचना कीजिए। नियोजन को अधिक प्रभावी बनाने के सुझाव दीजिए।
5. भारतीय पंचवर्षीय योजनाएँ अपने उद्देश्यों में कहाँ तक सफल हुई हैं? योजनाओं को सफल बनाने के सुझाव दीजिए।

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए -

1. योजना आयोग के कार्य,
2. भारत में नियोजन के उद्देश्य,
3. भारत की ग्यारहवीं योजना।

6

NOTES

भारत की औद्योगिक एवं लाइसेंसिंग नीति
(INDUSTRIAL AND LICENSING POLICY OF INDIA)

प्रस्तावना (Introduction)

औद्योगिक नीति से आशय सरकार की उस वैधानिक घोषणा से है जिसमें उद्योगों के लिए अपनाए जाने वाले नियमों एवं कानूनों का उल्लेख होता है। **औद्योगिक नीति के अन्तर्गत सरकार के आर्थिक दर्शन का प्रतिबिम्ब होता है और औद्योगिक संरचना की नीति-रीति को निर्धारित करने वाले दिशा-निर्देश होते हैं।** इस नीति के निर्धारण में जन आकांक्षाओं, राजनैतिक इच्छा-शक्ति, उपलब्ध भौतिक एवं वित्तीय संसाधन, विदेशी सहयोग की उपलब्धता आदि अनेक तत्वों को ध्यान में रखा जाता है।

भारत में स्वतंत्रता से पूर्व तक सरकार की कोई स्पष्ट औद्योगिक नीति नहीं थी। जो कुछ भी नीतियाँ परिस्थितियोंवश ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनायी गयीं उनसे भारत का सन्तुलित औद्योगिक विकास न हो सका जिनका दुष्परिणाम देश को युद्ध की समाप्ति के बाद भुगतना पड़ा। देश में अनेक आर्थिक समस्याएं उत्पन्न हो गयीं, जैसे – कल-पुर्जों की समस्या, कच्चे माल का अभाव, शक्ति के साधनों की कमी, वस्तुओं के ऊँचे दाम, घिसी हुई मशीनों के आधुनिकीकरण एवं नवीनीकरण की समस्या आदि। भारत के स्वतन्त्र होते ही और देश के विभाजन के कारण, सर्वत्र अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो गया। विदेशी पूँजी जो भारत में लगी हुई थी, देश से बाहर जाने लगी और स्पष्ट औद्योगिक नीति के अभाव में देश में उद्योगपतियों ने भी उद्योगों में नई पूँजी लगाने से हाथ खींच लिया। लोगों में यह धारणा फैल गई कि भारत की स्वतंत्र सरकार उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने जा रही है। स्पष्ट है कि अनिश्चितता एवं दुविधा के इस वातावरण को शीघ्रता से बदलना अत्यन्त आवश्यक था और ऐसा करने के लिए सरकार द्वारा भारत के लिए स्पष्ट औद्योगिक नीति की घोषणा करना अनिवार्य हो गया था।

फलतः स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही भारत में औद्योगिक विकास हेतु योजनाबद्ध प्रयास किए गए हैं। **प्रथम, औद्योगिक नीति का निर्धारण 1948 में और दूसरी नीति 1956 में लागू की गई। द्वितीय,** औद्योगिक नीति लगभग 35 वर्षों तक भारत के आर्थिक विकास का आधार रही है। यद्यपि 1977, 1980 तथा 1990 में औद्योगिक नीति में कुछ परिवर्तन किए गए, लेकिन औद्योगिक नीति 1956 का मौलिक ढाँचा ज्यों का त्यों बना रहा। इस नीति के अन्तर्गत यद्यपि भारत ने औद्योगिक क्षेत्र में बहुमुखी प्रगति की तथा औद्योगिक विकास के मामले में विश्व में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया तथापि इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए जो कार्यप्रणाली अपनायी गयी उसने कुछ ऐसी जटिलताएँ एवं विसंगतियाँ पैदा कर दीं जिससे भारत के औद्योगिक वातावरण को **नौकरशाही की गिरफ्त में फँसे लाइसेंसी राज एवं अतिवादी नियंत्रणों की प्रणाली की संज्ञा** दी जाने लगी। इन दोषों को दूर करने के लिए नई आर्थिक नीति – 1991 का निर्धारण किया गया।

औद्योगिक नीति – 1948
(Industrial Policy – 1948)

नीति की घोषणा

भारत की प्रथम औद्योगिक नीति की घोषणा 6 अप्रैल, 1948 को की गयी। प्रायः यह देखा गया है कि सभी विकसित देशों के उद्योगों के विकास में वहां की सरकारों का महत्वपूर्ण योग रहा है। औद्योगिक प्रशिक्षण, खोज व अन्वेषण के क्षेत्र में तथा उद्योगों के लिए आवश्यक साज-सामान एवं सुविधाओं को जुटाने में सरकार प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में अनेक प्रकार से सहायता कर सकती है। इसके अतिरिक्त बचत, विनियोग एवं पूँजी निर्माण के लिए देश में उचित वातावरण भी सरकार बना सकती है और इसमें सरकारी **कर नीति** (Taxation Policy) का विशेष महत्व होता है। इसके अतिरिक्त, निजी क्षेत्र तो केवल उन्हीं उद्योगों में पूँजी लगा सकता है जिनमें तत्काल लाभ की सम्भावनाएँ हों, किन्तु जनहित की दृष्टि से देश में ऐसे अनेक उद्योगों का विकास भी होना आवश्यक होता है जिनमें लाभ की सम्भावनाएँ कम हैं, अथवा जोखिम अधिक है। निजी क्षेत्र का उद्देश्य तो अधिक-से-अधिक लाभ कमाना होता है, जबकि जनोपयोगी उद्योगों (Public utility industries) का विकास सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार या शासन द्वारा किया जाना चाहिए। एक विकासशील देश में यह कार्य निजी क्षेत्र के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता है और इसीलिए प्रशासन के लिए उद्योगों के विकास में सक्रिय भाग लेना आवश्यक हो जाता है तथा सरकारी और निजी क्षेत्रों की स्पष्ट

NOTES

व्याख्या करके उनके कार्य-क्षेत्रों को इस प्रकार विभाजित करना आवश्यक हो जाता है जिससे वे दोनों एक-दूसरे प्रतियोगी न होकर पूरक हो जाये और इस प्रकार राष्ट्र के आर्थिक विकास में योग दे सकें।

उद्योगों का वर्गीकरण (Classification of Industries)

औद्योगिक नीति के अन्तर्गत समस्त उद्योगों को निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया गया :

(i) **वर्ग (अ)** – इसमें सैनिक व राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों को रखा गया जैसे – अस्त्र-शस्त्रों का निर्मा अणु-शक्ति, रेल-यातायात तथा डाक-तार। यह निश्चित किया गया कि ये उद्योग केवल सरकारी क्षेत्र में ही कार्य करें अर्थात् इनकी स्थापना एवं विकास का दायित्व पूर्णरूप से सरकार के अधिकार में रहेगा।

(ii) **वर्ग (ब)** – इसके अन्तर्गत छह उद्योग रखे गये – लोहा इस्पात, कोयला, वायुयान-निर्माण, खनिज-तेल ए टेलीफोन, टेलीग्राम तथा बेतार के उपकरणों का निर्माण। इस वर्ग के उद्योगों के विषय में यह निर्णय लिया गया कि भविष्य में इनके निर्माण और विकास का दायित्व राज्य के ऊपर होगा, किन्तु इन उद्योगों में जो कारखाने पहले निजी क्षेत्र में कार्यरत थे वे आगे भी उसी तरह कार्य करते रहेंगे। दस वर्ष तक उनके राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर विच नहीं किया जायेगा। दस वर्ष की अवधि के बाद उनकी स्थिति पर विचार किया जायेगा और तब यदि आवश्यक हुआ तो उनका राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है।

(iii) **वर्ग (स)** – इस वर्ग में राष्ट्रीय महत्व के कुछ आधारभूत एवं कुछ उपभोक्ता उद्योगों को सम्मिलि किया गया है – ये वे आधारभूत उद्योग होंगे जिन्हें वर्ग (ब) में सम्मिलित नहीं किया गया। इन्हें राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों के रूप में मान्यता दी गयी और यह स्वीकार किया गया कि इनके लिए पर्याप्त तकनीकी ज्ञान एवं भारी पूँजी विनियोग की अपेक्षा होगी। अतः राष्ट्रीय हित को देखते हुए राज्य द्वारा इनके नियमन एवं नियन्त्रण की व्यवस्था करना आवश्यक समझा गया।

(iv) **वर्ग (द)** – शेष उद्योग इस वर्ग में सम्मिलित किये गये। इन्हें पूर्ण रूप से निजी और सहकारी क्षेत्र के लिए सुरक्षित कर दिया गया, तथा कुछ सीमा तक इनके लिए भी राज्य द्वारा निर्देश दिये जाने की व्यवस्था की गयी।

उद्योगों के उपर्युक्त वर्गीकरण से यह स्पष्ट है कि उद्योगों के उपर्युक्त वर्गीकरण ने मिश्रित अर्थव्यवस्था के आधार पर सरकारी या सार्वजनिक क्षेत्र और निजी क्षेत्र दोनों की कार्य-सीमाएँ स्पष्टतः निर्धारित कर दीं। मिश्रित अर्थव्यवस्था की परिचायक इस नीति को निर्धारित करने में भारत सरकार का प्रमुख उद्देश्य उद्योगों के पूँजीवादी ढाँचे में यकायक कोई परिवर्तन न करके, धीरे-धीरे इस प्रकार परिवर्तन करना था जिससे एक ओर तो देश के औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाया जा सके और दूसरी ओर सार्वजनिक क्षेत्र का भी क्रमिक विकास किया जा सके जिससे कि सरकार भविष्य में देश के औद्योगीकरण में सक्रिय भाग ले सके।

औद्योगिक नीति में लघु एवं कुटीर उद्योगों के विषय में पृथक् रूप से विशेष उल्लेख किया गया है। इनकी सहायता के लिये विभिन्न स्तरों पर विशेष संस्थानों के निर्माण पर जोर दिया गया तथा इन उद्योगों के संगठनों में सहकारिता के सिद्धान्तों को अपनाने का विचार व्यक्त किया गया। औद्योगिक नीति में श्रमिक के हितों की सुरक्षा का वचन भी दिया गया। औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने के उद्देश्य से पूँजीपति एवं श्रमिकों के सम्बन्ध सुधार कर औद्योगिक विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से हल करने, श्रमिकों की काम करने की दशाओं में सुधार करने तथा उन्हें कारखानों के प्रबन्ध में भाग लेने-देने के सिद्धान्तों, आदि के विषय में नीति सम्बन्धी प्रस्ताव में आश्वासन दिया गया। विदेशी पूँजी के महत्व को भी इस नीति में स्वीकार किया गया और यह आश्वासन दिया गया कि यदि किसी ऐसे उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया गया जिसमें विदेशी पूँजी लगी हो तो ऐसी दशा में उचित क्षतिपूर्ति दिये जाने की व्यवस्था की जायेगी।

औद्योगिक नीति – 1956
(Industrial Policy – 1956)

भारत की द्वितीय औद्योगिक नीति की घोषणा 30 अप्रैल, 1956 को की गयी। प्रथम नीति की घोषणा के आठ वर्षों के बाद ही नयी औद्योगिक नीति निर्धारित करने की क्या आवश्यकता थी – इस विषय में अनेक कारण दिये गये। सरकार के वक्तव्यों के अनुसार इन आठ वर्षों की अवधि में देश में अनेक परिवर्तन हो चुके थे और उन परिवर्तनों के अनुरूप नीति में कुछ संशोधन करना प्रशासन के लिए आवश्यक हो गया था। प्रथम औद्योगिक नीति स्वतन्त्रता के एक वर्ष बाद ही ऐसे समय में निर्मित की गयी थी जब देश अनेक राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं से ग्रसित था। उस समय तक स्वतन्त्र भारत के भावी आर्थिक विकास की स्पष्ट रूपरेखा सरकार के सामने नहीं थी, किन्तु औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने के लिए उचित वातावरण उत्पन्न करने के उद्देश्य से शीघ्रता में उस नीति की घोषणा की गयी थी, जिसमें अब बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार सुधार करना उचित समझा गया।

1956 की औद्योगिक नीति की विशेषताएँ
(Features of Industrial Policy of 1956)

सन् 1956 की औद्योगिक नीति ने उद्योगों को तीन वर्गों में विभाजित किया :

(i) **वर्ग (अ) – वे उद्योग जो पूर्णरूप से राज्य के अधिकार में रहेंगे** – इस वर्ग में सत्रह उद्योगों को स्थान दिया गया है। ये उद्योग हैं – अस्त्र-शस्त्र एवं सैनिक उपकरण, आणविक शक्ति, लोहा और इस्पात, इस्पात के पिण्डों की ढलाई, भारी मशीन निर्माण, भारी बिजली मशीनें, कोयला तथा भूरा कोयला (lignite), खनिज तेल, खनिज लोहे की खुदाई, जिप्सम, गन्धक, कुछ अन्य खनिज और उनकी सफाई जैसे – हीरा, सोना, तांबा, सीसा, टीन, जस्ता, आदि आणविक खनिज, वायुयान-निर्माण, वायु-यातायात, रेल-यातायात, जहाज-निर्माण, टेलीग्राम, टेलीफोन एवं दूर संचार उपकरण, विद्युत उत्पादन एवं उसका वितरण। इन उद्योगों की सूची औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव के अन्त में अनुसूची 'अ' में दी गयी।

इस वर्ग के उद्योगों के विषय में प्रस्ताव में कहा गया कि भविष्य में उनके विकास का दायित्व पूर्णरूप से सरकार के ऊपर होगा। यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्रथम नीति की तुलना में इस नीति के अन्तर्गत सरकारी उद्योगों का कार्यक्षेत्र बहुत अधिक महत्वपूर्ण एवं व्यापक बना दिया गया। देश के महत्वपूर्ण एवं आधारभूत उद्योग इन सत्रह उद्योगों की सूची में शामिल किये गये।

(ii) **वर्ग (ब) – वे उद्योग जिसके विकास में सरकार भविष्य में उत्तरोत्तर अधिक भाग लेगी** – देश के अन्य महत्वपूर्ण बारह उद्योगों को इस वर्ग में रखा गया जैसे अलौह धातुएं एवं ऐल्यूमीनियम, मशीनी औजार, मिश्रित एवं औजारी धातुएँ, एण्टीबायोटिक एवं अन्य दवाइयाँ, रासायनिक खाद, कृत्रिम रबड़, रासायनिक लुग्दी, कोयले से कार्बनिक रसायन, अन्य खनिज पदार्थ (जो वर्ग 'अ' में नहीं है), रसायन उद्योग के लिए आवश्यक पदार्थों का उत्पादन, जल-यातायात एवं सड़क यातायात।

यह कहा गया कि भविष्य में इस वर्ग के उद्योगों की स्थापना सामान्यतः सरकारी क्षेत्र में ही की जायेगी और इस प्रकार इन उद्योगों में राज्य का सक्रिय भाग क्रमशः अधिक बढ़ता जायगा। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होगा कि निजी-क्षेत्र को उन उद्योगों के निर्माण एवं विकास में कोई अवसर नहीं होगा। निजी-क्षेत्र से यह आशा की जायेगी वह इन उद्योगों की स्थापना एवं प्रगति में सरकार को पूर्ण सहयोग देगा। जहाँ भी इस वर्ग के उद्योगों में दोनों क्षेत्रों को हिस्सा मिलेगा वहाँ इस बात का प्रयत्न किया जायेगा कि सरकारी क्षेत्र और निजी-क्षेत्री एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी न होकर परस्पर सहयोगी हों।

(iii) **वर्ग (स)** – अन्य समस्त उद्योग सामान्यतः निजी क्षेत्र के लिए सुरक्षित रहेंगे इस तृतीय वर्ग में शेष सब ऐसे उद्योग सम्मिलित होंगे जो वर्ग 'अ' और 'ब' में सम्मिलित नहीं हैं। इसमें विशेषतः समस्त उपभोक्ता उद्योग सम्मिलित किये गये। इन उद्योगों का क्षेत्र निजी क्षेत्र (Private Sector) के लिए खुला रहेगा, किन्तु यह आवश्यक नहीं होगा कि राज्य कभी भी इनमें भाग नहीं लेगा। सामान्यतः इस वर्ग के उद्योग निजी क्षेत्र के लिये खुले रहेंगे।

औद्योगिक नीति – 1956 के अन्य प्रावधान

उद्योगों के वर्गीकरण के साथ-साथ इस नीति में कुछ अन्य प्रावधानों का भी उल्लेख है। ये प्रावधान निम्न प्रकार हैं :–

1. **लघु एवं कुटीर उद्योगों को महत्व** – इस नीति में लघु एवं कुटीर उद्योगों के महत्व को स्वीकार किया गया है। सरकार इन उद्योगों के विकास हेतु समस्त सुविधाओं की व्यवस्था करेगी जिससे कि देश में इनका विस्तार हो सके। बड़े उद्योगों से प्रतियोगिता को बचाने के लिये छोटे उद्योगों को सुरक्षा प्रदान करने हेतु उचित नीति बनाई जावेगी।

2. **औद्योगिक सम्बन्ध** – औद्योगिक शान्ति स्थापित करने के लिये श्रमिकों एवं उद्योगपतियों के मध्य सम्बन्धों को सुधारने का प्रयास किया जावेगा। दोनों पक्षों के मध्य विवादों को सुलझाने के लिये शान्तिपूर्ण उपायों को अपनाया जावेगा।

3. **सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग** – सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों का संचालन विशुद्ध व्यावसायिक आधार पर किया जावेगा। जहाँ आवश्यक हो सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति को भी ध्यान में रखा जावेगा। इन उद्योगों में आर्थिक लाभ एवं सामाजिक सुरक्षा में परस्पर समन्वय स्थापित किया जावेगा।

4. **प्रादेशिक असमानताओं में कमी** – आर्थिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों एवं राज्यों के विकास हेतु विशेष प्रयास किये जाएंगे जिससे कि विद्यमान आर्थिक असमानताओं को कम किया जा सके। सन्तुलित विकास की नीति को अपनाया जावेगा।

संक्षेप में 1956 की औद्योगिक नीति द्वितीय योजना के बाद के वर्षों में तीव्र औद्योगीकरण का मार्ग तैयार कर के लिए उपर्युक्त समझी गयी थी। इसमें सार्वजनिक एवं निजी, दोनों क्षेत्रों का महत्व स्वीकार किया गया था। लेकि सार्वजनिक क्षेत्र को आगे बढ़ाने पर अधिक बल दिया गया था।

यही कारण है कि प्रारम्भिक वर्षों से औद्योगिक नीति की निजी क्षेत्र के समर्थकों ने कटु आलोचना की। लेकि बाद के वर्षों में यह स्पष्ट हो गया कि 1956 की औद्योगिक नीति काफी लोचदार व प्रगतिशील थी। इसमें अपनाय गया दृष्टिकोण सैद्धान्तिक न होकर व्यावहारिक था। इस नीति से यह स्पष्ट हो गया कि हम भारत में बिना सोचे-समझ राष्ट्रीयकरण नहीं करना चाहते। लेकिन राष्ट्रीय हित में आवश्यक हुआ तो राष्ट्रीयकरण करने से हिचकेंगे भी नहीं सरकार ने अपने लिये वे ही क्षेत्र लिये थे जिनमें (क) विशाल मात्रा में पूँजी की आवश्यकता थी और जिसकी व्यवस्थ करना निजी क्षेत्र की शक्ति से परे था; (ख) जिनमें जोखिम ज्यादा होने से साधारणतया उद्योगपति प्रवेश करना पसन्द नहीं करते थे; (ग) जो सार्वजनिक सेवा की मुख्य दिशाएँ थीं जिनमें सरकार का रहना राष्ट्रीय हित में आवश्यक था; (घ राष्ट्र से तीव्र औद्योगीकरण की नींव सुदृढ़ करने के लिए आधारभूत उद्योगों का विकास निजी क्षेत्र में छोड़ा जाना उचि नहीं था।

वास्तविकता यह है कि 1956 के बाद सार्वजनिक क्षेत्र का काफी विस्तार हुआ, लघु उद्योगों का विकास हुआ और विदेशी सहयोगों के माध्यम से औद्योगिक विकास की नीति अपनायी गयी। लेकिन औद्योगिक नीति प्रस्ताव में वर्णित उद्देश्यों को प्राप्त करने की दिशा में पर्याप्त रूप से प्रगति नहीं हो सकी। देश में निजी क्षेत्र में आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति योजनाकाल में घटने के बजाय बढ़ी, जो औद्योगिक नीति के मूलभूत उद्देश्यों के विपरीत थी फलतः इस नीति के अनेक बिन्दुओं की आलोचना की गई। प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार हैं –

सार्वजनिक क्षेत्र को विशेष महत्व दिए जाने के कारण इस नीति को **सरकारी पूँजीवाद** (State Capitalism) की संज्ञ दी गई।

(ii) निजी क्षेत्र ने अपने आप को असुरक्षित माना। उनका मानना था कि यह नीति निजी क्षेत्र के प्रतिकूल (Unfavourable to Private Sector) है।

(iii) आलोचकों का मत था कि 1956 की नीति अस्पष्ट एवं अनिश्चित (Not Clear & Uncertain) है।

(iv) इस नीति में व्यावहारिक (Practical) पहलू की उपेक्षा की गई तथा सैद्धान्तिक (Theoretical) पक्ष को अधिक महत्व दिया।

(v) प्रतियोगिता के अभाव में औद्योगिक उत्पादन निम्नस्तरीय रहा तथा प्रबन्धन भी अकुशल रहा। उद्योगों ने अपनी पूर्ण क्षमता का उपयोग नहीं किया। औद्योगिक क्षेत्र में रुग्णता की गंभीर समस्या पैदा हो गई।

(vi) सार्वजनिक क्षेत्र में अकुशलता के कारण घाटे की समस्या पैदा हो गई।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि 1956 की औद्योगिक नीति ने ही पिछले 35 वर्षों में भारत के औद्योगिक विकास का मार्गदर्शन किया है। 1977 में जनता सरकार की औद्योगिक नीति, 1980 की कांग्रेस-सरकार की औद्योगिक नीति एवं 1990 की राष्ट्रीय-मोर्चा की नीति मूलतः 1956 की औद्योगिक नीति के फ्रेमवर्क में ही बनी थी। इस प्रकार वस्तुतः 1956 की औद्योगिक नीति ने सन् 1991 तक प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य किया है।

औद्योगिक नीति सम्बन्धी घोषणा-पत्र – 1977
(Industrial Policy Declaration – 1977)

जनता दल सरकार के उद्योग मंत्री ने 23 दिसम्बर, 1977 को औद्योगिक नीति सम्बन्धी घोषणा-पत्र जारी किया। इस नीति के द्वारा लघु एवं कुटीर उद्योगों पर विशेष ध्यान देने का संकल्प घोषित किया। अभी तक लघु क्षेत्र द्वारा उत्पादन के लिये आरक्षित 180 वस्तुओं की सूची को विस्तृत कर के 500 से भी अधिक वस्तुओं को इसमें सम्मिलित किया गया। इस नीति की कुछ अन्य महत्वपूर्ण बिन्दु निम्न प्रकार थे –

1. **बड़े निजी घराने** – औद्योगिक क्षेत्र में एकाधिकारी प्रवृत्ति को रोकने तथा आर्थिक शक्ति को चन्द हाथों में केन्द्रित होने से रोकने पर इस नीति में जोर दिया गया। इसके लिये अनेक नीतिगत निर्णय लिये गये जैसे एकाधिकार सम्बन्धी कानून का कड़ाई के साथ पालन, विद्यमान औद्योगिक घरानों को नये उद्योग में प्रवेश पर रोक, आन्तरिक साधनों के सृजन पर जोर आदि प्रमुख हैं।

2. **सार्वजनिक क्षेत्र** – इस क्षेत्र को पहले से अधिक व्यापक भूमिका सौंपी गई। अब इस क्षेत्र का कार्य केवल आधारभूत वस्तुओं के उत्पाद तक ही सीमित नहीं रखा गया वरन् आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं की पूर्ति को नियमित बनाने का दायित्व भी सौंपा गया।

3. विदेशी निवेश – इस नीतिगत घोषणा में विदेशी निवेश को सीमित करने का प्रयास किया गया। केवल प्राथमिकता वाले क्षेत्रों में विदेशी निवेश एवं तकनीकी के प्रवेश को स्वीकारा गया। प्रयास यह किया गया कि देश में औद्योगिक विकास स्वदेशी तकनीकी के द्वारा ही हो।

4. क्षेत्रीय विषमताओं में कमी – क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने के लिये पिछड़े क्षेत्रों एवं कम आबादी वाले स्थानों पर उद्योग लगाने के लिये प्राथमिकता दी गई। शहरी क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना के लिये लाइसेंस देने पर रोक लगा दी गई।

5. रुग्ण उद्योग – रुग्ण उद्योगों को ठीक ढंग से चलाने पर जोर दिया गया। नीति में कहा गया कि ऐसे प्रयास किए जाएँ जिससे रुग्ण उद्योगों को शुरू में ही समुचित उपचार प्राप्त हो सके और यह समस्या विकराल रूप धारण न कर सके।

6. अन्य प्रावधान – इस नीति में उद्योगों में श्रमिकों की भागीदारी, औद्योगिक उत्पादनों की मूल्य नीति, उनका आयात-निर्यात, अति लघु क्षेत्र (Tiny Sector), जिला औद्योगिक केन्द्र आदि के बारे में भी महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये।

औद्योगिक नीति सम्बन्धी घोषणा-पत्र – 1980
(Industrial Policy Declaration – 1980)

इस घोषणा-पत्र का उद्देश्य किसी नई औद्योगिक नीति की घोषणा करना नहीं था वरन् 1956 में घोषित नीति में सुधार करके प्रस्तुत करना था। इस नीति की घोषणा जनता दल शासन के बाद कांग्रेस सरकार के आने पर 23 जुलाई, 1980 को की गई। इस नीति की प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं –

1. सार्वजनिक क्षेत्र को विशेष महत्व – सन् 1980 की नीति में सार्वजनिक क्षेत्र को विशेष महत्व दिया गया। इस क्षेत्र को आर्थिक औद्योगिक संरचना का 'आधार स्तम्भ' माना गया। इस क्षेत्र से आशा व्यक्त की गई कि यह अधिशेष (Surplus) पैदा करेगा और रोजगार के अवसर पैदा करेगा। इस क्षेत्र की कार्यकुशलता बढ़ाने एवं प्रबन्ध व्यवस्था में सुधार करने के प्रयासों पर भी जोर दिया गया।

2. मिश्रित अर्थव्यवस्था – सन् 1956 की औद्योगिक नीति के समान ही इस घोषणा-पत्र में मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाने की घोषणा की गई। सार्वजनिक क्षेत्र के साथ-साथ निजी क्षेत्र के विकास को महत्व दिया गया। इसके साथ ही एकाधिकारक प्रवृत्तियों एवं आर्थिक सत्ता एव सम्पत्ति के कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रीयकरण को रोकने की व्यवस्था की गई।

3. बड़े एवं छोटे उद्योगों के मध्य समन्वय – सन् 1977 की घोषणा में बड़े एवं छोटे उद्योगों के मध्य एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींच दी गई थी, जिसे अब अनावश्यक मानकर समाप्त कर दिया गया। इन दोनों प्रकार के उद्योगों के लिये परिपूरक रूप से सम्बद्ध ठहराया गया तथा एक दूसरे का पूरक माना गया।

4. आर्थिक संघवाद (Economic Federalism) – इस नीति के अन्तर्गत एकीकृत औद्योगिक विकास की विचारधारा को साकार रूप दिया गया। औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े जिलों में कुछ विशेष उद्योगों की स्थापना पर जोर दिया गया। ऐसे उद्योग अपनी परिधि में सहायक एवं छोटे-कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित करेंगे। इससे देश में औद्योगीकरण को बल मिलेगा।

5. छोटी इकाइयों को सहायता – औद्योगिक विकास के लिये छोटी इकाइयों पर विशेष ध्यान दिया गया और इन इकाइयों को अनेक प्रकार की सहायता उपलब्ध कराने की घोषणा की गई। इन उद्योगों को वित्त, कच्चा माल, विपणन से सम्बन्धी सहायता की व्यवस्था की गई। हथकरघा, हस्तशिल्प, खादी तथा अन्य ग्राम उद्योगों की ओर विशेष ध्यान दिया गया।

6. औद्योगिक सम्बन्ध – श्रमिकों एवं उद्यमियों के मध्य मधुर सम्बन्ध बनाने पर जोर दिया। इसके लिये त्रिपक्षीय श्रम सम्मेलनों की व्यवस्था की गई ताकि आपस में सद्भाव और रचनात्मक सहयोग की भावना पैदा हो सके।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि 1980 की औद्योगिक नीति में 1956 की नीति के मूल तत्वों को फिर से सम्मिलित कर लिया गया। इसके साथ ही देश में सन्तुलित एव तीव्र गति से औद्योगीकरण पर भी जोर दिया गया। कुटीर-लघु उद्योगों को साथ लेकर एकीकृत ढंग से औद्योगिक विकास करना इस नीति का मुख्य लक्ष्य रहा है।

1991 की वर्तमान औद्योगिक नीति
(Present Industrial Policy of 1991)

भारतीय उद्योगों के नियन्त्रणों से मुक्त करने एव संरक्षणवादी व्यवस्था से दूर हटाकर एक बाजारोन्मुखी, प्रतिस्पर्धात्मक और विश्वव्यापी वातावरण से जोड़ने के उद्देश्य से 24 जुलाई, 1991 को नई औद्योगिक नीति घोषित

की गई। यह नीति औद्योगिक ढाँचे को आवश्यक नियंत्रणों के जाल से बचाने, उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगों में विदेश निवेश की अनुमति देने तथा सार्वजनिक क्षेत्र को बरकरार रखते हुए निजी क्षेत्र को प्रोत्साहित करने के संकल्प से प्रेरि है। यह नीति औद्योगिक अर्थव्यवस्था को काफी सीमान्त तक अविनियमित करती है। इस नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं –

(i) पूर्व में प्राप्त उपलब्धियों (Achievements) में वृद्धि करना,

(ii) विद्यमान कमजोरियों (Weaknesses) एवं विकृतियों को दूर करना,

(iii) उत्पादकता (Productivity) एवं लाभकारी रोजगार में हुए विकास को बनाए रखना,

(iv) निजी क्षेत्र में उद्यमशीलता को प्रोत्साहित करना,

(v) उत्पादन तकनीकी (Technology) को उन्नत करना, और

(vi) अर्थव्यवस्था के भूमण्डलीयकरण के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धात्मकता को प्राप्त करना।

यह नीति अनेक दृष्टिकोणों से नई है और एक अति आशावादी दृष्टिकोण को लेकर बनाई गई है। इस नीति की प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं –

1. **औद्योगिक लाइसेंसिंग** (Industrial Licensing) – औद्योगिक लाइसेंसिंग प्रणाली उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 के अन्तर्गत सन् 1952 से प्रारम्भ की गयी। इस प्रणाली में समय के साथ-साथ अनेक दोष व्याप्त हो गये, जिनके कारण यह बजाय उद्योगों को प्रोत्साहित करने के उनके मार्ग में बाधक बनने लगी। अतः सन् 1980 के बाद इस प्रणाली में अनेक सुधार करके लाइसेंसिंग नीति को अधिक उदार बनाने के प्रयास समय-समय पर किये गये। फिर भी इस प्रणाली में और अधिक प्रक्रियात्मक सुधारों की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जाती रही है। धारणा अब यह बनी है कि साहसियों (entrepreneurs) को उनके विवेक के आधार पर पूँजी विनियोग के निर्णय लेने की छूट दी जानी चाहिए। प्रक्रियाओं के सरलीकरण तथा अनावश्यक विलम्बों के निराकरण के द्वारा नयी परियोजनाओं में भारी पूँजी निवेश का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। अतः अब नयी नीति के अन्तर्गत 18 विनिर्दिष्ट उद्योगों को छोड़कर अन्य समस्त उद्योगों के लिए लाइसेंस लेने की आवश्यकता नहीं होगी। लाइसेंस लेने की अनिवार्यता वाले 18 उद्योग समूहों का सम्बन्ध वस्तुतः प्रतिरक्षा एवं सामरिक महत्व, पर्यावरण सुरक्षा, सामाजिक कारणों, खतरनाक प्रकृति के उत्पादनों एवं सम्पन्न वर्गों द्वारा उपभोग किए जाने वाले उत्पादनों से है। वर्ष 1998-99 में इस संख्या को घटाकर केवल 5 कर दिया। अब ये उद्योग जिनके लिये लाइसेन्स लेना अनिवार्य है– (1) एल्कोहलिक पेयों का आसवन व इनसे शराब बनाना, (2) तम्बाकू के सिगार एवं सिगरेट तथा विनिर्मित तम्बाकू के अन्य विकल्प, (3) इलेक्ट्रॉनिक एयरोस्पेस व सुरक्षा उपकरण, (4) औद्योगिक विस्फोटक-डिटोनेटिव फ्यूज, सेफ्टीफ्यूज, गन पाउडर नाइट्रोसेल्यूलोज तथा माचिसों सहित औद्योगिक विस्फोटक सामग्री, (5) खतरनाक रसायन। औद्योगिक लाइसेंसिंग से दी गई यह व्यापक छूट (15 विनिर्दिष्ट उद्योगों को छोड़कर) भारतीय उद्योगों को अधिक दक्ष, आधुनिक एवं प्रतियोगितात्मक स्वरूप प्रदान करने में सहायक होगी। एक महत्वपूर्ण निश्चय यह किया गया है कि उद्योगों के पंजीकरण की समस्त विद्यमान व्यवस्थाएँ समाप्त कर दी जाएँगी।

2. **विदेशी पूँजी विनियोग** (Foreign Investment) – तकनीकी एवं पूँजी विनियोग की दृष्टि से देश के एवं विदेशों के उद्योगों में अपेक्षाकृत अधिक गत्यात्मक सम्बन्ध स्थापित किए जाने की आवश्यकता है। विदेशी पूँजी विनियोग से अनेक लाभ प्राप्त होंगे जैसे- उच्च तकनीक का हस्तान्तरण, विपणन-दक्षता, आधुनिक प्रबन्ध का ज्ञान एवं निर्यात-प्रोत्साहन की सम्भावनाएँ, आदि। अतः उच्च प्राथमिकता वाले 34 उद्योगों में 51 प्रतिशत तक विदेशी इक्विटी पूँजी (अब तक यह प्रतिशत 40 था) के विनियोग को अनुमति उदारता से दी जाएगी। उल्लेखनीय है कि ऐसे उच्च प्राथमिकता प्राप्त उद्योग क्षेत्रों की संख्या अब तक 31 थी जिसमें तीन नये उद्योग समूहों (होटल, पर्यटन तथा खाद्य परिष्करण) को जोड़कर अब इनकी संख्या 34 कर दी गई। इन उद्योगों की इक्विटी पूँजी में विदेशी भागीदारी (40% के बजाय 51%) हमारे सीमित विदेशी-मुद्रा साधनों पर बोझ को कम करेगी तथा विदेशों से इन उद्योगों के लिए आवश्यक प्लाण्ट एवं मशीनों का आयात विदेशी इक्विटी पूँजी विनियोग से सरलता से पूरा किया जा सकेगा। साथ ही 51% इक्विटी पूँजी वाली विदेशी व्यापारिक कम्पनियों को देश के निर्यात प्रोत्साहन में योग देने के लिए प्रेरित किया जाएगा। इन्हें ट्रेडिंग हाउस (Trading House) का दर्जा दिया जाएगा तथा भारतीय ट्रेडिंग हाउसेज के समकक्ष ही इन्हें माना जाएगा। उच्च प्राथमिकता प्राप्त 34 उद्योग समूहों में इक्विटी पूँजी के आधे से अधिक भाग में भागीदारी की आम अनुमति विदेशी कम्पनियों को भारी पूँजी विनियोग के लिए पर्याप्त आकर्षण प्रदान करेगी। नीति सम्बन्धी यह परिवर्तन अत्यन्त महत्वपूर्ण है जिसे भारत के औद्योगिक इतिहास में एक नये युग का प्रतीक माना जाएगा।

3. **विदेशी तकनीक** (Foreign Technology) – अब तक विदेशी तकनीक के प्रत्येक समझौते के लिए सरकार की पूर्व अनुमति लेना आवश्यक रहा है। वस्तुतः इसके कारण अनावश्यक नौकरशाही हस्तक्षेप, अनुचित विलम्ब

एवं अनिश्चितता की स्थिति व्याप्त रही है। इतने कठोर नियन्त्रण के रहते भारतीय उद्योगों के लिए अत्यन्त कठिन समस्या रही है कि वे अपने आधुनिकीकरण के लिए विदेशी तकनीक का उचित समय के अन्दर लाभ प्राप्त कर सकें।

1991 की औद्योगिक नीति में उच्च प्राथमिकता वाले 34 उद्योगों के लिए विदेशी तकनीक के समझौतों के स्वतः अनुमोदन (automatic approval) की व्यवस्था की गई है, किन्तु शर्त यह है कि उनमें एक करोड़ रुपये के एक मुश्त भुगतान तथा 5 प्रतिशत रायल्टी (अगले 10 वर्षों तक की भारत में सम्भावित बिक्री पर) से अधिक के भुगतान का प्रावधान न हो। अन्य उद्योगों (34 उच्च प्राथमिकता प्राप्त उद्योगों के अलावा) के लिए भी विदेशी तकनीक के समझौतों के स्वतः अनुमोदन की व्यवस्था रहेगी, यदि उनके लिए विदेशी मुद्रा की माँग न हो। भारतीय कम्पनियों को अब अपने व्यापारिक विवेक के आधार पर विदेशी तकनीक के समझौतों को सम्पन्न करने की छूट दी जाएगी जिससे कि कालान्तर में विदेशी तकनीक को आत्मसात करने की क्षमता का विकास हो सके। खुली प्रतियोगिता का दबाव भारतीय कम्पनियों को अनुसन्धान एवं विकास पर पहले से अधिक धन व्यय करने के लिए प्रेरित करेगा।

परियोजनाओं के लिए आवश्यक पूँजीगत माल के आयात की स्वयमेव अनुमति (automatic clearance) का प्रावधान होगा, यदि इसके लिए आवश्यक विदेशी मुद्रा विदेशी इक्विटी से पूरी हो जाती हो अथवा यदि आयात किया जाने वाला पूँजीगत माल प्लाण्ट की कुल लागत के 25% या 2 करोड़ रुपये से अधिक न हो।

4. स्थानीयकरण नीति (Locational Policy) – दस लाख से कम जनसंख्या वाले नगरों में उद्योगों (अनिवार्य लाइसेंसिंग वाले 15 उद्योगों को छोड़कर) के स्थानीयकरण के लिए केन्द्रीय सरकार से अनुमति लेने की आवश्यकता नहीं होगी। दस लाख से अधिक जनसंख्या वाले बड़े नगरों की 25 किमी की परिधि के भीतर ऐसे उद्योगों का स्थानीयकरण किया जा सकेगा जो प्रदूषण फैलाने वाले न हों, जैसे इलेक्ट्रॉनिक्स, कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर, प्रिंटिंग, आदि।

स्थानीयकरण की नीति बड़े नगरों पर उद्योगों के दबाव को कम करने की ओर विशेष ध्यान देगी तथा प्रयास यह रहेगा कि उद्योगों का स्थानीयकरण यथासम्भव दूर-दराज के ग्रामीण क्षेत्रों में हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन क्षेत्रों में आधारभूत सुविधाओं (basic infrastructure) के विकास के लिए अधिक पूँजी विनियोग किया जाएगा। ग्रामीण एवं पिछड़े क्षेत्रों में उद्योगों के फैलाव के लिए विशेष उत्प्रेरणाएँ प्रदान की जाएंगी।

5. सार्वजनिक क्षेत्र (Public Sector) – भारत की औद्योगिक अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक क्षेत्र की महत्वपूर्ण भूमिका रही है तथा पिछले चार दशकों में इस क्षेत्र में भारी पूँजी का विनियोग किया गया है। फलस्वरूप अनेक क्षेत्रों में नयी तकनीक अपनाये जाने का मार्ग प्रशस्त हुआ है तथा उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि की गई है। आर्थिक-सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोकने और क्षेत्रीय असमानताओं में कमी करने में भी सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों का पर्याप्त योग रहा है, किन्तु इसके साथ ही अनेक समस्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं जैसे उत्पादकता में अपर्याप्त वृद्धि, कुल विनियोजित पूँजी पर लाभ की अत्यन्त न्यून दर, सार्वजनिक क्षेत्र के अनेक उपक्रमों में निरन्तर घाटे के स्थिति, आवश्यकता से अधिक नियोजित श्रमिकों एवं कर्मचारियों का बोझ तथा अनुसन्धान एवं विकास के प्रति उदासीनता, आदि। सार्वजनिक क्षेत्र के अनेक उपक्रम आन्तरिक साधनों का पर्याप्त सृजन करने में सफल नहीं हो सके तथा कुल मिलाकर वे राजकीय बजट पर एक बोझ बनकर रह गए हैं।

इस क्षेत्र के कुल घाटे के एक-तिहाई भाग के लिए सार्वजनिक क्षेत्र के वे उद्योग उत्तरदायी हैं जो पहले निजी क्षेत्र के बीमार उद्योग थे और जिन्हें सरकार द्वारा अधिग्रहण करके उनका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया था (जैसे- राष्ट्रीय टेक्सटाइल निगम) इसके अतिरिक्त उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन करने वाले सरकारी उपक्रमों (जैसे- माडर्न बेकरी, स्कूटर्स इण्डिया लि.) में भी निरन्तर घाटा ही रहा है। अतः अब यह आवश्यक हो गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र की अवधारणा (Concept of Public Sector) पर नये सिरे से विचार किया जाए।

नई औद्योगिक नीति में सार्वजनिक क्षेत्र के लिए केवल छह उद्योग सुरक्षित रखे गए हैं (जबकि अब तक इनकी संख्या अनुसूची A के अनुसार 17 थी)। वर्ष 2000 तक आरक्षित उद्योगों की संख्या घटाकर केवल 4 कर दी गई। इस प्रकार अब सार्वजनिक-क्षेत्र प्रमुखतः प्रतिरक्षा एवं सामरिक महत्व के उद्योगों, अति आवश्यक आधारभूत साज सामान एवं सेवाओं, खनिज तेल तथा अन्य प्रमुख खनिजों की खोज एवं उनके उत्पादन और अर्थव्यवस्था के भावी विकास के लिए आवश्यक मूल उद्योगों तक ही सीमित कर दिया गया है।

सार्वजनिक क्षेत्र के निरन्तर घाटे में चलने वाले उद्योगों को बीमार उद्योगों की श्रेणी में गिना जाएगा तथा इन्हें औद्योगिक एवं वित्तीय पुनर्निर्माण ब्यूरो (BIFR) को निर्देशित (Refer) किया जा सकेगा। अब तक निजी क्षेत्र के बीमार उद्योग ही इस ब्यूरो की परिधि में आते थे। सार्वजनिक क्षेत्र ऐसे बीमार उपक्रमों को जिनके पुनरुत्थान की कोई सम्भावनाएँ न हों, समाप्त किया जा सकेगा। ऐसा करते समय उनमें नियोजित श्रमिकों आदि के पुनः प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था की जाएगी। सेवानिवृत्त होने वाले नियोजितों को पर्याप्त क्षतिपूर्ति दी जाएगी जिसके लिए पृथक् कोष स्थापित किया जाएगा।

6. लघु उद्योगों के लिए नयी नीति (Policy for S.S.I. Sector) – औद्योगिक नीति की घोषणा के तत्क बाद सरकार द्वारा लघु उद्योगों के लिए भी नयी नीति घोषित की गई। इसका संक्षिप्त उल्लेख किया जाना प्रासंगि होगा। इस नीति में लघु औद्योगिक क्षेत्र के लिए वित्तीय समर्थन दिए जाने, आधारभूत (infrastructure) ढाँचे और उत्तम बनाने, समुचित विपणन सुविधाएँ दिए जाने, किस्म सुधार, आधुनिकीकरण एवं तकनीकी सुधार, नियमों प्रक्रियाओं का सरलीकरण, आदि पर विशेष बल दिया गया। साथ ही अति लघु (Tiny), हथकरघा तथा ग्रामीण उद्यो को विशेष प्रोत्साहन दिए जाने का उल्लेख इस नीति में किया गया। संक्षेप में, इसके उल्लेखनीय बिन्दु निम्नलिखि हैं :

1. अन्य औद्योगिक उपक्रमों द्वारा लघु क्षेत्र की इकाइयों में 24 प्रतिशत तक इक्विटी पूँजी में भागीदारी की सकेगी।
2. उद्योगों से सम्बन्धित समस्त सेवा-क्षेत्र एवं व्यावसायिक इकाइयों को अब लघु-क्षेत्र में सम्मिलित किया जाएगा
3. लघु-क्षेत्र द्वारा बेचे गए माल की कीमत की वसूली के लिए फेक्टरिंग सेवाओं (Factoring Services) व विकास किया जाएगा।
4. अति-लघु क्षेत्र (Tiny Sector) के लिए पूँजी विनियोग की सीमा 5 लाख रुपये होगी।
5. महिला उद्यमियों को प्रोत्साहन करने के दृष्टि से यह शर्त हटा दी गई है कि ऐसी इकाइयों में महिला श की प्रधानता होनी चाहिए। ऐसी इकाइयों के लिए पूँजी विनियोग की सीमा 60 लाख रुपये तथा सहायक (ancillary) तथा निर्यात-परक (export-oriented) महिला उद्यम इकाइयों के लिए 75 लाख रुपये होगी
6. लघु क्षेत्र के निर्यातों को समर्थन देने के लिए लघु उद्योग विकास संगठन (S.I.D.O.) को प्रमुख संस्था के रूप में मान्यता दी गई है।
7. **एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक व्यवहार अधिनियम में संशोधन** (Amendment in MRTP Act – नई औद्योगिक नीति को कार्य रूप देने के लिए फेरा (FERA) एवं एम.आर.पी.टी. अधिनियम में संशोधन का प्रावधान है। तदानुसार 22 दिसम्बर, 1991 को एम.आर.पी.टी. कानून में संशोधन कर दिया गया है जिसके अनुसार बड़ी कम्पनियों और औद्योगिक घरानों पर एकाधिकार तथा प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार प्रणाली के तहत पूँजी सीमा समाप्त कर दी गई है। अब बड़े औद्योगिक घरानों एवं कम्पनियों को नए उपक्रम लगाने उत्पादन क्षमता बढ़ाने, कम्पनियों का परस्पर विलय करने, उनका स्वामित्व लेने अथवा कुछ विशेष परिस्थितियों में निदेशक नियुक्त करने के लिए सरकार से अनुमति नहीं लेनी होगी। इसके साथ ही इस अधिनियम के क्षेत्र को व्यापक बनाकर इसमें सार्वजनिक उपक्रमों और उपभोक्ताओं की शिकायतों की जाँच का कार्य भी दे दिया गया है।
8. **प्रबन्ध में श्रमिकों की भागीदारी** (Labour Participation in Management) – औद्योगिक श्रमिकों से अच्छे सम्बन्ध बनाए रखने एवं श्रम-उत्पादकता में वृद्धि करने से सम्बन्धी नीति-रीति का भी प्रावधान है। प्रबन्ध में श्रमिकों को प्रोत्साहित करने का भी प्रावधान रखा गया है।

नई औद्योगिक नीति को कार्यान्वित करने के लिए शासन ने अविलम्ब कार्यवाही प्रारम्भ की एवं ठोस निर्णय लिए गए। **भारत सरकार द्वारा लिए गए प्रमुख निर्णय निम्नानुसार हैं** –

(i) अत्यधिक महत्व के छह उद्योग सार्वजनिक क्षेत्र के लिए रक्षित कर दिए तथा शेष को निजी क्षेत्र के लिए खोल दिया गया है।

(ii) निजी क्षेत्र की वे योजनाएँ जिनमें पूँजीगत माल के आयात की व्यवस्था है, को अनुमति दे दी गई है।

(iii) दस लाख से अधिक आबादी वाले शहरों को छोड़कर अन्य किसी भी स्थान पर लाइसेंस नीति से मुक्त उद्योग लगाने के लिए भारत सरकार की अनुमति आवश्यक नहीं है। इसकी घोषणा कर दी गई है।

(iv) दस लाख से अधिक आबादी वाले नगरों में इलेक्ट्रॉनिक्स, कम्प्यूटर तथा छापेखाने जैसे प्रदूषणमुक्त उद्योग लगाए जा सकेंगे। शेष अन्य उद्योगों को ऐसी बस्तियों की सीमाओं से 20 किलोमीटर दूर स्थापित करना होगा, परन्तु पूर्व में स्थापित उद्योग इससे मुक्त रहेंगे।

(v) जुलाई, 1991 में घोषित औद्योगिक नीति में 18 उद्योगों को छोड़कर अन्य समस्त उद्योगों को लाइसेंस लेने की अनिवार्यता से मुक्त कर दिया गया था। बाद में इन 18 उद्योगों की सूची में से 3 उद्योगों को लाइसेंस लेने की अनिवार्यता से मुक्त कर दिया गया। ये 3 उद्योग हैं मोटर कार उद्योग, श्वेत उत्पाद उद्योग तथा कच्चा चमड़ा, खाले व पेटेन्ट लेदर। इस प्रकार इस सूची में अब 15 उद्योग ही रह गए हैं जिनके लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य है। इसके बाद कुछ और उद्योगों को लाइसेन्स से मुक्त कर दिया गया है। सन् 1998-99 में कांग्रेस

एवं लिग्नाइट, पेट्रोलियम (कच्चे तेल को छोड़कर) तथा उसके डिस्टीलेशन प्रोडक्ट्स, बल्क ड्रग्स तथा चीनी उद्योगों को लाइसेन्स से मुक्त कर दिया गया। वस्तुतः अब केवल पाँच उद्योग ही ऐसे हैं जिनके लिए लाइसेंस लेना अनिवार्य है।

(vi) जुलाई, 1993 में विशाल औद्योगिक इकाइयों के लिए तैयार वस्त्र उद्योग के द्वार खोल दिए गए, किन्तु शर्त यह रखी गई कि उन्हें अपने उत्पादन का 50 प्रतिशत निर्यात करना होगा। अब तक तैयार वस्त्र उद्योग सहायक/लघु-औद्योगिक इकाइयों (Ancillary/small scale units) के लिए ही पूर्णतः सुरक्षित था।

(vii) अन्य सुधार एवं परिवर्तन निम्नलिखित थे – पूँजीगत माल पर आयात करों में कमी, ऋणों पर ब्याज दरों में कमी, पिछड़े क्षेत्रों में खोले जाने वाले उद्योगों की दशा में पाँच वर्ष तक करावकाश (Tax Holiday), विद्युत उत्पादन के लिए भी ऐसे ही करावकाश की सुविधा, निर्यात साख के लिए दी जाने वाले पुनर्वित्त की सीमा 90 प्रतिशत आदि प्रमुख हैं।

नई औद्योगिक नीति एवं भारतीय अर्थव्यवस्था
(New Industrial Policy and Indian Economy)

भारत ही नहीं, विश्व के अनेक समाजवादी देशों ने पिछले कुछ वर्षों से उदारीकरण की नीति को अपनाया है। समाजवादी देश सोवियत रूस के टूटने एवं चीन द्वारा विदेशी पूँजी निवेश को प्रोत्साहित करने से विश्व में बाजारोन्मुखी अर्थव्यवस्था का प्रभाव पड़ा है। अतः **भारत की नवीन औद्योगिक नीति को बदलते आर्थिक परिवेश में समय की माँग निरूपित किया जाता है।** भारत में कठोर नियंत्रणों से आर्थिक विकास अवरुद्ध होने लगा था। फलतः नई औद्योगिक नीति के माध्यम से उदार एवं लचीली व्यवस्था को अपनाया गया। नई आर्थिक नीति से भारतीय अर्थव्यवस्था में निम्नलिखित परिवर्तन सम्भावित हैं :–

(i) **औद्योगिक विकास** (Industrial Development) – प्रतिबन्धों को हटा लेना उद्यम विकास की आवश्यक शर्त है। **भारत में प्रारम्भ से ही लगाए गए नियंत्रणों का दुष्परिणाम यह हुआ कि उद्यमियों का वर्ग बहुत ही संकुचित रह गया।** आज देश की आबादी का मात्र 5 प्रतिशत ही उद्यमियों का स्रोत है। इसके साथ ही नियंत्रण पूर्व से स्थापित उद्योगपतियों के लिए वरदान सिद्ध हुए। कारण यह कि इन उद्योगों को संरक्षण प्राप्त रहा। प्रतियोगिता के अभाव में इन उद्योगों ने तकनीकी सुधार, क्षमता का अधिकतम उपयोग, प्रबन्ध में सुधार आदि पर कोई ध्यान नहीं दिया। फलतः देश में अक्षम एवं अनार्थिक इकाइयों का विस्तार हो गया। नियंत्रणों के हटाने एवं उदार नीति को अपनाने से उद्यमियों को प्रोत्साहन मिलेगा और उनकी क्षमता एवं कुशलता में सुधार होगा।

वास्तविकता यह है कि स्वतंत्रता एवं नियोजित विकास के 50 वर्षों बाद भी भारतीय उद्योगों को संरक्षण देना तर्कसंगत नहीं है। विदेशी प्रतियोगिता के भय से उद्योगों में सुधार की प्रवृत्ति बढ़ेगी और अन्ततः सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को बल मिलेगा।

(ii) **विदेशी पूँजी** (Foreign Capital) – नई आर्थिक नीति से तीव्र आर्थिक एवं तकनीकी विकास के लिए विदेशी पूँजी प्राप्त होगी। इससे उन्नत तकनीकी एवं मशीनों का आयात सम्भव होगा और भारतीय उद्योगों द्वारा अच्छी गुणवत्ता वाली वस्तुओं का उत्पादन सम्भव होगा।

किन्तु आलोचकों का मत है कि **विदेशी पूँजी को बढ़ावा देने के कारण देशी उद्यमी उनकी प्रतिस्पर्धा में पिट सकते हैं और देश पर विदेशी कम्पनियों का आर्थिक साम्राज्य स्थापित हो सकता है,** किन्तु यह तर्क बेबुनियाद है, कारण यह है कि भारतीय कम्पनियाँ भी अब सक्षम हैं तथा विदेशी प्रतियोगिता में खड़ी रह सकती हैं।

(iii) **निर्यात सम्वर्धन** (Export Promotion) – नई औद्योगिक नीति का निर्यात व्यापार पर अनुकूल प्रभाव पड़ा है। वर्ष 1993-94 में 20 प्रतिशत, 1994-95 में 18 प्रतिशत एवं 1995-96 में 20 प्रतिशत निर्यात व्यापार में जो वृद्धि हुई थी, यह इसी नीति का परिणाम थी। यद्यपि वर्ष 1996-97 से 2001-2002 की अवधि में देश का निर्यात व्यापार तुलनात्मक धीमा रहा, तथापि इस कमी का मूल कारण विश्व बाजार में मन्दी की स्थिति विद्यमान रहना था। निर्यात से सम्बन्धित उद्योगों के लिए विदेशी पूँजी को शत-प्रतिशत छूट का भी निर्यात व्यापार पर अनुकूल प्रभाव पड़ा है।

(iv) **सार्वजनिक उपक्रमों में सुधार** (Improvement in Public Sector Units) – नवीन औद्योगिक नीति का सार्वजनिक क्षेत्रों पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। उनमें प्रबन्धकीय दक्षता में सुधार हुआ है तथा घाटे से चल रहे उद्योगों की संख्या कम हुई। यहाँ तक कि राष्ट्रीयकृत बैंकों के लाभों में वृद्धि हुई है या उनके घाटे में कमी आई है। इन उपक्रमों के व्यावसायिक दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ है। समीक्षकों का मानना है कि सार्वजनिक उपक्रमों में निजी निवेश से निजी व सार्वजनिक क्षेत्र में निकटता के सम्बन्ध स्थापित होंगे और **अर्थव्यवस्था में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा का विकास**

NOTES

होगा। इसके साथ ही सार्वजनिक क्षेत्र की बीमार औद्योगिक इकाइयों की समुचित समीक्षा कर आवश्यक कदम उठ के कारण इन उपक्रमों के घाटे को कम किया जा सकेगा।

(v) **रोजगार के अवसरों में वृद्धि** (Increase in Employment Opportunities) – नई औद्योगिक नी के समीक्षकों का मत है कि उदारीकरण से नए उद्योगों की स्थापना, बड़े घरानों के उपक्रमों के विस्तार तथा विदेश कम्पनियों के प्रवेश आदि से रोजगार के अवसरों में वृद्धि होगी। इसके साथ ही सेवा क्षेत्र का भी तीव्र विकास सम्भावि है। निर्यात व्यापार में वृद्धि के अच्छे अवसर विद्यमान हैं। इन सभी गतिविधियों का रोजगार पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा किन्तु विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी, अफगान युद्ध एवं सार्वजनिक क्षेत्र की उदासीनता के कारण रोजगार पर अनुकूल प्रभा नहीं पड़ा है।

(vi) **उपभोक्ताओं को लाभ** (Benefits to Consumers) – नई औद्योगिक नीति से सबसे अधिक ला उपभोक्ताओं को होगा। प्रतियोगिता के कारण उन्हें सस्ती एवं अच्छी वस्तुएँ प्राप्त होंगी। विदेशी प्रतियोगिता के प से स्वदेशी वस्तुएँ कम लागत पर उपभोक्ताओं को उपलब्ध होंगी। एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहा आयोग के कार्यक्षेत्र में वृद्धि होने से यह सार्वजनिक एवं निजी दोनों क्षेत्रों पर नियंत्रण रख सकेगा। फलतः उपभोक्ताओ के हितों की रक्षा होगी।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि यद्यपि नई औद्योगिक नीति से उत्पादन वृद्धि, निर्यात सम्वर्धक, तकनीकी सुधा प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति का विकास तथा नए उद्यमियों को प्रोत्साहन मिला है, तथापि, आलोचकों का मत है कि अत्यधिक उदारीकरण एवं विदेशी पूँजी को खुली छूट देने से राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था बहुराष्ट्रीय निगमों एवं बड़े औद्योगिक घराने के शिकंजे में फँस गई है।

नई औद्योगिक नीति की आलोचनाएँ
(Criticisms of New Industrial Policy)

इस नीति की आलोचनाएँ निम्न आधारों पर की जाती हैं :–

(i) **विदेशी पूँजी से खतरा** (Danger from Foreign Capital) – विदेशी पूँजी से आशय बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के भारत में आने से उत्पन्न स्थिति से है। इन कम्पनियों से सबसे अधिक खतरा स्वदेशी उद्योगपतियों को है। आलोचकों का मत है कि यदि स्वदेशी उद्योगपति विदेशी उत्पादकों से प्रतियोगिता में अक्षम साबित हुए तो पि जायेंगे और देश पर विदेशी कम्पनियों का आर्थिक साम्राज्य छा जाएगा। यहाँ यह तथ्य भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप भी कर सकती हैं, जैसे कि कई देशों में हुआ है, किन्तु, भारत एक बड़ा एवं शक्तिशाली देश है और इस तरह की हरकतें विदेशी कम्पनियाँ यहाँ नहीं कर सकतीं।

(ii) **भ्रष्टाचार की सम्भावनाएँ** (Possibilities of Corruption) – नवीन औद्योगिक नीति में अभी भी कई महत्वपूर्ण उद्योगों को लाइसेंस मुक्त नहीं किया है। उदाहरण के लिए चीनी, कोयला, पेट्रोलियम, रसायन, दवाएँ, विलासिता की वस्तुएँ आदि। फलतः भ्रष्टाचार की सम्भावनाएँ विद्यमान हैं। इसके साथ ही नियंत्रणों के अभाव में मुनाफाखोरी जमाखोरी तथा कर चोरी की सम्भावनाएँ भी विद्यमान हैं जिसके कारण कालेधन की समानान्तर अर्थव्यवस्था और अधिक सुदृढ़ होगी।

(iii) **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के समक्ष आत्मसमर्पण** (Surrender before International Monetary Fund) – नई औद्योगिक नीति के आलोचकों का कहना है यह नीति अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक एवं अमेरिका के दबाव में बनाई गई है। फलतः इस नीति से भारत की आर्थिक स्वायत्तता पर प्रश्न चिह्न लग गया।

(iv) **विदेशी निवेश पर निर्भरता** (Dependence on Foreign Investment) – भारतीय अर्थव्यवस्था विदेशी ऋण जाल में उलझी हुई है। नई औद्योगिक नीति के द्वारा अब यह प्रत्यक्ष ऋणों के स्थान पर विदेशी पूँजी निवेश पर अधिक निर्भर हो गई है। यहाँ यह तथ्य स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि विदेशी निवेशक अपने स्वार्थ के लिए यहाँ आ रहे हैं। स्वार्थ के पूरा न होने की स्थिति में यह पूँजी तुरन्त वापस चली जावेगी। अतः इस पूँजी का सदुपयोग करना अत्यावश्यक है।

(v) **नेहरू-महालनोबीस विकास मॉडल की विदाई** (Farewell to Nehru - Mahalonobis Growth Model) – नेहरू-महालनोबीस विकास सिद्धान्त समाजवाद एवं औद्योगीकरण पर आधारित था, जबकि नई औद्योगिक नीति बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था पर आधारित है। इस नीति से शक्तियों का केन्द्रीकरण होगा एवं उत्पादन की प्राथमिकताएँ बदल जावेंगी और आर्थिक विषमताएं बढ़ेंगी। अतः नवीन नीति से नेहरू-महालनोबीस विकास मॉडल को अलविदा कह दिया है।

(vi) **अन्य** - औद्योगिक विकास के लिये अन्य बातों के साथ-साथ श्रमिकों का सहयोग आवश्यक होता है, किन्तु इस नीति में मालिक-मजदूरों के सम्बन्धों में सुधार लाने के लिये नीति में कोई ठोस व्यवस्था नहीं है। यहाँ यह

भी उल्लेखनीय है कि उदार औद्योगिक नीति को अमल में लाने का कार्य केवल केन्द्रीय सरकार पर ही निर्भर नहीं करता। राज्य एवं स्थानीय सरकारों का सक्रिय सहयोग भी आवश्यक है। भूमि, पानी, विद्युत आदि की सुविधाएँ इन्हीं सरकारों द्वारा उपलब्ध होती हैं। इन नीतियों में इसकी समुचित व्यवस्था नहीं है।

NOTES

निष्कर्ष (Conclusion) – उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि यद्यपि नवीन औद्योगिक नीति भारतीय अर्थव्यवस्था को दक्ष, गतिशील एवं प्रतिस्पर्धात्मक बनाने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है, तथापि विदेशी पूँजी पर निर्भरता, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की उपस्थिति एवं धन के केन्द्रीयकरण से कुछ हानियाँ भी सम्भावित हैं। अतः नवीन नीति की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि निजी क्षेत्र को विश्वास में लेकर तीव्र आर्थिक विकास के पथ पर देश को आगे बढ़ाया जावे।

औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति
(Industrial Licensing Policy)

औद्योगिक लाइसेंस नीति का अर्थ (Meaning of Industrial Licensing Policy) – औद्योगिक लाइसेंसिंग (अनुज्ञापन), उद्योगों के विकास एवं संचालन पर नियन्त्रण रखने की एक प्रणाली है। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसके माध्यम से औद्योगिक विकास को पूर्व घोषित राष्ट्रीय नीतियों एवं लक्ष्यों के अनुरूप ढाला जा सकता है। यह औद्योगिक उपक्रमों की स्थापना एवं विस्तार पर नियन्त्रण रखने का एक प्रभावपूर्ण शस्त्र है।

औद्योगिक लाइसेंसिंग, औद्योगिक नीति का एक महत्वपूर्ण अंग है। वास्तव में **यह औद्योगिक नीति का संचालन पक्ष** (Operational aspect) **है जिसके द्वारा औद्योगिक नीति के कार्यक्रमों को व्यावहारिक रूप देकर सुदृढ़ औद्योगिक विकास के लक्ष्य को प्राप्त किया जाता है।**

औद्योगिक लाइसेंस के उद्देश्य (Objectives of Industrial Licensing) – औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति के द्वारा देश के बहुमूल्य एवं उत्पादक संसाधनों को पूर्व निर्धारित प्राथमिकता क्षेत्रों में विनियोजित किया जा सकता है। इसके प्रमुख लक्ष्य निम्नलिखित हैं–

(i) लघु उद्योगों को प्रोत्साहन एवं संरक्षण देना।

(ii) योजनाओं में निर्धारित लक्ष्यों व प्राथमिकता के अनुसार उद्योगों का विकास एवं नियमन करना।

(iii) उद्यमिता को प्रोत्साहित करना।

(iv) निवेश सम्बन्धी प्रक्रियाओं को सुप्रवाही बनाकर औद्योगिक विकास की गति को बल देना।

(v) औद्योगिक नीति के सफल क्रियान्वयन में सहयोग देना।

(vi) पूर्व घोषित सरकारी नीतियों के अनुरूप विकास के साधनों व प्रयासों को मोड़ना।

(vii) नियोजित एवं वांछित दिशाओं में पूँजी विनियोग को प्रोत्साहित करना।

(viii) उत्पादकता में वृद्धि करके औद्योगिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करना।

(ix) भारी एवं आधारभूत उद्योगों का विकास करना।

(x) उद्योगों में नवीन उत्पादन विधियों एवं टेक्नालॉजी को प्रोत्साहित करना।

(xi) विदेशी विनिमय के सीमित साधनों का उचित वितरण एवं उपयोग करना।

(xii) प्रादेशिक विकास की विषमताओं को दूर करके सन्तुलित विकास को प्रोत्साहित करना।

(xiii) उद्योगों के एकाधिकार एवं आर्थिक केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को रोकना।

नई औद्योगिक लाइसेंसिंग नीति
(New Industrial Licensing Policy)

भारत में औद्योगिक विकास के प्रथम चरण में औद्योगिक विकास को उचित दिशा प्रदान करने के लिये लाइसेंसिंग नीति का व्यापक प्रयोग किया। इसके लिये औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 बनाया गया। समय-समय पर इस अधिनियम में अनेक संशोधन भी किए गए, किन्तु लाइसेंसिंग नीति को उदार बनाने का कार्य 1978 से प्रारम्भ हुआ। सन् 1991 को घोषित नई औद्योगिक नीति में सरकार ने देश की औद्योगिक विकास सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए, लाइसेंस नीति को और अधिक उदार बनाने की आवश्यकता पर जोर दिया। वास्तविकता यह है कि 1991 के बाद उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्वीकरण की विचारधारा के चलते **लाइसन्स नीति का महत्व ही समाप्त हो गया है।** आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया के चलते सरकार ने उद्योगों की स्थापना, लघु उद्योगों के लिए आरक्षण, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का आरक्षण, एकाधिकारात्मक प्रवृत्तियों, क्षेत्रीय विषमता, उद्योगों के संकेन्द्रण, पूँजी निवेश आदि सम्बन्धी

नियमों में बहुत अधिक ढील दे दी है। इस सन्दर्भ में औद्योगिक लाइसेन्स नीति नाम मात्र की ही है। विद्यमान औद्योगि लाइसेंसिंग नीति के प्रमुख प्रावधान निम्न प्रकार हैं-

NOTES

(1) **लाइसेन्स की अनिवार्यता वाले उद्योगों की संख्या में कमी**–सन् 1991 की औद्योगिक नीति में सरकार 18 उद्योगों के लिए अनिवार्य लाइसेन्स की व्यवस्था रखी थी जिसे बाद में घटाकर 14 कर दिया गया। 1998-99 इस संख्या को घटाकर 5 कर दिया गया है।

(2) **एकाधिकारी घरानों को लाइसेन्स में छूट**–पहले एकाधिकारी घरानों को अपने विस्तार, एकीकरण, अधिग्रह आदि के लिए MRTP अधिनियम के अन्तर्गत सरकार से अनुमति लेनी होती थी अब MRTP अधिनियम के प्रावधा को निरस्त कर दिया गया है तथा एकाधिकारी एवं बड़े औद्योगिक घरानों पर भी सामान्य व्यावसायिक इकाइयों व तरह ही लाइसेन्स सम्बन्धी प्रावधान लागू होंगे। अब MRTP के स्थान पर प्रतिस्पर्धा आयोग (CCI) का गठन कि गया है।

(3) **सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षण तथा लाइसेन्स प्रक्रिया में छूट**–उदारीकरण की नीति अपनाते हुए सरक ने सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित उद्योगों की संख्या घटाकर 4 कर दी है। इनमें सुरक्षा सामग्री, आणविक ऊर्जा, रे परिवहन एवं आणविक ऊर्जा आदेश, 1953 की अनुसूची में शामिल खनिज पदार्थ सम्मिलित हैं। [illegible] के लिए लाइसेन्स लेने की आवश्यकता नहीं है। इनके लिए अनुमोदन की पृथक् एवं सरल प्रक्रिया निर्धारित की ग है।

(4) **लघु उद्योगों का सम्बन्धित राज्य के उद्योग निदेशालय में पंजीयन**–लघु एवं सहायक उद्योगों को न त स्मरण-पत्र भरना होगा और न ही किसी अन्य निदेशालय में पंजीयन करवाना होगा, किन्तु उन्हें अपने राज्य के उद्यो निदेशालय में अपना पंजीयन अवश्य करवाना होगा।

(5) **ग्रामीण एवं पिछड़े क्षेत्रों में उद्योग**–सरकार ने उद्योगों के विकास एवं विकेन्द्रीकरण करने के उद्देश्य से ग्रामीण एवं पिछड़े क्षेत्रों में उद्योग लगाने के लिए अनेक प्रोत्साहन योजनाएँ घोषित की हैं, जैसे करों में छूट, आधारभू सुविधाएँ उपलब्ध कराना, कम ब्याज पर ऋण आदि।

(6) **पूँजीगत माल, कच्ची सामग्री आदि के उत्पादन में छूट**–सरकार ने उपभोक्ता वस्तुओं को छोड़कर अन्य सभी पूँजीगत एवं कच्चे माल के आयात की खुली छूट दी है। इससे उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहन मिला है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. भारत सरकार की वर्तमान औद्योगिक नीति की प्रमुख विशेषताएँ बताइये। देश के तीव्र औद्योगिक विकास में यह कहाँ तक सहायक रहेगी ?
2. भारत सरकार की नई औद्योगिक नीति, 1991 का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत की औद्योगिक नीति की सफलता का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
4. भारत सरकार की 'औद्योगिक नीति 1991' पर अपने विचार प्रकट कीजिए।
5. भारत सरकार की वर्तमान औद्योगिक लाइसेन्सिंग नीति के प्रमुख तत्वों का वर्णन कीजिए।
6. **निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए–**
   (i) औद्योगिक नीति-1991
   (ii) औद्योगिक नीति-1948
   (iii) भारत की औद्योगिक लाइसेंस नीति।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

7

NOTES

भारत की मौद्रिक नीति
(MONETARY POLICY OF INDIA)

मौद्रिक नीति का अर्थ
(Meaning of Monetary Policy)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री आर्थिक स्थायित्व एवं विकास में मौद्रिक नीति को विशेष महत्व देते थे। इन अर्थशास्त्रियों का मत था कि मौद्रिक नीति के माध्यम से मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि कर ब्याज दर को घटाया जा सकता है और ब्याज दर में कमी से विनियोग, उत्पादन एवं रोजगार में वृद्धि की जा सकती है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री यह मानते थे कि मुद्रा मुख्य रूप से विनिमय का माध्यम है। मौद्रिक नीति को निम्न प्रकार परिभाषित किया जा सकता है :-

प्रो. केन्ट (Prof. Kent) के अनुसार – "मौद्रिक नीति वह नीति है जिसके अन्तर्गत चलन से मुद्रा की मात्रा के प्रसार एवं संकुचन की व्यवस्था की जाती है ताकि कोई महत्वपूर्ण उद्देश्य, जैसे पूर्ण रोजगार आदि को प्राप्त किया जा सके।"

प्रो. कीस (Prof. Keynes) – "मौद्रिक नीति का सम्बन्ध देश की मुद्रा एवं साख प्रणाली से होता है।"

प्रो. जोनसन (Prof. H.G. Johnson) – "सामान्य आर्थिक नीति के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा की पूर्ति को नियंत्रित करने के औजार के रूप में यह नीति है।"

प्रो. जी.के. शाह (Prof. G.K. Shaw) – "मुद्रा की मात्रा, प्राप्यता या लागत को परिवर्तित करने के लिये मौद्रिक अधिकारी द्वारा जो प्रभावी कार्य किए जाते हैं, उन्हें मौद्रिक नीति कहा जाता है।"

कुछ अर्थशास्त्री, मौद्रिक नीति का अर्थ केन्द्रीय बैंक की नीति से लेते हैं। वे केन्द्रीय बैंक के साख नियंत्रण के उपकरणों, जैसे - बैंक दर, खुले बाजार की क्रियाएँ, सुरक्षित कोषों में परिवर्तन, साख नियमन नैतिक दबाव आदि को इस नीति का मुख्य यंत्र मानते हैं। संक्षेप में, मौद्रिक नीति से आशय एक ऐसी नीति से है जो रोजगार की समस्या को हल करने, अर्थव्यवस्था को स्थिरता प्रदान करने, आर्थिक विकास की गति को प्रोत्साहित करने, भुगतान सन्तुलन की समस्या को हल करने आदि कठिन एवं जटिल समस्याओं को हल करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

भारत जैसे विकासशील देशों में मौद्रिक नीति के उद्देश्य
(Objectives of Monetary Policy in Developing Countries like India)

मौद्रिक नीति के उद्देश्य विकासशील देशों में विकसित देशों से भिन्न होते हैं। सामान्यतः विकसित देशों में मौद्रिक नीति के उद्देश्य विनिमय दरों में स्थिरता, मूल्य स्थिरता और पूर्ण रोजगार स्तर को बनाए रखना होता है। इसके विपरीत, भारत जैसे विकासशील देशों में मौद्रिक नीति का प्रमुख लक्ष्य आर्थिक विकास के लिए युक्तियुक्त वातावरण का निर्माण करना है। विकासशील एवं अर्ध-विकसित देशों में मौद्रिक नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं–

(1) आर्थिक विकास की पृष्ठभूमि तैयार करना (To Prepare the Background of Economic Development) – भारत जैसे विकासशील देशों में मौद्रिक नीति का प्रमुख उद्देश्य ऐसा वातावरण निर्मित करना होता है जिससे निजी निवेश प्रेरित हो और आर्थिक क्रियाओं को गति मिले। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये केन्द्रीय बैंक ब्याज दर को कम करता है, ऋण योग्य व्यापारिक बैंकों के कोषों में वृद्धि करता है एवं साख निर्माण को प्रोत्साहित करता है। केन्द्रीय बैंक का यह प्रयास रहता है कि अर्थव्यवस्था में पर्याप्त मात्रा में वित्तीय प्रेरणाएँ उपलब्ध हों, जिसका लाभ उठाकर निजी उद्यमी आर्थिक विकास को गति प्रदान करें।

(2) बचतों को संकलित (Collection of Savings) – प्रायः अर्ध-विकसित देशों में बचतों को संकलित करने वाली संस्थाओं का पर्याप्त विकास नहीं होता जिससे ग्रामीण एवं अर्ध-शहरी क्षेत्रों की बचतें प्राप्त नहीं हो पाती हैं। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय बैंक बैंकिंग संस्थाओं का विस्तार करता है और यह प्रयास करता है कि बचतों उत्पादक कार्यों के लिये उपलब्ध कराई जा सकें। इसके साथ ही अर्ध-विकसित देशों में संगठित मुद्रा-बाजार, ऋण पत्र बाजार, शेयर बाजार आदि का भी विस्तार किया जाता है। भारत में व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण इसी उद्देश्य से किया गया है।

(3) पूँजी-निर्माण हेतु साख का विस्तार (Expansion of Credit for Capital Formation) – अर्ध-विकसित देशों में पूँजी निर्माण की दर बहुत कम रहती है। ये देश "गरीबी के दुष्चक्र" में फँसे रहते हैं। ऐसी

स्थिति में केन्द्रीय बैंक का यह दायित्व रहता है कि वह उत्पादक क्रियाओं के लिये पर्याप्त मात्रा में साख सुविध उपलब्ध कराये। केन्द्रीय बैंक एक ओर तो व्यापारिक बैंकों के तरल कोषों में वृद्धि करता है और दूसरी ओर ऐ नीतियों का निर्धारण करता है जिससे कि उत्पादन कर्ताओं को पर्याप्त मात्रा में ऋण प्राप्त हों।

(4) **रोजगार के स्तर में वृद्धि करना** (To Raise the Level of Employment) – अर्ध-विकसित दे की एक समस्या यह भी है कि इन देशों में बेरोजगारी, अर्ध-बेरोजगारी एवं अदृश्य बेरोजगारी विद्यमान रहती है। इ स्थिति से निपटने के लिये केन्द्रीय बैंक ऐसी मौद्रिक नीति का गठन करती है जिससे कि आर्थिक गतिविधियों को प्रेर मिले एवं रोजगार के अवसरों में वृद्धि हो। जटिल स्थिति में सरकार स्वयं भी रोजगार के विशेष कार्यक्रमों का क्रियान्वय करती है।

(5) **विनियोग योग्य कोषों के आवंटन पर नियन्त्रण** (To Control the Allocation of Investab Funds) – अर्ध-विकसित देशों की एक समस्या यह भी है कि इन देशों में पूँजी की कमी रहती है। फलतः उपल पूँजी का श्रेष्ठतम उपयोग करना ही इन देशों की प्रमुख समस्या है। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय बैंक ऐसी नीति का निर्मा करती है जिससे कि विनियोग योग्य कोष का प्राथमिकता के आधार पर आवंटन किया जा सके। भारत में ऋणों आवंटन के लिये विभेदात्मक ब्याज दर प्रणाली का क्रियान्वयन किया जा रहा है, जिसके अन्तर्गत प्राथमिकता प्राप्त क्षे को कम ब्याज दर पर ऋण उपलब्ध कराये जाते हैं।

(6) **मूल्य-स्तर को उचित एवं सापेक्षिक बनाये रखना** (To Maintain Proper & Relative Price Leve – अर्ध-विकसित देशों में मूल्य स्तर में वृद्धि होने की सदैव सम्भावना रहती है। फलतः मौद्रिक नीति का यह उद्देश रहता है कि वह मूल्य स्तर को उचित व सापेक्षिक बनाये रखे। इस सन्दर्भ में, यह उल्लेखनीय है कि कुछ अर्थशास्त्रि का यह मत है कि धीमी गति से होने वाली मूल्य वृद्धि विकास को प्रेरित करती है। अतः केन्द्रीय बैंक का यह दायित्व है कि वह अपनी साख नियन्त्रण की नीतियों का इस प्रकार से क्रियान्वयन करे कि मूल्यों में तेजी से वृद्धि न हो। इ देशों में मौद्रिक नीति का प्रमुख लक्ष्य "स्थिरता के साथ आर्थिक विकास" होता है।

(7) **भुगतान-शेष घाटा कम करना** (To Bridge BOP Deficit) – ब्याज दर नीति के रूप में मौद्रिक नीं भुगतान शेष के घाटे को पूरा करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण कार्य करती है। विकास के नियोजित लक्ष्यों को पूरा कर के लिए विकासशील अर्थव्यवस्थाओं को गम्भीर भुगतान शेष की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। विद्युत सिंचाई, परिवहन आदि जैसा बुनियादी ढाँचा स्थापित करने तथा लोहा और इस्पात, उर्वरक, रसायन आदि प्रत्यक्ष उत्पादकीय क्रियाओं के लिए ऐसे देशों को पूँजी उपकरण, मशीनरी, कच्चामाल, पुर्जे और उपस्कर आयात करने पड़ते हैं जिससे उनके निर्यात में वृद्धि होती है, परन्तु इनके निर्यात गतिहीन होते हैं और स्फीति के कारण निर्यात की कीमतें भी ऊँची होती हैं। परिणामस्वरूप, आयात और निर्यात में अन्तर उत्पन्न हो जाता है, जिससे भुगतान शेष असंतुलित हो जाता है। मौद्रिक नीति ऊँची ब्याज दर द्वारा भुगतान शेष के घाटे को कम करने में सहायक हो सकती है। ऊँची ब्याज दर निवेशों के अन्तर-प्रवाह को प्रोत्साहन देकर भुगतान शेष के अन्तर को कम करने में सहायक होती है।

(8) **ब्याज दर नीति** (Interest Rate Policy) एक विकासशील अर्थव्यवस्था के लिए ऊँची ब्याज दर नीति अधिक बचत को प्रोत्साहित करती है, बैंकिंग आदतें विकसित करती है तथा अर्थव्यवस्था के मुद्रीकरण को तीव्रत प्रदान करती है, जो पूँजी निर्माण और आर्थिक वृद्धि के लिए आवश्यक है। ऊँची ब्याज दर नीति स्फीति को दूर करने वाली भी है क्योंकि यह सट्टे तथा करेन्सियों के लिए उधार लेने और निवेश करने को हतोत्साहित करती है। फिर, यह नीति दुर्लभ पूँजी संसाधनों के आवंटन को अधिक उत्पादकीय स्रोतों में बढ़ावा देती है। कुछ अर्थशास्त्री ऐसे देशों में नीची ब्याज दर नीति के समर्थक हैं क्योंकि ऊँची ब्याज दरें निवेश में बाधक होती हैं परन्तु आनुभविक प्रमाण यह बताते हैं कि विकासशील देशों व्यवसाय तथा उद्योग में निवेश ब्याज-बेलोच होते हैं क्योंकि निवेश की कुल लागत में ब्याज का बहुत कम अनुपात होता है। इन विपरीत मतों के बावजूद, मौद्रिक अधिकारी के लिए विभेदक (discriminatory) ब्याज दरों की नीति का अनुसरण करना उचित है। इस नीति के अनुसार, अनावश्यक तथा अनुत्पादकीय प्रयोगों के लिए ऊँची ब्याज दरें और उत्पादकीय प्रयोगों के लिए नीची ब्याज दरें होनी चाहिए। यही कारण है कि भारत में पिछले 3 वर्षों में ब्याज दरें कम की गई हैं।

(9) **बैंकिंग और वित्तीय संस्थाएँ स्थापित करना** (To create Banking and Financial Institutions) – विकासशील देशों में मौद्रिक नीति का एक उद्देश्य पूँजी निर्माण के लिए बचतों को जुटाने, प्रवाहित करने और प्रोत्साहित करने के लिए बैंकिंग और वित्तीय संस्थाओं की स्थापना तथा विकास करना होता है। मौद्रिक अधिकारी को ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में शाखा बैंकिंग की स्थापना को प्रोत्साहन देना चाहिए। ऐसी नीति गैर-मौद्रीकृत क्षेत्र के मुद्रीकरण में सहायक होगी और पूँजी निर्माण के लिए बचत और निवेश को प्रोत्साहित करेगी। यह मुद्रा और पूँजी बाजार को भी संगठित और विकसित करेगी। विकासोन्मुखी मौद्रिक नीति की सफलता के लिए ये आवश्यक है, जिसमें ऋण प्रबन्धन भी शामिल है।

(10) **ऋण प्रबन्धन** (Debt-Management) – एक विकासशील देश में सार्वजनिक ऋण का प्रबन्धन करना मौद्रिक नीति के महत्वपूर्ण कार्यों में से एक है। इसका लक्ष्य है सरकारी बाँडो का उचित समय पर जारी करना, उनकी कीमतों को स्थिर करना और सार्वजनिक ऋण की सेवा लागत को न्यूनतम बनाना। ऋण-प्रबन्धन का प्रधान लक्ष्य ऐसी स्थितियों को उत्पन्न करना है जिनमें सार्वजनिक ऋण वर्ष-प्रतिवर्ष बढ़ता जाय। ऐसे देशों में सार्वजनिक ऋण मुद्रा पूर्ति को नियंत्रित करने और विकास प्रोग्रामों को वित्त प्रदान करने के लिए आवश्यक होता है, किन्तु सार्वजनिक ऋण अवश्य ही सस्ती दरों पर होना चाहिए। निम्न ब्याज दर सरकारी बाँडों की कीमतें बढ़ाती है और उन्हें लोगों के लिए अधिक आकर्षक बनाती है। वे ऋण का भार भी कम महसूस करते हैं।

मौद्रिक नीति के उपकरण या यंत्र
(Instruments or Tools of Monetary Policy)

वर्तमान समय में मुद्रा एवं बैंकिंग व्यवस्था के प्रबन्ध का उत्तरदायित्व केन्द्रीय बैंक द्वारा वहन किया जाता है। अतः मौद्रिक नीति के निर्धारण एवं मौद्रिक नीति के यंत्रों का क्रियान्वयन भी केन्द्रीय बैंक के द्वारा किया जाता है। यद्यपि, कींस के सामान्य सिद्धान्त एवं "तीसा" की महामन्दी के बाद मौद्रिक नीति का महत्व कम हो गया था, तथापि, द्वितीय महायुद्ध के बाद पुनः संसार के देशों मे मौद्रिक नीति के महत्व में वृद्धि हुई। मौद्रिक नीति के विभिन्न यंत्रों का प्रयोग आर्थिक स्थिरता एवं संतुलित विकास की प्राप्ति की दिशा में महत्वपूर्ण माना जाने लगा है। मौद्रिक नीति अर्थव्यवस्था को नियंत्रित करने या इच्छित दिशा में संचालित करने के लिए विभिन्न यंत्रों या अस्त्रों (Tools) का प्रयोग करती है। ये यन्त्र या अस्त्र निम्न प्रकार हैं–

(1) **बैंक दर** (Bank Rate) – मौद्रिक नीति का सबसे महत्वपूर्ण अस्त्र बैंक दर है। बैंक दर से आशय उस ब्याज से है जिस पर केन्द्रीय बैंक सदस्य बैंकों के प्रथम श्रेणी के बिलों की पुनर्कटौती करता है अथवा स्वीकार्य प्रतिभूतियों पर ऋण देता है। मुद्रा स्फीति के समय केन्द्रीय बैंक, बैंक-दर में वृद्धि करती है तथा अपने सभी सदस्य बैंकों को ऊँची ब्याज दर पर ऋण देती है या बिलों की पुनर्कटौती करती है। फलतः व्यापारिक बैंकें भी ऊँची ब्याज दर पर विनियोग कर्ताओं को ऋण देती हैं। किन्तु ऊँची ब्याज दर पर विनियोगकर्ताओं द्वारा कम ऋण लिये जाते हैं। फलतः साख नियंत्रित होती है। इसके साथ ही, ब्याज दर में वृद्धि होने से जमाकर्ताओं को प्रोत्साहन मिलता है तथा जन साधारण की क्रय शक्ति बैंकों को जमा के रूप में प्राप्त होने लगती है। इससे भी मुद्रा-स्फीति पर नियंत्रण होता है।

मुद्रा-संकुचन या मन्दी काल के समय केन्द्रीय बैंक, बैंक दर को कम करती हैं, अर्थात् व्यापारिक बैंकों को नीची दर पर ऋण देती हैं या बिलों की पुनर्कटौती करती है। इससे व्यापारिक बैंक भी विनियोगकर्ताओं को कम ब्याज दर पर ऋण देते हैं। इससे ऋणों की माँग बढ़ती है तथा चलन में मुद्रा एवं साख की मात्रा में वृद्धि होती है। इससे मुद्रा संकुचन या मन्दीकाल की समस्या धीरे-धीरे हल होने लगती है संक्षेप में, बैंक दर से परिवर्तन करके केन्द्रीय बैंक मुद्रा-प्रसार एवं मुद्रा-संकुचन की स्थिति को हल करने में महत्वपूर्ण योगदान देती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बैंक-दर परिवर्तन मुद्रा-संकुचन की तुलना में मुद्रा-प्रसार की स्थिति में अधिक प्रभावी होते हैं।

(2) **खुले बाजार की क्रियायें** (Open Market Operations) – अर्थव्यवस्था को नियन्त्रित करने के लिये केन्द्रीय बैंक के पास महत्वपूर्ण यन्त्र खुले बाजार की क्रियाएँ हैं। खुले बाजार की क्रियाओं से अभिप्राय केन्द्रीय बैंक द्वारा मुद्रा-बाजार में सरकारी प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय से होता है। जब केन्द्रीय बैंक मुद्रा-बाजार में प्रतिभूतियों का क्रय अथवा विक्रय करता है तो उससे व्यापारिक बैंकों के नकद कोष में वृद्धि या कमी होती है। इससे व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण करने की शक्ति में वृद्धि या कमी होती है। संक्षेप में, खुले-बाजार की क्रियाओं की नीति के परिणामस्वरूप व्यापारिक बैंकों द्वारा सृजित साख की मात्रा में तुरन्त परिवर्तन होता है। जब केन्द्रीय बैंक यह देखती है कि देश में मुद्रा-प्रसार की स्थिति विद्यमान है, अर्थात् व्यापारिक बैंकों के द्वारा साख का अत्यधिक विस्तार किया जा रहा है। इस स्थिति में केन्द्रीय बैंक साख के विस्तार को नियंत्रित करने के लिये खुले बाजार में व्यापारिक बैंकों एवं निजी व्यक्तियों को प्रतिभूतियाँ बेचना प्रारम्भ कर देता है। जब बैंक एवं निजी व्यक्ति इन प्रतिभूतियों को खरीदते हैं तो उन्हें इन प्रतिभूति के बदले में केन्द्रीय बैंक को मुद्रा का भुगतान करना होता है। इसका परिणाम यह होता है कि व्यापारिक बैंकों से नकदी का प्रवाह केन्द्रीय बैंक की ओर होने लगता है। इससे व्यापारिक बैंकों एवं निजी व्यक्तियों की नकद राशि में कमी हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप उनकी साख निर्माण शक्ति में भी कमी हो जाती है।

इसके विपरीत, यदि अर्थव्यवस्था में मुद्रा-संकुचन या मन्दीकाल की स्थिति विद्यमान है और व्यापारिक बैंक उतनी मात्रा में साख का सृजन नहीं कर रहे जितना कि देश की अर्थव्यवस्था के हित में वांछनीय है। ऐसी स्थिति में केन्द्रीय बैंक खुले बाजार में व्यापारिक बैंकों एवं निजी व्यक्तियों से प्रतिभूतियों को खरीदना प्रारम्भ कर देता है। इस क्रिया से नकद राशि का प्रवाह केन्द्रीय बैंक से व्यापारिक बैंक एवं निजी व्यक्तियों की ओर होता है, अर्थात् व्यापारिक बैंकों के नकद कोष में वृद्धि होती है। फलतः व्यापारिक बैंक अधिक मात्रा में साख का निर्माण करने में सफल हो जाते है।

(3) बैंकों के नकद कोषानुपात में परिवर्तन (Variation in the Cash Reserve Ratio) – बैंक दर ख़ुले बाजार की क्रियायें मुद्रा-स्फीति एवं संकुचन को नियंत्रित करने के परम्परागत यंत्र (Tool) हैं और इनकी अने सीमायें भी हैं। इन्हीं सीमाओं के कारण ये दोनों यंत्र उस समय विशेष प्रभावी सिद्ध नहीं होते हैं, जब कि देश अर्थव्यवस्था असाधारण परिस्थितियों में हो। ऐसी स्थिति में अर्थव्यवस्था के नियंत्रण के लिये प्रभावपूर्ण एवं अधि प्रभावी यंत्र (Tool) की आवश्यकता होती है। इन यंत्रों में से एक बैंकों के नकद कोषानुपात में परिवर्तन है। इस य का सुझाव सर्वप्रथम प्रो. जे.एम. कींस ने दिया था। इस यंत्र का सर्वप्रथम उपयोग सन् 1933 में अमरीका में कि गया था। बैंकिंग की सामान्य प्रक्रिया के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य बैंक को अपनी कुल जमाओं का एक निश्चित प्रतिश केन्द्रीय बैंक के पास अनिवार्य रूप से नकद कोष के रूप में रखना पड़ता है। केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार होता कि वह इस अनुपात में आवश्यक परिवर्तन करके बैंकों की साख निर्माण की शक्ति या मुद्रा-प्रसार एवं संकुचन व स्थिति को नियंत्रित करें। जब केन्द्रीय बैंक इस नकद कोषानुपात में वृद्धि करता है, तब व्यापारिक बैंकों को अधि मात्रा में धन राशि केन्द्रीय बैंक को जमा करानी होती है और फलस्वरूप उनके पास नकद जमा कोष में कमी आ जा है और उनकी साख निर्माण शक्ति कम हो जाती है। इसके विपरीत, जब यह अनुपात कम कर दिया जाता है, त व्यापारिक बैंकों को कम राशि केन्द्रीय बैंक के पास जमा करना होती है। इसके फलस्वरूप व्यापारिक बैंकों के नक कोष में वृद्धि हो जाती है तथा उनकी साख-निर्माण की शक्ति में वृद्धि हो जाती है।

(4) प्रतिभूति ऋणों पर मार्जिन का निर्धारण (Determination of Margins on Security Loans) सामान्यत: जब व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों को ऋण देती है तब ऋण के बदले प्रतिभूति के रूप में धरोहर रखी जा है तथा उसके एक भाग या मार्जिन पर ही ऋण दिया जाता है। मार्जिन की दर का निर्धारण केन्द्रीय बैंक द्वारा किय जाता है। जब केन्द्रीय बैंक प्रतिभूति-ऋण पर मार्जिन की दर को निर्धारित कर देता है तो वह व्यापारिक बैंक उस निर्धारि मार्जिन तक ही ऋण उपलब्ध कराते हैं। इससे ऋण की मात्रा सीमित हो जाती है।

(5) साख का राशनिंग (Credit Rationing) – साख का नियंत्रण करने हेतु साख राशनिंग केन्द्रीय बैंक के शस्त्रागार में एक अन्य महत्वपूर्ण अस्त्र माना जाता है। साख नियंत्रण की विधि के रूप में इसका प्रयोग सर्वप्रथम इंग्लैण्ड में 18 वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में किया गया था। अन्तिम ऋणदाता के रूप में केन्द्रीय बैंक अर्थव्यवस्था की स्थिति को देखकर यह निर्धारित कर देता है कि वह प्रत्येक व्यापारिक बैंक को कितना ऋण प्रदान करे। इस प्रका की साख राशनिंग से व्यापारिक बैंकों को पर्याप्त मात्रा में ऋण प्राप्त नहीं हो पाते और उनकी साख निर्माण शक्ति कम हो जाती है।

भारतीय रिजर्व बैंक एवं मौद्रिक नीति
(Reserve Bank of India and Monetary Policies)

भारत का **केन्द्रीय बैंक रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया** है। यह बैंक अपनी विभिन्न शक्तियों एवं अधिकारों के माध्यम से मुद्रा एवं साख को देश की आवश्यकताओं के अनुसार नियमित एवं नियंत्रित करता है। रिजर्व बैंक की स्थापना के लिए सन् 1913 में चेंबरलिन आयोग, सन् 1926 में हिल्टन आयोग एवं सन् 1930 में केन्द्रीय जाँच समिति ने सुझाव दिए। तदनुसार **रिजर्व बैंक ने 1 अप्रैल, 1935 से देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में कार्य करना प्रारंभ किया।** इसकी स्थापना के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :–

(1) आंतरिक कीमतों को स्थिर रखकर रुपये की कीमत को स्थिर करना।

(2) रुपये की विनिमय दर को स्थिर रखना।

(3) व्यापारिक बैंकों का निश्चित कोष रखकर उन पर नियंत्रण करना।

(4) भारतीय मौद्रिक व्यवस्था, कीमत स्तर, साख नीति से सम्बन्धित आंकड़े एकत्रित करना।

(5) कृषि विकास के लिये कृषि साख उपलब्ध करना।

(6) देश की बैंकिंग व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण रखना।

(7) देश में साख की मात्रा पर नियंत्रण रखना।

(8) सरकार के अधिकृत बैंक के रूप में समस्त मौद्रिक लेन–देन करना।

रिजर्व बैंक का संगठन तथा प्रबन्ध
(Organisation & Management of Reserve Bank)

पूँजी (Capital) :– स्थापना के समय रिजर्व बैंक की अधिकृत पूँजी 5 करोड़ रुपये थी जो 100–100 रुपयों के 5 लाख अंशों (शेयर्स) में बँटी हुई थी। प्रारंभ में यह बैंक अंशधारियों का बैंक था, किन्तु स्वतन्त्रता के बाद सन्

1949 में इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। फलतः भारत सरकार ने सभी अंश निजी अंशधारियों से खरीद लिये। प्रत्येक 100 रुपये के अंश पर भारत सरकार ने 11862 रुपये मुआवजा दिया।

प्रबन्ध (Management) :– रिजर्व बैंक का प्रबन्ध 20 सदस्यीय केन्द्रीय संचालन मण्डल (Central Board of Directors) करता है। इस मण्डल में एक गवर्नर एवं 5 उपगवर्नर होते हैं, जिनका कार्यकाल 5 वर्ष होता है। उन्हें पुनः नियुक्त किया जा सकता है। शेष 15 संचालकों में से 4 संचालक रिजर्व बैंक के चार मण्डलों से और 10 संचालक तथा एक सरकारी अधिकारी भारत सरकार अलग से मनोनीत करती है। सरकारी अधिकारी भारत सरकार का वित्त सचिव होता है तथा 10 संचालक उद्योग, सहकारिता, व्यापार, वाणिज्य आदि के विशेषज्ञ होते हैं। संचालकों की नियुक्ति 4 वर्ष के लिये होती है। गवर्नर तथा उपगवर्नर बैंक के पूर्णकालिक अधिकारी होते हैं और उन्हें निर्धारित वेतन दिया जाता है। शेष संचालक अंशकालिक होते हैं और उन्हें सभाओं में भाग लेने पर यात्रा व्यय व भत्ते दिये जाते हैं।

कार्यालय (Offices) :– रिजर्व बैंक का प्रधान कार्यालय बम्बई में स्थित है। कार्य को विधिवत् चलाने के आशय से उसके पूर्वी, पश्चिमी, उत्तरी व दक्षिणी क्षेत्रों के लिए स्थानीय प्रधान कार्यालय (Local Head Offices) क्रमशः नई दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में स्थापित किए गए हैं। इनके अतिरिक्त रिजर्व बैंक के बम्बई , कलकत्ता , मद्रास तथा नई दिल्ली में अपने कार्यालय (Offices) तथा अहमदाबाद, बंगलौर, भुवनेश्वर, बायकुला (बम्बई), गोहाटी, हैदराबाद, जयपुर, कानपुर, नागपुर, पटना तथा त्रिवेन्द्रम में शाखाएँ (Branches) खोली हुई हैं।

विभाग (Divisions) :– वर्तमान समय में रिजर्व बैंक के 10 विभाग कार्यरत हैं ये हैं (1) बैंकिंग संचालन तथा विकास विभाग, (2) नोट निर्गमन विभाग, (3) बैंकिंग विभाग, (4) बैंकिंग क्रियाओं का निरीक्षण विभाग, (5) कृषि साख विभाग, (6) औद्योगिक वित्त विभाग, (7) आर्थिक विकास विभाग, (8) नियंत्रण विभाग, (9) कानून विभाग, (10) सांख्यिकी विभाग।

मुद्रा की अवधारणाएँ : M_1, M_2, M_3 तथा M_4
(Concepts of Money : M_1, M_2, M_3 and M_4)

भारतीय रिजर्व बैंक ने मुद्रा की पूर्ति की चार अवधारणाओं का प्रयोग किया है, यथा- M_1, M_2, M_3 और M_4। इसी को मुद्रा के स्टॉक की अवधारणाएँ या मुद्रा की पूर्ति के अंग कहते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सामान्यतः मुद्रा की पूर्ति से आशय सरकार तथा देश की केन्द्रीय बैंक की चलन मुद्रा है, किन्तु वास्तविकता यह है कि अनेक ऐसे तत्व हैं जो मुद्रा के समान ही कार्य करते हैं और मुद्रा की पूर्ति का विस्तार करते हैं। अतः इन सभी अवधारणाओं का विस्तार से अध्ययन आवश्यक है, जो कि निम्न प्रकार है-

(1) M_1 : M_1 को संकीर्ण मुद्रा कहा जाता है। M_1 में तीन तत्व शामिल होते हैं : (i) जनता के पास करेंसी (ii) बैंकों के पास माँग-जमाएँ (Demand Deposits) और (iii) रिजर्व बैंक के पास अन्य जमाएँ यथा- विदेशी सरकारों, अन्य देश की केन्द्रीय बैंकों तथा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष-व विश्व बैंक की माँग जमाएँ।

जनता के पास करेंसी में नोट, रुपये के सिक्के तथा छोटे सिक्कों को सम्मिलित किया जाता है। बैंक की माँग जमाओं में जनता के बैंकों में जमा राशियां आती हैं जो माँगने पर बैंकों को लौटानी पड़ती हैं। इसे निम्न उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है :-

उदाहरण : 10 अप्रैल, 2002 को मुद्रा की मात्रा की पूर्ति निम्न प्रकार थी-

	M_1 के प्रकार	मात्रा-करोड़ रु.	प्रतिशत
अ	जनता के पास करेंसी (करेंसी नोट एवं सिक्के)	1,53,030	56.0%
ब	बैंकों के पास माँग जमाएँ	1 18,482	43.4%
स.	रिजर्व बैंक के पास अन्य जमाएँ	3,167	1.6%
	कुल M_1 मुद्रा	2,72,679	100.0%

(2) M_2 :- यदि M_1 मुद्रा में पोस्ट ऑफिस की बचतों को जोड़ दिया जाता है तो M_2 मुद्रा प्राप्त हो जाती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जन-साधारण डाकघरों में बचत बैंक खाता खुलवाकर उसमें रुपया जमा करते हैं। इस जमा राशि का उपयोग भी आवश्यकता पड़ने पर किया जा सकता है। ऊपर दिये गये उदाहरण में यदि मान लो कि डाकघर बचत बैंक की जमाएँ 1,000 करोड़ रुपए हैं तो M_2 मुद्रा निम्न प्रकार होगी

M_2 = M_1 + डाकघर बचत बैंक की जमाएँ

NOTES

अथवा M_2 = 2,72,679 + 10,000 करोड़ रु. (काल्पनिक)

= 2,82,679 करोड़ रु.

(3) M_3 : यदि M_1 मुद्रा में बैंकों की सावधि जमाओं (Time Deposits) को जोड़ दिया जाये तो M_3 व राशि प्राप्त हो जाती है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि M_3 मुद्रा को व्यापक मुद्रा (Broad Money) या समग्र मौद्रि साधन भी कहा जाता है। भारत में मुद्रा की पूर्ति की वार्षिक वृद्धि दर को सूचित करने के लिए प्रायः M_3 की वृद्धि द का ही उपयोग किया जाता है। 10 अप्रैल, 2002 को जो मुद्रा की कुल पूर्ति थी उसमें सावधि जमाओं का प्रतिश लगभग 67 या दो-तिहाई था। इसकी गणना निम्न प्रकार है :-

M_1 मुद्रा की मात्रा = 2,72,679 करोड़ रु.

(+) बैंकों की सावधि जमाएँ = 5,60,778 करोड़ रु.

अतः M_3 = 2,72,679 + 5,60,778

= 8,33,457 करोड़ रु.

इस प्रकार स्पष्ट है कि कुल मुद्रा की पूर्ति या M_3 में 67 प्रतिशत बैंकों की सावधि जमाएँ एवं शेष 33 प्रतिश M_1 मुद्रा होती है।

(4) M_4 : यदि M_3 मुद्रा में डाकघरों की कुल जमा राशि को जोड़ दिया जाता है तो M_4 मुद्रा की मात्रा प्राप्त हो जाती है, जो कि निम्न प्रकार है :-

M_3 मुद्रा की मात्रा = 8,33,457 करोड़ रु.

(+) कुल पोस्ट आफिस जमाएँ = 10,000 करोड़ रु. (काल्पनिक)

M_4 मुद्रा की मात्रा = 8,33,457 + 10,000

= 8,43,457 करोड़ रु.

संक्षेप में, भारत में मुद्रा की पूर्ति के सम्बन्ध में उपर्युक्त चार अवधारणाएँ प्रचलित हैं। इनमें से M_1 तथा M_3 का रिजर्व बैंक द्वारा अधिक उपयोग किया जाता है। M_1 मुद्रा, संकीर्ण मुद्रा की पूर्ति को तथा M_3 मुद्रा विस्तृत रूप में मुद्रा की पूर्ति को बताती है।

रिजर्व बैंक द्वारा मुद्रा की पूर्ति पर गठित कार्यकारी दल (Working Group) ने मुद्रा की पूर्ति की अवधारणा को पुनः परिभाषित किया है। यह कार्यकारी दल श्री वाई.वी. रेड्डी की अध्यक्षता में बनाया गया था तथा इस दल ने 25 जून, 1998 में अपना प्रतिवेदन दिया था। इसके अनुसार अभी तक जो चार अवधारणाएँ थीं, उन्हें अब तीन, यथा M_1, M_2, एवं M_3 कर दिया गया। इसके साथ ही रिजर्व बैंक ने मुद्रा की पूर्ति के सन्दर्भ में तीन नई धारणाएँ, यथा- L_1, L_2, एवं L_3 प्रारम्भ की हैं। इनकी विस्तृत व्याख्या निम्न प्रकार है:- (अ) परम्परागत धारणाएँ- M_1, M_2, एवं M_3 जिन्हें पुनः नए तरीके से परिभाषित किया गया है, यथा-

प्रथम : M_1 की अवधारणा में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। इसे संकीर्ण मुद्रा (Narrow Money) कहा जाता है। इसमें (i) जनता के पास करेंसी, (ii) बैंकों के पास माँग जमाएँ तथा (iii) रिजर्व बैंक के पास अन्य जमाएँ शामिल हैं।

M_1 = Currency with Public + Demand Deposits with Banks + Other Deposits with RBI.

द्वितीय :- M_2 की गणना में संशोधन किया गया है। अब इसकी गणना के लिए M_1 में निम्नांकित को जोड़ा जाता है- (i) बैंकों में बचत जमाओं का समय दायित्व भाग, (ii) बैंकों द्वारा जारी जमा प्रमाण-पत्र (CDs), (iii) एक साल में परिपक्व होने वाली मियादी जमाएँ (FCNR) (B) जमाओं को घटाते हुए। यह ध्यान रखने योग्य बात है कि M_2 में पोस्ट ऑफिस बचत खाते की जमाओं को घटा दिया गया है तथा अल्पकालीन जमाओं (एक वर्ष की परिपक्वता अवधि वाली एवं बैंकों द्वारा जारी जमा प्रमाण-पत्र (CDS) को जोड़ दिया गया है। ये सब तत्काल मुद्रा में परिवर्तित हो सकती हैं।

M_2 = Time liabilities portion of Savings Deposits with banks + Certificates of Deposits (CDs) issued by banks + Term Deposits, maturing within a year (excluding FCNR (B) Deposits)

तृतीय :- M_3 में भी संशोधन किया गया है। अब इसकी गणना के लिए M_3 = M_2 + बैंकों के पास एक वर्ष से अधिक अवधि की मियादी जमाएँ + बैंकिंग व्यवस्था की मियादी एवं माँग ऋण। M_3 को व्यापक मुद्रा (Broad Money) नाम दिया गया है।

$M_3 = M_2 + m_3$ = term deposits with banks with maturity of over one year + call/term borrowing of the banking system.

(ब) नई अवधारणाएँ, यथा- L_1, L_2, एवं L_3 जिन्हें रिजर्व बैंक ने प्रारम्भ किया है :-

(I) L_1 = New M_3 + All deposits of Post Office Savings Bank excluding National savings Certificates.

(II) $L_2 = L_1$ + Term deposits with term lending Institutions and Refinancing Institutions + Term Borrowings by Financial Institutions + certificates of Deposits issued by Financial Institutions.

(III) $L_3 = L_2$ + Public deposits of non-banking finance Companies.

रिजर्व बैंक के कार्य
(Functions of Reserve Bank of India)

भारतीय रिजर्व बैंक वे सब कार्य करता है जो संसार के अन्य देशों के केन्द्रीय बैंक करते हैं। रिजर्व बैंक के कार्यों को मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है –यथा–(अ) केन्द्रीय बैंक सम्बन्धी कार्य, (ब) साधारण बैंक सम्बन्धी कार्य और (स) विकासात्मक कार्य। इन कार्यों का विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है :–

रिजर्व बैंक के कार्य
(Functions of Reserve Bank of India)

अ. केन्द्रीय बैंक सम्बन्धी कार्य	ब. सामान्य बैंकिंग सम्बन्धी कार्य	स. विकासात्मक कार्य
1. नोट निर्गमन का एकाधिकार	1. निक्षेप स्वीकार करना	1. बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार
2. सरकार का बैंकर, एजेन्ट एवं सलाहकार	2. ऋण लेना	2. कृषि साख
3. बैंकिंग व्यवस्था का नियमन एवं नियंत्रण या बैंकों का बैंक और साख नियंत्रण	3. ऋण प्रदान करना	3. औद्योगिक साख
	4. विदेशी विनिमय बिलों का क्रय-विक्रय	4. लघु उद्योग
	5. व्यापारिक एवं कृषि बिलों का क्रय-विक्रय	5. कीमत स्तर की स्थिरता
	6. विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय	
	7. स्वर्ण का क्रय-विक्रय	

(अ) केन्द्रीय बैंक सम्बन्धी कार्य (Functions Relating to Central Bank)

(1) नोट निर्गमन का एकाधिकार (Monopoly of Note Issue) – "रिजर्व बैंक अधिनियम" की धारा 24 के अनुसार रिजर्व बैंक को 2, 5, 10, 50, 100, 1000, 5000 एवं 10,000 रुपये के नोट छापने का एकाधिकार था, किन्तु 16 जनवरी 1978 की आधी रात को एक अध्यादेश द्वारा 1000 रु., 5000 रु. एवं 10,000 रु. के नोट चलन से हटा दिये गये हैं। पुनः अब 500 रु. एवं 1000 रु. के नोट चलन में लाये गये हैं। इन नोटों पर रिजर्व बैंक के गवर्नर के हस्ताक्षर होते हैं। उल्लेखनीय है कि एक रुपये का नोट छापने का अधिकार 1940 से भारत सरकार के वित्त विभाग को है। एक रुपये के नोट पर भारत सरकार के वित्त सचिव के हस्ताक्षर होते हैं। रिजर्व बैंक का नोट निर्गमन विभाग इन नोटों का निर्गमन करता है।

नोट निर्गमन प्रणाली (Method of Note Issue) – रिजर्व बैंक ने 1951 तक निर्गमन के लिये आनुपातिक कोष प्रणाली अपनाई। इस प्रणाली के अनुसार बैंक कुल कागजी नोटों के मूल्य का 40 प्रतिशत भाग सोना तथा विदेशी प्रतिभूतियों को रखकर नोट निर्गमन करता था। सन् 1956 में रिजर्व बैंक के कानून में संशोधन करके आनुपातिक कोष प्रणाली समाप्त कर न्यूनतम कोष प्रणाली अपनायी गई। न्यूनतम कोष प्रणाली में 115 करोड़ रुपये का सोना एवं 400 करोड़ रुपये मूल्य की विदेशी प्रतिभूतियाँ सुरक्षित निधि के रूप में रखी गई। सन् 1957 में रिजर्व बैंक के कानून में पुनः संशोधन कर सुरक्षित निधि 200 करोड़ रुपये कर दी गई, इसमें से 115 करोड़ रुपये का सोना तथा न्यूनतम 85 करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ रखना अनिवार्य कर दिया गया। अभी भी यही न्यूनतम कोष रखा जा रहा है।

व्यस्त एवं शिथिल मौसम (Busy & Slack Seasons) में मौद्रिक एवं साख नीति अलग-अलग होती है अक्टूबर से मई तक व्यस्तकाल होता है जिसमें अधिकतम व्यापारिक गतिविधियाँ होने से **रिजर्व बैंक मुद्रा की पूर्ति** बढ़ा देता है। जून से सितम्बर तक **शिथिलकाल होने से मुद्रा की पूर्ति घटा दी जाती है**। इसी आधार पर साख नीति का निर्धारण भी किया जाता है।

(2) सरकार का बैंकर, एजेन्ट एवं सलाहकार (Banker, Agent and Advisor to the Government)– रिजर्व बैंक केन्द्र सरकार एवं राज्य सरकारों के बैंक के रूप में निम्नलिखित कार्य करता है:–

(i) सरकारी धन प्राप्त करना एवं उसका भुगतान करना – रिजर्व बैंक भारत की केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारों की ओर से धन प्राप्त करता है और उनके आदेशानुसार उनकी ओर से भुगतान भी करता है। उल्लेखनीय है कि केन्द्र व राज्य सरकारों को उक्त प्रकार की जमा राशियों पर रिजर्व बैंक ब्याज नहीं देता है।

(ii) स्वयं के द्वारा ऋण – रिजर्व बैंक भारत सरकार एवं राज्य सरकारों को अल्पकालीन (90 दिनों के लिये) ऋण देता है। इससे सरकार आर्थिक संकट का सामना कर सकती है।

(iii) सार्वजनिक ऋणों का प्रबन्ध (Management of Public Debts) – केन्द्र व राज्य सरकारें अपने विभिन्न कार्यों के लिये रिजर्व बैंक के माध्यम से लोगों से ऋण प्राप्त करती हैं। यह कार्य वह सरकार के अभिकर्ता (एजेन्ट) के रूप में करता है। रिजर्व बैंक सार्वजनिक ऋणों का हिसाब-किताब रखता है और समय-समय पर मूलधन एवं ब्याज का भुगतान करता है।

(iv) सरकारी कोषों का स्थानान्तरण (Transfer of Government's Fund) – सरकार के बैंकर के रूप में रिजर्व बैंक सरकारी कोषों का स्थानांतरण भी करता है।

(v) विदेशी विनिमय की व्यवस्था (Arrangement of Foreign Exchange) – सरकार के बैंकर के रूप में रिजर्व बैंक केन्द्र व राज्य सरकारों के लिये विदेशी विनिमय की व्यवस्था करता है।

(vi) परामर्श (Advice) – रिजर्व बैंक केन्द्र व राज्य सरकारों को आवश्यकतानुसार वित्त, मुद्रा, योजना एवं अन्य आर्थिक समस्याओं के लिये परामर्श देता है।

(3) बैंकिंग व्यवस्था का नियमन एवं नियंत्रण या बैंकों का बैंक (Banker's Bank) – रिजर्व बैंक भारत के केन्द्रीय बैंक के नाते बैंकों के बैंक के रूप में निम्नलिखित कार्य करता है –

(i) **अन्तिम ऋणदाता** (Lender of the Last Resort) – रिजर्व बैंक संकट या आवश्यकता के समय अन्य बैंकों को अन्तिम ऋणदाता के रूप में उनकी सहायता कर उन्हें दिवालिया होने से बचाता है। यह उल्लेखनीय है कि "रिजर्व बैंक कानून 1934" के अनुसार प्रत्येक बैंक को अपनी माँग देयताओं (Demand Liabilities) एवं समय देयताओं (Time Liabilities) का एक निश्चित प्रतिशत भाग रिजर्व बैंक के पास नकद रूप में जमा कराना आवश्यक है। रिजर्व बैंक ने उक्त दोनों जमाओं के प्रतिशत में समय-समय पर परिवर्तन किये हैं जिसके परिणामस्वरूप 1962 में माँग व समय देयताओं का 3 प्रतिशत भाग जमा कराया जाता था जो 1993 तक 9 प्रतिशत हो गया।

(ii) **अनुसूचित बैंकों पर नियंत्रण** (Control on Scheduled Banks) – "रिजर्व बैंक कानून 1949" के अनुसार उसे अनुसूचित बैंकों पर नियंत्रण रखने के लिये व्यापक अधिकार दिये गये हैं। जैसे– **अनुसूचित बैंकों का निरीक्षण करना, नई शाखायें खोलने के पूर्व अनुपति प्रदान करना, कार्यविधि में पाई जाने वाली त्रुटियों को दूर करने के लिये सुझाव देना, वार्षिक स्थिति-विवरण की माँग करना आदि**। इसी प्रकार रिजर्व बैंक की पूर्व अनुपति या लायसेंस के बिना कोई भी नया बैंक नहीं खोला जा सकता है। रिजर्व बैंक किसी भी बैंक को उसकी दुर्बल आर्थिक स्थिति के कारण बन्द करने के आदेश भी दे सकता है।

(iii) विदेशी विनिमय दर में स्थिरता बनाये रखना (To Maintain Stability in Foreign Exchange Rate) – इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये रिजर्व बैंक केन्द्रीय सरकार के आदेश के अनुसार विदेशी मुद्राओं का क्रय-विक्रय करता है। रिजर्व बैंक ने 1939 में विनिमय विभाग की स्थापना की जो विनिमय दर की स्थिरता के लिये कार्य करता है। सन् 1947 में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बनने से भारतीय रुपये का स्टर्लिंग से वैधानिक सम्बन्ध टूट गया। विनिमय दर की स्थिरता के लिए भारत ने तीन बार यथा 1949, 1966 एवं 1991 में, अपनी मुद्रा का अवमूल्यन भी किया। 6 जून, 1966 के अवमूल्यन के बाद रुपये का स्वर्ण मूल्य घटाकर 0.118517 ग्राम हो गया। 1975 से भारतीय विदेशी विनिमय दर का निर्धारण विदेशी मुद्राओं की एक टोकरी (Basket of currencies) से जोड़ दिया गया है। सन् 1993 में रुपये को पूर्ण परिवर्तनीय (पूँजी खाते में) बना दिया गया और इसकी विनिमय दर को बाजार की शक्तियों पर स्वतन्त्र छोड़ दिया गया है।

(iv) **समाशोधन गृह का कार्य** (Function of Clearing House) – रिजर्व बैंक, बैंकों का बैंक एवं अन्तिम ऋणदाता होने की वजह से वह प्रारंभ से ही समाशोधन गृह का कार्य कर रहा है। प्रारंभ में समाशोधन गृहों की व्यवस्था

प्रमुख नगरों में ही की गई थी। किन्तु 1 अप्रैल, 1999 तक समाशोधन गृहों की संख्या 1000 से भी अधिक हो गई। इनमें 9 समाशोधन गृहों की व्यवस्था रिजर्व बैंक करता है और शेष की व्यवस्था स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एवं अन्य सहायक तथा राष्ट्रीयकृत बैंक करते हैं। वर्तमान नीति के अनुसार देश के किन नगरों या कस्बों में व्यापारिक बैंक के 5 या अधिक कार्यालय हैं वहाँ समाशोधन गृह की स्थापना कर दी जाती है।

(v) कृषि साख (Agricultural Credit) – भारत जैसे कृषि प्रधान देश में कृषि साख की समुचित व्यवस्था के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने पृथक रूप से अपने कार्यालय में कृषि साख विभाग की स्थापना की है। इस विभाग के प्रमुख दो कार्य हैं – (i) कृषि सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन कर सरकार को सलाह देना। (ii) कृषि साख के लिये राज्य सहकारी बैंकों एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं के माध्यम से ऋण देना और उनमें समन्वय स्थापित करना। सन् 1982 में कृषि एवं ग्रामीण विकास के राष्ट्रीय बैंक (NABARD) की स्थापना की गई तथा कृषि साख से सम्बन्धित जो कार्य रिजर्व बैंक करता था, वह अब उक्त संस्था को सौंप दिया गया है।

(vi) औद्योगिक साख (Industrial Credit) – रिजर्व बैंक औद्योगिक वित्त प्रदान करने वाली संस्थाओं, जैसे – औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्त निगमों आदि की स्थापना में अपना सक्रिय सहयोग देता है। उद्योगों की दीर्घकालीन साख के लिये इसने सन् 1964 में "राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घकालीन) कोष" की स्थापना की है।

(vii) साख नियंत्रण (Credit Control) – रिजर्व बैंक अन्य केन्द्रीय बैंकों की तरह साख नियंत्रण का कार्य भी करता है। वह देश की अर्थव्यवस्था के अनुकूल व्यस्त काल (अक्टूबर से मई) में अधिक और शिथिल काल (जून से सितम्बर) में कम साख का निर्गमन करता है। मुद्रा के मूल्यों के साथ-साथ अर्थव्यवस्था में स्थिरता के लिये रिजर्व बैंक साख नियंत्रण की विभिन्न रीतियों, जैसे बैंक दर, खुले बाजार की क्रियायें, परिवर्तनशील कोषानुपात, नकद कोषानुपात, चयनात्मक साख नियंत्रण आदि रीतियों का प्रयोग करता है। इन विधियों का विवरण पृथक से दिया गया है।

(viii) प्रशिक्षण कार्यक्रम (Training Programme) – रिजर्व बैंक विभिन्न बैंकिंग कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था भी करता है। इसी उद्देश्य से इसने 1954 में बम्बई में बैंकर्स ट्रेनिंग कालेज की स्थापना की है। इसमें अनुसूचित व्यापारिक बैंकों के अधिकारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है।

(ix) सांख्यिकी का संकलन एवं प्रकाशन (Collection & Publication of Statistics) – रिजर्व बैंक देश की अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित मुद्रा, साख, नियोजन, आय, पूँजी निर्माण आदि के आँकड़े विभिन्न पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाशित करता है। वित्तीय एवं मुद्रा सम्बन्धी वार्षिक आँकड़े रिजर्व बैंक की "चलन एवं वित्त" नामक रिपोर्ट में तथा अन्य आँकड़े "रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन" (मासिक) में प्रकाशित होते हैं। इसके अलावा रिजर्व बैंक अपनी वार्षिक रिपोर्ट भी प्रकाशित करता है।

(ब) सामान्य बैंकिंग सम्बन्धी कार्य (Functions relating to General Banking)

रिजर्व बैंक, केन्द्रीय बैंकों के कार्यों के अतिरिक्त साधारण बैंकिंग सम्बन्धी निम्नलिखित कार्य भी करता है–

(1) निक्षेप स्वीकार करना (To Accept Deposits) – रिजर्व बैंक सरकारी, गैर सरकारी तथा अर्द्ध सरकारी संस्थाओं एवं व्यक्तियों से बिना ब्याज के निक्षेप स्वीकार कर सकता है।

(2) ऋण लेना (To Obtain Loans) – रिजर्व बैंक अन्य व्यापारिक बैंकों तथा विदेशों से अपनी सम्पत्ति की जमानत पर 30 दिनों के लिये ऋण ले सकता है।

(3) ऋण प्रदान करना (To Provide Loans)– रिजर्व बैंक अन्य बैंकों को उनकी प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों, ऋणपत्रों, स्वर्ण आदि बहुमूल्य धातुओं की जमानत पर अधिकतम 90 दिनों के लिये ऋण प्रदान करता है।

(4) विदेशी विनिमय बिलों का क्रय-विक्रय (Sale & Purchase of Foreign Exchange Bills)– रिजर्व बैंक तीन माह की अवधि वाले विदेशी विनिमय बिलों का क्रय-विक्रय भी करता है।

(5) व्यापारिक एवं कृषि बिलों का क्रय-विक्रय (Sale & Purchase of Trade & Agricultural Bills) – रिजर्व बैंक व्यापारिक एवं कृषि बिलों का क्रय-विक्रय भी करता है, बशर्ते कि ये बिल क्रमशः 3 माह एवं 15 माह से अधिक न हों।

(6) विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय (Sale & Purchase of Foreign Securities) – रिजर्व बैंक अधिकतम 10 वर्षों के अन्दर भुगतान योग्य विदेशी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय भी करता है।

(7) स्वर्ण का क्रय-विक्रय (Sale & Purchase of Gold) – रिजर्व बैंक स्वर्ण, स्वर्ण के सिक्कों तथा चाँदी का आवश्यकतानुसार क्रय-विक्रय करता है।

(स) विकासात्मक कार्य (Promotional Functions) –

रिजर्व बैंक ने देश में कृषि, उद्योग एवं मूल्यों की स्थिरता से सम्बन्धित कार्यों में विशेष रुचि ली है। इन विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है :–

1. बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार – देश की बैंकिंग सुविधाओं के विस्तार एवं मुद्रा बाजार को सुदृढ़ बनाने लिए अपनी स्थापना के समय से ही रिजर्व बैंक प्रयासरत है। ग्रामीण बचतों के संकलन की दिशा में भी रिजर्व बैं ने विशेष प्रयास किए हैं।

2. कृषि साख – रिजर्व बैंक का कृषि साख के विस्तार में भी महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यह सहकारी बैंक का निरीक्षण करता है तथा कृषि साख से सम्बन्धी सलाह देता है। सन् 1982 से रिजर्व बैंक के कृषि सम्बन्धी का नाबार्ड (NABARD) द्वारा किए जाते हैं।

3. औद्योगिक साख – रिजर्व बैंक ने ऐसी अनेक संस्थाओं की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया है जो उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण प्रदान करती हैं, जैसे – औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्त निगम, औद्योगिक साख तथ विनियोग निगम तथा औद्योगिक विकास बैंक आदि।

4. लघु उद्योग – रिजर्व बैंक ने लघु उद्योगों के विकास हेतु भी प्रयास किया है। लघु उद्योगों को वित्तीय सहायता उपलब्ध कराने के उद्देश्य से रिजर्व बैंक ने सन् 1960 से एक साख गारन्टी योजना प्रारम्भ की है। इस योजना के अन्तर्गत व्यापारिक बैंकों एवं अन्य साख संस्थाओं द्वारा लघु-उद्योगों को दिये गये ऋणों के प्रति रिजर्व बैंक गारन्टी देता है। लघु उद्योग विकास बैंक की स्थापना में रिजर्व बैंक ने सहयोग दिया है।

5. कीमत-स्तर की स्थिरता – देश का केन्द्रीय बैंक होने के नाते रिजर्व बैंक मौद्रिक नीति को "आर्थिक स्थिरता एवं विकास" के अनुकूल बनाता है। रिजर्व बैंक का यह उद्देश्य है कि जहाँ आर्थिक विकास के लिए पर्याप्त वित्त उपलब्ध हो, वहीं दूसरी ओर उचित मूल्य स्थिरता बनी रहे।

रिजर्व बैंक के वर्जित या निषिद्ध कार्य

भारतीय रिजर्व बैंक की अन्य बैंकों से प्रतियोगिता रोकने के लिये उसे निम्न कार्य करने से वर्जित (मना) किय गया है –

(1) वह जन साधारण से ब्याज पर जमा या निक्षेप स्वीकार नहीं करता।

(2) किसी भी प्रकार के व्यापार या व्यापारिक संस्थाओं में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेता।

(3) बगैर जमानत के ऋण नहीं देता।

(4) निश्चित समय से अधिक के लिये ऋण प्रदान नही करता।

(5) रिजर्व बैंक माँग पर शोधनीय न होने वाले बिलों को न तो लिखता है और न ही स्वीकार करता है।

रिजर्व बैंक और ग्रामीण (कृषि) साख
(Reserve Bank and Rural (Agricultural) Credit)

ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक सहायता विभिन्न अलग-अलग एजेन्सियों के माध्यम से देने में रिजर्व बैंक को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता था। अतः जुलाई 1982 में नाबार्ड नामक बैंक की स्थापना की गई। अब इसी के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्र को सभी प्रकार की वित्तीय सहायता उपलब्ध होती है। नाबार्ड के प्रमुख कार्य निम्न प्रकार हैं:-

(i) ग्रामीण क्षेत्रों में साख पूर्ति की संस्था के रूप में काम करना।

(ii) सहकारी बैंकों द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों को दी जाने वाली साख की देख-रेख करना।

(iii) राज्य सहकारी बैंक को 15 महीनों के लिए ऋण देना।

(iv) भूमि विकास बैंक को दीर्घकालीन (25 वर्ष) ऋण देना।

(v) सहकारी संस्थाओं का निरीक्षण करना।

(vi) शीघ्र फल देने वाले कार्यक्रमों एवं योजनाओं के लिए कोष उपलब्ध कराना।

संक्षेप में, कृषि वित्त का अधिकांश दायित्व नाबार्ड के हाथ में आ गया है जो रिजर्व बैंक के निर्देशानुसार कृषि वित्त की सुविधाओं का विस्तार कर रहा है।

रिजर्व बैंक और साख नियंत्रण
(Reserve Bank and Credit Control)

रिजर्व बैंक को केन्द्रीय बैंक के रूप में मौद्रिक नियमन एवं नियंत्रण के व्यापक अधिकार हैं। इन्हीं अधिकारों के माध्यम से रिजर्व बैंक साख को नियंत्रित एवं नियमित करती है। इस कार्य के लिए रिजर्व बैंक निम्नलिखित उपकरणों का प्रयोग करती है :

(1) बैंक दर (Bank Rate) – बैंक दर से अभिप्राय उस दर से है जिस पर रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों को उनकी प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियों पर ऋण प्रदान करता है। देश में साख की मात्रा को कम करने के लिये बैंक दर बढ़ाया और साख की मात्रा बढ़ाने के लिये बैंक दर को कम किया जाता है। जब रिजर्व बैंक यह देखता है कि बाजार में साख की मात्रा में तेजी से विस्तार हो रहा है और इससे अर्थव्यवस्था में मुद्रा प्रसार की स्थिति पैदा हो गई है तो वह बैंक दर बढ़ा देता है। बैंक दर बढ़ाते ही मुद्रा बाजार में विद्यमान ब्याज की दर भी बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप व्यापारी वर्ग उधार ली गई रकम को लौटाने लगते हैं और पूर्व की तुलना में कम ऋण लेते हैं। इससे साख की मात्रा में कमी हो जाती है। इसके विपरीत, जब बाजार में साख की मात्रा बहुत कम हो जाती है, तब रिजर्व बैंक अपनी बैंक दर कम कर देता है। परिणामस्वरूप साख में वृद्धि होने लगती है।

भारत में प्रारंभ से ही मुद्रा स्फीति की स्थिति बनी हुई है। इसी कारण यहाँ प्रायः बैंक दर में क्रमशः वृद्धि हुई है। जहाँ सन् 1951 में बैंक दर केवल 3 प्रतिशत थी, बढ़कर 1957 में 4 प्रतिशत, 1971 में 6 प्रतिशत, 1974 में 9 प्रतिशत, 1981 में 10 प्रतिशत एवं 1991 में 12 प्रतिशत कर दिया गया। किन्तु पुनः इसे अप्रैल, 1997 में 11 प्रतिशत, 3 अप्रैल, 1998 को 10 प्रतिशत, 1 मार्च, 1999 को 8 प्रतिशत कर दिया। बैंक दर को 26 मार्च, 2004 से 6 प्रतिशत कर दिया गया है। संक्षेप में, सन् 1951 से लेकर अब तक रिजर्व बैंक ने मुद्रा स्फीति को नियंत्रित एवं नियमित करने के उद्देश्य से बैंक दर में कई बार वृद्धि एवं कमी की है। परन्तु रिजर्व बैंक को इस दिशा में विशेष सफलता नहीं मिली है।

भारत जैसे विकासशील देश में पूँजी निर्माण एवं निवेश में वृद्धि करने के लिये बचत दर में वृद्धि करना आवश्यक है। रिजर्व बैंक ने बैंक दर में वृद्धि करके बचतों को आकर्षित करने का प्रयास किया है। रिजर्व बैंक को इसमें सफलता भी मिली है। जून 1969 में जहाँ अनुसूचित व्यापारिक बैंकों के पास जमा के रूप में कुल 3897 करोड़ रु. की राशि प्राप्त हुई थी, बढ़कर जून, 2004 में 11,39,214 करोड़ रुपये हो गई। इसके साथ ही बैंक दर में वृद्धि करके रिजर्व बैंक ने अ–निवासी भारतीय एवं अन्य विदेशी संस्थाओं की बचतों को आकर्षित करने में सफलता प्राप्त की है।

(2) खुले बाजार की क्रियायें (Open Market Operations) – भारतीय रिजर्व बैंक साख मुद्रा को नियंत्रित रखने के लिये सरकार की ओर से सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करता है। भारत में खुले बाजार की सफलता के लिये दो प्रमुख प्रावधान हैं – (i) रिजर्व बैंक अधिनियम की धारा 17 (8) के अनुसार वह किसी भी बैंक से किसी भी अवधि की केन्द्र व राज्य सरकारों की प्रतिभूतियाँ खरीद या बेच सकता है। (ii) धारा 17 (2) के अनुसार वह अल्पकालीन बिलों का क्रय-विक्रय कर सकता है।

जब रिजर्व बैंक बाजार में साख की मात्रा में कमी करना चाहता है तब वह सरकारी प्रतिभूतियों का विक्रय करता है। इससे व्यापारिक बैंकों के पास नकद राशि हस्तांतरित होकर रिजर्व बैंक के पास आ जाती है। व्यापारिक बैंकों के पास नकद राशि के कम हो जाने से उनकी साख-निर्माण शक्ति कम हो जाती है। इसके विपरीत, जब रिजर्व बैंक बाजार में साख का विस्तार करना चाहता है तो वह सरकारी प्रतिभूतियों की कुछ अधिक मूल्य पर खरीदी करने लगता है। इससे व्यापारिक बैंकों को इन बेची गई प्रतिभूतियों के बदले में नकद मुद्रा प्राप्त होती है। बैंकों के पास नकद मुद्रा में वृद्धि होने से वे अधिक मात्रा में साख का निर्माण करने में सफल हो जाते हैं।

यहाँ यह विशेष उल्लेखनीय है कि भारत में खुले बाजार की क्रियाओं का मुख्य उद्देश्य साख नियंत्रण नहीं रहा है, वरन् सरकार की वित्तीय आवश्यकताओं के लिए वित्त की व्यवस्था करना ही इसका उद्देश्य रहा है। यही कारण है कि जब-जब भारत सरकार को अपने व्ययों की पूर्ति के लिये धन की आवश्यकता होती है, रिजर्व बैंक सरकारी प्रतिभूतियों को पूँजी बाजार में बेचती है। इसके साथ ही मुद्रा की पूर्ति को नियमित करने के लिये भी रिजर्व बैंक सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करती है।

भारत में द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व खुले बाजार की क्रियाओं का क्षेत्र बहुत सीमित था। सन् 1939 में रिजर्व बैंक ने ऐसे निर्देश जारी किए कि व्यापारिक बैंकों को सरकारी प्रतिभूतियाँ खरीदना चाहिए। उस समय व्यापारिक बैंकों के पास विनियोग के अच्छे अवसर भी उपलब्ध नहीं थे। अतः उन्होंने बड़ी मात्रा में इन प्रतिभूतियों को खरीदना प्रारंभ किया। सन् 1951 में रिजर्व बैंक ने अपनी नीति में परिवर्तन करके सामान्य दशाओं में व्यापारिक बैंकों से प्रतिभूतियाँ

खरीदना बंद कर दिया। नवम्बर 1956 में रिजर्व बैंक ने पुनः अपनी नीति में परिवर्तन किया। उस समय बाजार में मु की कमी थी जिसे दूर करने के लिए रिजर्व बैंक ने सरकारी प्रतिभूतियों को खरीदा। इसके बाद से ही रिजर्व बै समय-समय पर मुद्रा बाजार की परिस्थितियों एवं देश की वित्तीय स्थिति को ध्यान में रखकर प्रतिभूतियों का क्रय-विक्र करता है।

(3) परिवर्तनशील कोषानुपात (Variable Reserve Ratio or Cash Reserve Ratio) – साख-मुद्रा व नियंत्रित करने के लिए रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों के नकद कोषानुपात में परिवर्तन करता है। कानूनी तौर पर व्यापारि बैंकों के लिये यह अनिवार्य होता है कि वे अपनी कुल प्राप्त जमाओं का एक निश्चित प्रतिशत केन्द्रीय बैंक के पा नगद कोष के रूप में जमा रखें। केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार होता है कि वह इस अनुपात में अर्थव्यवस्था व आवश्यकतानुसार परिवर्तन करके बैंकों की साख निर्माण शक्ति को नियंत्रित करे।

रिजर्व बैंक अधिनियम के अनुसार प्रत्येक अनुसूचित बैंक को यह जरूरी था कि वह अपनी माँग जमा रा का 5 प्रतिशत तथा समय जमा राशि का 2 प्रतिशत अंश रिजर्व बैंक के पास जमा रखें। इसके साथ ही रिजर्व बैंक व यह अधिकार भी दिया गया है कि वह इस अनुपात में अर्थव्यवस्था की स्थिति के अनुसार परिवर्तन कर सकता है तदुपरान्त सन् 1956 में अधिनियम में संशोधन करके माँग जमाओं के लिए नकद कोष 5 प्रतिशत से बढ़ाकर 2 प्रतिशत तथा समय जमाओं के लिये 2 प्रतिशत से बढ़ाकर 8 प्रतिशत तक किए जाने का अधिकार रिजर्व बैंक को दि गया। पुनः **1962 में माँग जमाओं एवं समय जमाओं का अन्तर समाप्त करके यह प्रावधान रखा गया कि प्रत्येक अनुसूचित बैंक को अपनी कुल जमा राशि का 3 प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास रखना आवश्यक है। इस अनुपात को 15 प्रतिशत तक बढ़ाने का अधिकार भी रिजर्व बैंक को दिया गया है।** तदुपरान्त रिजर्व बैंक ने देश में मुद्रा स्फीति की स्थिति के अनुसार इसमें कई बार परिवर्तन किए। 20 नवम्बर, 1999 को यह 9 प्रतिशत था, जिसे क्रमशः कम किय गया है। नकद कोषानुपात (CRR) को 21 जनवरी, 2005 में 5 प्रतिशत कर दिया गया है।

रिजर्व बैंक ने देश में विद्यमान मुद्रा-स्फीति की दर को नियंत्रित करने के उद्देश्य से सन् 1973 में नकद कोषानुपात को बढ़ाकर 10.5 प्रतिशत एवं 1989 में 15 प्रतिशत कर दिया। पुनः 1996 में इसे बढ़ाकर 14 प्रतिशत कर दिया गय है। इस प्रकार स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक ने नकद कोषानुपात में वृद्धि करके मुद्रा स्फीति को नियंत्रित करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया।

(4) तरलता कोषानुपात (Statutory Liquidity Ratio or SLR) – भारतीय बैंकिंग कानून (1949) की धारा 24 के अनुसार अनुसूचित बैंकों को अपनी कुल माँग जमाओं और समय जमाओं का 20 प्रतिशत भाग नकदी स्वर्ण और बन्धन मुक्त अनुमोदित प्रतिभूतियों में तरल परिसम्पत्ति के रूप में रखना पड़ता है। इसे कानूनी तरलता अनुपात कहते हैं और इसमें परिवर्तन करने का अधिकार भी रिजर्व बैंक को है। सन् 1971 में इस अनुपात को तीव्र मुद्रा स्फीति के दबाव से मुक्त कराने के उद्देश्य से 33 प्रतिशत कर दिया गया था। तदुपरान्त अनेक चरणों में इसे अक्टूबर, 1997 तक घटाकर 25% के स्तर पर लाया गया।

(5) चयनात्मक साख नियंत्रण (Selective Credit Control) – रिजर्व बैंक ने बैंकिंग कानून की धारा 21 के अनुसार साख नियंत्रण के लिये निम्नलिखित तीन प्रकार की चयनात्मक रीतियों का प्रयोग किया है –

(i) **ऋणों के मार्जिन को घटाना-बढ़ाना** (Changes in margins of Loans) – भारत में जब किसी वस्तु के भंडार कम हो जाते हैं तब पूर्ति कम होने से कीमतें बढ़ती हैं। ऐसी दशा में रिजर्व बैंक उस वस्तु की जमानत पर ऋण देने में कुछ मार्जिन या मूल्यान्तर में वृद्धि करता है। उदाहरणार्थ, 100 रुपये के गेहूँ पर 20 प्रतिशत मार्जिन के कारण 80 रुपये का ही ऋण उपलब्ध होगा, किन्तु यदि मार्जिन के प्रतिशत को 20 से बढ़ाकर 40 कर दिया जाता है तो 100 रु के गेहूँ पर केवल 60 रुपये का ऋण प्राप्त होगा। यह नीति 1956 में प्रारंभ की गई। रिजर्व बैंक ने खाद्यान्न, सीमेंट, तेल, मूँगफली आदि की जमानत पर साख देने के लिये मार्जिन में समय-समय पर परिवर्तन किये हैं।

(ii) ऋणों पर प्रतिबंध (Check on Loans) – रिजर्व बैंक ने कुछ वस्तुओं तथा उद्योगों को ऋण देने के लिये भी प्रतिबंध लगाये हैं। 1960 में बदले के सौदों के नवीनीकरण तथा व्यक्तिगत जमानत ऋण देने पर प्रतिबंध लगा दिया है। 1985 में अनेक वस्तुओं की ऋण सीमाएं भी निर्धारित कर दी गई हैं। अब इन प्रतिबन्ध को समाप्त कर दिया गया है।

(iii) विभिन्न ब्याज अथवा कटौती दरें (Multiple Interest or Discount Rates) – इस विधि के अन्तर्गत बैंक भिन्न-भिन्न प्रकार के बिलों के लिये अलग-अलग कटौती दरें या ब्याज दरें निर्धारित करता है, जिससे कि जहाँ कुछ क्षेत्रों में साख को प्रोत्साहित किया जा सके, वहाँ अन्य क्षेत्रों में स्वतः ही साख निरुत्साहित हो। रिजर्व बैंक ने कृषि एवं अन्य प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को पर्याप्त मात्रा में साख उपलब्ध कराने के लिए इस विधि को अपनाया है और इसमें इसे सफलता भी मिली है।

(iv) उपभोक्ता साख पर नियंत्रण (Control on Consumer Credit) – सामान्यत: उपभोग की कीमती वस्तुओं, जैसे मोटरकार, रेफ्रिजरेटर, टेलीविजन, मोटर साईकिल आदि खरीदने के लिये व्यापारिक बैंक ऋण प्रदान करती है, किन्तु यदि रिजर्व बैंक चाहे तो इस प्रकार के ऋणों पर रोक लगा सकती है। रिजर्व बैंक ने ऐसी अनेक वस्तुओं पर ऋण प्रदान करने पर रोक लगाई है। इसका उद्देश्य इन वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि को रोकना है।

(6) नैतिक दबाव (Moral Pressure) – रिजर्व बैंक साख नियंत्रण के लिये सदस्य बैंकों पर नैतिक दबाव भी डालता है। इस हेतु रिजर्व बैंक समय-समय पर अनुसूचित बैंकों के प्रतिनिधियों के सम्मेलन बुलाकर या परिपत्र भेजकर अपनी नीति का पालन करने के लिये प्रोत्साहित करता है।

निष्कर्ष (Conclusion) – उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक को देश की मौद्रिक नीति को क्रियान्वित करने और आवश्यकतानुसार उसे नियंत्रित करने के व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। रिजर्व बैंक ने पिछले 60 वर्षों में इन अधिकारों का प्रयोग करके मुद्रा एवं साख को सही दिशा देने का प्रयास किया है, किन्तु रिजर्व बैंक द्वारा क्रियात्मक मुद्रा नीति दोषरहित नहीं है। सन् 1992 में 4500 करोड़ रु. से अधिक राशि के प्रतिभूति घोटाले ने रिजर्व बैंक की कमियों को उजागर कर दिया है। अत: इस दिशा में अभी बहुत कुछ ठोस कदम उठाए जाने आवश्यक हैं।

रिजर्व बैंक की सफलताएँ
(Achievements of Reserve Bank)

भारतीय रिजर्व बैंक ने देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए हैं और कई क्षेत्रों में महत्वपूर्ण सफलताएँ अर्जित की हैं। रिजर्व बैंक द्वारा प्राप्त की गई कुछ महत्वपूर्ण सफलताएँ निम्न प्रकार हैं :-

(1) आर्थिक विकास में सहयोग (Contribution in Economic Development) – रिजर्व बैंक सरकार के आर्थिक विकास एवं नियोजन कार्यक्रमों में पूरा-पूरा योगदान देता है। रिजर्व बैंक ने नियोजन के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था की पूर्ति के साथ ही कृषि उद्योग, व्यापार, विदेशी विनियम आदि के लिये साख की माँग की पूर्ति की है।

(2) कृषि के विकास में सहयोग (Contribution in Agricultural Development) – रिजर्व बैंक ने कृषि क्षेत्र को सहकारी बैंकों के माध्यम से अल्पकालीन, मध्यकालीन एवं दीर्घकालीन वित्त उपलब्ध कराने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। रिजर्व बैंक ने केवल कृषि साख की मद में दो हजार करोड़ रु. से अधिक के ऋण उपलब्ध कराए हैं।

(3) औद्योगिक वित्त (Industrial Finance) – रिजर्व बैंक ने औद्योगिक वित्त बैंक की स्थापना के साथ-साथ अन्य संस्थाओं जैसे – औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्त निगम आदि के अंश खरीद कर उद्योगों के लिये पर्याप्त वित्त उपलब्ध कराया है। रिजर्व बैंक द्वारा एक औद्योगिक साख कोष स्थापित किया गया है जिसमें उद्योगों के लिए लगभग 3,300 करोड़ रु. की राशि जमा की जा चुकी है।

(4) आर्थिक सलाहकार (Economic Adviser) – रिजर्व बैंक ने विगत वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक आदि में सरकार की आज्ञानुसार अपने विशेषज्ञ भेजे हैं। रिजर्व बैंक के विशेषज्ञ घाना, रूमानिया, युगाण्डा, लीबिया आदि देशों के केन्द्रीय बैंकों में आर्थिक सलाहकार के रूप में काम कर रहे हैं। इसके विशेषज्ञ देश के जीवन बीमा निगम, कृषि पुनर्वित्त निगम, यूनिट ट्रस्ट, औद्योगिक विकास बैंक आदि में भी कार्य कर रहे हैं।

(5) सार्वजनिक ऋणों की व्यवस्था (Organising Public Debts) – रिजर्व बैंक सरकार का एजेन्ट है। अत: वह सार्वजनिक ऋण की व्यवस्था भी करता है। रिजर्व बैंक ने इसमें बहुत अधिक सफलता प्राप्त की है। समय-समय पर रिजर्व बैंक ने सरकार को अल्पकालीन ऋण देकर वित्तीय समस्याओं को हल किया है।

(6) बैंकों के बैंक के कार्य में सफलता (Success as Banker's Bank) – रिजर्व बैंक ने बैंकों के बैंक के कार्य में भी सफलता प्राप्त की है, क्योंकि उसने संकटकाल में अनेक बार अनुसूचित बैंकों को आश्रय और ऋण प्रदान किये हैं। इसी से अनेक बैंक दिवालिया होने से बच गये।

(7) सरकार का बैंकर (Banker of the Government) – योजनाकाल में सरकार के आय-व्यय में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। रिजर्व बैंक ने सरकार के हिसाब-किताब को सावधानीपूर्वक रखा है। यह सरकारी लेन-देन को उचित ढंग से चला रहा है। रिजर्व बैंक ने सरकार को अनेक बार अल्पकालीन ऋण प्रदान किये हैं।

(8) समाशोधन गृह का कार्य (Function of Clearing House) – भारत में समाशोधन गृह का काम सुचारु रूप से रिजर्व बैंक कर रहा है। इसके परिणामस्वरूप विभिन्न बैंकों के आपसी लेन-देन सरलता से तुरन्त निपट जाते हैं।

(9) बैंकिंग व्यवसाय में सुधार (Improvement in Banking System) – रिजर्व बैंक के सफल नियमन एवं नियंत्रण से बैंकिंग व्यवस्था का सुदृढ़ विकास हुआ है। रिजर्व बैंक अन्य बैंकों के लिये मित्र, दार्शनिक एवं मार्गदर्शक का काम सुचारु रूप से कर रहा है।

(10) साख का नियमन एवं नियंत्रण (Regulation & Control of Credit) – यद्यपि रिजर्व बैंक व साख नियंत्रण में पर्याप्त सहायता नहीं मिली फिर भी उसके साख नियंत्रण के प्रयास सराहनीय हैं। उसने परिमाणात्म गुणात्मक एवं चयनात्मक साख नियंत्रण रीतियों का समुचित उपयोग किया है। यदि रिजर्व बैंक ये उपाय नहीं अपना तो देश में मुद्रा स्फीति का ताण्डव और भी भयावह होता।

(11) बिल बाजार का विकास (Development of Bill Market) – रिजर्व बैंक ने देश में संगठित बि बाजार की स्थापना के लिये 1952 से "बिल बाजार योजना" प्रारंभ कर दी है। यद्यपि रिजर्व बैंक को इसमें आंशि सफलता मिली है, फिर भी उसके प्रयास सराहनीय हैं।

(12) धन का हस्तांतरण (Transfer of Money) – रिजर्व बैंक ने सरकार, व्यापारिक बैंकों एवं सहका संस्थाओं के धन के स्थानांतरण के लिये सस्ती व तीव्रगामी सेवायें उपलब्ध कराई हैं। रिजर्व बैंक के माध्यम से व्यापारि बैंक बहुत कम व्यय से अपने धन का हस्तांतरण करते हैं।

(13) नोट निर्गमन में सफलता (Success in Note Issue) – रिजर्व बैंक ने 1956 तक आनुपातिक को प्रणाली द्वारा एवं 1956 के बाद न्यूनतम कोष प्रणाली द्वारा नोटों का निर्गमन किया है। सामान्यतः लोगों का विश्वा था कि रिजर्व बैंक न्यूनतम कोष प्रणाली अपनाकर तीव्र मुद्रा स्फीति को बढ़ायेगा, किन्तु उसकी तत्परता एवं कठो मौद्रिक नियंत्रण के कारण मुद्रा स्फीति अधिक नहीं बढ़ी।

(14) आँकड़ों का संकलन एवं प्रकाशन (Collection & Publication of Statistics) – रिजर्व बैंक, मुद्रा राष्ट्रीय आय, मूल्य स्तर, वित्त आदि से सम्बन्धित अनेक प्रकार के आँकड़े एकत्रित करके अपनी विभिन्न पत्रिकाओं मे प्रकाशित करता है। "रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया बुलेटिन" इसकी सबसे अधिक लोकप्रिय मासिक पत्रिका है।

रिजर्व बैंक की असफलताएँ
(Failures of Reserve Bank)

यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि रिजर्व बैंक को सभी क्षेत्रों में सफलता मिली है। वर्ष 1992 के प्रतिभूति घोटाले (हर्षद मेहता काण्ड) के बाद यह स्पष्ट हो गया है कि रिजर्व बैंक देश की व्यापारिक बैंकों की कार्यप्रणाली पर नियंत्रण रखने में असफल रहा है। रिजर्व बैंक की प्रमुख असफलताएँ निम्न प्रकार हैं :–

(1) बैंकिंग व्यवस्था का नियमन एवं नियंत्रण (Regulation & Control of Banking System) – रिजर्व बैंक व्यापारिक बैंकों एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं के नियमन एवं नियंत्रण में असफल रहा है। बैंकिंग कानून का पालन कराने, बैंकों की आडिट रिपोर्ट का अध्ययन करने एवं ऋण राशि के लेन-देन को नियंत्रित करने में रिजर्व बैंक असफल रहा है। यही कारण है कि हर्षद मेहता एवं अन्य दलाल बैंकों की साँठगाँठ से 4500 करोड़ रुपये का घोटाला करने में सफल हुए हैं। संसदीय जाँच समिति ने भी इस तथ्य को उजागर किया है।

(2) आन्तरिक कीमत स्तर में वृद्धि (Increase in Internal Price Level) – रिजर्व बैंक द्वारा मुद्रा एव साख में सतत् वृद्धि करते रहने से कीमत स्तर तेजी से बढ़ा है जिसका सामान्य लोगों पर और आर्थिक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ा है। देश में मुद्रा की पूर्ति सतत् बढ़ती गई। रिजर्व बैंक ने कीमतों में होने वाली वृद्धि को ठीक ढंग से रोकने के प्रयास नहीं किये हैं। इसके परिणामस्वरूप आन्तरिक बाजारों में रुपये की कीमत 1960–61 के मूल्यों पर 1986–87 में घटकर 15 पैसे और 1999–2000 में यह 7 पैसे रह गई है। किन्तु देश में मुद्रा प्रसार कि लिए अकेले रिजर्व बैंक को दोषी ठहराना ठीक नहीं है, क्योंकि इसके लिए सरकार द्वारा घाटे की वित्त व्यवस्था को अपनाना भी प्रमुख कारण है।

(3) विनिमय दर में अस्थिरता (Unstability in Exchange Rate) – रिजर्व बैंक भारतीय रुपये की विदेशी विनिमय दर को स्थिर रखने में भी असफल रहा है। इसी से भारत ने अपनी मुद्रा का 1949 में 33.3 प्रतिशत, 1966 में 36.5 प्रतिशत और 1991 में 21 प्रतिशत अवमूल्यन किया। सन् 1980 में एक अमरीकन डालर 7.9 रु. के बराबर था जो जनवरी, 2001 में 46.71 रु के बराबर हो गया है। अतः स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक रुपये के विनिमय मूल्य को स्थिर रखने में असफल रहा है। सन् 1993 में रुपये को पूर्ण परिवर्तनीय बना दिया गया है। समीक्षकों का मानना है कि इससे रुपये के विनिमय मूल्य में और अधिक गिरावट आएगी।

(4) बैंकिंग व्यवस्था मे सुधार करने में असफल (Failure in Improving Banking System)– रिजर्व बैंक 60 वर्षों से भी अधिक लम्बे जीवनकाल में देश की बैंकिंग व्यवस्था को सुदृढ करने में असफल रहा है। 1949 से 1959 के बीच 388 बैंक बन्द हो गये। वर्तमान समय में भी अनेक बैंक संकटग्रस्त हैं। 1968 में लक्ष्मी बैंक और पलाई सेन्ट्रल बैंक बन्द हुए। विभिन्न बैंकों को अभी भी पर्याप्त वित्तीय सहायता इस बैंक से नहीं मिल रही है।

(5) आँकड़ों का अभाव (Lack of Statistics) – यद्यपि रिजर्व बैंक के पास देश की विभिन्न आर्थिक मदों के आँकड़े एकत्रित करने के अनेक माध्यम और एजेन्सियाँ है। फिर भी यह एक ऐसी प्रणाली विकसित नहीं कर पाया है कि जिसके प्रकाशनों को विश्वसनीय "आँकड़ों की बैंक" के रूप में प्रयुक्त किया जा सके।

(6) [illegible] देशी बैंकर, साहूकार, महाजन आदि पर समुचित नियंत्रण नहीं लगा सका है। यही कारण है कि संगठित एवं असंगठित बाजारों की ब्याज दरों में बहुत अधिक अन्तर है। बैंक दर का प्रभाव भी विद्यमान ब्याज दरों पर अधिक नहीं पड़ता।

NOTES

(7) बिल बाजार के विकास में असफल (Failure in Developing Bill Market) – यद्यपि रिजर्व बैंक ने बिल बाजार के विकास के लिये 1952 से एक योजना प्रारंभ की है फिर भी उसे इस दिशा में समुचित सफलता नहीं मिली है। यही कारण है कि देश में आज भी अच्छे बिलों का अभाव है।

(8) अपर्याप्त बैंकिंग सुविधायें (Insufficient Banking Facilities) – देश में समय-समय पर किये गये राष्ट्रीयकरण से बैंकिंग शाखाओं की संख्या तो बढ़ी है, लेकिन अभी भी ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकिंग सुविधाओं का अभाव है।

(9) ब्याज की ऊँची दरें (High Rates of Interest) – रिजर्व बैंक देश के विभिन्न मुद्रा बाजारों में समन्वय स्थापित करने में असफल रहा है। यही कारण है कि यहाँ अनेक प्रकार की ब्याज दरें पाई जाती हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यमान असंगठित क्षेत्र अभी भी बहुत ऊँची दरों पर ऋण उपलब्ध कराता है।

(10) ग्रामीण साख का अपर्याप्त विकास (Insufficient Development of Rural Credit)– यद्यपि रिजर्व बैंक ने ग्रामीण साख के विकास हेतु अनेक प्रयास किये हैं किन्तु वे प्रयास ग्रामीण क्षेत्र की समग्र आवश्यकताओं को देखते हुए अपर्याप्त हैं। यही कारण है कि आज भी अधिकांश ग्रामीणजन ऋण के लिये साहूकारों पर निर्भर हैं।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए हैं, तथापि यह बैंक देश की बैंकिंग एवं साख सम्बन्धी समस्याओं को हल करने में असफल रहा है। संक्षेप में, रिजर्व बैंक को देश में सफल बैंकिंग विकास के लिये अभी बहुत कुछ करना है।

भारत की बैंकिंग नीति में नवीन सुधार एवं सस्ती मुद्रा नीति
(Recent Reforms in Indian Banking Sector & Cheap Money Policy)

भारत में मौद्रिक एवं बैंकिंग नीति आर्थिक नीति की सहायक है। इसलिये मौद्रिक एवं बैंकिंग नीति के उद्देश्य आर्थिक नीति के उद्देश्यों से भिन्न नहीं है। भारत में आर्थिक नीति के तीन मुख्य उद्देश्य हैं, यथा- आर्थिक वृद्धि, सामाजिक न्याय एवं कीमत स्थिरता। भारतीय रिजर्व बैंक नियंत्रित मुद्रा एवं साख विस्तार की नीति अपनाता रहा है। इसके अन्तर्गत दो बातें पाई जाती हैं, प्रथम-जब अर्थव्यवस्था में स्फीतिकारी दबाव पुनः प्रकट हों तो किसी भी समय तरलता अर्थात् मुद्रा एवं साख को अत्यधिक बढ़ने से रोकना और दूसरा यह कि उत्पादन को प्रेरणा तथा प्रोत्साहन देने के लिए साख के प्रवाह को नियमित करना ताकि आर्थिक वृद्धि की गति को तीव्र करने के लिये अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके। यही कारण है कि वर्ष 1996-97 से वार्षिक स्फीति दर 5 प्रतिशत से कम रही है। यह वित्तीय एवं बैंकिंग नीति की सबसे बड़ी सफलता है।

देश में स्फीति की स्थिति में सुधार होने के कारण ही सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) को अपनाया गया। सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) से आशय मुद्रा को सस्ता करना अर्थात् कम ब्याज दर पर ऋण उपलब्ध कराने से है। ब्याज दर के कम हो जाने से उद्योग, व्यवसाय, स्व: रोजगार आदि सभी आर्थिक गतिविधियों में विस्तार होता है। ब्याज दर के कम होने से उत्पादन लागत में कमी आती है जिससे उत्पादकों की प्रतियोगिता शक्ति में वृद्धि होती है। फलतः बैंक दर जो सन् 1991 में 12% थी, को क्रमशः घटाकर अप्रैल 2001 में 7 प्रतिशत और नवम्बर, 2002 को 6.25 प्रतिशत तथा 26 मार्च, 2004 को 6 प्रतिशत कर दिया गया। इसके साथ ही नकदी सुरक्षित अनुपात (CRR) और रेपो दरों में भी कमी की गई।

आर्थिक विकास, विशेषकर औद्योगिक विकास के लिये सस्ती साख आवश्यक है। रिजर्व बैंक ने इस दिशा में सन् 1995 के बाद सस्ती मुद्रा नीति को अपनाकर औद्योगिक विकास को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया। यही कारण है कि प्रमुख वाणिज्यिक बैंकों की मूल उधार दर (Prime Lending Rate) के निर्धारण में सन् 1997 से ब्याज दर निर्धारण सीमा से मुक्त कर दिया गया यही कारण है कि मूल उधार दर (PLR) जो 1997 में 13.5 प्रतिशत थी क्रमशः घटकर सन् 2001 में 11.00 से 12.00 प्रतिशत, 2002 में 10.75 से 11.50 प्रतिशत तथा 2005 में 10.25 से 10.75 प्रतिशत हो गई।

ब्याज दर नीति (Interest Rate Policy)

भारतीय रिजर्व बैंक (RBI) ब्याज दर संरचना को लचीलापन प्रदान करने की नीति उद्देश्य का पालन कर रहा है। पिछले कई वर्षों से संयत मुद्रा स्फीति और अर्थव्यवस्था में पर्याप्त नकदी के कारण ब्याज दरों में कमी की प्रवृत्ति रही है। ब्याज दरों को उदार बनाने से जहाँ साख की मात्रा में विस्तार हुआ है वहीं जमा दरों में कमी के बावजूद बचतों पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा है। तालिका 1 में ब्याज दरों की प्रवृत्ति का तुलनात्मक चित्रण दर्शाया गया है।

NOTES

तालिका-1

ब्याज दरों की तुलनात्मक प्रवृत्ति

(प्रतिशत-प्रतिवर्ष)

ब्याज दर	30 मार्च, 2001	29 मार्च, 2002	26 मार्च, 2004	21 जनवरी, 2005	20 जनवरी, 2006
1. बैंक दर	7.00	6.50	6.00	6.00	6.00
2. पी.एल.आर.	11.00 से 12.00	11.00 से 12.00	10.25 से 12.00	10.25 से 10.75	10.25 से 10.75
3. जमा दर (1 वर्ष से कम)	8.50 से 10.00	7.50 से 8.50	5.00 से 5.50	5.25 से 6.25	5.25 से 6.25
4. 91 दिवसीय राजकोषीय हुंडियाँ	8.50	6.13	4.37	5.32	6.69
5. 364 दिवसीय राजकोषीय हुंडियाँ	8.96	6.16	4.44	5.77	6.30

स्रोत :- भारत सरकार, आर्थिक समीक्षा 2003-04, 2004-05 एवं आर्थिक समीक्षा, 2005-2006, सारणी 3.3, पृष्ठ 56

बैंक दरों की प्रवृत्तियों (तालिका-1) के अध्ययन से स्पष्ट है कि सस्ती मुद्रा नीति के अन्तर्गत बैंक दर, मूल उधार दर (PLR)तथा जमा दर में कमी करके साख विस्तार को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया गया है जिससे औद्योगिक विकास के साथ-साथ व्यापार-वाणिज्य का भी विस्तार हो। बैंक दर वर्ष 2005-06 में 6.0 प्रतिशत पर अपरिवर्तित रही है। मूल उधार दर (PLR) जो वर्ष 2001 में 11.00 से 12.00 प्रतिशत थी क्रमशः घटकर 2004 में 10.25 से 11.00 प्रतिशत एवं वर्ष 2005-06 में 10.25 से 10.75 प्रतिशत हो गई।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पिछले कुछ वर्षों में बैंकिंग नीति में कई परिवर्तन किए गए हैं, जैसे - उदार शर्तों पर ब्याज दर प्रणाली, बैंकों की प्रचालनात्मक क्षमता में वृद्धि, बैंकों के विनियामक तंत्र को सुदृढ़ करना, बैंकों में प्रौद्योगिकीय सुविधा (कम्प्यूटर) का विस्तार आदि। इसके साथ ही बैंकों की गैर-निष्पादनकारी आस्तियों (Non-performing Assets) के प्रबन्धन हेतु "प्रतिभूतिकरण वित्तीय आस्तियों का पुनर्निर्माण और प्रतिभूति ब्याज प्रवर्तन विधेयक-2000" पारित किया गया। यह अधिनियम बैंकों एवं वित्तीय संस्थाओं की गैर-निष्पादन आस्तियों की समस्याओं पर ध्यान देने के लिए आस्ति प्रबंधन कम्पनियों का गठन करना समर्थ बनाता है।

संक्षेप में, सन् 1995 के बाद के वर्षों में मुद्रा-स्फीति की दर के कम रहने के परिणामस्वरूप रिजर्व बैंक ने सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) को अपनाया। इसके फलस्वरूप कम ब्याज पर उधार देना संभव हुआ है। इससे आर्थिक गतिविधियों में विस्तार की सम्भावनाएँ बढ़ गई हैं। ब्याज दरों में कमी के साथ-साथ इस बात पर भी जोर दिया गया है कि बैंकों के नकद कोषों पर भी पूर्ण नियंत्रण रखा जाए जिससे कि मुद्रा स्फीति जो कि 4 से 5 प्रतिशत है, को नियंत्रण में रखा जा सके। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि उदारीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के साथ भारतीय वित्तीय क्षेत्र के बढ़ते एकीकरण के फलस्वरूप भारतीय रिजर्व बैंक की भूमिका वित्तीय स्थायित्व को बनाये रखने में अधिक महत्वपूर्ण हो गई है।

भारत में मुद्रा एवं पूँजी बाजार
(Money and Capital Market in India)

किसी भी प्रकार की आर्थिक गतिविधि के सुचारु रूप से संचालन एवं उसके विस्तार में पर्याप्त मात्रा एवं उचित ब्याज दर पर वित्तीय सुविधाएँ महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं। उद्यमियों एवं व्यावसायिक उपक्रमों को ये सुविधाएँ मुद्रा एवं पूँजी बाजार से प्राप्त होती हैं। वित्तीय कोषों से जुड़े हुए इन दोनों बाजारों को वित्त बाजार भी कहा जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि तीव्र आर्थिक विकास के लिए विकसित एवं सुव्यवस्थित मुद्रा एवं पूँजी बाजार का होना आवश्यक है।

आर्थिक क्रियाएँ चाहे औद्योगिक उत्पादन से संबंधित हो या कृषि अथवा खनिज से सम्बन्धित हों, सभी में विभिन्न प्रकार के कार्य जैसे - कार्यालय भवन का निर्माण, मशीनों की खरीदी, उपकरणों की स्थापना, कच्चे माल की

आपूर्ति, संचार साधनों की स्थापना, अधिकारी तथा कर्मचारियों की नियुक्ति आदि आवश्यक होते हैं। इन सभी क्रियाओं में उत्पत्ति के भौतिक संसाधनों का प्रयोग होता है और इन्हें वित्तीय संसाधनों के द्वारा प्राप्त किया जाता है। छोटी आर्थिक गतिविधियों के संचालन के लिए यह सम्भव है कि भौतिक संसाधनों के एक भाग की आपूर्ति उत्पादक या व्यवसायकर्ता स्वयं अपनी ओर से कर सकता है, किंतु शेष कार्यों के लिए उसे वित्तीय साधनों पर निर्भर रहना पड़ता है। उदाहरण के लिए, एक दस्तकार उत्पादन कार्य के लिए अपना अथवा अपने परिवार के श्रम का उपयोग कर सकता है और इसके लिए उसे किसी भी प्रकार के वित्त-प्रबंध की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु अपनी गतिविधि के संचालन के लिए उसे अन्य व्यवस्थाएँ तो करनी ही होंगी और इनके लिए उसे वित्त की आवश्यकता होगी। यहाँ यह भी सम्भव है कि उसके पास स्वयं के वित्तीय साधन उपलब्ध हों और इनके द्वारा वह अन्य सभी कार्यों को पूरा कर सके, किंतु यदि उसके स्वयं के वित्तीय साधन अपर्याप्त हैं, तो उसे बाहरी स्रोतों से वित्त जुटाना होगा।

आर्थिक गतिविधियों के विस्तार, बड़े पैमाने के उत्पादन और मशीनों के प्रयोग ने संसाधनों को जुटाने की प्रक्रिया को जटिल बना दिया है। यही कारण है कि अब कोई भी उद्यमी उत्पादन अथवा व्यवसाय से सम्बन्धित विभिन्न संसाधनों को अपने ही वित्तीय स्रोतों से नहीं जुटा पाता और उसे इसके लिए मुद्रा एवं पूँजी बाजार पर निर्भर रहना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि एक देश में मुद्रा एवं पूँजी बाजार जितना अधिक विकसित एवं सुव्यवस्थित होगा, आर्थिक गतिविधियों का विस्तार भी उतना ही अधिक होगा और परिणामस्वरूप उत्पादन, आय, रोजगार आदि में भी तीव्र वृद्धि सम्भव होगी।

सामान्यतः वित्तीय आवश्यकताओं को उनकी प्रकृति तथा समय के आधार पर वर्गीकृत किया जाता है। **प्रकृति के आधार** वित्त दो प्रकार का होता है - 1. **स्थिर पूँजी और** 2. **कार्यशील पूँजी**। इसी प्रकार **समय के आधार पर** इसे 3 वर्गों में विभक्त किया जाता है, यथा 1. **दीर्घकालिक** 2. **मध्यकालिक और** 3. **अल्पकालिक**।

एक उद्यमी या व्यवसायकर्ता अपनी इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वित्त के विभिन्न स्रोतों से सम्पर्क स्थापित करता है और जहाँ से भी कम ब्याज दर एवं उदार शर्तों पर वित्त प्राप्त होता है, वहाँ से अपनी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

भारत में वित्त के स्रोत
(Sources of Finance in India)

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में अनेक प्रकार की आर्थिक क्रियाएँ संचालित होती हैं। इनमें से कुछ क्रियाएँ बड़ी होती हैं और कुछ छोटी। इन क्रियाओं की वित्तीय आवश्यकताएँ भी अलग-अलग होती हैं और तदानुसार इनकी पूर्ति भी भिन्न-भिन्न स्रोतों के द्वारा की जाती है। भारत में मुद्रा एवं वित्त की पूर्ति के प्रमुख स्रोत निम्नानुसार हैं -

1. **स्व-वित्तीयन** (Self Financing) – सभी प्रकार की आर्थिक क्रियाएँ, चाहे वे बड़ी हों या छोटी अथवा निजी हों या सार्वजनिक क्षेत्र की, अपनी स्व-बचत के द्वारा मुद्रा एवं वित्त प्राप्त करती हैं। इन क्रियाओं या उद्यमों में बचतों को निवेश करके कार्य प्रारंभ किया जाता है। यहाँ बचत एवं निवेश के कार्य एक-दूसरे से जुड़ जाते हैं। वित्त के इस स्रोत में मुद्रा की पूर्ति लागत कम आती है और जोखिम का अंश भी कम रहता है, किंतु यह स्रोत आर्थिक उद्यमों, विशेष कर बड़े उद्यमों के लिए पर्याप्त नहीं होता है। कारण यह है कि इसके द्वारा पर्याप्त राशि नहीं जुट पाती, इसीलिए उद्यमों को अन्य स्रोतों का सहारा लेना पड़ता है।

2. **शेयर एवं ऋणपत्र** (Shares and Debentures)– बड़े उद्योगों एवं व्यापारिक संस्थानों द्वारा अपनी स्थाई पूँजी, जैसे- प्लांट, मशीनें आदि का एक बड़ा भाग विभिन्न प्रकार के शेयर (साधारण एवं अधिमानी) एवं ऋणपत्रों (परिवर्तनीय एवं अपरिवर्तनीय) द्वारा जुटाया जाता है। पिछले कुछ वर्षों में भारत में दीर्घकालीन पूँजी जुटाने के लिए यह स्रोत लोकप्रिय हुआ है। इन शेयरों एवं ऋणपत्रों की जोखिम अलग-अलग रहती है। सामान्यतः भारत में एक शेयर का मूल्य वर्तमान में दस रुपए रहता है। इससे सभी छोटे-बड़े निवेशक अपनी बचतों का निवेश शेयरों में कर सकते हैं। इस स्रोत की सफलता उद्यमियों की व्यापारिक साख और सम्बंधित क्रिया-कलाप की लाभकारिता पर निर्भर करती है। शेयर के द्वारा वित्त जुटाने पर कोई ब्याज खर्च नहीं आता। लोकप्रिय एवं सफल औद्योगिक घराने, जैसे टाटा अथवा रिलायंस, किसी भी मात्रा में अपने उद्योगों के लिए शेयरों के द्वारा वित्त जुटा सकती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋणपत्र के खरीददार व्यापारिक कम्पनी के ऋणदाता होते हैं। ऋणपत्र पर निर्धारित दर से ब्याज चुकाया जाता है। इससे निवेश की दृष्टि से ऋणपत्र शेयरों की तुलना में अधिक सुरक्षित होते हैं। निजी निवेशक, व्यापारिक बैंक एवं अन्य वित्तीय संस्थाएँ इसी कारण ऋणपत्रों में बड़ी मात्रा में निवेश करते हैं। ऋणपत्र दो प्रकार के होते हैं, यथा- परिवर्तनीय एवं अपरिवर्तनीय। परिवर्तनीय ऋणपत्र दी हुई अवधि के बाद कम्पनी द्वारा शेयरों में परिवर्तित कर दिए जाते हैं। इसके विपरीत अपरिवर्तनीय ऋण पत्रों पर भुगतान की तिथि तक ब्याज प्राप्त होता है।

NOTES

कुछ समय पहले तक देश में ऋणपत्र विशेष लोकप्रिय नहीं थे, किंतु अब अनेक व्यापारिक घराने इस स्रोत के द्वारा पूँ संकलित करने लगे हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के उद्यम भी ऋणपत्र और बाण्ड के द्वारा पूँजी एकत्र करने लगे हैं।

3. **सार्वजनिक जमा** (Public Deposits)– व्यापारिक संस्थाओं द्वारा मुद्रा एवं वित्त प्राप्ति का एक अन्य स्रो सार्वजनिक जमा है। निवेशकर्ता अपनी बचतों को एक निश्चित समय के लिए व्यापारिक कम्पनियों तथा प्रब अधिकर्ताओं के पास जमा रखते हैं। इन जमा राशियों पर निवेशकर्ताओं को एक निश्चित दर से ब्याज प्राप्त होता है यह ब्याज दर व्यापारिक बैंकों की ब्याज दर से अधिक होती है। यही कारण है कि व्यापारिक कम्पनियों को बड़ी मा में सार्वजनिक जमाएँ प्राप्त हो जाती हैं। जमाकर्ता जब भी चाहें अपना पैसा वापस ले सकते हैं। सामान्यतः उद्य सार्वजनिक जमाओं से प्राप्त राशि का उपयोग कार्यशील पूँजी के रूप में करते हैं। एक व्यापारिक कम्पनी के लिए वि का यह स्रोत बहुत अधिक अनिश्चित एवं अविश्वसनीय है, क्योंकि जमा राशि किसी भी समय वापस ली जा सक है। कभी-कभी तो जमा राशि की वापसी की माँग उस समय उठती है, जबकि कम्पनियों को इस जमा राशि की विशे आवश्यकता होती है। फिर भी यह वर्तमान में उद्यगियों का एक प्रमुख वित्तीय स्रोत है। अनेक निजी वित्तीय संस्था भी सार्वजनिक जमाएँ प्राप्त करती हैं।

4. **बैंकों से ऋण** (Loans from Banks)– अपनी स्थापना के समय से ही देश में व्यापारिक बैंक उद्योग व्यावसायिक कम्पनियों, थोक-फुटकर व्यापार आदि सभी आर्थिक संस्थाओं को कार्यशील पूँजी के लिए ऋण देते हैं इन बैंकों के द्वारा सामान्यतः अल्पकालिक वित्त ही प्रदान किया जाता है। प्रायः व्यापारिक बैंक वैयक्तिक साख, प्रतिभूतिय स्थाई सम्पत्ति आदि की गारंटी के आधार पर ऋण देती हैं। इन ऋणों पर ऋणी व्यक्तियों एवं कम्पनियों को एक निश्चि दर पर ब्याज देना होता है। एक निर्धारित अवधि के बाद इन ऋणों को लौटाना होता है।

व्यापारिक बैंकों को सामान्यतः अल्पकालीन जमा और सामयिक जमा द्वारा धन प्राप्त होता है। यही कारण कि व्यापारिक बैंक अल्पकालीन वित्त प्रदान करते हैं। वर्तमान में ये बैंक बड़ी-बड़ी व्यापारिक कम्पनियों के शेय खरीदकर स्थाई पूँजी के लिए वित्त भी प्रदान करते हैं। इस जोखिम को कम करने के लिए बैंक सरकारी प्रतिभूतिय एवं ऋण पत्रों को खरीदते हैं। इन प्रतिभूतियों एवं ऋण पत्रों पर जहाँ बैंकों को निश्चित दर से ब्याज मिलता है, वहं आवश्यकता पड़ने पर ये इन्हें मुद्रा बाजार में बेचकर नकद धन राशि प्राप्त कर सकते हैं। वर्तमान समय में आर्थिक क्रियाओं के संचालन में व्यापारिक बैंकों का महत्वपूर्ण स्थान है।

5. **औद्योगिक वित्त की विशिष्ट संस्थाएँ** (Specialized Institutions for Industrial Finance)– आर्थिक विकास की गति को तेज करने और योजनाओं में रखे गए लक्ष्यों को पूरा करने के उद्देश्य से देश में अनेक विशिष्ट संस्थाएँ कार्यरत हैं। इन संस्थाओं को विकास बैंक भी कहा जाता है। इनकी स्थापना सरकार के सहयोग से की गई है। इन संस्थाओं में भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, राज्य औद्योगिक वित्त निगम, भारतीय औद्योगिक विकास बैंक भारतीय औद्योगिक ऋण तथा निवेश निगम, भारतीय औद्योगिक पुनर्निर्माण निगम, औद्योगिक विकास निगम, यूनिट ट्रस्ट ऑफ इंडिया, भारतीय जीवन बीमा निगम आदि प्रमुख हैं। ये संस्थाएँ बड़े पैमाने तथा छोटे एवं मध्यम पैमाने सभी प्रकार के उद्योगों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं।

ये संस्थाएँ मुख्यतः स्थायी पूँजी के लिए दीर्घकालीन वित्त उपलब्ध कराती हैं। इसके लिए ये संस्थाएँ व्यापारिक कम्पनियों के शेयर एवं ऋण पत्र क्रय भी करती हैं। नए उद्योगों की स्थापना के साथ-साथ ये संस्थाएँ पुराने उद्योगों के विस्तार एवं नवीनीकरण के लिए भी ऋण उपलब्ध कराती हैं। इसके साथ ही ये संस्थाएँ यह भी सुनिश्चित करने का प्रयास करती हैं कि वित्तीय साधन पूर्व नियोजित दिशाओं में ही इस्तेमाल किए जाएँ। संक्षेप में, औद्योगिक वित्त की इन विशिष्ट संस्थाओं को स्थापना देश में विकास की नियोजित प्रक्रिया को तेज करने के लिए की गई है और इसमें सफलता भी मिली है।

6. विदेशी पूँजी (Foreign Capital)– तीव्र गति से आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी का महत्वपूर्ण स्थान होता है। विदेशी पूँजी मुख्य रूप से मशीनों, तकनीकी ज्ञान, कच्चा माल आदि के लिए आवश्यक होती है। सामान्यतः यह दीर्घकालीन आवश्यकताओं के लिए आवश्यक होती है और घरेलू वित्त के पूरक के रूप में कार्यशील रहती है। विदेशी पूँजी उद्यमियों को कई स्रोतों के प्राप्त होती है। कुछ उद्यमियों को यह रियायती शर्तों पर विदेशी सरकारों और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से प्राप्त होती है, किन्तु इस प्रकार से विदेशी पूँजी उद्यमियों की साख और सरकार की सिफारिश से ही प्राप्त होती है। विदेशी वित्तीय साधनों का कुछ भाग अन्तर्राष्ट्रीय निगमों और विदेशी कम्पनियों द्वारा भी प्राप्त होता है, जिनकी भारत में शाखाएँ अथवा सहायक या सहयोगी कम्पनियाँ हैं। कई उद्यमी प्रत्यक्ष निवेश अथवा भारतीय कम्पनियों के साथ सहयोग या साझेदारी के रूप में भी विदेशी साधन प्राप्त करते हैं।

वर्तमान में कई कम्पनियों ने विश्व बाजार में अपने शेयर एवं ऋण पत्र भी जारी किए हैं, किन्तु यह स्रोत लोकप्रिय एवं अच्छी साख वाली कम्पनियों के लिए ही है। इसके साथ ही कई कम्पनियाँ ऋण के रूप में भी विदेशी

मुद्रा बाजार कहलाता है। यह [illegible] करते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय उद्यमियों को वित्त के अनेक स्रोत उपलब्ध हैं, किन्तु वास्तविक समस्या ब्याज दर की है, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा बाजार की तुलना में अधिक है। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों में ब्याज दर में काफी कमी की गई है तथापि अभी भी ये विकसित देशों की तुलना में अधिक हैं।

NOTES

मुद्रा एवं पूँजी बाजार में अन्तर
(Distinction between Money & Capital Market)

भारतीय मुद्रा बाजार पूँजी बाजार से अनेक आधारों पर भिन्न है, जो कि निम्न प्रकार है -

1. मुद्रा बाजार में उद्यमियों एवं सरकार की अल्पकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु विभिन्न उपकरणों के माध्यम से लेन-देन होता है। इसके विपरीत पूँजी बाजार में उद्यमियों एवं सरकार की दीर्घकालीन वित्त की पूर्ति हेतु विभिन्न प्रतिभूतियों ऋण उपकरणों का कारोबार होता है।
2. मुद्रा बाजार में जिन प्रतिभूतियों एवं अन्य निधियों का लेन-देन होता है, उनकी अवधि 1 वर्ष से कम की होती है, जबकि पूँजी बाजार में दीर्घकालीन प्रतिभूतियों, जिनकी अवधि 20 से 25 वर्ष की होती है, का लेन-देन होता है।
3. मुद्रा बाजार के कारोबार में वचन पत्र, विनिमय बिल, राजकोषीय बिल, जमा प्रमाण-पत्र, व्यापारिक बिल आदि उपकरणों का प्रयोग होता है। दूसरी ओर पूँजी बाजार में व्यापारिक कम्पनियों के शेयर, ऋण पत्र एवं बाण्ड और सरकार की दीर्घकालीन प्रतिभूतियों का लेन-देन होता है।
4. मुद्रा बाजार में कार्य करने वाली प्रमुख वित्तीय संस्थाएँ केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंक, गैर बैंक वित्त संस्थाएँ, दलाल आदि होती हैं। इसके विपरीत शेयर बाजार (स्टॉक एक्सचेंज), म्युचुअल फण्ड, बीमा कम्पनियाँ, विशिष्ट वित्तीय संस्थाएँ कार्य करती हैं।

भारत में मुद्रा बाजार
(Money Market in India)

मुद्रा बाजार में एक वर्ष या इससे कम समय में परिपक्व होने वाले ऋण पत्रों के क्रय-विक्रय की सुविधा प्राप्त होती है। इन अल्पकालीन ऋण पत्रों से मुद्रा की आवश्यकता वाले सभी व्यक्तियों, उद्यमियों, व्यापारियों एवं सरकार को वित्त प्राप्त होता है। इस प्रकार मुद्रा बाजार केवल एक बाजार ही नहीं है वरन् "उन विभिन्न संस्थाओं एवं व्यक्तियों को दिया गया एक सामूहिक नाम है जो निकट मुद्रा के विभिन्न स्वरूपों में लेन-देन करते हैं।" (A collective name given to the various forms and institutions that deals with the various grades of near money) इस प्रकार मुद्रा बाजार में साँख बाजार, व्यापारिक बिल बाजार, राजकोषीय बिल बाजार, अन्तर बैंक बाजार और जमा प्रमाण-पत्र बाजार शामिल होते हैं। भारतीय मुद्रा बाजार में निम्नलिखित संस्थाएँ शामिल हैं -

1. **रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया** (Reserve Bank of India)– भारतीय मुद्रा बाजार की यह एक प्रमुख संस्था है। रिजर्व बैंक मुद्रा बाजार के संरक्षक के रूप में कार्य करता है और अर्थव्यवस्था में स्थिरता बनाए रखने के लिए मुद्रा एवं साख की पूर्ति को घटाता-बढ़ाता रहता है। अर्थव्यवस्था में मुद्रा की माँग के अनुसार रिजर्व बैंक समय-समय पर मौद्रिक नीति की घोषणा करता है तथा बैंक दर एवं नकदी रिजर्व अनुपात आदि में परिवर्तन करके मुद्रा बाजार को नियंत्रित करता है।

2. **व्यापारिक बैंक** (Commercial Banks)– भारत में राष्ट्रीयकृत बैंकों के साथ-साथ निजी क्षेत्र की अनेक बैंकिंग संस्थाएँ कार्यरत हैं। ये बैंक अल्पकालीन ऋणों का निपटारा करती हैं, जो वे अपने व्यापारियों को उधार देती हैं। व्यापारिक बैंक विनिमय बिलों और खजाना बिलों का बट्टा करते हैं और वचन पत्र (Promissory note) तथा अन्य प्रतिभूतियों के आधार पर अग्रिम एवं ओवर ड्राफ्ट द्वारा ऋण देती हैं।

3. **गैर-बैंक वित्तीय मध्यस्थ** (Non-bank Financial Intermediaries)– भारत में व्यापारिक बैंकों के अतिरिक्त अनेक गैर-बैंक वित्तीय संस्थाएँ कार्यरत हैं, जो उधार लेने वालों को अल्पकालीन एवं मध्यकालीन ऋण प्रदान करती हैं। ये संस्थाएँ सार्वजनिक क्षेत्र के साथ-साथ निजी क्षेत्र में भी कार्यरत हैं। इस श्रेणी में वित्त निगम, बीमा कम्पनियाँ, प्राविडेन्ट फण्ड, अवत बैंक, म्युच्युअल फण्ड्स आदि को रखा जाता है।

उपर्युक्त सभी संस्थाएँ जो मुद्रा बाजार में सम्मिलित हैं, अकेले ऋण देने के साथ-साथ एक-दूसरे पर निर्भर रहती हैं और मिल-जुलकर वित्तीय सुविधाएँ प्रदान करती हैं।

NOTES

मुद्रा बाजार के उपकरण
(Instruments of Money Market)

1. **वचन-पत्र** (Promissory Note) – यह सबसे पुराने प्रकार का व्यापार बिल होता है। वचन पत्र कि उद्यमी या व्यवसायी की ओर से स्वीकृत, भविष्य की तिथि पर मुद्रा की निश्चित रकम दूसरे व्यवसायी को चुकाने लिखित वचन होता है। सामान्यतः वचन पत्र का भुगतान तीन दिन की छूट के साथ 90 दिन के बाद होता है। वच पत्र, ऋणी द्वारा दिया जाता है। वचन पत्र का वर्तमान में बहुत कम उपयोग में लाया जाता है।

2. **व्यापारिक बिल** (Commercial Bills)– भारतीय मुद्रा बाजार का यह एक महत्वपूर्ण उपकरण है। य ऋणदाता द्वारा दिया जाता है और ऋणी के बैंक द्वारा स्वीकृत होता है। उधारदाता या तो बैंक अथवा दलालों व्यापारिक बिलों का बट्टा करवा सकता है, जो स्वीकृति की तारीख से भुगतान के लिए मान्य होता है। इसकी प्रक्रि वचन पत्र के समान ही होती है।

3. **ट्रेजरी बिल्स** (Treasury Bills)– मुद्रा बाजार का प्रमुख उपकरण ट्रेजरी बिल्स या खजाना बिल्स हो हैं। ये एक वर्ष से कम की अवधि में परिवर्तनीय होते हैं। भारत में ट्रेजरी बिल भारत सरकार द्वारा जारी किए जाते हैं देश में इस समय तीन तरह के ट्रेजरी बिल हैं, यथा 14 दिन, 91 दिन और 364 दिन के। इन बिलों पर बट्टे का का व्यापारिक बैंक एवं अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा किया जाता है।

4. **माँग और सूचना मुद्रा** (Call and Notice Money)– माँग मुद्रा बाजार में एक दिन के लिए और सूचन बाजार में बिना किसी ऋणाधार जमानत के 14 दिन तक धन राशि को उधार लिया एवं दिया जाता है। उधार ले वाली संस्था जमा की रसीद को उधारदाता को जारी करता है, जो माँगे जाने पर ब्याज के साथ उधार ली गई राशि वं लौटावा है। भारत में व्यापारिक बैंक और सहकारिता बैंक इस बाजार से धन राशि लेते एवं देते हैं।

5. **अन्तर-बैंक सावधि बाजार** (Inter-bank Term Market)– भारत में यह बाजार केवल व्यापारिक बैंकं तथा सहकारिता बैंकों के लिए होता है, जो बाजार निर्धारित दरों पर बिना किसी ऋण आधार प्रतिभूति या जमानत के 14 दिन से अधिक और 90 दिन से कम की अवधि के लिए धनराशि को उधार लेते एवं देते हैं।

6. **व्यापारिक पत्र** (Commercial Papers)– व्यापारिक या व्यावसायिक पत्र बैंकों से उधार लेने के बजा सीधे बाजार से अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऊँचे मूल्यांकन वाली व्यापारिक कम्पनियों द्वारा जार किए जाते हैं। व्यापारिक पत्र उधार लेने वाली कम्पनी द्वारा किसी निश्चित तारीख को ऋण चुकाने का वचन होता है जो सामान्यतः 3 महीने से 6 महीने की अवधि के लिए होता है। यह उपकरण विकसित देशों में अधिक लोकप्रिय है भारत में इसका प्रचलन जनवरी, 1990 से प्रारंभ हुआ। अब इस उपकरण का प्रयोग तेजी से बढ़ रहा है।

पूँजी बाजार
(Capital Market)

पूँजी बाजार से आशय ऐसे वित्त बाजार से है, जहाँ मध्य एवं दीर्घकालीन ऋणों का लेन-देन होता है। भारत में पूँजी बाजार से उद्योग तथा केन्द्र, राज्य एवं स्थानीय सरकारें लम्बी अवधि के ऋण प्राप्त करती हैं। यह बाजार व्यापारिक कम्पनियों के शेयरों, ऋण-पत्रों, सरकारी बाण्डों एवं प्रतिभूतियों का लेन-देन भी करता है। पूँजी बाजार में हस्तांतरित होने वाली धन राशि दीर्घकालीन निवेश हेतु बचत करने वाले व्यक्तियों, व्यापारिक बैंकों, बीमा कम्पनियों यूनिट ट्रस्ट, लीजिंग संस्थाएँ, म्युचुअल फण्ड्स जैसी संस्थाओं से प्राप्त होती है। पूँजी बाजार मुख्यतः शेयर बाजार (Stock Exchanges) के माध्यम से कार्य होता है। शेयर बाजार एक ऐसा बाजार है, जो कम्पनियों के नवीन एवं पुराने शेयरों, ऋण-पत्रों, बाण्डों आदि के क्रय-विक्रय की सुविधा प्रदान करता है। इस प्रकार पूँजी बाजार नई पूँजी की पूर्ति और माँग से सम्बंधित है और शेयर बाजार के माध्यम से ऐसे लेन-देन की सुविधा देता है। भारत मे पूँजी बाजार के प्रमुख उपकरण निम्न प्रकार हैं :-

1. **व्यापारिक कम्पनियों के स्टॉक** (Corporate Stock) – पूँजी बाजार के उपकरणों में देश में सबसे अधिक क्रय-विक्रय व्यापारिक कम्पनियों के स्टॉकों या प्रतिभूतियों का होता है। इन स्टॉकों में सभी प्रकार के शेयर (सामान्य, अधिमान, बोनस, राइट इश्यू के शेयर), ऋण पत्र (परिवर्तनीय एवं अपरिवर्तनीय) एवं सभी प्रकार के बाण्ड्स सम्मिलित रहते हैं।

2. **बंधक** (Mortgages) – प्रतिभूतियों एवं सम्पत्ति को जमानत के रूप में रखकर ऋण प्रदान करना सबसे अधिक लोकप्रिय एवं पुराना तरीका है। इसमें ऋण सुरक्षित रहते हैं एवं जोखिम का अंश कम रहता है। व्यापारिक बैंक, बीमा कम्पनियाँ, आवास वित्त एवं अन्य गैर बैंकिंग वित्तीय संस्थाएँ बंधक के आधार पर ऋण देती हैं।

3. **सरकारी प्रतिभूतियाँ** (Government Securities) – समय-समय पर अपनी आवश्यकतानुसार केन्द्रीय एवं राज्य सरकारें तथा स्थानीय निकाय दीर्घकालीन प्रतिभूतियाँ एवं बाण्ड जारी करते हैं। वित्त बाजार की दृष्टि से इन्हें

सर्वोत्तम प्रतिभूतियां (Gild edged Securities) माना जाता है। आवश्यकता के समय इनका बट्टा सरलता से हो जाता है। इन प्रतिभूतियों को जनसाधारण, बैंक एवं अन्य वित्तीय संस्थाएँ खरीदती हैं।

4. व्यापारिक एवं उपभोक्ता ऋण (Commercial and Consumer Loans) – उद्योग एवं व्यावसायिक गतिविधियों की स्थापना एवं विकास के लिए उद्यमी मध्यम एवं दीर्घ अवधि के ऋण बैंक एवं गैर-बैंक वित्त संस्थाओं से प्राप्त करते हैं। दीर्घकालीन उपभोक्ता वस्तुओं जैसे मकान, कार एवं घरेलू उपकरणों के लिए सामान्य व्यक्ति बैंक और अन्य वित्तीय संस्थाओं से मध्यम अवधि के लिए ऋण लेते हैं।

5. विदेशी बाण्ड (Foreign Bonds) – कई बड़ी व्यापारिक कम्पनियाँ अपनी विदेशी पूँजी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए विश्व पूँजी बाजार में अपने बाण्ड जारी करती हैं। भारतीय कम्पनियाँ प्रायः अपने बाण्ड डालर में जारी करती हैं। इससे इन कम्पनियों को कम ब्याज दर पर विदेशी मुद्रा प्राप्त हो जाती है।

भारतीय पूँजी बाजार
(Indian Capital Market)

पूँजी बाजार एक ऐसी संस्था है जो वैयक्तिक एवं संस्थागत बचतों को संकलित कर व्यापारिक कम्पनियों, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों एवं सरकार को दीर्घकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उपलब्ध कराती है। पूँजी बाजार जिसे सामान्यतः शेयर बाजार (Equity Market) के रूप में जाना जाता है। कारोबार की दृष्टि से दो भागों में वर्गीकृत किया जाता है, यथा- **प्राथमिक बाजार** (Primary Market) और **द्वितीयक बाजार** (Secondary Market)। प्राथमिक बाजार में व्यापारिक कम्पनियाँ नवीन शेयर्स एवं ऋण पत्र जारी करके पूँजी प्राप्त करती हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रम की प्रतिभूतियाँ जारी करके पूँजी प्राप्त करती हैं। द्वितीयक बाजार में विद्यमान शेयर्स एवं ऋण पत्रों का क्रय-विक्रय किया जाता है।

कोई भी कम्पनी जब अपने नए शेयर या ऋण पत्र जारी करती है तो सर्वप्रथम उसे अपनी कम्पनी के कारोबार, पूँजी प्राप्त करने के उद्देश्य, सम्पूर्ण कार्य योजना, जोखिम का विवरण, व्यवस्थापकों का विवरण आदि के विस्तृत विवरण के साथ सर्व साधारण के लिए प्रॉस्पेक्टस जारी करना होता है। इस प्रास्पेक्टस के आधार पर कम्पनी विभिन्न माध्यमों से प्रचार-प्रसार करती है। कोई भी व्यक्ति प्रॉस्पेक्टस के साथ दिए हुए फार्म में शेयर खरीदने के लिए निर्धारित धनराशि बैंक में जमा करके आवेदन कर सकता है। शेयर एवं ऋण पत्र जारी करने की पात्रता केवल उन्हीं कम्पनियों को होती है जो कम्पनीज एक्ट, 1956 के अन्तर्गत पंजीकृत हों और सेबी (SEBI) ने उन्हें अपनी स्वीकृति दे दी हो।

शेयर एवं ऋण-पत्र के मध्य प्रमुख अन्तर यह होता है कि शेयरों का क्रय-विक्रय बाजार मूल्य पर होता है और यह मूल्य हर समय परिवर्तित होता रहता है, जबकि ऋण पत्रों का क्रय-विक्रय उन पर अंकित मूल्य के आधार पर ही होता है। शेयर धारकों को कम्पनी को प्राप्त होने वाले लाभ के आधार पर प्रतिवर्ष लाभांश (Dividend) प्राप्त होता है, जबकि ऋण पत्र धारकों को निर्धारित दर पर ब्याज प्राप्त होता है। शेयर धारक, शेयरों की संख्या के आधार पर कम्पनी के साझेदार होते हैं और उन्हें कम्पनी द्वारा आयोजित वार्षिक बैठक में सम्मिलित होकर अपना मत देने का अधिकार प्राप्त होता है। इसके विपरीत ऋण पत्र धारकों को कम्पनी की बैठकों में मत देने का अधिकार नहीं होता। शेयर एवं ऋण पत्र दोनों को पूँजी बाजार में बेचा एवं खरीदा जा सकता है।

वर्तमान में निवेशकों एवं बचतकर्ताओं को लुभाने के उद्देश्य से वित्तीय संस्थाओं, जैसे- आईडीबीआई एवं आईसीआईसीआई ने अनेक प्रकार के आकर्षक ऋण पत्र (बाण्ड) जारी किए हैं। इन बाण्डों में अनेक विशेषताएँ होती है, जैसे - आयकर में छूट, कर मुक्त ब्याज, नियमित आय, सेवानिवृत्ति बाण्ड, संचयी ब्याज भुगतान आदि। ये संस्थाएँ प्रतिवर्ष इस प्रकार के ऋण पत्र जारी करके जन साधारण एवं निवेशक संस्थाओं से धन एकत्र करती हैं। इन संस्थाओं ने आधारभूत संरचना के विकास हेतु इंफ्रास्ट्रक्चर बाण्ड जारी किए हैं, जिनमें 70,000 रुपये तक निवेश करने से आयकर में 20 प्रतिशत की छूट मिल जाती है। 2005-06 के बजट में इस प्रकार के बाण्डों में निवेश करने को और अधिक आकर्षक बनाया गया है। विभिन्न सार्वजनिक संस्थाओं एवं व्यापारिक कम्पनियों द्वारा जारी किए जाने वाले ऋण पत्रों की क्रेडिट रेटिंग (Credit Rating) की प्रणाली भी भारत में सन् 1988 से प्रारंभ हुई है। इस क्रेडिट रेटिंग में ऋण पत्र को जारी करने वाली संस्था की वित्तीय स्थिति, बाजार में लोकप्रियता, संचालन की कार्य क्षमता, पिछले वर्षों में किए गए भुगतानों की स्थिति, जोखिम का अंश, प्रोजेक्ट (जिसके लिए धन संकलित किया जाना है) का विवरण आदि की जाँच की जाती है। भारत में क्रेडिट रेटिंग करने वाली प्रमुख संस्थाएँ निम्नानुसार हैं -

1. Credit Rating Information Services of India Ltd. (CRISIL) set-up by ICICI and UTI in 1988.

2. Investment Informations and Credit Rating Agency of India Ltd. (ICRA) set-up by IFCI in 1991.

3. Credit Analysis and Research Ltd. (CARL) Promoted by IDBI in 1993 in association with financial institutions.

शेयर एवं ऋण पत्रों के क्रय-विक्रय की सुविधा के कारण इनमें सदैव तरलता (Liquidity) बनी रहती है इनका क्रय-विक्रय शेयर बाजार में होता है। विद्यमान शेयर एवं ऋण पत्रों में तरलता के कारण ही निवेशक एवं बचतकर्त इनमें निवेश करने के लिए प्रेरित होता है। दूसरे शब्दों में, विद्यमान शेयरों एवं ऋण पत्रों के क्रय-विक्रय (द्वितीयक बाजा में) का कारोबार जितना अधिक होगा, उतने ही अधिक निवेशक एवं बचतकर्ता शेयर ऋण पत्रों (प्राथमिक बाजार) में अपना पैसा लगाने के लिए प्रेरित होंगे। वर्तमान में शेयर एवं ऋण पत्रों के क्रय-विक्रय के लिए देश में 23 स्टॉक एक्सचेंज (Stock Exchanges) या शेयर बाजार हैं। इनमें से बम्बई स्टाक एक्सचेंज सबसे अधिक पुराना है औ इसकी स्थापना सन् 1875 में हुई थी। इसके बाद कलकता स्टाक एक्सचेंज (1908) और देहली स्टाक एक्सचेंज (1947) अस्तित्व में आए। वर्तमान में चेन्नई, अहमदाबाद, हैदराबाद, इंदौर, बेंगलौर, कोचीन, कानपुर, पुणे, लुधियाना गुवाहाटी, मगध, जयपुर, भुवनेश्वर, सौराष्ट्र, कोयम्बटूर एवं बड़ौदा में पृथक-पृथक स्टाक एक्सचेंज हैं। इन स्टाक एक्सचेंजे में उन्हीं कम्पनियों के शेयरों का कारोबार होता है जो यहाँ पंजीकृत हैं। इनमें क्रय-विक्रय का कार्य दलालों के माध्यम से होता है। इन स्टाक एक्सचेंजों में सुचारु रूप से कार्य संचालन के लिए "Securities Regulation Act, 1956" पारित किया गया है।

शेयर बाजार में दलाल हर्षद मेहता काण्ड के बाद एक विश्वास का संकट पैदा हो गया था। कारण यह था कि इस काण्ड के बाद शेयर मूल्यों में तेजी से गिरावट आई और इसके कारण निवेशकों को भारी हानि उठाना पड़ी। इस संकट से शेयर बाजार को उबारने के लिए भारत सरकार ने "Securities and Exchange Board of India Act, 1992" पारित किया और निवेशकों की सुरक्षा और शेयर बाजार के सुचारु रूप से संचालन के लिए सेबी (SEBI) नामक संस्था की स्थापना की। यह संस्था प्राथमिक शेयर बाजार के साथ-साथ द्वितीयक बाजार की कार्य प्रणाली को नियंत्रित करती है। इसका विस्तृत अध्ययन पृथक से किया गया है। नवीन आर्थिक नीति (1991) के क्रियान्वयन के साथ-साथ देश में शेयर बाजार की कार्य प्रणाली में सुधार की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। जहाँ एक ओर सेबी की स्थापना करके सरकार ने विद्यमान स्टाक एक्सचेंजों को नियंत्रित किया, वहीं नेशनल स्टाक एक्सचेंज की स्थापना और स्वचलित कार्यप्रणाली के विकास से शेयर कारोबार को पारदर्शी बनाकर गति दी। कुछ प्रमुख स्टाक एक्सचेंजों का विस्तृत अध्ययन निम्नानुसार है-

बम्बई स्टाक एक्सचेंज (Bombay Stock Exchange–1875):-

नेशनल स्टाक एक्सचेंज की स्थापना के पूर्व देश में शेयर कारोबार का लगभग 80 प्रतिशत भाग केवल बम्बई स्टाक एक्सचेंज में होता था। वर्तमान में भी यहाँ सर्वाधिक कम्पनियों के शेयर पंजीकृत हैं और वार्षिक कारोबार 6,00,000 करोड़ रुपये से अधिक, जो कि कुल कारोबार का लगभग 30 प्रतिशत भाग है, होता है। अपने कारोबार के विस्तार के लिए बोल्ट (On Line Trading) से 300 शहरों को जोड़ा। इसके साथ ही पारदर्शिता लाने के लिए इंटरनेट के माध्यम से स्क्रीन आधारित क्रय-विक्रय प्रारंभ किया गया। सन् 1997 से निवेशकों की सुरक्षा के लिए एक "Trade Guarantee Fund" की स्थापना की गई।

नेशनल स्टाक एक्सचेंज (National Stock Exchange- NSE):-

सम्पूर्ण देश में पारदर्शी शेयर कारोबार को बढ़ाने के साथ-साथ शेयर धारकों के हितों की सुरक्षा करने के उद्देश्य से विभिन्न वित्तीय संस्थाओं के सहयोग से नवम्बर, 1992 में नेशनल स्टाक एक्सचेंज की स्थापना की गई। इसकी स्थापना एवं कम्प्यूटर आधारित स्क्रीन ट्रेडिंग के विकास में हांगकॉग की "International Securities Consultancy" का विशेष सहयोग रहा। अन्य स्टाक एक्सचेंजों के समान यहाँ कारोबार शेयर दलालों के द्वारा न होकर पंजीकृत शेयरों से सम्बधित कम्पनियों एवं संचालक मंडल द्वारा दक्ष प्रबंधकों के माध्यम से किया जाता है। नेशनल स्टाक एक्सचेंज की स्थापना के बाद से अब यहाँ अंतरराष्ट्रीय स्तर की कार्यप्रणाली को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया गया है।

नेशनल स्टाक एक्सचेंज में ट्रेजरी बिल्स, सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के बॉण्ड्स, यू.टी.आई. के यूनिट- 64, कार्मार्शियल पेपर्स जैसे ऋण पत्रों का क्रय-विक्रय जून 1994 से प्रारंभ हुआ। इन ऋण पत्रों का कारोबार लगभग 1000 पंजीकृत सदस्यों द्वारा किया जाता है, जिनमें से अधिकांश वित्तीय संस्थाएँ एवं व्यापारिक कम्पनियाँ हैं। ऋण पत्रों का कारोबार भी पूर्णतः स्वचलित कम्प्यूटर आधारित स्क्रीन ट्रेडिंग के माध्यम से होता है। नेशनल स्टाक एक्सचेंज में लगभग 9,00,000 करोड़ रुपये का वार्षिक कारोबार होता है, जो कि पूँजी बाजार के कुल कारोबार का लगभग 41 प्रतिशत है। व्यापार में पूर्ण पारदर्शिता एवं त्वरित तथा स्वचलित कार्यप्रणाली होने के कारण नेशनल स्टाक एक्सचेंज के कारोबार में और अधिक वृद्धि होने की पूर्ण सम्भावना है।

NOTES

कलकत्ता स्टाक एक्सचेंज (Calcutta Stock Exchange):-

कलकत्ता स्टाक एक्सचेंज की स्थापना 150 सदस्यों के साथ सन् 1908 में हुई। अब सदस्य संख्या बढ़कर 949 हो गई है, जिनमें से 159 संस्थागत सदस्य हैं। इस स्टाक एक्सचेंज में लगभग 2000 कम्पनियों के शेयर्स ऋण पत्र सूचीबद्ध हैं। यहाँ वार्षिक आधार पर लगभग 3,50,000 करोड़ रुपये का कारोबार होता है, जो कि कुल पूँजी बाजार के कारोबार का लगभग 17 प्रतिशत भाग है। नेशनल स्टाक एक्सचेंज की स्थापना के बाद यहाँ के कारोबार में कमी आई है।

ओ.टी.सी. एक्सचेंज ऑफ इंडिया (Over the Counter Exchange of India- OTCEI)

ओ.टी.सी. एक्सचेंज ऑफ इंडिया की स्थापना सेबी के दिशा-निर्देशों के अनुसार कम्पनी अधिनियम के अंतर्गत हुई और सितम्बर 1992 से कार्य प्रारंभ किया। यह सेक्युरिटीज कांट्रेक्ट (रेग्यूलेशन) एक्ट 1956 के द्वारा मान्यता प्राप्त स्टाक एक्सचेंज है। इस स्टाक एक्सचेंज की स्थापना पूँजी बाजार से कम्पनियों के द्वारा मितव्ययिता से पूँजी प्राप्त करना और छोटे-छोटे निवेशकों को पूँजी बाजार में निवेश करने की सुविधा उपलब्ध कराना है। ओ.टी.सी. एक्सचेंज ने व्यापारिक कम्पनियों एवं निवेशकों को सुविधा प्रदान करने के लिए देश के 20 बड़े शहरों में प्रतिनिधि कार्यालयों की स्थापना की है। कोई भी कम्पनी जिसकी अंशपूँजी 10 करोड़ से कम है, ओ.टी.सी. एक्सचेंज में सूचीबद्ध हो सकती है। इस स्टाक एक्सचेंज में 890 सदस्य पंजीकृत हैं, जिसमें से लगभग 75 प्रतिशत कार्पोरेट सदस्य हैं।

अन्य स्टाक एक्सचेंज (Other Stock Exchanges)

मुम्बई, नेशनल, कोलकाता एवं ओ.टी.सी. एक्सचेंजों के साथ-साथ देश में सेक्यूरिटीज एक्ट, 1956 के द्वारा मान्यता प्राप्त 19 और स्टाक एक्सचेंज कार्यरत हैं, किन्तु नेशनल स्टाक एक्सचेंज के द्वारा सम्पूर्ण देश में स्क्रीन आधारित स्वचलित प्रणाली के विस्तार से इन स्टाक एक्सचेंजों का कारोबार बहुत कम हो गया है। मगध, कोची, गोहाटी, सौराष्ट्र, मेंगलौर एवं इंदौर स्टाक एक्सचेंजों में तो क्रय-विक्रय का कारोबार लगभग समाप्त हो ही गया है। इन स्टाक एक्सचेंजों के पंजीकृत सदस्य वर्तमान में नेशनल स्टाक एक्सचेंज एवं मुम्बई स्टाक एक्सचेंज के स्थापित टर्मिनलों पर कारोबार कर रहे हैं।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. मौद्रिक नीति से आप क्या समझते हैं ? विकासशील देशों में इसके उद्देश्यों एवं सीमाओं की विवेचना कीजिए।
2. केन्द्रीय बैंक द्वारा किसी देश की मुद्रा एवं साख का नियंत्रण किस प्रकार किया जाता है ? संक्षेप में विवेचना कीजिए।
3. भारतीय रिजर्व बैंक की मुद्रा-नियंत्रण नीति की आलोचनात्मक विवचेना कीजिए।
4. भारतीय रिजर्व बैंक के प्रमुख कार्यों की विस्तार से व्याख्या कीजिए।
5. मौद्रिक स्थिरता एवं आर्थिक विकास के सम्बंध में रिजर्व बैंक की नीति तथा सफलताओं की समीक्षा कीजिए।
6. भारत जैसे विकासशील देश में मुद्रा एवं पूँजी बाजार के महत्व की विवेचना कीजिए। मुद्रा बाजार, पूँजी बाजार से किस प्रकार भिन्न है ?
7. पूँजी बाजार से आप क्या समझते हैं ? पूँजी बाजार के विभिन्न उपकरणों की विवेचना कीजिए।
8. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए -
   (i) मौद्रिक नीति के उपकरण (Instruments of Monetary Policy)
   (ii) रिजर्व बैंक की सफलताएँ एवं असफलताएँ (Achievements & Failures of RBI)
   (iii) सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money Policy)
   (iv) ब्याज दर नीति (Interest Rate Policy)
   (v) भारत में मुद्रा बाजार (Money Market in India)
   (vi) भारत में पूँजी बाजार (Capital Market in India).

अपनी प्रगति की जाँच करे
Test your Progress

NOTES

8

भारत की राजकोषीय नीति
(FISCAL POLICY IN INDIA)

भूमिका (Introduction) – परम्परावादी अर्थशास्त्री मनुष्य के आर्थिक कार्यों में राज्य के हस्तक्षेप के विरोध थे। उनके अनुसार सरकार को केवल तीन काम करने चाहिए, यथा - (अ) देश में शान्ति व सुरक्षा, (ब) विदेशी आक्रमण से रक्षा एवं (स) न्याय की व्यवस्था। उनका मत था कि सरकार को अर्थव्यवस्था में अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, किन्तु 1930 की महामन्दी ने परम्परावादियों के उक्त विचारों को खोखला सिद्ध कर दिया। प्रो. कींस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'सामान्य सिद्धान्त' (General Theory) में मंदी, आर्थिक अस्थिरता एवं आर्थिक संकटों को दूर करने के लिए सरकार को सड़कों, सिंचाई कार्यों, सार्वजनिक भवन निर्माण आदि को सार्वजनिक व्यय द्वारा पूर्ण करने सम्बन्धी नीति को अपनाने का सुझाव दिया। उनकी इसी नीति को कालान्तर में 'राजकोषीय नीति' (Fiscal Policy) कहा गया है।

राजकोषीय नीति का अर्थ एवं परिभाषाएँ
(Meaning & Definitions of Fiscal Policy)

सामान्यतः सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक आय एवं सार्वजनिक ऋण से सम्बन्धी सरकार की क्रियाओं को राजकोषीय नीति कहते हैं। राजकोषीय नीति की प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं -

प्रो. कुलबर्टन (J.M. Coulberton): "राजकोषीय नीति से हमारा आशय सरकार के उन कार्यों से है जो सरकार के आय एवं व्यय को प्रभावित करते हैं और जिन्हें हम सामान्यतः सरकार की विशुद्ध आय, उसके आधिक्य अथवा घाटे द्वारा मापते हैं।"

श्रीमती हिक्स (A. Smiths) : राजकोषीय नीति का सम्बन्ध उस पद्धति से है जिसमें लोकवित्त के विभिन्न अंग अपने प्राथमिक कर्तव्यों को पूरा करने हेतु सामूहिक रूप से आर्थिक नीति के उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं।

प्रो. आर्थर स्मिथीज (Prof. Arthur): "राजकोषीय नीति वह नीति है जिसमें सरकार अपने व्यय एवं आय के कार्यक्रमों को राष्ट्रीय आय, उत्पादन एवं रोजगार पर वांछित प्रभाव डालने एवं अवांछित प्रभावों को रोकने के लिए प्रयुक्त करती है।"

प्रो. सेम्युल्सन (Samuelson) : "सक्रिय राजकोषीय नीति से हमारा तात्पर्य करारोपण एवं सार्वजनिक व्यय को ऐसा स्वरूप देने की प्रक्रिया से है- (अ) जो व्यापार चक्र की लहरों को दबाने में सहायक हो, (ब) जो एक विकासशील एवं उच्च रोजगार वाली अर्थव्यवस्था को अत्यधिक मुद्रास्फीति एवं मुद्रा संकुचन से मुक्त रख सके।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि राजकोषीय नीति के अन्तर्गत करारोपण, सार्वजनिक व्यय एवं सार्वजनिक ऋण से सम्बन्धित उन वस्तुओं का अध्ययन किया जाता है जिनके द्वारा सरकार पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास करती है।

राजकोषीय नीति के उद्देश्य
(Objectives of Fiscal Policy)

राजकोषीय नीति के उद्देश्यों के सन्दर्भ में प्रो. मसग्रेव (Musgrave) ने लिखा है, "राजकोषीय नीति का उद्देश्य उच्च रोजगार, कीमतों में स्थिरता, विदेशी व्यापार में सन्तुलन व आर्थिक विकास में वृद्धि करना आदि है।" सरलता के लिए राजकोषीय नीति के उद्देश्यों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, यथा विकसित देशों के सन्दर्भ में और अल्पविकसित देशों के सन्दर्भ में। विकसित देशों में राजकोषीय नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :-

(1) **पूर्ण रोजगार** (Full Employment) - वर्तमान समय में विकसित देशों में राजकोषीय नीति का प्रमुख उद्देश्य पूर्ण रोजगार की स्थिति को बनाये रखना है। 1930 की महामन्दी के बाद कीस ने राजकोषीय नीति को पूर्ण रोजगार प्राप्त करने का प्रमुख यंत्र माना है। कीस ने सन्तुलित बजट के स्थान पर घाटे के बजट को महत्व दिया। उनका मत था कि उचित कर नीति, सार्वजनिक व्यय एवं सार्वजनिक ऋण द्वारा सरकार लोक निर्माण के कार्यों को चालू करके पूर्ण रोजगार की दशा प्राप्त कर सकती है।

NOTES

(2) मुद्रा स्फीति पर नियंत्रण (To control Inflation) - राजकोषीय नीति का उद्देश्य मुद्रास्फीति का नियंत्रण करके देश की अर्थव्यवस्था को उसके बुरे प्रभावों से बचाना है। मुद्रास्फीति रोकने के लिए सरकार प्रशासनिक व्यय कम कर सकती है, सार्वजनिक उद्योगों के व्यय को घटा सकती है और करारोपण द्वारा अनावश्यक उपभोग रोक सकती है। इसके साथ ही, सार्वजनिक ऋण लेकर, नये कर लगाकर एवं पुराने करों की दरों में वृद्धि करके सरकार समाज की क्रय शक्ति को कम कर सकती है।

(3) आय और सम्पत्ति की असमानताओं को कम करना (To reduce Inequality of Income and Wealth) - देश में आय एवं सम्पत्ति की असमानता को कम करने के लिए सरकार धनिकों पर प्रगतिशील दरों पर ऊँचे कर लगाती है तथा उनसे प्राप्त आय को गरीबों पर व्यय करती है। सरकार शिक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा, वृद्धावस्था आदि पर अधिक व्यय करके धन और आय की असमानता को कम करती है। इसके साथ ही सरकार सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार एवं राहत कार्यों के विस्तार के द्वारा गरीब वर्ग को रोजगार एवं आय के अवसर प्रदान किए जा सकते हैं।

(4) उत्पादन के साधनों की क्षमता में वृद्धि (To increase the Capacity of Production) - आधुनिक समय में विश्व के प्रत्येक देश की सरकार का उद्देश्य राजकोषीय नीति द्वारा उत्पादन के साधनों की उत्पादन क्षमता बढ़ाकर राष्ट्रीय आय में अधिकतम वृद्धि करना है। सरकार मूलभूत सुविधाओं, जैसे विद्युत, सड़क, रेल, पानी आदि का विस्तार करके उत्पादन क्षमता में वृद्धि कर सकती है।

(5) आर्थिक कल्याण में वृद्धि (To Increase Economic Welfare) - प्रत्येक सरकार आर्थिक कल्याण की अभिवृद्धि के उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजकोषीय नीति का प्रयोग करती है। वह गरीबों को निःशुल्क चिकित्सा, शिक्षा आदि सुविधा देकर; बाढ़, अकाल, अनावृष्टि के समय आर्थिक सहायता देकर तथा निम्न आय समूह के लोगों को सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा सस्ता खाद्यान्न एवं अन्य आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध कराकर आर्थिक कल्याण को बढ़ाती हैं।

(6) आर्थिक मन्दी पर नियंत्रण (To Check Economic Depression) - मंदी को नियंत्रित करने के लिए सरकार सार्वजनिक निर्माण कार्यों को प्रारंभ करके रोजगार बढ़ा सकती है जिससे प्रभावपूर्ण माँग बढ़ जाती है। मंदीकाल में सरकार निजी क्षेत्र को आसान शर्तों, अधिक किश्तों एवं कम ब्याज पर ऋण देकर विनियोग के लिए प्रेरित कर सकती है। वास्तविकता यह है कि राजकोषीय नीति का प्रादुर्भाव एवं विकास विश्व को मन्दी के युक्त करने के लिए ही हुआ था।

भारत जैसे अल्प-विकसित देशों में राजकोषीय नीति के उद्देश्य
(Objectives of Fiscal Policy in Underdeveloped Countries like India)

विकसित देशों की तुलना में अर्धविकसित देशों में राजकोषीय नीति के उद्देश्य कुछ भिन्न होते हैं। भारत जैसे अर्ध-विकसित देशों में राजकोषीय नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :-

(1) **आर्थिक विकास** (Economic Development) - भारत जैसे अल्पविकसित देशों में राजकोषीय नीति का मुख्य उद्देश्य आर्थिक विकास को गति देना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार एक ओर तो लोगों के अनावश्यक उपभोग को कम करके उसे उत्पादक कार्यों पर लगाने हेतु प्रोत्साहन देती है तथा दूसरी ओर अपना कुल व्यय बढ़ाकर मूलभूत सुविधाओं जैसे- विद्युत, सड़क, रेल, संचार संसाधन आदि का विस्तार करती है। इसके साथ ही सरकार बुनियादी उद्योगों की स्थापना सार्वजनिक क्षेत्र में करके विकास की गति को प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार सरकार आर्थिक साधनों का विदोहन आर्थिक विकास के लिए करती है।

(2) **आर्थिक समानता** (Economic Equality) - अल्पविकसित देशों में आय और धन के वितरण में गंभीर असमानता होती है। अतः यहाँ आय और धन के समान वितरण के उद्देश्य से राजकोषीय नीति का प्रयोग किया जाता है। सरकार अमीरों पर ऊँची दर से प्रगतिशील कर लगाती है और इन करों से प्राप्त आय को गरीबों पर व्यय करती है। वह शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सेवा एवं वृद्धावस्था पेंशन की सुविधा देती है। इसके साथ ही रोजगार के अवसरों में भी विभिन्न प्रकार के निर्माण कार्यों पर व्यय करके वृद्धि करती है।

(3) **आर्थिक स्थिरता** (Economic Stability) - राजकोषीय नीति का उद्देश्य आर्थिक स्थिरता भी है। प्रायः अर्ध-विकसित देश मुद्रास्फीति की समस्या से परेशान रहते हैं। इस समस्या से छुटकारा दिलाने में राजकोषीय नीति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सरकार उचित बजट नीति द्वारा आय और व्यय का समायोजन इस प्रकार करती है कि रोजगार और आर्थिक क्रियाओं के विस्तार के साथ-साथ आर्थिक स्थिरता बनी रहे।

(4) **बुनियादी उद्योगों की स्थापना** (Basic Industries) - अल्पविकसित देशों में बुनियादी उद्योगों की स्थापना करना भी राजकोषीय नीति का मुख्य उद्देश्य होता है। सरकार अपनी बजट नीति में इन दीर्घावधि वाले उद्योगों एवं अधोसंरचना वाले कार्यक्रमों पर भारी मात्रा में धन विनियोग करने का प्रावधान रखती है। इससे अर्ध-विकसित देशों में विकास की गति को प्रोत्साहन मिलता है।

(5) निजी विनियोग को सुविधाएँ (Facility to Private Investment) - अल्पविकसित देशों में राजकोषी नीति का प्रमुख उद्देश्य निजी विनियोग को प्रोत्साहन देना भी है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सरकार निजी विनियोक्ताओ को कम ब्याज पर अधिक मात्रा में ऋण देती है। वह विभिन्न करों में छूट देकर भी निजी विनियोग को बढ़ाती है।

(6) रोजगार (Employment) - अल्पविकसित देशों में पूर्ण रोजगार की स्थापना के लिए सरकार श्रम प्रधा उद्योगों को प्रोत्साहन देती है। वह बजट नीति में उदार व्यय नीति अपनाकर उत्पादक और अनुत्पादक कार्यों पर व्य करके रोजगार के अवसर बढ़ाती है। इसके साथ ही, सरकार निजी क्षेत्र को विनियोग करने एवं श्रम-प्रधान उद्योग लगा के लिए प्रोत्साहित करती है।

(7) क्षेत्रीय असन्तुलन (Regional Imbalances) - राजकोषीय नीति से अल्प विकसित देशों की सरका क्षेत्रीय असन्तुलन को दूर करती है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकारें उद्योग व कृषि पर सन्तुलित व्यय करती हैं कमजोर वर्ग के लोगों के विकास के लिए विशेष कार्यक्रमों को क्रियान्वित करती हैं। पिछड़े क्षेत्रों में बैंक, बीमा कम्पनियें एवं सहकारी संस्थाओं के माध्यम से अधिक व्यय करती हैं। पिछड़े क्षेत्रों में स्वयं सरकार भी उद्योग स्थापित करत है। निजी विनियोक्ताओं को कर में छूट के साथ-साथ बिजली, पानी आदि सस्ती दरों पर उपलब्ध कराकर क्षेत्रीय सन्तुल स्थापित करने का प्रयास किया जाता है।

(8) सामाजिक उपरि-सम्पत्ति का निर्माण (Creation of Social Overhead Captial) - आर्थिक विकास में सामाजिक उपरि सम्पत्ति का महत्वपूर्ण स्थान होता है। सरकार राजकोषीय नीति में रेल, सड़क, जहाज, वायु यातायात सिंचाई, शिक्षा, स्वास्थ्य, डाकतार, टेलीफोन, बैंक, बीमा आदि को सम्मिलित कर आर्थिक विकास के लिए समुचित सहायता एवं सहयोग उपलब्ध कराती है।

संक्षेप में, अल्प-विकसित देशों के आर्थिक विकास के लिए राजकोषीय नीति एक महत्वपूर्ण साधन है। सरकार आर्थिक नियोजन की नीति को अपनाकर विकास के कार्य में सहभागिता करती है। इससे विकास की गति में तेजी आती है।

राजकोषीय नीति के उपकरण या यंत्र
(Instruments of Fiscal Policy)

राजकोषीय नीति के प्रमुख उपकरण या यंत्र निम्नलिखित हैं :

(1) कर नीति (Tax-Policy) - कर नीति राजकोषीय नीति का सबसे महत्वपूर्ण उपकरण है। कर अनिवार्य अंशदान है। सरकार कर दाता को कर के बदले प्रत्यक्ष लाभ देने के लिए बाध्य नहीं है। अतः सरकार करों से प्राप्त राशि को इच्छानुसार व्यय कर सकती है। कर नीति अर्थव्यवस्था को निम्न प्रकार से प्रभावित करती है -

(i) करों में वृद्धि (Increase in Taxes) - सरकार जब नये कर लगाती है या पुराने करों की दर में वृद्धि करती है तो सरकार को बड़ी मात्रा में वित्तीय साधन प्राप्त होते हैं। सरकार इन साधनों का उपयोग करके अर्थव्यवस्था को एक नई दिशा दे सकती है। यहाँ पर उललेखनीय है कि करारोपण से उपभोग, उत्पादन, बचत और विनियोग कम होता है। इसके परिणाम स्वरूप औद्योगिक विकास एवं रोजगार कम होता है। देश के निर्यात कम हो जाते हैं व आयात बढ़ जाते हैं जिससे स्वदेशी मुद्रा की विनिमय दर कम हो जाती है। कर बढ़ने पर उद्योगपति का लाभ कम हो जाता है। अतः वे पुरानी इकाइयों के विकास पर या नई औद्योगिक इकाइयों की स्थापना करने में असमर्थ रहते है। इस प्रकार 'कर' एक सीमा से अधिक बढ़ाने पर सरकार की राजकोषीय नीति असफल हो जाती है और अर्थव्यवस्था मन्दी की ओर बढ़ती है। अतः सरकार को करारोपण से प्राप्त वित्तीय साधनों का निवेश आर्थिक विकास से सम्बन्धित कार्यों में करना चाहिए। इससे जहां विकास की गति में वृद्धि होगी, वहीं उत्पादन, रोजगार एवं आय में तेजी आएगी।

(ii) करों में कमी (Decrease in Taxes) - राजकोषीय नीति के अन्तर्गत करों को कम करने से सामान्य लोगों की क्रयशक्ति बढ़ जाती है। मंदीकाल में करों की मात्रा कम करने पर उद्योगपतियों की बचत बढ़ती है जिससे विनियोग, उत्पादन और रोजगार भी बढ़ता है, किन्तु करों में कमी से सरकार की आय पर विपरीत प्रभाव पड़ता है जिससे सरकारी गतिविधियाँ शिथिल होने लगती हैं।

(2) व्यय नीति (Expenditure Policy) - परम्परावादी अर्थशास्त्री उस सरकार को अच्छा मानते थे जो कम से कम व्यय करती थी। किन्तु आधुनिक विचारकों के अनुसार वह सरकार अच्छी है जो आर्थिक विकास एवं आर्थिक कल्याण के लिए अधिकाधिक व्यय करती है। वर्तमान में सरकार के कार्यों में वृद्धि हुई है। जहां अर्धविकसित देशों मे सार्वजनिक व्यय के द्वारा बुनियादी सुविधाओं का विकास किया जाता है, वहीं विकसित देशों में मन्दी की स्थिति से मुक्ति पाने एवं रोजगार के अवसरों में वृद्धि करने के लिए बडी मात्रा में सार्वजनिक व्यय को महत्व दिया जाता है। वर्तमान समय में किसी भी सरकार के द्वारा आय से अधिक व्यय करना बुरा नहीं माना जाता है। सरकार घाटे का बजट बनाती है। आय से अधिक व्यय करने पर घाटे की पूर्ति के लिए सरकार या तो सार्वजनिक ऋण (देश एवं विदेश से) प्राप्त करती है या नये नोट छापती है।

(3) **सार्वजनिक ऋण नीति** (Public Debt Policy) - राजकोषीय नीति का तीसरा महत्वपूर्ण अंग सार्वजनिक ऋण नीति है। जब सार्वजनिक आय की अपेक्षा सार्वजनिक व्यय अधिक करना पड़े तब इस घाटे की पूर्ति सरकार देशवासियों एवं विदेशियों से ऋण लेकर करती है। इन्हें क्रमशः आन्तरिक ऋण स्रोत एवं बाह्य ऋण स्रोत कहते हैं। सरकार आधुनिक युग में निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ऋण लेती है -

(i) मुद्रास्फीति के समय सरकार जनसाधारण से ऋण लेती है। इससे चलन में मुद्रा एवं साख की पूर्ति कम होती है और परिणामस्वरूप मुद्रा स्फीति नियंत्रित होती है।

(ii) मुद्रा-संकुचन या मन्दीकाल में सरकार पूर्व में लिए गए ऋणों को लौटाती है। इससे चलन में मुद्रा एवं साख की मात्रा में विस्तार होता है और परिणामस्वरूप मुद्रा संकुचन की स्थिति नियंत्रित होती है।

(iii) प्राकृतिक संकटों जैसे - बाढ़, अकाल आदि का सामना करने के लिए।

(iv) सार्वजनिक निर्माण कार्य जैसे - सड़क, बाँध, पुल, नहर, बुनियादी उद्योग आदि के लिए।

(4) **घाटे के बजट की नीति** (Deficit Financing Policy) - राजकोषीय नीति के अन्तर्गत घाटे के बजट की नीति भी महत्वपूर्ण है। वर्तमान समय में घाटे की बजट नीति का प्रयोग विकसित एवं विकासशील दोनों ही अर्थव्यवस्थाओं में हो रहा है। विकासशील देशों में घाटे के बजट का प्रयोग आर्थिक विकास के लिए वित्तीय साधन जुटाने में महत्वपूर्ण यंत्र के रूप में किया जाता है। इसके विपरीत विकसित देशों में इसका प्रयोग आर्थिक मन्दी एवं बेरोजगारी जैसी समस्याओं को हल करने के लिए किया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सरकार अपनी राजकोषीय नीति के विभिन्न यंत्रों एवं उपकरणों का प्रयोग आर्थिक विकास एवं सामाजिक संरचना के निर्माण के लिए कुशलतापूर्वक करती है।

राजकोषीय नीति के प्रभाव
(Effects of Fiscal Policy)

किसी भी अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति के निम्नलिखित प्रभाव पड़ते हैं–

(1) **साधनों के आवन्टन पर प्रभाव** (Effects on Allocation of Resources) - जब सरकार अर्थव्यवस्था के किसी क्षेत्र विशेष में व्यय करती है तो अन्य आर्थिक साधन भी उसी क्षेत्र की ओर आकर्षित होते हैं। इसके विपरीत यदि सरकार किसी क्षेत्र विशेष पर कम साधन लगाती है तो अन्य साधन भी उस क्षेत्र से बाहर निकलने लगते हैं। उदाहरणार्थ – यदि सरकार निर्यातक उद्योगों को प्रोत्साहित करती है तो अन्य विनियोक्ता भी इन्हीं उद्योगों में अपने साधन लगाते हैं। इससे क्षेत्र विशेष में साधनों का आवंटन बढ़ जाता है।

(2) **पूँजी निर्माण पर प्रभाव** (Effects on Capital Formation) - राजकोषीय नीति से यदि सार्वजनिक क्षेत्र में विनियोग को प्रोत्साहन मिलता है, तो पूँजी निर्माण तेजी से होता है, किन्तु यदि सरकार घाटे के बजट, कर एवं सार्वजनिक ऋण द्वारा आय प्राप्त करती है तो पूँजी निर्माण पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार, यदि राजकोषीय नीति से निजी क्षेत्र को लाभप्रद उद्योगों में पूँजी लगाने की प्रेरणा मिलती है तो पूँजी निर्माण में वृद्धि होती है।

(3) **आय के वितरण पर प्रभाव** (Effects on Distribution of Income) - राजकोषीय नीति आय के वितरण को भी प्रभावित करती है। सरकार प्रत्यक्ष एवं प्रगतिशील करारोपण से अमीरों से अधिकतम आय प्राप्त कर उसे गरीबों पर व्यय करती है तो इससे आय का वितरण समान होता है। सरकार गरीबों को प्रत्यक्ष मौद्रिक सहायता न देकर शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क, आवास आदि पर व्यय करती है तो धन के वितरण पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

भारत की राजकोषीय नीति
(India's Fiscal Policy)

भारत जैसी नियोजित अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति पर विकास के उपकरण के रूप में अत्यधिक निर्भरता होती है तथा राजकोषीय नीति की भूमिका के अनेक आयाम हैं। अर्थव्यवस्था की संवृद्धि निष्पत्ति को सुधारना तथा लोगों को सामाजिक न्याय दिलाना इसके विशेष उल्लेखनीय लक्ष्य है। राजकोषीय नीति किसी भी अर्थव्यवस्था की संवृद्धि निष्पत्ति (Growth Performance of the Economy) को दो प्रकार से प्रभावित करती है। प्रथम, वह विकास हेतु साधनों के एकत्रण को प्रभावित करके संवृद्धि निष्पत्ति पर प्रभाव डालती है तथा द्वितीय, वह साधनों के आवंटन की कार्यकुशलता में सुधार कर अपना प्रभाव दिखाती है। नियोजन अवधि में भारत की राजकोषीय नीति का विश्लेषण निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है-

राजकोषीय नीति एवं साधन एकत्रण (Fiscal Policy and Resource Mobilisation) - आर्थिक विकास के लिए वित्तीय साधन जुटाने में राजकोषीय नीति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कर नीति राजकोषीय नीति का सबसे महत्वपूर्ण उपकरण है। नियोजन काल में भारत का कर प्रयास ठीक ही रहा है। नियोजन के प्रारंभ (1950-51) में कर-सकल घरेलू उत्पाद अनुपात केवल 6.0 प्रतिशत था जो नियमित रूप से बढ़कर 1990-91 में 10.1 प्रतिशत हो गया था, किन्तु उदारीकरण के दौर में इसमें कमी हुई और वर्ष 2001-02 में यह घटकर 8.9 प्रतिशत रह गया था। वर्ष 2005-06 में कर राजस्व सकल घरेलू उत्पाद का 10.5 प्रतिशत होने का अनुमान है। भारत में प्रत्यक्ष करों से राजस्व

NOTES

एकत्रण सकल घरेलू उत्पाद (GDP) का लगभग 4 प्रतिशत है जो औसतन सबसे कम विकसित अल्पविकसित दे में है।

भारत में सरकार निजी बचतों और आवास आदि क्षेत्रों में निवेश को विशेष प्रोत्साहन देती रही है। फल विगत तीन पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में वास्तविक निजी बचत दर योजनाओं में निर्धारित लक्ष्यों से अधिक र है, किन्तु पिछले 25 वर्षों में वास्तविक सार्वजनिक बचत दर नियोजित लक्ष्य से कम रही है। सरकारी बचत की मुख समस्या सरकार के बढ़ते हुए राजस्व व्यय (Revenue expenditure) से उत्पन्न हुई है। वर्ष 1970-71 में राजस्व घाटा सकल घरेलू उत्पाद का मात्र 0.4 प्रतिशत था जो वर्ष 2004-05 में 2.5 प्रतिशत रहा है। वर्ष 2005-06 राजकोषीय घाटा 2.7 प्रतिशत रहने का अनुमान है। सरकार के राजस्व व्यय में वृद्धि के मुख्य कारण ब्याज के बढ़ हुए भुगतान और आर्थिक सहायता (Subsidy) की राशि में वृद्धि होना है। सार्वजनिक बचत की बुरी स्थिति के लि सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों द्वारा अपर्याप्त आधिक्य अर्जित करना भी उत्तरदायी रहा है। भारत में राजकोषीय नीति व एक प्रमुख असफलता देश में काली अर्थव्यवस्था (Black Economy) के तीव्र विकास के रूप में है जिससे हाल के वर्षों में राजस्व की भारी हानि हुई है।

राजकोषीय नीति एवं आवंटन कार्यकुशलता (Fiscal Policy and Allocation Efficiency)- साधनों व कार्यकुशल और विवेकपूर्ण आवंटन आर्थिक संवृद्धि की दर को बढ़ाने में सहायक होता है। राजकोषीय नीति साधन के आवंटन पर प्रभाव डालकर भी अर्थव्यवस्था की निष्पत्ति को प्रभावित करती है। इस दृष्टि से राजकोषीय नीति के विभिन्न उपकरणों में कर नीति सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। भारत में आर्थिक नियोजन के पाँच दशकों में सरकार की परोक्ष करों पर निर्भरता बढ़ी है और अब भी इनसे कर राजस्व का लगभग 60 प्रतिशत प्राप्त होता है। परोक्ष करों में केन्द्रीय स्तर पर सीमा शुल्क और उत्पादन शुल्क तथा राज्य स्तर पर बिक्री कर की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। उल्लेखनीय है कि इन करों को प्रायः राजस्व जुटाने की दृष्टि से ही लगाया गया है और कई बार इससे कार्यकुशलता की हानि हुई है। विगत कुछ वर्षों में उत्पादन शुल्क व्यवस्था को विवेकपूर्ण बनाकर स्थिति को सुधारने का प्रयास किया गया है।

नियोजन अवधि के प्रथम चार दशकों (1951-1991) में गैर-विभागीय सार्वजनिक उपक्रमों की संख्या तेजी से बढ़ी है, किन्तु भारी मात्रा में निवेश के बावजूद ये उपक्रम अपेक्षित मात्रा में आधिक्य अर्जित करने में असफल रहे हैं यद्यपि इन उपक्रमों की स्थापना निजी लाभ कमाने की बजाय कुछ दूसरे उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु की गई थी तथापि सार्वजनिक उपक्रमों में सधनों के प्रयोग का कार्यकुशलता स्तर पूर्णतः संतोषप्रद नहीं है। इसके अतिरिक्त भारत में काली अर्थव्यवस्था बहुत बड़ी है और यह राजकोषीय नीति के आवंटन पक्ष के लिए गंभीर समस्याएँ पैदा करती है। सरकारी व्यय कार्यक्रमों से बड़े पैमाने पर रिसाव सार्वजनिक व्यय की कार्यकुशलता पर विपरीत प्रभाव डालते हैं फलतः सार्वजनिक व्यय के अपेक्षित लाभ प्राप्त नहीं हुए हैं।

राजकोषीय नीति एवं न्यायशीलता (Fiscal Policy and Equity)- भारत की राजकोषीय नीति न्यायशीलता के सिद्धान्त के अनुरूप है, यह संदेहास्पद है। आर्थिक नियोजन के पाँच दशकों में प्रत्यक्ष करों का कुल कर राजस्व में भाग लगभग 40 प्रतिशत बना हुआ है। यद्यपि व्यक्तिगत आयकर का भाग जो वर्ष 1990-91 में केवल 9 प्रतिशत रह गया था बढ़कर 2004-05 में 16 प्रतिशत हो गया है। वर्ष 2005-06 में यह बढ़कर 17.9 प्रतिशत होने का अनुमान है। देश में व्यक्तिगत आय कर कहाँ तक प्रगतिशील (Progressive) है यह कहना मुश्किल है फिर भी मौद्रिक दरों के रूप में वे निश्चित ही प्रगतिशील हैं। किन्तु इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि देश में अनेक लोगों के पास भारी मात्रा में अघोषित आय है जिस पर वे कोई कर अदा नहीं करते हैं। इनमें उद्योगपति, व्यापारी, कम्पनी प्रबन्धक, राजनीतिज्ञ नौकरशाह, डॉक्टर आदि मुख्य रूप से शामिल किये जा सकते हैं। अतः मौद्रिक दरों में प्रगतिशीलता के बावजूद व्यक्तिगत आयकर में न्यायशीलता के सिद्धान्त का उल्लंघन होता है। अप्रत्यक्ष कर प्रायः प्रतिगामी (Regressive) समझे जाते हैं किन्तु अनेक अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि भारत में अप्रत्यक्ष कर ढाँचा प्रगतिशील ही है।

राजकोषीय नीति के न्यायशीलता पहलू को समझने के लिए यह विश्लेषण करना आवश्यक है कि लोक व्यय का लाभ किस वर्ग को प्राप्त हो रहा है। वास्तविकता यह है कि सरकार के गरीबी निवारण कार्यक्रमों पर किये जाने वाले अधिकांश सरकारी व्यय का लाभ सबसे गरीब वर्ग तक मुश्किल से ही पहुँच पाता है। संक्षेप में, लोक व्यय का न्यायशीलता पक्ष स्पष्ट करता है कि भारत में लोक व्यय का लाभ गरीब वर्ग के लोगों तक प्रायः नहीं पहुँच पाता है।

राजकोषीय असंतुलन और राजकोषीय सुधार
(Fiscal Imbalance and Fiscal Reforms)

भारत में राजकोषीय असंतुलन (Fiscal Imbalance in India) - राजकोषीय असंतुलन का अनुमान लगाने के लिए प्रायः तीन संकेतकों, यथा - राजस्व घाटा (Revenue deficit), सकल राजकोषीय घाटा (Gross fiscal deficit) और मूलभूत घाटा (Primary deficit) का प्रयोग किया जाता है। सरकार के राजस्व घाटे से आशय राजस्व प्राप्तियों के ऊपर राजस्व व्यय की अधिकता से होता है, किन्तु वह सरकार के राजकोषीय क्रियाकलापों में ढाँचागत असंतुलन को पूरी तरह प्रकट नहीं करता है। दूसरी ओर राजकोषीय घाटा समस्त साधन अभाव को दर्शाता है और यह

सरकार की ऋणग्रस्तता को पूर्ण रूप से व्यक्त करता है। राजकोषीय घाटे से ब्याज के भुगतान की राशि कम कर देने पर मूलभूत घाटे की राशि ज्ञात की जाती है। अस्सी के दशक में सरकार के गैर विकास व्यय में अत्यधिक वृद्धि हुई फलतः वर्ष 1990-91 में गंभीर संकट की स्थिति पैदा हुई तथा राजकोषीय असंतुलन के सभी संकेतक ऊपर उठे। देश में राजकोषीय असंतुलन के विभिन्न सूचकों की प्रवृत्तियाँ तालिका-1 में प्रस्तुत हैं।

तालिका-1

केन्द्रीय सरकार के घाटे

(चालू बाजार कीमतों पर सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत)

वर्ष	राजस्व घाटा	सकल राजकोषीय घाटा	मूलभूत घाटा
1975-76	1.1	4.1	2.5
1980-81	1.5	5.7	3.8
1989-90	2.6	7.9	3.9
1990-91	3.3	6.6	2.8
2000-01	4.1	5.7	0.9
2001-02	4.4	6.2	1.5
2002-03	4.4	5.9	1.1
2003-04	3.6	4.5	0.0
2004-05	2.5	4.1	0.0
2005-06	2.7	4.3	0.5

स्रोत : भारत सरकार, आर्थिक समीक्षा 1992-93, पृष्ठ 20 एवं आर्थिक समीक्षा 2005-06, सारणी 2.1, पृष्ठ 24

तालिका-1 से यह स्पष्ट है कि राजकोषीय असंतुलन के परम्परागत संकेतक (राजस्व घाटा) के मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि हुई है। वर्ष 1975-76 में केन्द्रीय सरकार का राजस्व घाटा सकल घरेलू उत्पाद का 1.1 प्रतिशत था जो 1990-91 में बढ़कर 3.3 प्रतिशत हो गया था। बाद के वर्षों में उसके मूल्य में भारी वृद्धि हुई और यह 2002-03 में 4.4 प्रतिशत हो गया था तत्पश्चात् इसमें कमी आई है और यह 2004-05 में 2.5 प्रतिशत रह गया था। यह 2005-06 में यह 2.7 प्रतिशत रहने का अनुमान है। केन्द्रीय सरकार का सकल राजकोषीय घाटा 1975-76 में सकल घरेलू उत्पाद का मात्र 4.1 प्रतिशत था, वह 1989-90 में 7.9 प्रतिशत हो गया था। वर्ष 1990-91 से राजकोषीय घाटे के अनुमान एक बदली हुई संकल्पना पर आधारित है अतः वे पहले के आँकड़ों के साथ तुलनीय नहीं हैं। मूलभूत घाटा 1975-75 में सकल घरेलू उत्पाद के 2.5 प्रतिशत था जो 1989-90 में 3.9 प्रतिशत रह गया था। संक्षेप में, वर्ष 1990-91 में राजकोषीय स्थिति ऐसी बन गई थी जिसे आगे बनाये रखना संभव नहीं था, अतः सुधारात्मक उपायों को अपनाना अति आवश्यक हो गया था।

राजकोषीय संशोधन (Fiscal Correction)

राजकोषीय सुधारों की दृष्टि से वर्ष 1991-92 के नियमित बजट जो कि 24 जुलाई, 1991 को संसद में प्रस्तुत किया गया था, में राजकोषीय असंतुलन को दूर करने हेतु कुछ महत्वपूर्ण उपाय किये गये थे। इनमें निम्न प्रमुख थे :

(1) लघु एवं सीमान्त कृषकों के अतिरिक्त अन्य सभी कृषकों के लिए उर्वरकों की औसत कीमत में 30 प्रतिशत वृद्धि करके अर्थसहायता (सब्सिडी) में कमी करना।

(2) सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अंतर्गत चीनी के वितरण पर अर्थसहायता समाप्त करना।

(3) निर्यातों के लिए नकद अनुपूरक सहायता की समाप्ति।

(4) अतिरिक्त कर राजस्व की प्राप्ति के लिए करों की दरों में आवश्यक संशोधन करना।

(5) घरेलू गैस, मोटर और वायु परिवहन के ईंधन की कीमतों में 20 प्रतिशत की वृद्धि करना।

(6) सार्वजनिक क्षेत्र के कुछ चयनित उपक्रमों में सरकारी अंशों में से 20 प्रतिशत तक म्युचुअल फंडों एवं निवेश संस्थाओं को देने का प्रस्ताव करना।

उपर्युक्त उपायों के फलस्वरूप केन्द्रीय सरकार का राजकोषीय घाटा जो वर्ष 1990-91 में सकल घरेलू उत्पाद के 6.6 प्रतिशत था, घटकर 1991-92 में 4.7 प्रतिशत रह गया है। वर्ष 1998-99 से केन्द्रीय सरकार के राजकोषीय घाटे में निरंतर वृद्धि हुई और 2001-02 में यह सकल घरेलू उत्पाद का 6.2 प्रतिशत रहा। तदुपरान्त राजकोषीय घाटे में कमी आयी है और यह वर्ष 2004-05 में 4.1 प्रतिशत रह गया था। वर्ष 2005-06 में राजकोषीय घाटा 4.3 प्रतिशत रहने का अनुमान है।

नई राजकोषीय नीति (New Fiscal Policy)

भारत में वर्ष 1991 में अपनायी गई आर्थिक उदारीकरण की नीति के अन्तर्गत राजकोषीय नीति की विषय-वस्तु (Themes)को निश्चित रूप दिया गया है। नई राजकोषीय नीति की प्रमुख बातें निम्न प्रकार हैं:-

1. कर ढाँचा एवं कर कानून का व्यवस्थित ढंग से सरलीकरण किया जाना चाहिए।
2. ऐसा कर नीति वातावरण निर्मित किया जाए जिसमें स्थिरता हो।
3. प्रत्यक्ष करों की दरें विवेकपूर्ण हों तथा इनकी प्रशासनिक व्यवस्था अच्छी होनी चाहिए। इसके फलस्वरूप प्रत्यक्ष करों को उचित ढंग से लागू करना संभव होगा और इनसे राजस्व में वृद्धि होगी।
4. कर प्रशासन में सुधार करना और मनमाने ढंग से करदाताओं को परेशान करने के लिए गुंजाइश न छोड़ना।
5. कराधान के साधन आवंटन एवं न्यायशीलता परिणामों के महत्व को स्वीकार करते हुए उन्हें उपयुक्त भार प्रदान करना।
6. अर्थव्यवस्था के प्रबन्धन हेतु तदर्थ विवेकाधीन भौतिक नियंत्रणों के स्थान पर गैर-विवेकाधीन राजकोषीय और वित्तीय उपकरणों का प्रयोग करना।
7. अर्थव्यवस्था में स्थिरता एवं विकास के लिए राजकोषीय और मौद्रिक नीति के मध्य संबंध को महत्व प्रदान करना।
8. सार्वजनिक व्यय नियंत्रण की रीतियों को मजबूत बनाने के लिए उचित उपाय करना।
9. केन्द्र एवं राज्य सरकारें दोनों राजकोषीय अनुशासन (Fiscal discipline) लागू करें।
10. केन्द्र सरकार राज्य सरकारों को अपने सार्वजनिक उद्यमों की स्थिति सुधारने के लिए प्रोत्साहन देगी।

राजकोषीय उत्तरदायित्व विधान – दूसरी पीढ़ी के आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत राजकोषीय उत्तरदायित्व और बजट प्रबंधन अधिनियम, 2003 (FRBM Act) 5 जुलाई, 2004 से प्रभावी किया गया। इसमें केन्द्र सरकार के लिए मार्च, 2009 तक राजस्व घाटे को समाप्त करने और मार्च, 2008 तक राजकोषीय घाटे को सकल घरेलू उत्पाद के 3 प्रतिशत तक कम करना अनिवार्य बनाया गया है। राजकोषीय सुधार के लिए इस अधिनियम के अन्तर्गत वार्षिक लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं। इनमें वर्ष 2004-05 से प्रत्येक वित्तीय वर्ष के अंत में राजस्व घाटे को सकल घरेलू उत्पाद के 0.5 प्रतिशत तथा राजकोषीय घाटे को 0.3 प्रतिशत तक कम करना प्रमुख रूप से शामिल है।

राजकोषीय सुधारों पर कृतिक बल की रिपोर्ट (जुलाई, 2004)- राजकोषीय उत्तरदायित्व और बजट प्रबन्धन अधिनियम, 2003 के क्रियान्वयन के संबंध में राजकोषीय नीतियों के लिए मध्यावधि रूपरेखा तैयार करने हेतु सरकार द्वारा डॉ. विजय केलकर की अध्यक्षता में एक कृतिक बल गठित किया गया। कृतिक बल ने जुलाई, 2004 में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें ऐसे राजकोषीय समायोजन अपनाने पर बल दिया गया है जो राजकोषीय सुधार के संभावित संकुचनकारी प्रभाव को कम करने के लिए राजस्व व्यय और वर्धित पूंजीगत व्यय से संबंधित पूरक सुधार प्रयासों पर आधारित हो। कृतिक बल ने आकलन किया कि उसके द्वारा सुझाये गये सुधारों के अंतर्गत, केन्द्र का कर सकल घरेलू उत्पाद अनुपात 2003-04 में 9.2 प्रतिशत से सुधरकर 2008-09 में 13.2 प्रतिशत तथा इस अवधि में कुल व्यय 15.4 प्रतिशत से कम होकर 14.3 प्रतिशत हो जायेगा। राजकोषीय घाटे के 2003-04 में सकल घरेलू उत्पाद के 4.8 प्रतिशत से कम होकर 2008-09 तक 2.8 प्रतिशत हो जाने का अनुमान लगाया गया है।

बारहवाँ वित्त आयोग- भारत के बारहवें वित्त आयोग ने 2005-10 की अवधि के लिए प्रस्तुत की गई अपनी रिपोर्ट (नवम्बर, 2004) में राजस्व संग्रहण में सुधार करके, ऋण स्तर को घटाकर तथा राज्यों द्वारा राजकोषीय उत्तरदायित्व कानून बनाकर केन्द्र और राज्यों के राजस्व साधनों की पुनर्संरचना की योजना प्रस्तुत की है। आयोग द्वारा राज्यों के लिए राजकोषीय सुधारों से संबंधित ऋण राहत अनुदानों, अनुदान व ऋणों के रूप में राज्य योजनाओं को केन्द्रीय सहायता की वर्तमान प्रणाली के समाप्त करने तथा राज्यों को विदेशी सहायता का अंतरण विदेशी वित्तीयन एजेंसियों द्वारा निर्धारित शर्तों पर ही करने की अनुशंसा की गई है। आयोग ने राजकोषीय स्थिति में सुधार पर बल देते हुए इसे केन्द्र और राज्य सरकारों की साझा जिम्मेदारी बताया है और उन्हें अपना राजस्व आधार बढ़ाने तथा अनावश्यक व्ययों पर अंकुश लगाने का सुझाव दिया है।

राजकोषीय नीति की सीमाएं
(Limitations of Fiscal Policy)

राजकोषीय नीति किसी भी अर्थव्यवस्था के राजकीय आय एवं व्यय का प्रमुख अस्त्र है, किन्तु इस नीति की प्रमुख सीमाएँ निम्नलिखित हैं -

(1) **बेलोचदार** (Inelastic) - सामान्यतः सभी अर्थव्यवस्थाओं में कर प्रणाली बेलोचदार होती है। अतः घाटे के बजट की भी अपनी सीमाएँ होती हैं। अतः राजकोषीय नीति का सफलतापूर्वक प्रयोग करना कठिन होता है। मुद्रा स्फीति पैदा होने की शंका सदैव बनी रहती है। इसके साथ ही यदि सरकार के व्यय एक बार बढ़ जाते हैं, तो उन्हें कम करना अत्यधिक कठिन होता है। फलतः सरकार आर्थिक संकट में फँस जाती है।

(2) **निजी विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव** (Unfavourable effects on Private Investment)- सार्वजनिक आय के कर प्रभावों से एक ओर जहाँ निजी निवेशकों की पूँजी कम हो जाती है वहीं दूसरी ओर करों से कीमत स्तर बढ़ जाने से वस्तुओं की माँग कम हो जाती है। इससे निजी विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(3) **निर्णय में देरी** (Delay in Decision-making) - राजकोषीय नीति सम्बन्धी निर्णय तुरन्त करना चाहिए ताकि उनका लाभ जनता और सरकार दोनों को मिले, किन्तु इसके निर्णय में सरकार बहुत अधिक विलम्ब कर देती है। सरकार के कार्यों एवं निर्णयों में लाल फीताशाही एवं अफसरशाही सदैव विद्यमान रहती है।

(4) **बेरोजगारी** (Unemployment) - राजकोषीय नीति से माँग में होने वाली कमी से उत्पन्न बेरोजगारी को तो दूर किया जा सकता है किन्तु अर्ध-विकसित देशों में व्याप्त बेरोजगारी एवं अदृश्य बेरोजगारी को दूर करना कठिन होता है।

(5) **अर्थव्यवस्था में रिसन** (Leakages in the Economy) - राजकोषीय नीति की सफलता गुणक प्रभाव पर निर्भर करती है; जैसे घाटे के बजट से सरकार अतिरिक्त मुद्रा चलन में लाती है तो इससे गुणक कार्यशील होता है और राष्ट्रीय आय बढ़ती है, किन्तु गुणक के रिसावों से राष्ट्रीय आय में अपेक्षित वृद्धि नहीं होती है।

(6) **बजट का सीमित प्रभाव** (Limited Budgetary Effects) – यदि किसी अर्थव्यवस्था में सरकार के बजट में कर का भाग कम है तो राजकोषीय नीति का प्रभाव भी सीमित हो जाता है।

(7) **नागरिक उत्तरदायित्व का अभाव** - देश के नागरिक सामान्यतः राजकोषीय नीति के प्रति उदासीन रहते हैं। इतना ही नहीं, लोग जब बड़े पैमाने पर कर चोरी करते हैं एवं गलत खाते बही रखते हैं तो इससे सरकार की कुल आय कम हो जाती है।

(8) **कुशल प्रशासन तंत्र का अभाव** (Lack of Efficient Administrative Machinery)– राजकोषीय नीति का निर्णय करने तथा उसे कुशलतापूर्वक क्रियान्वित करने के लिए कुशल प्रशासन तंत्र की आवश्यकता होती है। सामान्यतः अनेक देशों में प्रशासन तंत्र पर स्वार्थी तथा भ्रष्टाचारी लोगों का अधिकार होता है।

राजकोषीय एवं मौद्रिक नीतियों का परस्पर सम्बन्ध
(Inter-relationship between Fiscal & Monetary Policies)

मौद्रिक नीति एवं राजकोषीय नीति में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। सन् 1930 की विश्वव्यापी मन्दी के पूर्व तक तो मौद्रिक नीति का ही महत्व था तथा राजकोषीय नीति का प्रयोग अत्यधिक सीमित था, किन्तु तीसा की महामन्दी के समय यह स्पष्ट हो गया है अकेली मौद्रिक नीति के सहारे आय, रोजगार एवं उत्पादन में स्थिरता नहीं लाई जा सकती। फलतः राजकोषीय नीति के उपकरणों के महत्व एवं लोकप्रियता में वृद्धि हुई।

किन्तु यह समझ लेना चाहिये कि मौद्रिक नीति एवं राजकोषीय नीति, दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। उदाहरणार्थ - सरकार के राजकोषीय कार्य मुद्रा की पूर्ति से बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। इस सन्दर्भ में प्रो. हाट्रे ने लिखा है, "प्रभावशील माँग में होने वाले परिवर्तन बैंक साख में होने वाले परिवर्तनों से उत्पन्न होते हैं।"

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि राजकोषीय नीति की लोकप्रियता में वृद्धि प्रो. कीन्स के प्रतिपादन के बाद हुई है। अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि व्यापार चक्र को रोकने या आर्थिक विकास की दर में वृद्धि करने के लिये दोनों प्रकार की नीतियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं। मौद्रिक नीति राजकोषीय नीति की तुलना में अधिक लोचदार होती है और इसमें तुरन्त परिवर्तन करना सम्भव होता है।

इसके साथ ही, मौद्रिक नीति अवैयक्तिक एवं अ-भेदकारी होती है और आर्थिक विषयों में राज्य के प्रत्यक्ष हस्तक्षेप को बहुत अधिक सीमित रखती है। यही कारण है कि केवल मौद्रिक नीति की सहायता से व्यापार चक्र को नियन्त्रित करना सम्भव नहीं है किन्तु इस स्थिति में भी मौद्रिक नीति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्वयं प्रो. कीन्स ने स्वीकार किया है "ब्याज की दर को बहुत नीचा रखकर विनियोग तथा रोजगार में वृद्धि करना सम्भव होता है।"

प्रायः यह स्वीकार किया जाता है कि **आर्थिक मन्दी के समय मौद्रिक नीति की तुलना में राजकोषीय नीति अधिक प्रभावी** होती है। **इस** नीति में जहाँ आर्थिक न्याय प्राप्त होता है, वहीं इसके फलदायी प्रभाव बहुत कम समय में ही दिखाई देने लगते हैं। **इसके साथ ही** राजकोषीय नीति अर्थव्यवस्था में समायोजन का कार्य भी करती है। जब मन्दीकाल में आय कम होती है, तब करारोपण से प्राप्त आय में भी कमी हो जाती है। इसके विपरीत, जब मुद्रा-स्फीति के कारण आय में वृद्धि होती है तब करों से प्राप्त आय भी बढ़ जाती है। ऐसी स्थिति में सरकार चक्रीय प्रवृत्ति को रोकने के उद्देश्य से सार्वजनिक व्यय को परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित करती है। **अतः राजकोषीय नीति एक सक्षम व्यापार-चक्र विरोधी हथियार है।** राजकोषीय नीति के उपकरण, यथा व्यय, करारोपण, ऋण आदि के प्रयोग में परिवर्तन करके अर्थव्यवस्था को कमजोरी अथवा सशक्तता की दिशा में निर्देशित किया जा सकता है।

यहाँ यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिये कि दोनों की ही अपनी-अपनी सीमायें हैं। यदि मौद्रिक नीति में कुछ कमियाँ हैं, तो राजकोषीय नीति भी दोषरहित नहीं है। अतः यह आवश्यक है कि आर्थिक स्थिरता एवं तीव्र गति से आर्थिक विकास के लिये दोनों ही नीतियों का समन्वित ढंग से उपयोग किया जावे। यदि दोनों ही नीतियों का स्वतन्त्र ढंग से बिना किसी समन्वय के क्रियान्वयन किया जाता है तो दोनों ही प्रभावहीन सिद्ध हो सकती हैं। इसके विपरीत यदि दोनों को एक योजनानुसार समन्वित ढंग से क्रियान्वित किया जाता है तो स्थायित्व के साथ विकास सम्भव होता है। संक्षेप में, **मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों में कोई अन्तर्निहित विरोध नहीं है, वरन् वे एक-दूसरे की पूरक हैं।**

आधुनिक अर्थशास्त्री राजकोषीय एवं मौद्रिक नीति में विशेष अन्तर नहीं मानते। **प्रो. मिल्टन फ्रिडमैन** के अनुसार **राजकोषीय नीति वास्तव में मौद्रिक नीति का ही एक भाग है और इसका अपने में कोई स्वतः स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। किन्तु फ्रिडमैन का यह कथन सही नहीं है।** दोनों नीतियाँ समान रूप से सामान्य आर्थिक नीति के अंग हैं। वास्तविकता यह है कि मौद्रिक एवं राजकोषीय नीतियों के मध्य कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती, किन्तु मोटे रूप से यह कहा जा सकता है कि राजकोषीय नीति देश में आय व रोजगार की मात्रा को सार्वजनिक व्यय, करारोपण तथा सार्वजनिक ऋण की मात्रा में परिवर्तन कर के प्रभावित करती है, जबकि मौद्रिक नीति मुद्रा की मात्रा, ब्याज दर आदि के द्वारा आय एवं रोजगार को प्रभावित करती है।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. राजकोषीय नीति से आप क्या समझते हैं? राजकोषीय नीति के उद्देश्यों की व्याख्या कीजिए।
2. एक विकासशील अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति की भूमिका की व्याख्या कीजिए। राजकोषीय नीति की प्रमुख सीमाएँ क्या हैं?
3. भारत की राजकोषीय नीति एवं उससे जुड़ी समस्याओं की विवेचना कीजिए।
4. भारत में राजकोषीय क्षेत्र के सुधारों का वर्णन कीजिए। भारत की नई राजकोषीय नीति की विषय वस्तु क्या है?
5. "राजकोषीय एवं मौद्रिक नीतियाँ आपस में प्रतियोगी न होकर एक-दूसरे की पूरक होती हैं।" समझाइये।
6. **निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए-**
   - (i) विकासशील अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति की भूमिका
   - (ii) राजकोषीय नीति के प्रमुख उपकरण
   - (iii) भारत की राजकोषीय नीति एवं सुधार
   - (iv) भारत में राजकोषीय क्षेत्र के सुधार
   - (v) भारत की राजकोषीय नीति से जुड़ी समस्याएँ।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

9

NOTES

निर्यात-आयात नीति
(EXPORT-IMPORT POLICY)

परिचय (Introduction)–

स्वतंत्रता के बाद भारत की आयात-निर्यात नीति का मुख्य उद्देश्य योजनाबद्ध विकास, तीव्र औद्योगीकरण एवं आर्थिक विकास की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करना था। इस नीति में आयातों पर नियंत्रण, ऊँची दर से सीमा शुल्क लगाना, सरकार द्वारा खरीदी में स्वदेशी उत्पादनों को प्राथमिकता देने जैसे अनेक प्रावधान थे। भुगतान सन्तुलन के असाम्य को ठीक करने के उद्देश्य से सरकार ने अपनी प्राथमिकताओं के आधार पर अनेक द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय व्यापार समझौते भी किए। सन् 1956 के बाद विदेशी मुद्रा संकट के कारण सरकार ने आयातों पर कड़े प्रतिबन्ध लगाए तथा विदेशी मुद्रा नियंत्रण लागू किया। तृतीय योजना काल से पूँजीगत माल एवं महत्वपूर्ण कच्चे माल में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिये आयात प्रतिस्थापन की नीति को अपनाया। इसके साथ ही निर्यातों को बढ़ाने एवं विदेशी मुद्रा के संकट को हल करने के लिये निर्यात प्रोत्साहन को भी प्राथमिकता दी।

भारत में निर्यातों एवं आयातों के मध्य सन्तुलन स्थापित करने के उद्देश्य से प्रतिवर्ष निर्यात-आयात नीति की घोषणा की जाती है। 1985 से दीर्घकालीन नीति निर्धारण की आवश्यकता को महसूस किया गया। फलतः 1985 से तीन वर्षीय एवं 1992 से पाँच वर्षीय निर्यात-आयात नीति की घोषणा की गई। प्रस्तुत अध्याय में 1992 के बाद घोषित नीतियों की विवेचना की गई है, क्योंकि इससे पूर्व की नीतियों का वर्तमान में कोई महत्व नहीं है।

निर्यात-आयात नीति, 1992-97
(Exim Policy, 1992-97)

यह 31 मार्च, 1992 को घोषित की गई और इसकी अवधि आठवीं पंचवर्षीय योजना के अनुरूप 1 अप्रैल, 1992 से 31 मार्च, 1997 तक के लिए पाँच वर्ष की रखी गई है। सन् 1991 के नवीन आर्थिक सुधारों के बाद घोषित पहली निर्यात-आयात नीति थी जिसमें उदारीकरण को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। इस नीति में प्रतिबंधों को कम करके भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने का प्रयास किया गया। इस नीति की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

(1) आयातों की नकारात्मक सूची को दो भागों में बाँटा गया है–

भाग I – निषेधात्मक मदें – इन मदों के आयात की पूर्ण मनाही होती है। इसमें तीन मदें हैं – अविनिर्मित हाथीदाँत, पशु रेनेट व चर्बी से बना तेल।

भाग II – प्रतिबन्धात्मक मदें – ये लाइसेन्स से ही आयात की जा सकती हैं। इसमें 11 उपभोक्ता वस्तुएँ रखी गई हैं। प्रतिबन्धात्मक सूची में 70 मदें और हैं।

(2) निर्यातों की नकारात्मक सूची को भी दो भागों में बाँटा गया है –

भाग I निषेधात्मक सूची – इनके निर्यात की सख्त मनाही है; इसमें 7 मदें हैं जैसे वन्य जीवन के सभी रूप, विदेशी पक्षी, गौ-माँस आदि।

भाग II – (अ) जिनका निर्यात लाइसेन्स से ही सम्भव है इसमें 51 मदें रखी गई हैं, जैसे ऊँट, शाक फार्मफेट, कच्चा रेशम, लेस्ट पेपर आदि।

(आ) जिनके निर्यातों पर परिमाणात्मक सीमा लगा दी गई है – इसमें 11 मदें हैं, जैसे मयूर पंखों से बनी दस्तकारियाँ आदि।

इस प्रकार भाग II में कुल 62 मदें हैं।

(3) इसमें विदेशी व्यापार को काफी सीमा तक मुक्त या स्वतन्त्र कर दिया गया है। 'नई नीति' का मूलभूत लक्षण स्वतन्त्रता है।

(4) सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आयात की सुरक्षित मदें आठ रखी गई हैं।

(5) नई नीति में अग्रिम लाइसेन्सों के अन्तर्गत शुल्क-मुक्त आयातों का क्षेत्र बढ़ा दिया गया है।

(6) 100% निर्यातोन्मुख इकाइयों व मुक्त व्यापार तथा निर्यात-प्रोसेसिंग क्षेत्र में स्थित इकाइयों को अधिक सुविधाएँ प्रदान की जायेंगी।

(7) जिन मदों का निर्यात सार्वजनिक एजेन्सियों के मार्फत किया जाएगा उसमें 10 मदें हैं।

(8) वे मदें जिनका निर्यात लाइसेन्स के बिना किया जा सकेगा, लेकिन इनके सम्बन्ध में कुछ शर्तें पूरी करनी होंगी – इसमें 46 मदें रखी गई हैं जैसे बासमती चावल, काली मिर्च, नारियल के रेशे व इससे बनी वस्तुएँ, चीनी आदि

(9) निर्यात घरानों, ट्रेडिंग व स्टार ट्रेडिंग घरानों को अग्रिम लाइसेन्स स्कीम के तहत स्व-प्रमाणन की इजाजत दी जायेगी।

(10) नई नीति के अन्तर्गत कुछ निर्यातकों को विशेष आयात लाइसेन्स दिये जा सकेंगे जैसे – माने गये निर्यातों (deemed Exports), निर्यात घरानों व अन्य घरानों के लिए यह सुविधा होगी। इस प्रकार नई निर्यात-आयात नीति (1992-97) में विदेशी व्यापार को अधिक उदार बनाया गया है। व्यापार पर लगे पूर्व प्रतिबन्ध कम किये गये हैं। आयातों को अधिक मुक्त किया गया है।

1 अप्रैल, 1993 से निर्यात-आयात नीति में संशोधन
(Revision in Export-Import Policy since 1st April, 1993)

निर्यात-आयात नीति 92-97 को और अधिक गतिशील बनाने तथा प्रतिबन्धों को शिथिल करने के उद्देश्य से कुछ संशोधन किए गए। ये संशोधन 1 अप्रैल, 1993 से लागू हो गए हैं। निर्यात-आयात नीति में किए गए महत्वपूर्ण संशोधनों का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है –

(1) **निर्यात क्षेत्र का विस्तार**–निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार ने प्रतिबन्धात्मक सूची में शामिल 334 वस्तुओं में से 144 वस्तुओं को निर्यात योग्य वस्तुओं की सूची में सम्मिलित कर लिया है। अब इनके निर्यात के लिए लाइसेन्स की आवश्यकता नहीं होगी।

(2) **कृषि एवं सम्बन्धित क्षेत्रों की निर्यातोन्मुख इकाइयों को शुल्क रहित आयात का लाभ**– संशोधित आयात-निर्यात नीति के अनुसार अब कृषि, मत्स्य, पशुपालन, मुर्गीपालन, बागवानी, रेशम उद्योग तथा फूलों का व्यापार करने वाली इकाइयों को भी निर्यातोन्मुखी इकाई/निर्यात संसाधन क्षेत्र योजना (EOU/EPZ Scheme) के अन्तर्गत शुल्क रहित आयात की सुविधा प्राप्त होगी।

(3) **पूँजीगत माल की परिभाषा का विस्तार**– कृषि एवं सम्बन्धित क्षेत्रों को लाभान्वित करने के लिए नई संशोधित नीति के अन्तर्गत पूँजीगत सामान की परिभाषा को बदल दिया गया है। इसमें कृषि एवं उससे सम्बन्धित कार्यों में काम आने वाले सामान को भी सम्मिलित कर लिया गया है।

(4) **सेवा क्षेत्र के लिए पूँजीगत सामान निर्यात प्रोत्साहन योजना**– संशोधित निर्यात-आयात नीति की एक महत्वपूर्ण विशेषता सेवा क्षेत्र का लाभ उठाने के लिए निर्यात सम्वर्द्धन योजना (Export Promotion Capital Goods Scheme for the Service Sector) का नाम दिया गया है।

इस योजना के अन्तर्गत सेवाएँ उत्पन्न करने वाले लोग जैसे – वास्तुविद्, पत्रकार, इन्जीनियर, डॉक्टर, वकील, वैज्ञानिक, कलाकार, अर्थशास्त्री आदि 15% की रियायती शुल्क दर पर उपकरणों का आयात कर सकेंगे।

(5) **निर्यात सम्वर्द्धन पूँजीगत माल योजना (EPCG) के अन्तर्गत केवल एक ही झरोखा जारी रहेगा**– वर्तमान में अन्य क्षेत्रों के लिए लागू इस योजना के अन्तर्गत 15% की रियायती आयात शुल्क दर को संशोधित निर्यात-आयात नीति में खुला रखा गया है।

(6) **बैंक गारण्टी में उदारता** – ईपीसीजी. योजना के अन्तर्गत एक आयातकर्ता को उपलब्ध कराने वाली बैंक गारण्टी की आवश्यकताओं को संशोधित नीति के तहत उदार बना दिया गया है।

(7) **अन्य सुविधाएँ** – जिन निर्यातकों ने रुपये की पूर्ण परिवर्तनीयता लागू करने से पूर्व निर्यात करके विदेशी मुद्रा अर्जित कर ली थी, किन्तु 1 मार्च, 1993 से पूर्व उन्होंने अपने शुल्क मुक्त आयात लाइसेन्स का उपयोग नहीं किया था, अब उन्हें इसकी छूट दी गई है।

1997-2002 के लिए निर्यात-आयात नीति
(Exim Policy for 1997-2002)

मोर्चा सरकार के वाणिज्य मंत्री चिदम्बरम् ने 31 मार्च, 1997 को पाँच वर्ष के लिए नयी निर्यात-आयात नीति की घोषणा की। यह नीति 1 अप्रैल, 1997 से लागू हो गयी है। निर्यात-आयात नीति 1997-2002 में विश्व मन्दी के कारण आयातों में हुई कमी के कारण सन् 1998 में तथा इसके एक वर्ष बाद वर्ष 1999 में अनेक संशोधन किए गए। पुनः निर्यात-आयात नीति को तर्कसंगत एवं परिस्थितियों के अनुसार बनाने के लिये सरकार ने निर्यात-आयात नीति

के आयात को उदार बनाया गया है। इनमें अधिकांश उपभोक्ता वस्तुएं हैं। 'पूँजीगत वस्तुओं के निर्यात संवर्धन की योजना' के अधीन पूँजीगत वस्तुओं पर आयात शुल्क को 15 प्रतिशत से घटाकर 10 प्रतिशत कर दिया गया है।

NOTES

प्रक्रियागत सरलीकरण हेतु अब निर्यात संवर्धन के विभिन्न कार्यक्रमों को सीमित रखा गया है। 'मात्रा आधारित अग्रिम लाइसेन्स योजना' को जारी रखते हुए विवादास्पद मूल्य आधारित अग्रिम लाइसेन्स योजना को निरस्त कर दिया गया है। पास-बुक योजना में संशोधन कर के 'शुल्क अधिकार पास बुक' योजना को लाया गया है। नयी नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. प्रक्रियागत जटिलताओं में कमी।
2. अक्टूबर 1997 में सरकार ने विदेशों से सोने व चाँदी का अप्रतिबन्धित/असीमित आयात करने के लिए 11 अन्य एजेन्सियों को अधिकार प्रदान कर दिया है।
3. स्वर्णाभूषणों के निर्यात हेतु सोने का स्टॉक करने के लिए अधिकृत एजेन्सियों की संख्या बढ़ाने की योजना।
4. विद्युत क्षेत्र के साथ-साथ अब तेल व गैस को भी 'माने गये निर्यात' का लाभ उपलब्ध।
5. विदेश व्यापार महानिदेशालय के सभी कार्यालयों में सितम्बर, 1997 तक कम्प्यूटरीकरण।
6. सॉफ्टवेयर उद्योग को निर्यात हेतु समंक सम्प्रेषण नेटवर्क के प्रयोग की अनुमति।
7. नये बाजारों की खोज के लिए अतिरिक्त सहायता।
8. शुल्क रहित लाइसेन्स की वैधता 12 माह से बढ़कर 18 माह तक।
9. कृषिगत निर्यात के प्रोत्साहन हेतु ट्रेडिंग हाउस/स्टार हाउस की पात्रता हेतु कृषिगत निर्यात को दोहरा भारांश।
10. शून्य आयात-शुल्क वाली पूँजीगत सामान की निर्यात संवर्धन योजना का लाभ अब सेवा क्षेत्र को भी उपलब्ध।
11. कृषि एवं सम्बन्धित क्षेत्रों के लिए 'शून्य आयात शुल्क योजना' के अधीन 20 करोड़ की अधिकतम सीमा को घटाकर 5 करोड़ कर दिया गया है।
12. 'पूँजीगत वस्तुओं के निर्यात संवर्धन की योजना' के अन्तर्गत आयात शुल्क 15 प्रतिशत से घटाकर 10 प्रतिशत किया गया।
13. पास-बुक प्रणाली में संशोधन करते हुए नयी 'शुल्क अधिकार पास-बुक' की शुरुआत।
14. मूल्य आधारित अग्रिम लाइसेन्स प्रणाली की समाप्ति।
15. प्रतिबन्धित सूची में शामिल 542 वस्तुओं के आयात में उदारीकरण।

नई निर्यात-आयात नीति 2000
(New Exim Policy)

निर्यात-आयात नीति 1997-2002 में विश्व मन्दी के कारण आयातों में हुई कमी के कारण सन् 1998 में तथा इसके एक वर्ष बाद वर्ष 1999 में अनेक संशोधन किए गए। पुनः निर्यात-आयात नीति को तर्कसंगत एवं परिस्थितियों के अनुसार बनाने के लिये सरकार ने 31 मार्च, 2000 को नवीन निर्यात-आयात नीति की घोषणा की गई। इस नीति में दूध, कागज, मादा नमक, सिगरेट और इलेक्ट्रॉनिक सामानों के आयात पर से मात्रात्मक-प्रतिबन्ध हटा दिया गया है। निर्यातों में कम से कम 20% की बढ़ोतरी अवश्य ही होगी। इस नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं –

1. कच्चे माल की उपलब्धता में वृद्धि हेतु प्रयास – केन्द्र सरकार ने इस नीति के अन्तर्गत निर्यात के लिए कच्चे माल की उपलब्धता बढ़ाने के उद्देश्य से 'शुल्क-मुक्त' प्रतिपूर्ति योजना को 5000 से भी अधिक वस्तुओं के लिए लागू किया है।

2. ज्ञान आधारित उद्योगों के निर्यात को प्रोत्साहन – ऐसे उद्योग, जो औषधि, जैव प्रौद्योगिकी, एवं रसायन से सम्बन्धित हैं तथा मानवीय ज्ञान की खोज पर निर्भर रहते हैं, के उद्योगों को, निर्यात के एक प्रतिशत मूल्य के बराबर प्रयोगशाला उपकरण और प्रयोग के सामान 'शुल्क-मुक्त' रूप से आयात करने की छूट होगी।

3. विशेष आर्थिक क्षेत्रों का स्थान-निर्धारण – इस नीति के प्रावधानों के अनुरूप, दो विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना क्रमशः गुजरात राज्य के पोपवाव एवं तमिलनाडु के तूतीकोरन नगर में की गई है।

NOTES

4. मशीनों को खान में लगाने की छूट– इस नीति के अन्तर्गत, मेनाइट, संगमरमर और अन्य खनिजों का निर्या करने वाली निर्यातोन्मुख इकाइयों को अपनी मशीनें परिसर से हटाकर, खान तक ले जाने की छूट दी गई है।

5. घरेलू उद्योगों पर विपरीत प्रभाव नहीं– अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन के अन्तर्गत आने वाली 1429 वस्तुः में से आधी वस्तुओं (714) को कोटा (Quota) पाबन्दी के दायरे से बाहर लाने से घरेलू उद्योग पर कोई प्रभाव न पड़ेगा।

6. विदेशी भागीदारी की छूट– इस नीति के अनुसार, विशेष आर्थिक क्षेत्रों में लगने वाली इकाइयों में १ प्रतिशत तक विदेशी भागीदारी की छूट के साथ ही, आयात-निर्यात पर भी कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा।

7. 'डायमंड डॉलर खाता' खोलने की घोषणा– इस नीति में, रत्नाभूषण, मेनाइट और संगमरमर निर्यातकों व प्रोत्साहन देने निमित्त 'डायमन्ड डॉलर खाता' योजना प्रारम्भ की गई है। इस खाते में निर्यातक अपनी कमाई को डॉल खाते में रख सकेंगे।

8. **आयात के मात्रात्मक प्रतिबन्ध को हटाना**– सरकार ने 'विश्व-व्यापार संगठन' (World Trad Organization) के प्रावधानों की पालना की दृष्टि से, इस नीति में 714 वस्तुओं के आयात से मात्रा सम्बन्धी रोक हटा ली है।

9. **विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना**– भारत सरकार ने, चीन की भाँति उदार निवेश वाले दो आर्थिक क्षेः बनाने तथा चार निर्यात प्रसंस्करण क्षेत्रों को विशेष आर्थिक क्षेत्रों में परिवर्तित करने की घोषणा की है।

10. **अन्य आवश्यक तत्व : एक दृष्टि**– इस नवीन नीति के कतिपय महत्वपूर्ण पहलू निम्न प्रकार दृष्टिगोच होते हैं–

(i) घरेलू उद्योग को शुल्क संरक्षण एंटी-डंपिंग, सब्सिडी विरोधी प्रणाली के तहत सुरक्षा जारी रखने की नीति को बरकरार रखा जाएगा।

(ii) कर आयोग को और सशक्त किया जाएगा, जिससे कि आयात होने वाले और निर्यात किए जाने वाले म प्राप्त होने वाले कर को वास्तविक रूप में प्राप्त किया जा सके।

(iii) सभी बन्दरगाहों पर 30 जून, 2000 से समस्त काम काज इलेक्ट्रॉनिक आधार पर प्रारम्भ किया जाएगा।

(iv) निर्यात संवर्द्धन पूँजीगत वस्तुएँ आयात योजना को पाँच प्रतिशत आयात शुल्क पर सभी औद्योगिक क्षेत्रों को सुलभ कराने का दृष्टिकोण, इस नीति में समाविष्ट किया गया है।

(v) विना लाइसेंस अनुमति– सिल्क के आयात को विशेष आयात लाइसेंस के अधीन अनुमति प्रदान की गई है।

(vi) कोष की स्थापना– राज्य सरकारों की ओर से किए जाने वाले निर्यात को प्रोत्साहित करने के लिए 250 करोड़ रुपये के एक विशेष कोष की स्थापना की गई है।

(vii) नीति का कार्यकाल– वर्तमान आयात-निर्यात नीति का कार्यकाल अप्रैल, 1997 से मार्च 2002 तक का है किन्तु सरकार परिस्थितिनुसार, प्रत्येक वर्ष इसमें सुधार कर सकती है।

निर्यात-आयात नीति – 2002-07
(Export-Import Policy- 2002-07)

31 मार्च, 2002 को भारत के वाणिज्य एवं उद्योग मंत्री श्री मुरासोली मारन के आगामी 5 वर्षों (2002-07) के लिये निर्यात-आयात नीति की घोषणा की गई। विश्व व्यापार संगठन के समझौते को पूर्त रूप देने के लिये इस नीति में निर्यात के रास्ते की अनेक बाधाओं को समाप्त किया गया। वाणिज्य मंत्री ने यह आशा व्यक्त की कि सन् 2007 तक भारत का निर्यात व्यापार 80 अरब डॉलर तक पहुँच जाएगा। इस नई नीति में निर्यात के मात्रात्मक प्रतिबन्ध और प्रक्रिया के कारण पैदा होने वाली बाधाएँ समाप्त की गईं। इसके साथ ही कृषि निर्यातकों तथा विशेष आर्थिक क्षेत्रों (SEZ) को विभिन्न रियायतें प्रदान की गईं। इस नीति की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं -

(1) निर्यात व्यापार पर विशेष जोर–वर्ष 2001-02 में निर्यात व्यापार में व्यापक मन्दी से उबरने के लिये इस नीति में निर्यात वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया। इस नीति के द्वारा दी गई रियायतों के माध्यम से 2002-03 में 11.9 प्रतिशत निर्यात वृद्धि का लक्ष्य रखा गया

(2) निर्यात सम्बन्धी मात्रात्मक प्रतिबन्धों की समाप्ति–इस नीति में कुछ संवेदनशील वस्तुओं को छोड़कर सभी वस्तुओं के निर्यात पर से मात्रात्मक प्रतिबन्ध समाप्त करने की घोषणा की गई है। आयात से मात्रात्मक प्रतिबन्ध पहले

हो उठाये जा चुके हैं। कुछ एक मदों जैसे प्याज, जूट, नाइजर बीज (Niger seed) आदि के निर्यात पर प्रतिबन्ध जारी रहेंगे।

(3) **निर्यात प्रोत्साहन योजनाएँ**–इस नीति में यह घोषणा की गई है कि निर्यात प्रोत्साहन योजनाएँ; जैसे– शुल्क पात्रता पास बुक (Duty Entitlement Pass Book-DEPB), अग्रिम लाइसेंस, पूँजीगत सामान पर निर्यात प्रोत्साहन (Export Promotion Capital Goods-EPCG) इत्यादि न केवल जारी रहेंगी बल्कि इन्हें बेहतर बनाया जाएगा। 100 करोड़ रु. से अधिक मूल्य के EPCG आयातों के सम्बन्ध में निर्यात दायित्व की शर्त को पूरा करने की अवधि बढ़ाकर 12 वर्ष कर दी गयी है।

(4) **विदेशों में बैंकिंग शाखाओं की स्थापना**–विशेष आर्थिक क्षेत्रों (SEZs) में भारतीय बैंक की समुद्रपारीय बैंकिंग इकाइयों को स्थापित करने की अनुमति दी गई है। इन बैंक शाखाओं पर रिजर्व बैंक के नकद कोषानुपात (CRR), संवैधानिक तरलता अनुपात (SLR) जैसे नियम लागू नहीं होंगे। ये शालाएँ SEZ की इकाइयों को अन्तर्राष्ट्रीय दर पर वित्तीय सुविधाएँ उपलब्ध कराएँगी। इससे आर्थिक क्षेत्रों की प्रतियोगी शक्ति में सुधार होगा।

(5) **विशेष आर्थिक क्षेत्रों (SEZs)को विभिन्न रियायतें** -इस नीति में विशेष आर्थिक क्षेत्रों (Special Economic Zones-SEZs) को विभिन्न रियायतें दी गई हैं। इन क्षेत्रों (SEZs) को आयकर में रियायतें दी जाएँगी। विशेष आर्थिक क्षेत्रों को घरेलू शुल्क क्षेत्र (Domestic Tariff Area-DTA) से माल की आपूर्ति होने पर आपूर्तिकर्ता को केन्द्रीय बिक्री कर से छूट दी जाएगी। इसके अलावा DTA आपूर्तिकर्ता को शुल्क वापसी और शुल्क पात्रता पास बुक (डी ई पी बी) लाभ भी दिये जाएँगे। डीटीए से एसईजेड को होने वाले लेन-देन को आयकर अधिनियम और सीमा शुल्क अधिनियम के तहत निर्यात के समकक्ष माना जाएगा।

मार्च 2002 तक देश में विभिन्न राज्यों में 13 विशेष आर्थिक क्षेत्रों (SEZs) की अनुमति दी गई है। इनमें पहला पोसितरा, गुजरात में स्थापित हो रहा है, जबकि दूसरा तमिलनाडु के नानगुनेरी में। महाराष्ट्र में द्रोणागिरी और आन्ध्रप्रदेश में काकीनाड़ा में SEZs की स्थापना का काम शुरू हो चुका है। अन्य राज्यों में जहाँ केवल अनुमति दी गई है, उनमें उड़ीसा में गोपालपुर, कर्नाटक में हसन, पश्चिम बंगाल में कुल्पी, कोलकाता में साल्ट लेक, उत्तरप्रदेश में भदोही, कानपुर व ग्रेटर नोएडा, मध्यप्रदेश में इन्दौर और उड़ीसा में पारादीप शामिल हैं। इसके अलावा निर्यात प्रसंस्करण क्षेत्र (EPZ) के तौर पर काम कर रहे वर्तमान चार क्षेत्रों को SEZs में बदल दिया गया है।

(6) **कृषि उत्पादों के निर्यात पर परिवहन सब्सिडी**– इस नीति में कृषि उत्पादों का निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिये परिवहन सहायता की घोषणा की गई है। इस घोषणा का मुख्य उद्देश्य भारत में कृषि उत्पादनों को प्रोत्साहित करना है जिससे कि कृषकों को निर्यात व्यापार का लाभ प्राप्त हो सके।

(7) **औद्योगिक समूह** (Industrial Clusters) **को महत्व देना**–इस नीति में औद्योगिक समूहों द्वारा निर्यात व्यापार में दिए जा रहे योगदान को स्वीकार किया गया। सरकार ने इन्हें विनियमित कर उनका निर्यात बढ़ाने पर ध्यान दिया है। इन्हें वित्तीय सहायता देने का प्रावधान है।

(8) **रूस को निर्यात** (Exports to Russia)–नई निर्यात-आयात नीति के तहत रूस को मक्खन, गेहूँ, गेहूँ उत्पाद, मोटे अनाज, मूँगफली तेल और काजू के निर्यात के लिए पंजीकरण और पैकेजिंग जैसी अनिवार्यताएँ समाप्त कर दी गई हैं। रूस का निर्यात बढ़ाने के लिये विशेष प्रयास किए जाएँगे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विघटन के पूर्व भारत के निर्यात सोवियत रूस को बहुत अधिक था।

(9) **लघु एवं कुटीर उद्योग** इस निर्यात-आयात नीति में लघु एवं कुटीर उद्योगों द्वारा किए जा रहे निर्यातों पर भी ध्यान देने की बात कही गई है। लघु एवं कुटीर उद्योगों द्वारा किए जा रहे निर्यातों के परिणाम काफी उत्साहवर्धक हैं। इस नीति में कच्चे हीरों का कारोबार करने वाले छोटे निर्यातकों का भी पूरा ध्यान रखने की बात कही गई है।

(10) **रत्न एवं आभूषण निर्यात**–निर्यात-आयात नीति 2002-07 में रत्न-आभूषण निर्यात को बढ़ावा देने के लिए कुछ और सुविधाएँ प्रदान करने की घोषणा की गई। बिना तराशे हीरे का आयात शुल्क-मुक्त कर दिया गया है तथा इसके लिये आयात लाइसेंस नहीं लेना पड़ेगा। आभूषण निर्यात के लिये मूल्य सम्वर्धन (MODVAT) की दर 10 प्रतिशत से घटाकर 7 प्रतिशत एवं 3 प्रतिशत कर दिया गया है।

(11) **राज्यों की भागीदारी में वृद्धि**–निर्यात में राज्यों की बढ़ती भागीदारी को और ज्यादा महत्व देते हुए इसके लिए नई योजना की घोषणा की गई है। निर्यात बढ़ाने के लिए राज्यों को बुनियादी सुविधा विकास सहायता (एसाइड) नामक योजना से कुल दो मानदण्डों के आधार पर धन दिया जाएगा। योजना के तहत वर्ष 2001-02 के लिए 49.50 करोड़ रुपये मंजूर किये गये हैं जबकि 2002-03 के लिए 330 करोड़ रु का प्रावधान किया गया है।

(12) **सॉफ्टवेयर क्षेत्र** में अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भारत की अच्छी पहचान करने के बाद अब इलेक्ट्रॉनिक हार्डवेयर के क्षेत्र में भी मौजूदगी दर्ज करने के लिए एक विशेष पैकेज इस क्षेत्र के लिए घोषित किया गया है। इसके तहत

इलेक्ट्रॉनिक हार्डवेयर टेक्नोलॉजी पार्क (EHTP) योजना में ऐसे संशोधन किये जा रहे हैं, ताकि इस क्षेत्र की इकाइयें को विश्व व्यापार संगठन (WTO) के प्रावधानों के तहत् ही शून्य प्रशुल्क व अन्य लाभ उपलब्ध हो सकें। इसी प्रकार रत्नों एवं आभूषणों के निर्यात को बढ़ाने के लिए पैकेज की घोषणा भी इसमें की गयी है।

(13) नयी आयात-निर्यात नीति में गैर परम्परागत क्षेत्रों पर विशेष ध्यान दिया गया है। इस दृष्टि से साफ्टवेयर मनोरंजन, स्वास्थ्य व पर्यटन जैसे सेवा क्षेत्रों के निर्यात को प्रोत्साहन देने पर जोर दिया गया है।

(14) नई आयात-निर्यात नीति में 69 अन्य उत्पादों के आयात पर से परिमाणात्मक प्रतिबन्ध हटा लिये गये है जबकि निर्यात के लिए 5 उत्पादों पर से प्रतिबन्ध हटाये गये हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि नई आयात-निर्यात नीति (2002-07) में भारत के विदेशी व्यापार के संवर्द्धन हेतु विभिन्न सुधारात्मक कदम उठाये गये हैं। यह नीति व्यापार के क्षेत्र में प्रतिबन्धों तथा नियंत्रणों से मुक्त वातावरण निर्मित करने की दिशा में महत्वपूर्ण प्रयास है। नई नीति में सभी प्रकार के आयातों की सुविधा उपलब्ध हो जाने के कारण वे स्वदेशी उद्योगों को अब विदेशी वस्तुओं से कड़ी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ेगा। अतः घरेलू उद्योगों को बाजार में बने रहने के लिए अपने उत्पादों की गुणवत्ता में सुधार करने के अलावा उनकी कीमतों को भी विश्व बाजार में प्रतिस्पर्धी बनाना होगी। ऐसा होने पर ही नयी आयात-निर्यात नीति अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल हो सकती है।

विदेश व्यापार नीति 2004-09
(Foreign Trade Policy 2004-09)

भारत सरकार ने 31 अगस्त, 2004 को पाँच वर्ष (2004-09) की अवधि के लिए नई विदेशी व्यापार नीति घोषित की, जिसमें भारत के विदेशी व्यापार के समग्र विकास का समेकित रूप से पर्यावलोकन किया गया है। इस नीति का मुख्य उद्देश्य विश्व व्यापार में भारत के भाग को जो कि वर्ष 2003 में 0.7 प्रतिशत था, बढ़कर 2009 में 1.5 प्रतिशत अर्थात् दुगुना करना है।

उद्देश्य और रणनीति

विदेश व्यापार नीति के दो प्रमुख उद्देश्य रखे गये हैं, जो निम्न प्रकार हैं-

(i) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भारत की भागीदारी को आगामी पाँच वर्षों में दुगुनी करना अर्थात् विश्व पण्यवस्तु व्यापार में भारत के भाग को जो वर्ष 2003 में 0.7 प्रतिशत है, बढ़ाकर 2009 में 1.5 प्रतिशत करना।

(ii) रोजगार सृजन को बढ़ावा देते हुए आर्थिक विकास के प्रभावी उपकरण के रूप में कार्य करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए मुख्य रणनीति के अंग निम्न प्रकार निर्धारित किये गये हैं

1. उद्यमिता को बढ़ावा देने के लिए विश्वास एवं पारदर्शिता का वातावरण बनाने हेतु नियंत्रणों (Controls) को समाप्त करना।
2. प्रक्रियाओं (कार्यविधि) को सरल बनाना और कारोबारी लागत (Transaction Cost) को कम करना।
3. इस मूल सिद्धांत को अपनाना कि शुल्कों (Duties) एवं उपकरों (Cesses) का निर्यात नहीं किया जायेगा। अतः निर्यात उत्पादों पर सभी शुल्कों और उपकरों को निष्प्रभावी बनाना।
4. विनिर्माण, व्यापार और सेवाओं के क्षेत्र में भारत को विश्व के एक केन्द्र के रूप में विकसित करने के लिए विशेष केन्द्रीय क्षेत्रों की पहचान करना तथा उन्हें बढ़ावा देना।
5. अतिरिक्त रोजगार सृजन करने वाले क्षेत्रों विशेषकर अर्द्धशहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में का पता लगाना तथा इन्हें विकसित करना।
6. भारतीय अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों के प्रौद्योगिकीय और बुनियादी सुविधाओं का विकास करना। विशेष रूप से पूँजीगत वस्तुओं और उपकरणों का आयात करके अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की गुणवत्ता को प्राप्त करते हुए मूल्य संवर्धन और उत्पादकता में वृद्धि करना।
7. अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के अनुरूप सम्पूर्ण विदेशी व्यापार श्रृंखला से संबंधित बुनियादी नेटवर्क को विकसित करना।
8. व्यापार मंडल की भूमिका को पुनर्निर्धारित करते हुए तथा इसमें व्यापार नीति विशेषज्ञों को शामिल करते हुए इसकी पुनः स्थापना करना।

9. निर्यात संबंधी रणनीति में प्रमुख भूमिका निभाने के लिए भारतीय दूतावासों को सक्रिय करना, जिससे वास्तविक रूप से व्यापार के क्षेत्र को बढ़ाया जा सके।

NOTES

विशेष केन्द्रीय उपाय

विदेश व्यापार नीति 2004-09 में ऐसे क्षेत्र जिनमें निर्यात संवर्धन की महत्वपूर्ण सामर्थ्य है और इसके साथ-साथ अर्द्ध नगरीय एवं ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार सृजन की क्षमता रखते हैं, की पहचान विकास केन्द्रों के रूप में की गई है। इनमें कृषि, हस्तशिल्प और हथकरघा, रत्न और जवाहरात, चमड़ा एवं फुटवियर आदि महत्वपूर्ण क्षेत्र शामिल हैं। इन क्षेत्रों के लिए किये गये विशेष नीतिगत उपायों में कृषि क्षेत्र के लिए फल, सब्जियों, फूलों, लघु वन उत्पादों तथा उनके मूल्य वर्धित उत्पादों (Value added products) के निर्यातों को बढ़ाने के लिए एक **विशेष कृषि उपज योजना** शुरू की गई है। योजनान्तर्गत इन उत्पादों का अधिक निर्यात करने वालों को करमुक्त ऋण (Duty free credit) दिया जायेगा, जो कि इनके निर्यात का 5 प्रतिशत होगा। कृषि क्षेत्र के लिए अन्य घटकों में निर्यात संवर्धन पूँजीगत वस्तु (EPCG) योजना के अंतर्गत पूँजीगत वस्तुओं का शुल्क मुक्त आयात करना, कृषि निर्यात क्षेत्र (AEZ) में कृषि के लिए आयातित पूँजीगत वस्तुओं की संस्थापना की अनुमति देना, कृषि निर्यात क्षेत्रों का विकास करना तथा आयात एवं निर्यात का उदारीकरण करना शामिल है।

हथकरघा और हस्तशिल्प के शुल्क मुक्त आयात को बढ़ाकर निर्यात के मूल्य का 5 प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया है। इस क्षेत्र के विकास हेतु एक नया हस्तशिल्प विशेष आर्थिक क्षेत्र स्थापित किया जायेगा।

रत्न और आभूषण क्षेत्र के अंतर्गत स्वर्ण और प्लाटिनम को छोड़कर अन्य धातुओं के लिए निर्यात के 2 प्रतिशत मूल्य तक शुल्क मुक्त आयात की अनुमति दी गई है। इसी प्रकार 18 कैरेट या इससे ऊपर के स्वर्ण के आयात के लिए पुनः पूर्ति योजना (Replenishment Scheme) के अंतर्गत आयात की अनुमति होगी।

चमड़ा **और फुटवियर** (Footwear) क्षेत्र में विशिष्ट नीतिगत उपाय मुख्यतः निवेश साधनों और संयंत्रों एवं मशीनों पर सीमा शुल्क लगाने के मामलों में कमी करने के रूप में है। चमड़ा उद्योग के लिए शुल्क मुक्त आयात (Duty free import) की सीमा बढ़ाकर निर्यात के मूल्य के 3 प्रतिशत तक कर दी गई है। चमड़ा क्षेत्र के लिए कुछ विशेष मदों के शुल्क-मुक्त आयात को बढ़ाकर निर्यात के मूल्य के 5 प्रतिशत तक कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त चमड़ा उद्योग से निकलने वाले मल को प्रसंस्कृत करने हेतु मशीनरी एवं उपकरणों को आयात शुल्कों से मुक्त किया गया है।

निर्यात संवर्धन योजनाएँ (Export Promotion Schemes)

निर्यातों की वृद्धि में तेजी लाने के लिए लक्ष्य से अधिक निर्यात वाली एक नई योजना टारगेट प्लस (Target Plus) चालू की गई है। इसके अंतर्गत निर्यातक को शुल्क-मुक्त उधार की पात्रता होगी। यदि उसका अतिरिक्त निर्यात निर्धारित निर्यात-लक्ष्य से महत्वपूर्ण रूप में अधिक है। अतिरिक्त निर्यात के 20 प्रतिशत, 25 प्रतिशत और 100 प्रतिशत होने पर शुल्क मुक्त ऋण, अतिरिक्त निर्यात के मूल्य का क्रमशः 5 प्रतिशत, 10 प्रतिशत और 25 प्रतिशत रहेगा।

सेवा निर्यात (Service Exports) के लिए '**भारत से सेवाग्रद**' (Served from India) योजना प्रारंभ की गई है, जिसके अंतर्गत भारतीय ब्रांडों को विदेशी बाजारों में स्थापित करने का अभियान चलाया जाएगा। इसमें वैयक्तिक सेवा प्रदाता को 10 लाख रुपये की विदेशी मुद्रा अर्जित करने के विरुद्ध इसके 10 प्रतिशत तक शुल्क मुक्त ऋण प्राप्त करने का अधिकार होगा। रेस्तराओं के लिए यह अधिकार 20 प्रतिशत जबकि होटलों के लिए 5 प्रतिशत होगा।

सेवाओं के निर्यात को बढ़ावा देने हेतु **सेवा निर्यात संवर्धन परिषद** (Services Export Promotion Council) की स्थापना की जाएगी तथा घरेलू सेवा प्रदाताओं के लिए साझे सुविधा केन्द्र की स्थापना को प्रोत्साहन दिया जायेगा। निर्यात संवर्धन पूँजी वस्तु योजना (EPCG Scheme) के अन्तर्गत शुल्क मुक्त आयात की अनुमति दी गई है। कृषि के लिए इस योजनान्तर्गत आयातित पूँजी वस्तुओं को कृषि निर्यात क्षेत्र में भारत में किसी भी स्थान पर स्थापित करने की अनुमति प्रदान की गई।

निर्यात-उन्मुख इकाइयों (Export-oriented Units) को उनके द्वारा सेवाओं तथा वस्तुओं के रूप में किये गये अनुपात में सेवा कर से छूट दी गई है। अब निर्यात उन्मुख इकाइयाँ अपने निर्यात से प्राप्त समस्त आय (100 प्रतिशत) को अपने विदेशी मुद्रा अर्जित करेन्सी खातों में रखने की पात्रता होगी।

भारत को एक वैश्विक व्यापार केन्द्र बनाने के लिए 'मुक्त व्यापार और गोदाम क्षेत्र' (Free Trade and Warehousing Zone) की स्थापना हेतु एक नई योजना चालू की गई है, जो परिवर्तनीय मुद्राओं में व्यापारिक सौदे करने की स्वतन्त्रता से वस्तुओं और सेवाओं के आयात और निर्यात को सुविधाजनक बनाने के लिए व्यापारी सेवाओं आधार संरचना का सृजन करेगी। इन क्षेत्रों के विकास और स्थापना करने के लिए तथा इनमें आधार संरचना सुविधाओं को बढ़ावा देने के लिए 100 प्रतिशत विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (FDI) की अनुमति दी गई है। प्रत्येक क्षेत्र पर 100 करोड़

NOTES

रुपये का न्यूनतम परिव्यय किया जाएगा और इसका निर्मित क्षेत्र 5 लाख वर्ग मीटर होगा। इन क्षेत्रों को वे सभी ला प्राप्त होंगे जो विशेष निर्यात क्षेत्रों (SEZ) को प्राप्त हैं।

सरकार साझे सुविधा केन्द्रों (Common Facilities Centres) को विकसित करेगी, जिससे अंतर्देशीय सेव प्रदाताओं को इंजीनियरिंग, आर्किटेक्चर डिजाइन, मल्टी मीडिया कार्य-कलापों और साफ्टवेयर के विकास आदि के लाभ प्राप्त हो सकें। इन केन्द्रों की स्थापना राज्यीय और जिला स्तर के नगरों में की जाएगी, जिससे अनेक अन्तर्देशी व्यावसायिक (Professionals) सेवा-निर्यात क्षेत्र के लिए आकर्षित किये जा सकें।

व्यापार नीति में स्टार निर्यात घरानों (Star Export Houses)का एक नया युक्ति-युक्त वर्गीकरण प्रारंभ किय गया है, जिसमें चालू एवं विगत तीन वर्षों में कुल निर्यात निष्पादन के आधार पर स्टार निर्यात सदन की पाँच श्रेणिय बनाई गई हैं। इसके अंतर्गत एक, दो, तीन, चार एवं पाँच स्टार घराना के लिए कुल निष्पादन राशि क्रमशः 15 करोड़ 100 करोड़, 500 करोड़, 1000 करोड़ एवं 5000 करोड़ रुपए निश्चित की गई है। स्टार निर्यात घरानों को क विशेषाधिकार जैसे- उनके प्रोजेक्टों की तेजी से स्वीकृति की कार्यविधि, बैंक गारंटी उपलब्ध कराने में छूट, लक्ष्य से अधिक निर्यात योजना में शामिल किये जाने की पात्रता आदि प्राप्त होंगे।

कार्यविधि सरलीकरण तथा संस्थागत उपाय

इस नीति में नियमों और प्रक्रियाओं को और अधिक युक्तिसंगत व सरल बनाने के लिए कई नीतिगत उपाय घोषित किये गये हैं। कारोबारी लागत (Transaction Cost) कम करने के लिए सभी निर्यातकों को जिनका न्यूनतम निर्यात 5 करोड़ रुपये है तथा निष्पादन रिकार्ड अच्छा है, किसी भी योजना में बैंक गारंटी उपलब्ध कराने से छूट दी जाएगी।

निर्यात की गई सभी वस्तुओं और सेवाओं को जिनमें घरेलू प्रशुल्क क्षेत्र (Domestic Tariff Area) की इकाइयाँ भी सम्मिलित हैं, सेवा कर से छूट प्राप्त होगी। विभिन्न योजनाओं के अंतर्गत जारी किये जाने वाले सभी लाइसेंसों एवं अधिकारों की मान्यता की अवधि बढ़ाकर एक समान 24 महीने कर दी गई है। निर्यात कारोबार के लिए इलेक्ट्रॉनिक समंक अंतरापृष्ठ (Electronic Data Interchange) समयबद्ध रूप से लागू किया जायेगा।

संस्थागत उपायों में व्यापार मंडल में सुधार करते हुए उसे पुनः स्थापित करना, सेवा निर्यात संवर्धन परिषद की स्थापना करना और राज्य तथा जिला स्तर के नगरों में व्यावसायिक गृह आधारित सेवा प्रदाताओं के उपयोग हेतु साधारण सुविधा केन्द्रों की स्थापना करना शामिल है। दिल्ली में प्रगति मैदान को एक विश्व स्तरीय काम्पलेक्स के रूप में विकसित किया जाएगा, फलस्वरूप विदेशी व्यापार को बढ़ावा मिलेगा।

निष्कर्ष – निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि **नई विदेशी व्यापार नीति** (2004-09) में भारत में विदेशी व्यापार के संवर्धन हेतु विभिन्न सुधारात्मक कदम उठाये गये हैं। इस नीति से घरेलू आर्थिक गतिविधियों में वृद्धि होगी, जिससे आय में वृद्धि होगी तथा रोजगार के अवसर सृजित होंगे। इसमें श्रम आधारित निर्यात क्षेत्रों को प्रोत्साहित किया गया है। इस नीति में भी प्रतिबंधों के आधार पर वातावरण निर्मित करने का प्रयास किया गया है। यहाँ यह तथ्य विशेष महत्वपूर्ण है कि जहाँ सभी नीति संबंधी पहल अच्छे उद्देश्यों से की गई है और उचित दिशा में कदम हैं, किंतु विदेश व्यापार नीति की सफलता की मात्रा इसके कार्यान्वयन की गुणवत्ता पर निर्भर करेगी। इस नीति की मुख्य विशेषता यह है कि केवल मात्रात्मक प्रतिबंधों (Quantitative Restrictions) को समाप्त करने की बजाय यह निर्यात को महत्वपूर्ण क्षेत्रों, जिनकी पहचान की जा चुकी हैं, में बढ़ाने के संबंध में उपाय प्रस्तुत करती है। इस नीति में अपनाये गये उपायों से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्धा बढ़ेगी और भारतीय निर्यातकों की स्वीकार्यता को बढ़ाने में सफलता प्राप्त होगी।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. "निर्यात संवर्द्धन एवं आयात प्रतिस्थापन भारत की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है।" इस कथन को भारत सरकार द्वारा हाल ही में घोषित नीतियों के संदर्भ में विवेचना कीजिए।
2. भारत की वर्तमान आयात निर्यात नीति की समीक्षा कीजिए। भारतीय उद्योगों के विकास में यह नीति कहाँ तक उपयुक्त है?
3. भारत सरकार की नवीनतम विदेशी व्यापार नीति की विवेचना कीजिए।
4. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए-
   (i) भारत की विदेशी व्यापार नीति के उद्देश्य (ii) निर्यात आयात नीति, 1992-97
   (iii) निर्यात-आयात नीति 1997-2002 (iv) निर्यात-आयात नीति, 2002-07
   (v) विदेशी व्यापार नीति, 2004-09

10

राजनैतिक वैधानिक पर्यावरण
(POLITICAL LEGAL ENVIRONMENT)

व्यवसाय एवं उद्योग आर्थिक क्रियाओं का एक समूह है और जिसकी निरन्तरता कार्यकुशल प्रबंधकों पर निर्भर करती है। किसी देश का संविधान उसका प्रतीक माना जाता है। वह एक ऐसा मूल एवं महत्वपूर्ण प्रलेख होता है जिसमें राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं न्यायिक पहलुओं का समावेश होता है। हमारे देश के संविधान निर्माणकर्ताओं ने देश की तत्कालीन एवं भावी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये एक श्रेष्ठतम संविधान का सृजन किया था।

प्रशासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिये 26 जनवरी, 1950 से भारतीय संविधान लागू किया गया। इसकी प्रस्तावना में इन चार बातों का उल्लेख किया गया है, जो प्रत्येक नागरिक को गौरव एवं प्रतिष्ठा प्रदान करता है। ये चार सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—

1. **न्याय**—भारत के प्रत्येक नागरिक को आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक न्याय प्रदान करने की घोषणा की गई।

2. **समानता**—प्रत्येक नागरिक को समान दर्जा व कार्य करने का समान अवसर प्रदान करने की घोषणा की गई।

3. **स्वतंत्रता**—भारतीय संविधान में प्रत्येक नागरिक को विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, निष्ठा तथा धर्म की स्वतन्त्रता प्रदान की गई।

4. **बंधुत्व**—भारतीय संविधान में प्रत्येक नागरिक को समान भाईचारा प्रदान करने एवं राष्ट्र की एकता को बनाये रखने का संकल्प किया गया।

उपरोक्त चारों सिद्धान्तों का **आर्थिक महत्व** निम्नलिखित तथ्यों द्वारा स्पष्ट है—

1. **न्याय**—आर्थिक न्याय के बिना सामाजिक एवं राजनैतिक न्याय प्राप्त करना सम्भव नहीं होता। धन के अभाव में न्यायालयों द्वारा न्याय प्राप्त कर पाना एक निर्धन व्यक्ति के लिये कल्पना मात्र है। आर्थिक न्याय दो बातों से विशेष रूप से संबंधित है—

(अ) **रोजगार**—प्रत्येक व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार रोजगार प्राप्त होना चाहिये। प्रत्येक राजनीतिक दल अपने चुनाव के समय जनता को रोजगार उपलब्ध करवाने का आश्वासन देता है।

(ब) **वेतन**—कार्य के अनुसार वेतन दिया जाना तथा किसी भी व्यक्ति के कार्य को घटिया नहीं समझना ही न्यायोचित है। सम्मानपूर्ण जीवन व्यतीत करने के लिये वेतन का पर्याप्त होना आवश्यक है। आय व धन के समान वितरण की दिशा में भी उचित वेतन का महत्व है।

2. **स्वतंत्रता**—स्वतंत्रता का सही मूल्य आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने में निहित है। जब तक नागरिक आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर नहीं हो जाते, उनके लिये राजनैतिक स्वतंत्रता मात्र एक मधुर कल्पना है। इसके लिये रोजगार का सृजन करके आर्थिक दासता से मुक्ति आवश्यक है।

3. **समानता**—आर्थिक विषमताओं को समाप्त किये बिना नागरिकों के लिये समानता का कोई महत्व नहीं है। आर्थिक असमानता ही गरीब व अमीर की खाई उत्पन्न करके शोषण को बढ़ाती है। आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण व एकाधिकारी प्रवृत्तियों पर रोक लगा कर आर्थिक समानता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है।

4. **बन्धुत्व**—देश में भाईचारा, बंधुत्व व राष्ट्रीय एकता की भावना को तभी बढ़ाया जा सकता है, जबकि समाज से छुआछूत, भेदभाव, ऊँच-नीच के दोषों को समाप्त कर दिया जाये। किन्तु यह भी तभी सम्भव है, जबकि व्यक्तियों को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व स्वावलम्बी बनाया जाये। अमीरों व गरीबों की खाई राष्ट्रीय एकता में बाधक है।

व्यवसाय एक मूलभूत अधिकार (Business is a Fundamental Right) –

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 12 से 31 में कुछ मूलभूत अधिकारों का उल्लेख किया गया है। स्वतंत्रता के अधिकार के अधीन देश के सभी नागरिकों को बोलने, विचार अभिव्यक्त करने, शान्तिपूर्वक एकत्र होने, संघ निर्माण करने, देश में स्वतंत्रता-पूर्वक भ्रमण करने, सम्पत्ति का लेन-देन करने तथा व्यवसाय आदि करने का पूर्ण अधिकार है। संविधान का अनुच्छेद 19 स्वतंत्रता के अधिकार से ही सम्बद्ध है। अनुच्छेद 19 (1) (जी) के अनुसार, "देश के प्रत्येक नागरिक को भारत में कोई भी पेशा, धन्धा, व्यापार अथवा व्यवसाय चलाने की स्वतंत्रता है।" व्यवसाय चलाना एक

NOTES

मूल अधिकार है और यदि इस अधिकार पर कोई संस्था, राज्य या सरकार, या व्यक्ति किसी प्रकार का आघात करत है अथवा कोई गतिरोध उत्पन्न करता है तो पीड़ित व्यक्ति या संस्था को न्यायिक संरक्षण का पूर्ण अधिकार प्राप्त है

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 39 के अधीन कुछ ऐसे सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है जिनसे न केवल आर्थिक क्रियाओं को बल मिलता है बल्कि राज्य के लिये यह सिद्धान्त नीति-निर्देशक का कार्य करते हैं। अनुच्छे 39 के प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित हैं—

(1) के सभी नागरिकों को जीविकोपार्जन का पूर्ण अधिकार होगा;

(2) ज के महत्वपूर्ण साधनों का स्वामित्व एवं नियंत्रण सभी के हितों की पूर्ति के लिए किया जायेगा; तथा

(3) र्थिक प्रणाली का संचालन इस प्रकार किया जायेगा, जिससे उत्पादन के साधन और सम्पदा के संकेन्द्रण को रोक जा सके।

मौलिक अधिकार एवं उनका आर्थिक पक्ष
(Fundamental Rights and their Economic Dimensions)

संविधान में वर्णित मूलभूत अधिकार आत्म-विकास का अवसर प्रदान करते हैं तथा सरकार और विधायं संस्थाओं को इस बात से रोकते हैं कि वे कहीं तानाशाही रवैया नहीं अपना सकें, लेकिन साथ में ही यह भी उल्लेखनीय है कि ऐसे अधिकार असीमित अथवा विशुद्ध रूप से वैयक्तिक विकास के लिये ही नहीं हैं, बल्कि इनको प्रदान करने का उद्देश्य समाज का अधिकतम हित, नियोजित विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करना, समाज के हितों की रक्षा के लिये राज्य के पक्ष की रक्षा करना और सभी लोगों के हितों में अभिवृद्धि करना है। भारत के संविधान के भाग III में वर्णित मूलभूत अधिकार निम्नलिखित हैं—

(1) समानता का अधिकार—भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 से 18 में यह अधिकार वर्णित हैं कि भारतीय नागरिक के साथ कानून के समक्ष समानता का व्यवहार किया जायेगा। समानता का अधिकार सभी नागरिकों को धर्म जाति, लिंग, भेद, जन्म स्थान आदि के आधार पर उत्पन्न भेदभाव से रोकता है। इस अधिकार के द्वारा देश का प्रत्येक नागरिक योग्यता के आधार पर रोजगार प्राप्त कर सकता है, जो कि समाजवाद की विचारधारा का समर्थन करता है।

राजकीय सेवाओं में निष्पक्षतापूर्ण व्यवहार करने की गारंटी दी गई है। किन्तु पिछड़ी जातियों एवं पिछड़े वर्गों के लिये सरकारी सेवाओं में कुछ स्थान आरक्षित कर दिये जायेंगे। पिछड़े हुये वर्गों (अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों) को आगे बढ़ाने के लिये सरकार द्वारा किया जाने वाला आरक्षण इस अधिकार के विरुद्ध नहीं जाता।

लेकिन इस संबंध में यह महत्वपूर्ण है कि संसद कानून पारित करके राज्यों को यह अधिकार दे सकती है कि वह किसी पद विशेष के उम्मीदवार के लिये यह शर्त लगा दे कि वह उस राज्य का निवासी हो। इस प्रकार उस राज्य विशेष के व्यक्ति को ही रोजगार प्राप्त हो सकेगा। कुछ विद्वान आरक्षण प्रणाली का भी विरोध करते हैं। क्योंकि आरक्षण के कारण अधिक योग्यता वाले व्यक्तियों को भी रोजगार से वंचित रहना पड़ता है।

(2) स्वतंत्रता का अधिकार—संविधान के 19वें अनुच्छेद में यह अधिकार वर्णित है। 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा सम्पति के मौलिक अधिकार के साथ-साथ सम्पति को स्वतंत्रता भी समाप्त कर दी गयी है। अब 19वें अनुच्छेद के अंतर्गत नागरिकों को निम्नलिखित स्वतंत्रताएँ प्रदान की गई हैं—

(क) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता; (ख) सभा करने की स्वतंत्रता;

(ग) समुदाय व संघ बनाने की स्वतंत्रता; (घ) भारत राज्य क्षेत्र में अबाध भ्रमण की स्वतंत्रता;

(ङ) निवास की स्वतंत्रता,

(च) पेशा, व्यवसाय, वाणिज्य एवं व्यापार की स्वतंत्रता।

इनमें पेशा व व्यवसाय चलाने की स्वतंत्रता महत्वपूर्ण है। संविधान सभी नागरिकों को यह अधिकार प्रदान करता है कि वे अपनी इच्छानुसार किसी पेशे, व्यापार, व्यवसाय या किसी धंधे का चुनाव कर सकते हैं, तथा उसे चला सकते हैं। लेकिन इस अधिकार पर सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुये उचित प्रतिबंध लगाये जा सकते हैं। विगत वर्षों में इस दिशा में ऐसे अनेक कदम उठाये गये हैं, जिससे लोग मनमानी न कर सकें और सार्वजनिक हित को नुकसान न पहुँचा सकें। संविधान में ही राज्यों को यह अधिकार प्रदान किये गये हैं कि वह विपरीत प्रभाव डालने वाले अथवा सम्भाव्य घटकों पर रोक लगा सकें, उन्हें नियंत्रित या नियमित कर सकें या किसी पेशे, व्यवसाय, व्यापार व धंधे के लिये कुछ मापदंड अथवा कुछ अनिवार्य योग्यताएँ घोषित कर सकें।

(3) शोषण के विरुद्ध अधिकार—शोषण के विरुद्ध अधिकार बन्धुआ मजदूरी, बाल श्रमिक और मनुष्यों की खरीद-बिक्री व अनैतिक कार्यों में लिप्त होने पर प्रतिबंध लगाता है लेकिन सार्वजनिक कार्यों को अनिवार्य सेवाएँ घोषित करने के राज्य के अधिकार पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता। यह इसलिये कि ऐसी सेवाएँ न तो अवांछनीय होती हैं और

न ही इनसे किसी को हानि होती है, बल्कि यह कि यदि इन सेवाओं में गतिरोध उत्पन्न हो जाता है तो जन-जीवन भी अस्त-व्यस्त हो जाता है और लोगों को अनेक असुविधाएँ उठानी पड़ती हैं।

(4) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार—नागरिकों को यह अधिकार भी दिया गया है कि वे किसी भी धर्म को स्वीकार करें अथवा उसका प्रचार करें लेकिन इस संबंध में शान्ति और व्यवस्था का पूर्ण पालन किये जाने की अपेक्षा है। धार्मिक स्वतंत्रता पर सरकार सामाजिक हित में उचित प्रतिबंध लगा सकती है। सरकार को समाज सुधार एवं कल्याण की दृष्टि से नियम बनाने का अधिकार है, लेकिन इसे धार्मिक हस्तक्षेप नहीं समझा जायेगा। अनुच्छेद 27 में यह व्यवस्था की गई है कि किसी भी व्यक्ति को किसी धर्म विशेष की उन्नति के लिये कर इत्यादि देने के लिये बाध्य नहीं किया जायेगा।

(5) शैक्षिक एवं सांस्कृतिक अधिकार—हमारे संविधान में अल्पसंख्यकों को अपनी संस्कृति का संरक्षण करने, इच्छानुसार शिक्षा प्राप्त करने, शिक्षण संस्थाओं की स्थापना करने तथा उन्हें संचालित करने का अधिकार है। यह अधिकार धर्म, भाषा व क्षेत्र संबंधी भिन्नताओं के देश में धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना पर बल देता है।

(6) संवैधानिक उपचारों का अधिकार—संविधान द्वारा दिये गये विभिन्न अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिये उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय से माँग की जा सकती है। डॉ. अम्बेडकर ने इस व्यवस्था को "सम्पूर्ण विधान का प्राण तथा आत्मा" कहा था। मूल अधिकारों को लागू तथा सुरक्षित किये बिना उनका कोई मूल्य नहीं है। इन अधिकारों की रक्षा के लिये सर्वोच्च न्यायालय को बन्दी-प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिषेध (Prohibition), अधिकार-पृच्छा (Quo-warranto), तथा उत्प्रेषण लेख (Certiorari) जारी करने जैसे विशेष उपचारों के प्रयोग का अधिकार प्राप्त है।

नीति निर्देशक सिद्धान्त एवं उनका आर्थिक महत्व
(The Directive Principles and their Economic Significance)

राज्य की नीति के नीति निर्देशक सिद्धान्त भारतीय संविधान की एक प्रमुख विशेषता हैं। नीति निर्देशक सिद्धान्त विधायी एवं कार्यपालिका को इस प्रकार का निर्देश प्रस्तुत करते हैं कि वे इस ढंग से कार्य करें जिससे लोगों में इन सिद्धान्तों के प्रति आस्था बढ़े और लोग यह विश्वास करें व समझें कि इन सिद्धान्तों को सही मायने में लागू किया जा रहा है।

आर्थिक रूप से महत्वपूर्ण नीति निर्देशक सिद्धान्तों का उल्लेख यहाँ इस विचार से किया जा रहा है कि पाठक इस बात को समझें कि हमारी आर्थिक क्रियाओं में तथा संविधान द्वारा प्रदत्त मूल अधिकारों के क्रियाशील होने में ये नीति निर्देशक तत्व किस प्रकार सहायक होते हैं—

1. राज्य लोगों के कल्याण की अभिवृद्धि के लिये प्रयास करे, जिससे एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था बन सके जिसमें लोगों को सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक न्याय मिल सके तथा उसकी रक्षा की जा सके।
2. राज्य असमानताओं को दूर करने के प्रयास इस प्रकार करे जिससे न केवल वैयक्तिक असमानताएँ दूर हो सकें, बल्कि विभिन्न प्रकार के समूहों की असमानताएँ भी दूर हो सकें।
3. राज्य विशेष रूप से अपनी नीति को निम्नांकित को प्राप्त करने के लिये निर्देशित करे—
   (i) सभी नागरिकों को—पुरुषों व महिलाओं को समान रूप से जीविकोपार्जन के पर्याप्त अवसर व साधन प्राप्त हों;
   (ii) समाज के आर्थिक साधनों का स्वामित्व एवं नियंत्रण इस ढंग से किया जाये और उन्हें इस प्रकार से वितरित किया जाये जिससे अधिकाधिक लोगों को अधिकतम भलाई हो सके;
   (iii) आर्थिक व्यवस्था का संचालन किसी भी दशा में आर्थिक सत्ता का संकेन्द्रण उत्पन्न नहीं करे तथा सामान्य हितों के विरुद्ध न हो,
   (iv) पुरुष और महिलाओं के लिये समान कार्य के लिये समान वेतन की व्यवस्था की जाये,
   (v) श्रमिकों के स्वास्थ्य एवं शक्ति का तथा बाल श्रमिकों के बाल्यकाल का दुरुपयोग न हो।
   (vi) बाल्यकाल एवं युवावस्था को इस प्रकार संरक्षण प्रदान किया जाये, जिससे उनका शोषण से बचाव हो सके।
4. समान अवसर के सिद्धान्त पर राज्य न्यायिक व्यवस्था का विकास करेगा, जिससे समाज में सभी को न्याय मिल सके और विशेषकर उन्हें जो आर्थिक रूप से पिछड़े हुये हैं।
5. बेरोजगारी, बीमारी, वृद्धावस्था एवं अयोग्यता की दशा में राज्य अपनी आर्थिक क्षमताओं एवं विकास के अन्तर्गत काम करने के अधिकार की रक्षा करेगा तथा इनके लिये शिक्षा एवं सार्वजनिक सहायता की व्यवस्था करेगा।

6. ग्रामीण विकास के लिये ग्राम पंचायतों को संगठित एवं सशक्त बनाने के लिये राज्य के द्वारा प्रयास कि जायेंगे जिससे ग्राम पंचायतें स्वायत्त सरकार की तरह चल सकें।

7. कार्य की न्यायोचित एवं मानवीय दशाओं की प्राप्ति के लिये राज्य के द्वारा प्रावधान किये जायेंगे।

8. सभी क्षेत्रों के श्रमिकों के लिये पर्याप्त भुगतान एवं अच्छी कार्य-दशाओं की व्यवस्था राज्य के द्वारा की जायेगं जिससे उनका जीवन स्तर ऊँचा उठ सके। श्रमिकों को ऐसी स्थिति में लाने के प्रयास किये जायें कि वे सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवसरों का पूरा लाभ उठा सकें। ग्रामीण क्षेत्रों में कुटीर व लघु उद्योगों को विकसित करने के लिए राज्य, प्रावधान एवं प्रयास करेगा।

भारतीय संविधान और प्रजातन्त्र
(Indian Constitution and Democracy)

हमारे देश में संविधान के निर्माण एवं प्रारंभ होने के साथ ही प्रजातांत्रिक गणराज्य की स्थापना की गयी भारतीय संविधान में : (i) सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय दिलाने; (ii) विचार अभिव्यक्ति, विश्वास औ आस्थाओं की स्वतंत्रता प्रदान कराने; तथा (iii) अवसर एवं पद की समानता प्रदान करने को मूल आधार माना गय है। प्रजातंत्र में समाज के सभी सदस्यों में जाति, लिंग अथवा धर्म का भेदभाव किये बिना आर्थिक, सामाजिक एव राजनीतिक न्याय निहित रहता है।

हमारे देश की प्रजातांत्रिक व्यवस्था में आर्थिक दृष्टि में निम्नलिखित गुणों का समावेश है और हमारे देश का संविधान इनके लिए एक सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करता है—

1. आर्थिक एवं सामाजिक समानता;
2. सत्ता का व्यक्तियों एवं छोटे समूहों में प्रसारण;
3. उत्पादन के साधनों एवं सम्पत्ति को अधिकार में रखने, खरीदने व बेचने का प्रत्येक नागरिक को अधिकार;
4. प्रत्येक नागरिक को पेशा एवं व्यवसाय चयन करने की स्वतंत्रता;
5. अपनी इच्छानुसार अपने द्वारा चयन किये गये तरीकों से उत्पादन करने का अधिकार;
6. उपभोग की स्वतंत्रता; तथा
7. आर्थिक क्रियाओं में भाग लेने का अधिकार।

भारतीय संविधान ने देश के नागरिकों को अनेक स्वतंत्रताएँ एवं अधिकार प्रदान किये हैं। हमारे प्रजातांत्रिक ढाँचे में आज जिन आर्थिक स्वतंत्रताओं का उपयोग किया जा रहा है, वे इस प्रकार हैं—

1. रोजगार का चयन; 2. सामूहिक सौदे करना; 3. व्यवसाय करना;
4. उत्पादन प्रक्रिया में सम्मिलित होना; 5. उपभोग करना; 6. बचत करना; तथा
7. साहस की स्वतंत्रता।

देश की सरकार, आर्थिक क्रियाओं के विकास के लिये प्रायः निम्नलिखित व्यवस्था करती रही है—

1. उद्योगों को संरक्षण;
2. उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करना;
3. उद्योगों को तकनीकी सहायता प्रदान करना,
4. उद्योगों के लिये अनुसंधान एवं विकास क्रियाओं को प्रोत्साहन एवं इनका लाभ उद्योगों को पहुँचाना,
5. औद्योगिक शिक्षण एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था करना;
6. राजकीय नीति निर्धारण करना, तथा
7. देश के लिये आधारभूत ढाँचे का निर्माण करना, जिसमें—
   (i) जलपूर्ति, (ii) शक्ति, (iii) खनिज,
   (iv) परिवहन एव संचार व्यवस्था आदि प्रमुख हैं।

व्यवसाय, उद्योग एवं आर्थिक क्रियाओं का मार्गदर्शन तथा विनियमन करने के लिये कुछ निम्नलिखित कानूनों का निर्माण किया गया है तथा प्रभावशाली कदम उठाये गये हैं—

1. उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951

NOTES

2. पूँजी निर्गमन (नियंत्रण) अधिनियम, 1947
3. भारतीय कम्पनी अधिनियम, 1956
4. प्रतिभूति प्रसंविदा (नियमन) अधिनियम, 1956
5. भारतीय साझेदारी अधिनियम, 1932
6. विदेशी विनिमय (नियमन) अधिनियम, 1973
7. एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम, 1969
8. आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955
9. भारतीय संविदा अधिनियम, 1972
10. भारतीय प्रतिभूति विनिमय मण्डल अधिनियम, 1992

व्यवसाय के मूल अधिकार पर प्रतिबंध
(Restrictions on the Right to carry on Business)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19 (1) (जी) में व्यवसाय, व्यापार, पेशे आदि की स्वतंत्रता प्रदान की गयी है, लेकिन अनुच्छेद 19 (6) में यह उल्लेख किया गया है कि व्यावसायिक स्वतंत्रता किसी भी स्थिति में किसी विद्यमान कानून के प्रभाव को अथवा सरकार को जनहित में कानून बनाने और लागू करने से नहीं रोक सकेगी। इस प्रकार सरकार को यह अधिकार होगा कि वह—

(1) किसी वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार के लिये व्यावसायिक अथवा तकनीकी योग्यताओं का निर्धारण कानून द्वारा कर सकती है; तथा

(2) किसी व्यापार, व्यवसाय, उद्योग अथवा सेवा को पूर्ण रूप से या आंशिक रूप से अपने नियंत्रण में रख सकती है और उसका संचालन कर सकती है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 358 के अधीन यह प्रावधान है कि यदि देश में आपातकालीन स्थिति है तब अनुच्छेद 19 के अंतर्गत व्यवसाय अथवा पेशा चलाने के मूल अधिकार में सरकार परिवर्तन कर सकती है और यदि उचित समझे तो इस संबंध में उचित प्रशासनिक कार्यवाही कर सकती है।

संविधान में व्यवसाय, वाणिज्य और संव्यवहार
(Business, Commerce and Interaction in Constitution)

1. व्यवसाय, वाणिज्य एवं संव्यवहार की स्वतंत्रता

अनुच्छेद 301 के अनुसार भाग XIII के अन्य प्रावधानों को ध्यान में रखते हुये सम्पूर्ण भारत में व्यवसाय, वाणिज्य एवं संव्यवहार स्वतंत्र रहेगा। देश में व्यवसाय एवं वाणिज्य एवं उसके संव्यवहार पर मूलतः कोई प्रतिबंध नहीं है। यह प्रावधान 19 (1) (जी) के पूर्ण अनुरूप है।

2. संसद के अधिकार

अनुच्छेद 302 के अनुसार देश की संसद को यह अधिकार है कि वह सार्वजनिक हित में एक-दूसरे राज्य के व्यवसाय, वाणिज्य और संव्यवहार की स्वतंत्रता अथवा देश के किसी भी भाग में हो रहे व्यवसाय, वाणिज्य और संव्यवहार की स्वतंत्रता पर कानून द्वारा प्रतिबंध लगा सकती है। ऐसे प्रतिबंध परिस्थिति और आवश्यकता को ध्यान में रखकर लगाये जायेंगे।

3. केन्द्र एवं राज्यों की कानूनी शक्तियों पर प्रतिबंध

अनुच्छेद 303 (1) के अनुसार अनुच्छेद 302 के प्रावधान होने पर भी न तो संसद और न ही किसी राज्य की विधान सभा को यह अधिकार प्राप्त होगा कि वह किसी एक राज्य की अपेक्षा दूसरे राज्य को प्राथमिकता देने के लिये किसी कानून का निर्माण कर सके अथवा ऐसा करने के लिये किसी राज्य को अधिकार प्रदान कर सके अथवा दो राज्यों में कोई भेद करने के लिये किसी कानून का निर्माण कर सके। दो राज्यों में भेद करने तथा किसी एक राज्य को दूसरे की तुलना में प्राथमिकता देने की बात मुख्यतः संविधान की 7वीं अनुसूची में व्यवसाय एवं वाणिज्य से संबंधित किसी मद के सम्मिलित होने के कारण उत्पन्न होती है।

अनुच्छेद 303 (2) के अनुसार यदि देश में वस्तुओं की कमी आ गयी है तो अनुच्छेद 303 के भाग (1) का प्रावधान संसद को कानून बनाने से नहीं रोक सकते अर्थात् संसद को वस्तुओं की कमी पड़ने पर किसी परिस्थिति

NOTES

का सामना करने के लिये किसी राज्य को प्राथमिकता देने अथवा दो राज्यों में भेद करने के लिये कानून बनाने व अधिकार प्राप्त है। लेकिन यह उसी स्थिति में किया जायेगा जबकि ऐसा करना देश एवं जनहित में आवश्यक हो।

4. राज्यों में व्यवसाय, वाणिज्य एवं संव्यवहार पर प्रतिबंध

अनुच्छेद 304 के अनुसार, अनुच्छेद 301 अथवा 303 में प्रावधान होने पर भी किसी राज्य की विधान सभ कानून द्वारा :

(अ) दूसरे राज्य से आयात किये गये माल पर अथवा केन्द्र प्रशासित राज्य से आयात किये गये माल पर कर लग सकती है। लेकिन यह कर उस राज्य में निर्मित और उत्पन्न माल तथा आयात किये गये माल में भेद करने की दृष्टि से नहीं लगाया जा सकता।

(ब) सार्वजनिक हित में उसी राज्य के अन्दर चल रहे व्यवसाय, वाणिज्य और संव्यवहार की स्वतंत्रता पर अथव उस राज्य के और दूसरे राज्य/राज्यों के बीच व्यवसाय, वाणिज्य एवं संव्यवहार की स्वतंत्रता पर उपयुक्त प्रतिबंध लगा सकती है।

5. विद्यमान कानूनों की रक्षा

अनुच्छेद 305 के अनुसार राष्ट्रपति की आज्ञा के अतिरिक्त अनुच्छेद 301 और 303 के प्रावधान किसी विद्यमान कानून के प्रावधानों को प्रभावित नहीं कर सकते। अनुच्छेद 19 (6) के अंतर्गत सरकार, संसद और विधान सभा को व्यवसाय, वाणिज्य एवं उनके संव्यवहार की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने का अधिकार प्राप्त है।

6. प्राधिकरण की नियुक्ति

अनुच्छेद 307 के अनुसार संसद कानून के द्वारा किसी प्राधिकरण की नियुक्ति कर सकती है, जिसे वह उपयुक्त समझे। ऐसी नियुक्ति अनुच्छेद 301, 302, 303 और 304 के प्रावधानों को पूरा करने और प्रभावशाली बनाने के लिये की जा सकती है।

देश के अन्दर व्यवसाय एवं वाणिज्य, एवं उनके संव्यवहार की स्वतंत्रता संविधान के द्वारा प्रदान की गयी है। यह एक मूल अधिकार है। संविधान में ही ऐसे प्रावधान किये हैं जिनसे व्यवसाय, वाणिज्य एवं संव्यवहार की रक्षा की जाती है तथा जनहित में अभिवृद्धि भी की जा सकती है।

भारतीय संविधान और आर्थिक नीति
(Indian Constitution and Economic Policy)

देश का नया संविधान 26 जनवरी, 1950 को लागू किया गया। भारतीय संविधान हमारे देश के इतिहास में तथा आगे आने वाले अनेकों वर्षों के बाद भी इस बात के लिए याद किया जायेगा कि इसे दीर्घकालीन, व्यापक प्रजातांत्रिक एव सामाजिक मूल्यों के लिये निर्मित किया गया।

जहाँ तक आर्थिक नीति का संबंध है संविधान में अनेक स्थानों पर आर्थिक विकास, आर्थिक न्याय एवं नीति के बारे में उल्लेख मिलता है। किसी भी देश की राजनैतिक व्यवस्था की रक्षा वहाँ की आर्थिक समृद्धि पर ही निर्भर करती है। संविधान को भी लोग तभी मानते हैं तथा उसका आदर करते हैं जब वो आर्थिक रूप से बेहतर स्थिति में हो। भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ. **राधाकृष्णन्** ने अपने भाषण में एक बार इस बात को स्पष्ट किया था कि "गरीब लोग जो इधर-उधर विचरण करते हैं, जिनके पास काम करने के लिये कोई काम नहीं है, जिनको कोई मजदूरी नहीं मिलती और भूखे मरते हैं, तथा जिनकी जिन्दगी बहुत ही गरीबी से जकड़ी हुई है, वे किसी कानून या संविधान के प्रति गौरवान्वित नहीं हो सकते।"

हमारे संविधान में देश के नागरिकों को अनेक मूलभूत अधिकार प्रदत्त हैं, जो कि एक स्वस्थ, स्वावलम्बी एवं स्वाभिमानी नागरिक बनने में सहायक होते हैं। संविधान में किये गये अनेक संशोधनों के द्वारा देश के समाजवादी समाज की संरचना पर विशेष ध्यान दिया गया है और यह 'समाजवादी समाज की संरचना' ही हमारी आर्थिक नीति का मूल आधार बनती है। समाजवादी समाज की संरचना और हमारे संविधान की व्यापकता एक कल्याणकारी राज्य की स्थापना में सहभागी का कार्य करते हैं।

संविधान में प्रदत्त मूलभूत अधिकार

भारतीय संविधान में मूलभूत अधिकारों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया गया है—

1. समानता का अधिकार,
2. स्वतंत्रता का अधिकार,
3. शोषण के विरुद्ध अधिकार,

4. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार;

5. सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अधिकार; एवं

6. संवैधानिक उपचार का अधिकार।

NOTES

इन मूलभूत अधिकारों को उपलब्ध कराने की जिम्मेदारी केन्द्र एवं राज्य सरकारों को सौंपी गयी है। यह भी प्रावधान किया गया है कि आर्थिक न्याय की दृष्टि से इन अधिकारों का क्रियान्वयन हमारे देश के सामान्य न्यायालयों में आसानी से उपलब्ध हो सके। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि न्याय और आर्थिक न्याय इस कदर महँगे हो गये हैं कि उनका आम आदमी के द्वारा प्राप्त करना प्रायः असम्भव हो गया है और हमें फिर डॉ. राधाकृष्णनन् द्वारा ऊपर कही गई बात झकझोर देती है।

राज्य के नीति-निर्देशक तत्व

नीति-निर्देशक सिद्धान्तों को मूल रूप से 3 भागों में विभक्त किया गया है—

1. वे सिद्धान्त जो राज्य के आदर्श एवं प्रकृति को निर्धारित करते हैं।
2. वे सिद्धान्त जो राज्य एवं राज्य की नीतियों को निर्धारित करते हैं।
3. वे सिद्धान्त जो नागरिकों के सामान्य जीवन के लिये जरूरी माने जाते हैं।

प्रथम दो वर्गों के सिद्धान्तों को देश की आर्थिक नीति के संदर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाता है और जिनका उल्लेख किया जाना आवश्यक है—

(I) वे सिद्धान्त जो राज्य के आदर्श एवं प्रकृति को निर्धारित करते हैं—

(1) राज्य लोगों के कल्याण की अभिवृद्धि के प्रयास करेगा और यह भी देखेगा कि उन्हें सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय मिल सके। आय, पद सुविधायें और अवसरों में असमानता को कम करने के भी पूरे प्रयास किये जायेंगे।

(2) राज्य यह प्रयास करेगा कि कार्य की मानवीय दशाएँ हों। कार्य प्रोत्साहन के लिये पर्याप्त मजदूरी हो, एक अच्छा जीवन-स्तर बिताया जा सके एवं सभी श्रमिकों को सामाजिक और संवैधानिक अवसर मिल सकें।

(3) राज्य का यह भी प्रयास होगा कि वह पोषण और जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने की क्रियाएँ करे और सार्वजनिक स्वास्थ्य में सुधार करे।

(4) समुदाय के संसाधनों का समानतम वितरण करने के लिये राज्य नीति बनाने के निर्देश देगा तथा यह भी देखेगा कि सम्पदा और उत्पादन के साधनों का संकेन्द्रण नहीं हो पाए।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और भाईचारे की भावना में अभिवृद्धि करने के लिये भी राज्य पूरे प्रयास करेगा।

(II) ऐसे निर्देश जो राज्य की नीति को निर्धारित करते हैं—

(1) कुछ आर्थिक अधिकारों को प्राप्त करके आर्थिक जनतंत्र एवं न्याय की स्थापना करना।

(2) नागरिकों के लिये एक-समान जनपद संहिताएँ तैयार करना।

(3) प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य रूप से एवं निःशुल्क उपलब्ध कराना।

(4) नशीली दवाओं एवं द्रव्यों के उपभोग पर प्रतिबंध लगाना।

(5) कुटीर उद्योगों का विकास करना।

(6) स्वायत्त राज्य की दृष्टि से ग्रामीण पंचायतों का विकास करना।

(7) आधुनिक स्तर पर कृषि एवं पशुपालन संबंधी क्रियाओं को संगठित करना।

(8) कमजोर वर्ग में शारीरिक एवं आर्थिक रुचि में अभिवृद्धि करना तथा उनको सामाजिक अन्याय से रक्षा करना।

(9) वातावरण या पर्यावरण की रक्षा करना एवं उसमें सुधार करना।

(10) ऐतिहासिक महत्व के स्थानों की रक्षा करना।

(11) न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक करना।

NOTES

(III) इस श्रेणी में जिन 11 निर्देशों का उल्लेख मिलता है, वह नागरिकों के सामान्य जीवन से संबंधित हैं।

सर आइवर जैनिंग्स के अनुसार, "नीति-निर्देशक सिद्धान्तों के पीछे जो दर्शन दिखाई देता है, वो 'बिना समाजवा का फेबियन समाजवाद है।" यहाँ इस बात से और अधिक स्पष्ट हो जाता है कि हमारा संविधान किसी भी वाद (Ism का पोषक नहीं है, लेकिन व्यक्तिवाद और समाजवाद के बीच समझौता करने का प्रयास करता है।

दिसम्बर 1983 का आर्थिक प्रस्ताव

29 दिसम्बर, 1983 को कलकत्ता के सुरेन्द्रनगर में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का अधिवेशन शुरू हुआ औ इसी दौरान वहाँ पर अन्य प्रस्तावों के अतिरिक्त आर्थिक प्रस्ताव भी रखे गये और पारित हुये।

"भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस अपने 77वें अधिवेशन में स्वतंत्रता संग्राम की स्मृतियाँ गौरव से याद करती है, जह हमारे गणतंत्र में सच्चे धर्मनिरपेक्ष प्रजातंत्र की स्थापना की। कांग्रेस ने स्वाधीनता के एक लम्बे काल तक सामाजिव आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय के लिये अथक संघर्ष किया है। पार्टी ने हमेशा राष्ट्रीय एकता और व्यक्तियों के सम्मा पर विशेष ध्यान दिया है।"

"पार्टी का यह प्रयास रहा है कि देश के महत्वपूर्ण संसाधनों का समान वितरण हो सके जिससे आम आदमं को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके और हमारी आर्थिक व्यवस्था का संचालन इस प्रकार किया जाये जिससे देश में उत्पादन के साधनों और राष्ट्रीय सम्पदा का संकेन्द्रण न हो, क्योंकि यह सामान्य हितों के लिये घातक हो सकता है।'

"आजादी के बाद पण्डित नेहरू के नेतृत्व में देश का आर्थिक विकास धीरे-धीरे आगे बढ़ा और अंग्रेजों वे जकड़े हुये बंधन से मुक्त होने लगे। आजादी के बाद अपनाई गई आर्थिक संरचना का प्रमुख उद्देश्य भारतीय अर्थव्यवस्थ को अधिक शक्तिशाली एवं स्वावलम्बी बनाना था। देश में बहुसंख्यक ग्रामीण तथा शहरी लोगों तक हमारे देश वे आर्थिक विकास का लाभ पहुँच सके इसके लिये हर सम्भव प्रयास किये जाने लगे।"

भावी प्रक्रिया
(The Future Course)

नियोजित विकास ने भारतीय अर्थव्यवस्था को ऐसे मोड़ पर ला दिया है कि जहाँ उत्पादन का आधार व्यापक हो गया है, उप-ढाँचे का विकास हो रहा है और हमारी वैज्ञानिक एवं तकनीकी शक्ति प्रशंसनीय ढंग से आगे बढ़ रही है। गरीबी को हटाने के महत्वपूर्ण कार्यक्रमों ने ग्रामीण और शहरी दोनों ही क्षेत्रों में उत्साहजनक परिणाम प्रदर्शित किये हैं।

1. **सार्वभौमिक प्रगतिशीलता**—आठवीं एवं नवीं पंचवर्षीय योजना की विकास प्रवृत्ति ने एक निश्चयात्मक योगदान दिया है, अन्य योजनाओं की तुलना में साधन के आवंटन बड़ी मात्रा में किये गये हैं। उत्पादन के सभी क्षेत्रों में वृद्धि हुई है। उप-ढाँचे जैसे उद्योगों में भी जिनमें कोयला और बिजली महत्वपूर्ण हैं, काफी प्रगति हुई है। बैंकों का क्षेत्र और योगदान भी तीव्रता से बढ़ा है तथा हमारी भुगतान संतुलन की स्थिति में निरन्तर सुधार हुआ है। यही नहीं नये विकास कार्यक्रमों की सहायता से ग्रामीण भारत की तस्वीर बदलती जा रही है।

2. **ग्रामीण अर्थव्यवस्था का विकास**—अर्थव्यवस्था के बहुमुखी पुनः निर्माण और विकास के लिये ग्रामीण अर्थव्यवस्था को अधिक धन एवं संसाधनों के आवंटन की आवश्यकता है। क्योंकि इसको मजबूत बनाये बिना देश की कुल अर्थव्यवस्था को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। देश की गरीबी पर कड़े प्रहार करने के लिये उत्पादकता, उत्पादन एवं ग्रामीण किसानों की स्थिति में सुधार करना बहुत जरूरी हो जाता है। इसी समय देश में क्रियान्वित किये जा रहे विभिन्न कार्यक्रमों में शक्ति फूंकना और भी अधिक जरूरी हो जाता है, क्योंकि केवल कार्यक्रमों को बनाने से देश का विकास सम्भव नहीं है।

पिछली योजनाओं के उप-ढाँचे के मद में तथा उद्योगों एवं खनन के क्षेत्र में बड़ी मात्रा में जो विनियोग किया गया था, उनके अपेक्षित परिणाम नहीं मिल पाये हैं। अतः हमारी विनियोजन नीति को अधिकतम परिणाम की दृष्टि से संरचित करना होगा। पूँजीगत सम्पदा जिसको हमारे श्रमिकों के कठोर परिश्रम से तथा हमारी तकनीकी एवं तकनीशियनों के अथक प्रयासों से संरचित किया गया, नवीं योजना में इस बात को सुव्यवस्थित ढंग से हल करना होगा।

3. **औद्योगिक विनियोजन को प्राथमिकता**—सरकार इस बात से संतुष्ट है कि देश के औद्योगिक एवं उप-ढाँचे वाले क्षेत्रों में हमारी विनियोजन-प्राथमिकता का पुनः निर्धारित किया जाना चाहिये, जिससे अधिक उत्पादकता, आधुनिकीकरण एवं बेहतर रख-रखाव के लक्ष्य को पूरा किया जा सके। इस दिशा में सार्वजनिक क्षेत्र के उत्तरदायित्व की महत्वपूर्ण भूमिका है।

4. **सार्वजनिक वृद्धि पर नियंत्रण आवश्यक**—बढ़ती हुई जटिलताओं एवं नवीनतम विधियों के समावेश से यह स्पष्ट हो गया है कि सार्वजनिक क्षेत्र के प्रबंध की संकल्पनाएँ एवं व्यवहार में आमूल-चूल परिवर्तन किया जाना

चाहिये। सार्वजनिक क्षेत्र में विकासोन्मुख [illegible] श्रमिकों, प्रबंधकों एवं नीति निर्धारकों के हित में रहेगा और इसका सकल परिणाम यह होगा कि देश के औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि होती रहेगी।

5. मूल्य वृद्धि पर नियंत्रण आवश्यक—विगत वर्षों में हुई मूल्यों में वृद्धि सभी के लिये चिन्ता का विषय बनी हुई है और इसको रोकना सरकार का प्रमुख कर्तव्य हो जाता है। सरकार का यह मत है कि बढ़ते हुये मूल्यों को प्रभावी ढंग से नियंत्रित करे और मूल्य रोकने की कठोर नियंत्रण की पूर्ण व्यवस्था स्थापित करे। देश में आये विभिन्न प्रकार के संकटों के बावजूद सरकार ने खाद्यान्न के उत्पादन एवं संग्रहण पर पूरा ध्यान दिया है और यह हर्ष का विषय है कि विगत वर्षों की अपेक्षा सरकार के द्वारा किये गये खाद्यान्न संग्रहण एक रिकार्ड है।

NOTES

प्रश्न

1. भारत में व्यवसाय की संवैधानिक स्थिति पर प्रकाश डालिये।
2. "भारतीय संविधान में व्यवसाय चलाना एक मूलभूत अधिकार है", व्याख्या कीजिये।
3. भारतीय क्षेत्र के अंतर्गत व्यवसाय, वाणिज्य एवं संव्यवहार संबंधी संवैधानिक प्रावधानों का वर्णन कीजिये। क्या इन पर कोई प्रतिबंध है?
4. भारत में व्यवसाय संचालन के संबंध में संवैधानिक स्थिति का विवेचन कीजिये।
5. "भारत में व्यवसाय संबंधी संवैधानिक स्थिति पहलशक्ति के लिये निश्चित रूप से हानिकर है।" समीक्षा कीजिये।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

11

एकाधिकारात्मक एवं प्रतिबंधात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम, 1969 (MRTP)

[MONOPOLIES & RESTRICTIVE TRADE PRACTICES ACT, 1969]

परिचय (Introduction)

देश में आर्थिक एवं सामाजिक अधिनियमों के सन्दर्भ में एकाधिकारात्मक एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम, 1969 का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। यह अधिनियम देश के संविधान के अनुच्छेद 38 तथा 39 की व्यवस्थाओं की पूर्ति की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। अनुच्छेद 38 में कहा गया है कि "सरकार एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था को प्राप्त एवं सुरक्षित करके जनता के कल्याण को प्रोत्साहित करेगी, जिसमें राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रों में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय प्राप्त हो।" अनुच्छेद 39 (ब) में उल्लिखित किया गया है कि "सरकार अपनी नीतियों को इस प्रकार निर्देशित करेगी कि समाज के भौतिक संसाधनों पर नियन्त्रण और स्वामित्व इस प्रकार वितरित हो जाये जिससे अधिकतम सामान्य हित हो।" अनुच्छेद 39 (स) में यह व्यक्त किया गया है कि "आर्थिक व्यवस्था के संचालन का ऐसा परिणाम न हो, जो सामान्य हितों के विरुद्ध सम्पत्ति और उत्पत्ति के साधनों का केन्द्रीकरण कर दे।"

सन् 1964 में सरकार ने एकाधिकार जाँच आयोग की नियुक्ति की थी। आयोग ने अपनी रिपोर्ट 1965 में प्रस्तुत की और एक ऐसे स्थायी आयोग की स्थापना का सुझाव दिया, जिसे अवरोधक व्यापार व्यवहारों एवं अधिकारों को रोकने के कार्यों का उत्तरदायित्व सौंपा जा सके। आयोग ने इस सम्बन्ध में विधेयक का एक प्रारूप भी अपनी रिपोर्ट में दिया था। इस प्रारूप में कुछ आवश्यक संशोधन करके अगस्त, सन् 1967 में "एकाधिकारात्मक एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार विधेयक" राज्य सभा में प्रस्तुत किया गया। लोक सभा में यह विधेयक 17 दिसम्बर, 1969 को पारित हो गया और व्यवहार में यह अधिनियम 1 जून, 1970 से लागू हुआ।

यह अधिनियम जम्मू तथा कश्मीर राज्य को छोड़कर पूरे देश में लागू है। अधिनियम के क्रियान्वयन में आये अनुभवों के आधार पर सन् 1974, 1980, 1982, 1984, 1985, 1986, 1988, 1991, 1991 एवं इसके उपरान्त इसमें संशोधन किए गये हैं जिनका उल्लेख यथास्थान किया गया है।

अधिनियम के उद्देश्य
(Objectives Of The Act)

इस अधिनियम के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :

(1) यह देखना कि देश में उत्पादन और वितरण की क्रियाओं का कार्य-संचालन इस प्रकार न हो कि उससे जनहित के विरुद्ध आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण हो,

(2) ऐसे एकाधिकारी एवं अवरोधक व्यापार व्यवहारों को नियन्त्रित करना, जो जनहित के विरुद्ध हों, तथा

(3) जन-सामान्य पर एकाधिकारी एवं अवरोधक व्यापार व्यवहारों के प्रभावों को मालूम करना और सुधारात्मक कार्यवाही के लिए सुझाव देना।

सन् 1984 में हुए संशोधनों के पश्चात् प्रस्तुत अधिनियम के मुख्य प्रावधानों से निम्न उद्देश्यों को पाने की कल्पना की गई :

(1) जनहित के विरुद्ध सत्ता के केन्द्रीकरण को नियन्त्रित करना। [धाराएँ 20-30]

(2) निर्दिष्ट संयोजित संस्थाओं द्वारा अंशों के हस्तान्तरण पर रोक। [धाराएं 30-A से 30-G]

(3) प्रतिबन्धित एवं अनुचित व्यवहारों को नियन्त्रित करना। [धाराएँ 33-41]

(4) प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहारों से सम्बन्धित समझौतों के पंजीकरण के लिए व्यवस्था करना। [धाराएँ 33-36]

वितरण के विभिन्न स्तरों पर सुखद प्रतियोगिता का मार्ग प्रशस्त हो सके।

नवीन औद्योगिक नीति, 1991 की पृष्ठभूमि में किये गये संशोधनों के कारण अब प्रस्तुत अधिनियम के उद्देश्यों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया है तथा अधिनियम की मूल धारणा एकाधिकार को नियंत्रित करने की न होकर अब मात्र प्रतिबन्धात्मक तथा अनुचित व्यवहारों को रोकने तक सीमित रह गई है।

अधिनियम के प्रमुख प्रावधान निम्नलिखित हैं :-

(1) **एकाधिकारात्मक एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार आयोग की स्थापना** (Establishment of Monopolies and Restrictive Trade Practices Commission, 1969 - MRTPC)- इस अधिनियम के अधीन एक आयोग की स्थापना की गयी है। आयोग में अध्यक्ष के अतिरिक्त कम से कम 2 तथा अधिक से अधिक 8 सदस्य हो सकते हैं। आयोग का अध्यक्ष उच्च न्यायालय अथवा उच्चतम न्यायालय का कोई वर्तमान अथवा भूतपूर्व न्यायाधीश अथवा समकक्ष योग्यता रखने वाला कोई भी व्यक्ति हो सकता है। इस आयोग के दो प्रमुख कार्य हैं - (i) एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहारों की जाँच करना, तथा (ii) आर्थिक सत्ता के संकेन्द्रण के मामलों पर सरकार द्वारा सलाह माँगे जाने पर अपनी सलाह देना।

(2) **एकाधिकारी प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण** (Control on Monopolistic Tendencies)- यदि कोई व्यापारिक गतिविधि ऐसी है जिसके द्वारा - (i) प्रतिस्पर्द्धा में कमी आती है, तथा (ii) बाजार में वस्तुओं का कृत्रिम अभाव उत्पन्न होता है, या (iii) वस्तुओं के मूल्यों में अनावश्यक वृद्धि होती है, या (iv) वस्तुओं की किस्म में गिरावट आती है, तो सरकार आयोग की सलाह के आधार पर इन गतिविधियों पर रोक लगा सकती है।

(3) **एकाधिकारात्मक व्यापार व्यवहार समझौतों का पंजीकरण** - इस अधिनियम के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गयी है कि आयोग की सहायता के लिए दो अधिकारियों की नियुक्ति की जा सकती है - (i) प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार रजिस्ट्रार, एवं (ii) जाँच निदेशक। रजिस्ट्रार का कार्य उन सभी व्यापारिक समझौतों का पंजीकरण करना है जो व्यापारिक प्रतियोगिता को कम करते हैं तथा जाँच निदेशक का कार्य प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहारों में सम्बोधित शिकायतों की जाँच करके इस सम्बन्ध में अपना निर्णय देना है।

(4) **आर्थिक सत्ता के संकेन्द्रण को रोकना** (Prevention of Concentration of Economic Power)- यदि कोई उपक्रम किसी ऐसे समूह से सम्बद्ध हो जिसकी कुल सम्पत्ति 100 करोड़ रुपये या अधिक है तो उसे विशाल उपक्रम (Large Undertaking) कहा जायेगा। यदि कोई उपक्रम किसी वस्तु की कुल बाजार माँग के 1/3 या इससे अधिक भाग पर नियन्त्रण रखता है तो उसे प्रभावी उपक्रम (Dominant Undertaking) कहा जायेगा। यदि कोई उपक्रम किसी वस्तु की कुल बाजार माँग के 1/2 या इससे अधिक भाग पर नियन्त्रण रखता है तो उसे एकाधिकारी उपक्रम (Monopolistic Undertaking) कहा जायेगा। ऐसे उपक्रमों की स्थापना, विस्तार, एकीकरण, संविलयन, अधिग्रहण या विभाजन के किसी भी प्रस्ताव के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार की पूर्व-अनुमति आवश्यक है।

(5) **पुनः विक्रय मूल्य अनुरक्षण पर रोक** (Prohibition on Maintaining Re-sale Price)- इस अधिनियम के अन्तर्गत कोई भी संस्था अपने थोक एवं फुटकर विक्रेताओं के साथ ऐसा समझौता नहीं कर सकती जिसमें उन विक्रेताओं को कोई वस्तु न्यूनतम मूल्य पर बेचने के लिए बाध्य किया गया हो।

(6) **एकाधिकारात्मक तथा प्रतिबन्धात्मक व्यापार में अन्तर** (Distinction between Monopolistic and Restrictive Trade)- प्रस्तुत अधिनियम के अन्तर्गत एकाधिकारात्मक तथा प्रतिबन्धात्मक व्यापार में स्पष्ट अन्तर किया गया है। एकाधिकारात्मक व्यापार व्यवहार से आशय प्रभावी उपक्रम के व्यापार व्यवहारों से है। यहाँ पर एकाकी प्रभावी उपक्रमों के व्यवहारों को सन्दर्भित किया गया है। इसके विपरीत, प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहारों से आशय प्रतियोगिता को समाप्त करने के उद्देश्य से दो या दो से अधिक औद्योगिक संस्थाओं के सामूहिक व्यापार व्यवहारों से है।

(7) **सरकारी अनुमति** - विशाल तथा प्रभावी उपक्रमों को निम्नलिखित दशाओं में सरकार की पूर्व-अनुमति लेना आवश्यक है : (i) उत्पादन क्षमता में महत्वपूर्ण वृद्धि करना। (ii) अन्तर सम्बन्धित (Inter-connected) उपक्रमों की स्थापना। (iii) अन्य उपक्रमों के साथ संविलयन अथवा सम्मिश्रण करते समय। (iv) अन्य उपक्रम का आंशिक अथवा पूर्णरूप में अधिग्रहण अथवा लिये जाने पर। (v) विद्यमान उपक्रम में विविधता लाने पर।

(8) **अन्य प्रावधान** (Other Provisions) (i) यह अधिनियम केवल निजी क्षेत्र के उपक्रमों पर लागू होता है लेकिन यदि केन्द्रीय सरकार चाहे तो इसे सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों पर भी लागू करा सकती है। (ii) अधिनियम की व्यवस्थाओं का पालन न करने पर दण्ड एवं जुर्माने की व्यवस्था की गयी है।

NOTES

अधिनियम की आलोचनाएँ (Criticisms of the Act)

(1) **स्थापना एवं विकास में स्थगन तथा विलम्ब** - आयोग को नवीन औद्योगिक इकाइयों की स्थापना व नियमन करने का अधिकार प्राप्त है। इसका आशय यह है कि ऐसी इकाइयों की स्थापना एवं विकास में अनावश्यक रूप में स्थगन तथा विलम्ब होगा जिससे देश में औद्योगिक विकास की गति रुक जायेगी।

(2) **नियन्त्रण की कड़ी में वृद्धि** - भारत में एक ओर तो औद्योगिक विकास पर बल दिया जा रहा है जबकि दूसरी ओर रोज नये-नये नियम एवं अधिनियम बनाकर विभिन्न प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न की जा रही हैं। यह नियम भी उन बाधाओं में वृद्धि करता है।

(3) **संयोजन प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति में वृद्धि तथा तकनीकी कुशलता में वृद्धि करता है** - आधुनिक विश्व में यह माना जा रहा है कि औद्योगिक इकाइयों का संयोजन प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति तथा तकनीकी कुशलता में वृद्धि एवं सुधार लाने के लिए नितान्त आवश्यक है। क्या भारत में स्थित स्वतन्त्र एवं एकाकी औद्योगिक इकाइयाँ देश तथा विदेशों में होने वाली गलाकाट प्रतियोगिता के सामने टिक पायेंगी? यह सर्वविदित है कि जब से हमारी सरकार ने उदारीकरण की नीति को अपनाया है तब से विदेशी विशाल आकार वाली औद्योगिक इकाइयाँ अपनी विशाल पूँजी तथा आधुनिकतम तकनीकी ज्ञान के साथ भारत में बड़ी संख्या में निरन्तर प्रवेश कर रही हैं।

(4) **पक्षपातपूर्ण अधिनियम** - भारत में सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र दोनों साथ-साथ कार्यरत हैं, किन्तु प्रस्तुत अधिनियम केवल निजी क्षेत्र पर लागू है, सार्वजनिक क्षेत्र पर नहीं। ऐसा पक्षपातपूर्ण रवैया क्यों? सरकारी क्षेत्र की अकुशलता तो सर्वविदित ही है। क्या निजी क्षेत्र को भी सरकार उसी श्रेणी में लाना चाहता है ?

(5) **सम्पत्तियों के मूल्यांकन का आधार गलत** - अधिनियम एकाधिकार के निर्णय करने का आधार सम्बन्धित औद्योगिक संस्थान की कुछ सम्पत्तियों के मूल्यांकन को माना गया है। क्या विश्व के किसी अन्य देश में भी ऐसा आधार कार्यरत है ? हमारी सम्पत्ति में तो आधार यह होना चाहिए था कि सम्बन्धित उद्योग किस सीमा तक उपभोक्ताओं के हितों के विरुद्ध कार्यरत है।

(6) **पूँजी का कुछ हाथों में केन्द्रीकरण होना** - भारत में एकाधिकार का केवल इस आधार पर विरोध किया जाता है कि इससे पूँजी का केवल कुछ ही हाथों में केन्द्रीकरण हो जाता है। क्या हमने कभी यह भी सोचा कि आखिर ऐसा होना जनसाधारण के हित में है अथवा अहित में है ?

(7) **कार्यों का दोहरीकरण एवं समय की बर्बादी** - आयोग की क्रियाओं से यह विदित होता है कि आयोग या तो लाइसेन्सिंग समिति अथवा कम्पनी लॉ बोर्ड के कार्यों को दुहरा रहा है। क्या यह समय की बर्बादी नहीं है।

(8) **उपभोक्ताओं तथा लघु उत्पादकों के हितों पर ध्यान नहीं** - आलोचकों का कथन है कि आयोग अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण उपभोक्ताओं तथा लघु उत्पादकों के हितों पर तनिक भी ध्यान नहीं दे रहा है।

संक्षिप्त नाम, विस्तार तथा प्रारम्भ
(Short Title, Extent and Commencement)

(i) इस अधिनियम को '**एकाधिकार एवं प्रतिबन्धित व्यापारिक व्यवहार अधिनियम, 1969**' कहा जायेगा।

(ii) यह जम्मू एवं कश्मीर राज्य को छोड़कर शेष सम्पूर्ण भारत में लागू होता है।

(iii) यह उस तिथि से प्रभावी होगा जिसे केन्द्रीय सरकार सरकारी गजट में अधिसूचित करे। भारतीय गजट के अनुसार यह अधिनियम 1 जून, 1970 से लागू हुआ है। **[धारा 1]**

परिभाषाएँ
(Definitions)

(1) **ठहराव** (Agreement) के अन्तर्गत कोई व्यवस्था (Arrangement) या समझौता (Understanding) शामिल है भले ही इस ठहराव को कानूनी कार्यवाही (इस अनुबन्ध के प्रावधानों के अतिरिक्त) द्वारा प्रवर्तनीय कराने की इच्छा है या नहीं। **[धारा 2 (a)]**

(2) **आयोग** (Commission) से आशय धारा 5 में गठित 'एकाधिकार एवं प्रतिबन्धित व्यापारिक व्यवहार आयोग' (Monopolies and Restrictive Trade Practices Commission) से है। **[धारा 2 (b)]**

(3) **महानिदेशक** (Director General) से आशय इस अधिनियम की धारा 8 के अन्तर्गत नियुक्त महानिदेशक एवं रजिस्ट्रार से है। इसमें कोई भी अतिरिक्त, संयुक्त, उप या सहायक महानिदेशक एवं रजिस्ट्रार सम्मिलित है। **[धारा 2 (c)]**

(4) **प्रभावी या प्रबल** (Dominant Undertakings) से आशय है :

से कम 1/4 भाग प्रदाय हो, पूर्ति करता हो, नियन्त्रित करता हो,

या उसके सारवान् भाग में निर्मित, आपूर्त अथवा वितरित होता हो; अथवा

(iii) एक ऐसा उपक्रम जो उन सेवाओं (Services) के, जो भारत में अथवा उसके पर्याप्त भाग में प्रदान की जाती हैं, कम से कम 1/4 भाग की पूर्ति करता है अथवा पूर्ति को नियन्त्रित करता है।

[धारा 2 (d)]

स्पष्टीकरण - यह प्रश्न कि क्या कोई संस्थान स्वयं में या अन्य अन्तर्सम्बन्धित संस्थानों के साथ किसी माल के 1/4 भाग का सृजन या नियन्त्रण करता है, इसको निम्न मानदण्डों में से किसी के भी आधार पर निर्धारित किया जा सकता है - मूल्य (Value), लागत (Cost), कीमत (Price), मात्रा (Quantity), अथवा माल अथवा सेवाओं की क्षमता (Capacity) आदि।

(5) वित्तीय संस्था (Financial Institution) से तात्पर्य निम्न से है :

(i) सार्वजनिक वित्तीय संस्थान जो कम्पनी अधिनियम, 1956 की धारा 4-क में वर्णित है,

(ii) राज्यीय वित्तीय औद्योगिक या विनियोग निगम,

(iii) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया या उसकी कोई सहायक बैंक,

(iv) एक राष्ट्रीयकृत बैंक,

(v) भारत का सामान्य बीमा निगम (General Insurance Corporation of India),

(vi) भारत का औद्योगिक पुनर्निर्माण निगम (Industrial Reconstruction Corporation of India)

(vii) कोई अन्य संस्था जिसे इस सन्दर्भ में अधिसूचना द्वारा निर्धारित कर दे। [धारा 2 (da)]

(6) माल (Goods) से तात्पर्य उस माल से है जो वस्तु विक्रय अधिनियम में परिभाषित है तथा इसमें निम्न शामिल हैं :

(i) भारत में उत्पादित एवं प्रसंस्कृत (Processed) माल तथा भारत की खानों से प्राप्त माल,

(ii) अंश एवं स्टॉक,

(iii) भारत में पूर्तित (Supplied), वितरित (Distributed) या नियन्त्रित (Controlled) माल के सन्दर्भ में वह माल जो भारत में आयातित है। [धारा 2 (e)]

(7) किसी विवरण का माल (Goods of any Description)- इसे सन् 1991 में किये गये संशोधन के द्वारा हटा दिया गया है। [धारा 2 (ee)]

(8) भारत (India)- इस अधिनियम के उद्देश्यों के लिये भारत से आशय उन क्षेत्रों से है जिनमें यह अधिनियम लागू होता है। [धारा 2 (f)]

(9) उद्योग अधिनियम (Industries Act)- इस अधिनियम के लिए उद्योग अधिनियम का आशय औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, 1951 [Industries (Development and Regulation) Act, 1951] तथा इसके अन्तर्गत बनाये गये नियमों, आदेशों या अधिसूचनाओं से है। [धारा 2 (ff)]

(10) स्थापित क्षमता (Installed Capacity)- इसे सन् 1991 में किये गये संशोधन के द्वारा हटा दिया गया है। [धारा 2 (fff)]

(11) अन्तर्सम्बन्धित उपक्रम (Inter-connected Undertaking) से आशय ऐसे दो या अधिक उपक्रमों से है जो एक-दूसरे से निम्न में से किसी भी रीति से सम्बन्धित हों

(i) यदि एक उपक्रम दूसरे का स्वामी हो अथवा उसे नियन्त्रित करता हो,

(ii) यदि उपक्रम किन्हीं फर्मों के स्वामित्व में है तथा उन फर्मों में एक या अधिक समान साझेदार (Common Partner) हों,

(iii) यदि उपक्रम किसी समामेलित संस्थाओं के स्वामित्व में हो

(अ) एक समामेलित संस्था दूसरी समामेलित संस्था की सहायक (subsidiary) हो, या

(ब) एक समामेलित संस्था दूसरी समामेलित संस्था का प्रबन्ध करे, या

(स) दो ऐसी समामेलित संस्थाएं एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत हों, या

(द) एक समामेलित संस्था अन्य किसी विधि से दूसरी संस्था के नियन्त्रण में हो।

(iv) यदि एक उपक्रम किसी समामेलित संस्था (Body Corporate) के स्वामित्व में हो तथा दूसरा उपक्रम किसी फर्म के स्वामित्व में हो तथा यदि उस फर्म के एक या अधिक साझेदार:

(अ) उस समामेलित संस्था के कम से कम 50% सामान्य या पूर्वाधिकार अंशों के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में स्वामी हों,

अथवा

(ब) संचालक या अन्य किसी स्थिति या रूप में उस समामेलित संस्था पर प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में नियन्त्रण रखते हों।

(v) यदि एक उपक्रम किसी समामेलित संस्था के स्वामित्व में है तथा दूसरा उपक्रम किसी ऐसी फर्म के स्वामित्व में है जिसमें समामेलित संस्थाएँ साझेदार हैं, तथा यदि ये सभी समामेलित संस्थाएँ एक ही प्रबन्ध के अधीन हैं।

(vi) यदि उपक्रम किसी एक ही व्यक्ति या समूह के स्वामित्व अथवा नियन्त्रण में हों।

(vii) यदि उपक्रम एक-दूसरे से प्रत्यक्षत: अथवा किन्हीं कितने ही ऐसे उपक्रमों के माध्यम से जो पूर्व-वर्णित उप-धाराओं के प्रावधानों के अनुसार एक-दूसरे से अन्तर्सम्बन्धित हैं। [धारा 2 (g)]

स्पष्टीकरण - (I) इस अधिनियम के उद्देश्यों के लिए 'दो समामेलित संस्थाएँ' (Two Bodies Corporate) निम्न **दशाओं में एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत मानी जाती हैं** :

(i) यदि ऐसी एक समामेलित संस्था दूसरी संस्था पर नियन्त्रण रखती हैं या दोनों समामेलित संस्थाएँ एक ही समुदाय (Group) अथवा किसी एक ही घटक (Constituents) के नियन्त्रण में हैं।

(ii) यदि ऐसे किसी एक समामेलित संस्था का प्रबन्ध-संचालक अथवा प्रबन्धक दूसरी समामेलित संस्था का प्रबन्ध-संचालक या प्रबन्धक भी है।

(iii) यदि ऐसी किसी एक समामेलित संस्था के पास दूसरी संस्था के कम से कम 1/4 समता अंश हैं अथवा यह दूसरी संस्था के संचालक-मण्डल की कुल सदस्य संख्या के गठन के 1/4 को नियंत्रित करता है।

(iv) यदि ऐसी एक समामेलित संस्था का एक या अधिक संचालक (स्वतन्त्र रूप से अथवा इसके संचालकों या कर्मचारियों के रिश्तेदारों के साथ संयुक्त रूप से) दूसरी समामेलित संस्था के संचालक-मण्डल का 1/4 भाग गठन करते हैं अथवा उस दिन के, जिस दिन यह प्रश्न उठता है कि क्या दोनों संस्थायें एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत हैं, तुरन्त पूर्व के 6 माह की अवधि में किसी समय गठित करते थे।

(v) यदि किसी समुदाय का कोई एक व्यक्ति या अनेक व्यक्ति स्वयं अथवा अपने रिश्तेदारों के साथ दोनों समामेलित संस्थाओं में कम से कम 1/4 अंशों के स्वामी हैं।

(vi) यदि कोई एक समामेलित संस्था या अनेक समामेलित संस्थायें, जो किसी एक समूह से सम्बन्धित हैं, स्वतन्त्र रूप से अथवा अपनी सहायक कम्पनी या कम्पनियों के साथ दोनों समामेलित संस्थाओं, जिनके एक ही प्रबन्ध के बारे में विचार करना है, में पृथक्-पृथक् रूप से कम से कम 1/4 समता अंशों के स्वामी हैं।

(vii) यदि दोनों समामेलित संस्थाओं में कुल मतदान का 1/4 भाग किसी एक ही व्यक्ति द्वारा (स्वयं अथवा अपने रिश्तेदारों के साथ) अथवा एक संस्था द्वारा (स्वयं अथवा अपनी सहायक संस्थाओं के साथ) प्रयुक्त या नियन्त्रित किया जाता है।

(viii) यदि दोनों समामेलित संस्थाओं में प्रत्येक सम्बन्ध में कुल मतदान का 1/4 भाग एक ही समुदाय के समान व्यक्तियों द्वारा अथवा समान समामेलित संस्थाओं द्वारा (By same individuals or bodies corperate of a group) प्रयुक्त एवं नियन्त्रित किया जाता है।

(ix) यदि ऐसी एक किसी एक समामेलित संस्था के संचालक, दूसरी समामेलित संस्था के किसी एक या अधिक संचालकों के निर्देशों अथवा अनुदेशों (instructions) के अनुसार कार्य करते हैं अथवा दोनों ही समामेलित संस्थाओं के संचालक किसी एक व्यक्ति के, जो किसी समुदाय का है अथवा नहीं, निर्देशों या अनुदेशों के अनुसार कार्य करते हैं।

स्पष्टीकरण (II) के अनुसार, यदि कोई समुदाय किसी समामेलित संस्था का नियन्त्रण करता है तो वह समामेलित संस्था तथा उस समामेलित संस्था के प्रत्येक घटक (Constituent) जो उस समुदाय द्वारा नियन्त्रित है, एक ही प्रबन्ध के अधीन समझे जायेंगे।

अन्य समामेलित संस्था के कम से कम 1/4 समता अंशों की स्वामिनी हैं तो वह अन्य समामेलित संस्था भी उसी प्रबन्ध के अन्तर्गत मानी जायेगी।

स्पष्टीकरण (IV) के अनुसार, यदि निर्धारित करने के लिए कि दो या अधिक समामेलित संस्थायें एक ही प्रबन्ध के अधीन हैं अथवा नहीं, ऐसी समामेलित संस्थाओं में सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओं द्वारा धारित (held) अंशों को गणना में नहीं लिया जायेगा।

(12) **अनुज्ञप्ति क्षमता** (Licensed Capacity)- इसे सन् 1991 में किये गये संशोधन के अन्तर्गत हटा दिया गया है। **[धारा 2 (gg)]**

(13) **सदस्य** (Member) का अभिप्राय आयोग (Commission) के सदस्य से है। **[धारा 2 (h)]**

(14) **एकाधिकारी व्यापारिक व्यवहार** (Monopolistic Trade Practices) से आशय ऐसे व्यापारिक व्यवहारों से है जिनका निम्न प्रभाव (effect) होता है :

(i) किसी माल के उत्पादन, पूर्ति एवं वितरण को कम करते हुए या नियंत्रित रखते हुए भी अथवा सेवाओं की पूर्ति कम या नियंत्रित रखते हुए भी माल अथवा सेवाओं का मूल्य पूर्ववत् बनाये रखना अर्थात् मूल्य घटाये बिना भी उत्पादन, पूर्ति या वितरण घटाना सम्भव हो।

(ii) किसी माल के उत्पादन, पूर्ति या वितरण अथवा किसी सेवा की पूर्ति में प्रतियोगिता को अनुचित रूप से रोकना अथवा कम करना।

(iii) जन-सामान्य के लिए अहितकर रूप में तकनीकी विकास अथवा पूँजी विनियोग को सीमित रखना या उत्पादित, पूर्तित (supplied) या वितरित माल अथवा प्रदत्त सेवाओं के गुणों (quality) में गिरावट होने देना।

(iv) निम्न में अनुचित रूप से वृद्धि करना :

(अ) किसी भी माल की उत्पादन लागत, या

(ब) किसी सेवा के लिए मूल्य में वृद्धि करना

(v) निम्न में अनुचित रूप से वृद्धि करना :

(अ) माल या सेवा के विक्रय-मूल्य में, या

(ब) माल या सेवा से होने वाले लाभों में, या

(vi) किसी माल के उत्पादन, पूर्ति या वितरण में अथवा किसी सेवा की पूर्ति में होने वाले प्रतियोगिता में अनुचित तरीके या अनुचित या कपटपूर्ण विधियाँ अपनाकर रोकना। **[धारा 2 (i)]**

(15) **अधिसूचना** (Notification)- अधिसूचना से आशय सरकारी गजट से प्रकाशित अधिसूचना से है। **[धारा 2 (j)]**

(16) **स्वामी** (Owner)- किसी उपक्रम के सम्बन्ध में स्वामी से अभिप्राय एक व्यक्ति, हिन्दु अविभाजित परिवार, समामेलित संस्था या व्यक्तियों के अन्य ऐसे समुदाय, समामेलित हैं अथवा नहीं, या किसी ऐसे ट्रस्ट (जो सार्वजनिक हो या निजी या धार्मिक या पुण्यार्थ है अथवा नहीं) से है जो उस उपक्रम पर पूर्ण स्वामित्व या नियन्त्रण रखते हों तथा इसमें कोई भी ऐसा सम्बद्ध व्यक्ति (associated person) शामिल है जो किसी समुदाय का घटक (constituent) है तथा जिसका ऐसे उपक्रम के कार्यों पर पूर्ण अथवा लगभग पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त है। **[धारा 2 (ja)]**

(17) **निर्धारित** (Prescribed)- निर्धारित से आशय उस अधिनियम के अन्तर्गत बनाये गये नियमों से है। **[धारा 2 (k)]**

(18) **मूल्य** (Price)- किसी माल के विक्रय या किन्हीं सेवाओं को प्रदान करने के सम्बन्ध में मूल्य के अन्तर्गत प्रत्येक मूल्यवान प्रतिफल शामिल है जो प्रत्यक्ष में मिला हो अथवा परोक्ष में तथा इसमें कोई ऐसा प्रतिफल भी शामिल है जो किसी माल के विक्रय अथवा सेवाओं को प्रदान करने के सम्बन्ध में मिला हो यद्यपि दिखावटी या प्रकट रूप में वह अन्य मामले या वस्तु से सम्बन्धित लगता हो। **[धारा 2 (l)]**

(19) **उपज** (Produce)- उपज में निर्माण आदि सम्मिलित हैं। **[धारा 2 (l)]**

(20) **रजिस्टर** (Register)- रजिस्टर से आशय महानिदेशक द्वारा धारा 36 के अधीन रखे गये रजिस्टर से है। **[धारा 2 (m)]**

NOTES

(21) पंजीकृत उपभोक्ता संस्था (Registered Consumers' Association)- पंजीकृत उपभोक्ता संस्था आशय कम्पनी अधिनियम अथवा प्रचलन में किसी अन्य अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत व्यक्तियों की ऐच्छिक संस्था से है जिसका निर्माण उपभोक्ताओं के हितों की सुरक्षा करने के लिए किया गया हो और जिसको निर्धारित प्रारूप आवेदन करने पर केन्द्रीय सरकार ने संस्था के रूप में मान्यता प्रदान की हो। **[धारा 2 (n)**

(22) अवरोधक व्यापारिक व्यवहार (Restrictive Trade Practices)- अवरोधक व्यापारिक व्यवहार आशय ऐसे व्यापारिक व्यवहार से है जिसका प्रभाव, प्रतियोगिता को रोकना, समाप्त करना या प्रतिबन्धित करना है, तथ विशेष रूप से -

(i) उत्पादन में पूँजी व अन्य साधनों के प्रवाह (Flow of capital and other resources) को रोकन है, या

(ii) वस्तु या सेवा के मूल्यों, सुपुर्दगी शर्तों या सुपुर्दगी प्रवाह (Flow of delivery) में इस प्रकार क गड़बड़ी (Manipulation) करना जिससे उपभोक्ताओं पर अतिरिक्त व्यय भार पड़े या प्रतिबन्ध लगे

[धारा 2 (o)]

(23) **फुटकर विक्रेता** (Retailer)- किसी माल के विक्रय के सम्बन्ध में फुटकर विक्रेता के अन्तर्गत प्रत्येक वह व्यक्ति, थोक विक्रेता के अतिरिक्त, सम्मिलित है जो किसी अन्य व्यक्ति को माल बेचता है तथा वह थोक विक्रेता भी सम्मिलित है जो पुनः विक्रय करने वाले व्यक्ति के अतिरिक्त किसी भी अन्य व्यक्ति को माल बेचता है। अर्थात् यदि थोक विक्रेता फुटकर विक्रेता के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति को माल बेचता है तो वह भी फुटकर विक्रेता माना जायेगा। **[धारा 2 (p)]**

(24) **वित्त योजना** (Scheme of Finance)- वित्त योजना से आशय ऐसी योजना से है जो किसी उपक्रम द्वारा प्रस्तावित वित्त प्राप्त करने के स्रोतों तथा शर्तों को बताती है। **[धारा 2 (q)]**

किन्तु एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापार व्यवहार (संशोधित) अधिनियम, 1984 के लागू होने के पश्चात् प्रत्येक वित्त योजना में ऐसी अनुमानित पूँजी की मात्रा का उल्लेख करना भी आवश्यक होगा जिसकी उक्त योजना को प्रभावी बनाने में आवश्यकता हो।

(25) **सेवा** (Services) के आशय में प्रत्येक ऐसा कार्य शामिल किया जाता है, जो माल के उपभोक्ताओं को उपलब्ध कराया जाता है और इसमें बैंकिंग, वित्त प्रबन्धन, बीमा, परिवहन, प्रक्रियन, विद्युत तथा अन्य ऊर्जा की उपलब्धि, रहने तथा खाने की व्यवस्था, मनोरंजन, समाचार अथवा अन्य सूचनायें प्रदान करने की सुविधायें शामिल की जाती हैं लेकिन इसके अन्तर्गत निःशुल्क सेवायें और व्यक्तिगत अनुबन्ध के अन्तर्गत की गयी सेवायें शामिल नहीं की जातीं। **[धारा 2 (r)]**

(26) **व्यापार** (Trade)- व्यापार से आशय माल के उत्पादन, पूर्ति, वितरण या नियन्त्रण से सम्बन्धित किसी भी प्रकार के व्यापार, व्यवसाय, उद्योग, पेशा एवं धन्धे (Occupation) से है तथा इसमें किन्हीं सेवाओं की व्यवस्था करना भी सम्मिलित है। **[धारा 2 (s)]**

(27) **व्यापार संस्था** (Trade Association)- व्यापार संस्था से आशय व्यक्तियों के ऐसे समूह से है (चाहे उसका समायोजन हुआ हो अथवा नहीं) जोकि अपने सदस्यों अथवा अपने सदस्य प्रतिनिधियों के व्यापारिक हितों में वृद्धि करने हेतु किया जाता है। **[धारा 2 (t)]**

(28) **व्यापारिक व्यवहार** (Trade Practice)- व्यापारिक व्यवहार से अभिप्राय व्यापार को चलाने से सम्बन्धित किसी व्यवहार से है तथा इसके अन्तर्गत निम्न शामिल हैं .

(i) किसी व्यक्ति द्वारा किया गया कोई भी ऐसा कार्य जो किसी व्यापारी या व्यापारियों के समुदाय द्वारा वसूल किए गये मूल्य या व्यापार के तरीके (Method of Trading) को नियन्त्रित अथवा प्रभावित करता है।

(ii) किसी व्यक्ति द्वारा किया कोई एक या अकेला कार्य जो किसी व्यापार से सम्बन्धित हो।

[धारा 2 (u)]

(29) **उपक्रम** (Undertaking)- उपक्रम से तात्पर्य उस संस्था से है जो किसी वस्तु (article) या माल के उत्पादन, संग्रहण, पूर्ति, वितरण, प्राप्ति (acquisition) या नियन्त्रण में या किन्हीं सेवाओं की व्यवस्था एवं पूर्ति में, प्रत्यक्ष रूप से या अपनी एक या अधिक इकाइयों (units) के माध्यम से, जो एक ही स्थान पर या विभिन्न स्थानों पर स्थापित हैं, लगी हुई है। **[धारा 2 (v)]**

सम्बन्ध में, वह संस्था जो किसी वस्तु या माल के [illegible] कार्यों में लगी है, (iv) प्राप्ति में लगी है, (v) नियन्त्रण करती है, या (vi) किसी सेवा की व्यवस्था एवं पूर्ति करती है, उपक्रम कहलाती है। कोई भी संस्था उक्त कार्य स्वयं कर सकती है अथवा अपनी इकाइयों के माध्यम से भी कर सकती है। [धारा 2 (v)]

NOTES

(30) **औद्योगिक अधिनियम क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाला उपक्रम** - इसे सन् 1991 में किये गये संशोधनों के द्वारा हटा दिया गया है। [धारा 2 (vv)]

(31) **सम्पत्तियों का मूल्य** (Value of Assets)- उपक्रम के सम्बन्ध में सम्पत्तियों के मूल्य से आशय सम्पत्तियों के उस मूल्य से है, जोकि ह्रास के लिये प्रावधान करने के पश्चात् खातों में प्रदर्शित किया गया हो। [धारा 2 (w)]

(32) **थोक व्यापारी** (Wholesaler)- किसी माल के विक्रय के सम्बन्ध में थोक व्यापारी का आशय एक ऐसे व्यक्ति से है जो माल को विक्रय के लिए इकट्ठा या बड़ी मात्रा में (In bulk or in large quantities) किसी अन्य व्यक्ति को पुनः विक्रय के उद्देश्य से करता है चाहे वह अन्य व्यक्ति उस माल को इकट्ठा बेच दे या छोटी-छोटी मात्राओं में बेचे। [धारा 2 (x)]

(33) शब्दों एवं अभिव्यक्तियों का उपयोग तो किया गया है किन्तु इस अधिनियम में व्याख्या नहीं की गई है और कम्पनी अधिनियम में उनकी व्याख्या की गई है, उनका अर्थ वही होगा जोकि सम्बन्धित अधिनियम में दिया गया हो। [धारा 2 (y)]

कुछ परिस्थितियों में अधिनियम का लागू न होना
(Act not to apply in certain cases)

जब तक केन्द्रीय सरकार अधिसूचना द्वारा अन्य कोई बात स्पष्ट न करे, यह अधिनियम निम्न परिस्थितियों में लागू नहीं होता :

1. कोई ऐसा उपक्रम, जो किसी सरकारी कम्पनी के स्वामित्व या नियन्त्रण में हो,
2. कोई ऐसा उपक्रम, जो सरकार के स्वामित्व या नियन्त्रण में हो,
3. कोई ऐसा उपक्रम, जो किसी ऐसे निगम के स्वामित्व या नियन्त्रण में है, जो किसी राज्य या केन्द्रीय अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित हुआ है,
4. कोई श्रम-संघ अथवा कर्मचारियों का ऐसा संगठन जो उनके उचित संरक्षण के लिए बनाया गया हो,
5. कोई ऐसा औद्योगिक उपक्रम, जिसका प्रबन्ध सरकार द्वारा किसी अधिनियम के अन्तर्गत अर्जित कर लिया गया हो,
6. कोई ऐसा उपक्रम, जो किसी ऐसी सहकारी समिति के स्वामित्व में हो, जो सहकारी समितियों से सम्बन्धित किसी राज्य या केन्द्रीय अधिनियम के अन्तर्गत पंजीकृत हो,
7. कोई वित्तीय संस्थान। [धारा 3]

अधिनियम की **धारा** 4 (2) के अनुसार यह **अधिनियम बैंकिंग और बीमा** कम्पनियों पर उस सीमा तक लागू नहीं होगा, जहाँ तक उन कम्पनियों के सम्बन्ध में निम्न अधिनियमों में स्पष्ट प्रावधान दिये गये हैं :

(1) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट, 1934; (2) **बैंकिंग** रेगुलेशन एक्ट, 1949; (3) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट, 1955; (4) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया (सहायक बैंक) एक्ट, 1959 अथवा (5) **बीमा** अधिनियम, 1938।

दूसरे अधिनियमों का लागू होना बाधित नहीं
(Apply of other laws not barred)
[धारा 4 (1)]

(1) जब तक कि उपधारा (2) अथवा इस अधिनियम में अन्य स्थान पर कोई प्रतिकूल प्रावधान न हो, इस अधिनियम के प्रावधान प्रचलित किसी अन्य अधिनियम के अतिरिक्त होंगे। [धारा 4 (1)]

(2) जब तक कि इस अधिनियम की धारा 3 अथवा अन्य स्थान पर कोई प्रतिकूल बात न हो, इस अधिनियम के प्रावधान उन मामलों से सम्बन्धित हों जिनके लिए निम्न में विशिष्ट प्रावधान विद्यमान हैं :

(i) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम, अथवा

(ii) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया अधिनियम अथवा

(iii) बीमा अधिनियम,

तो उपर्युक्त पर उक्त सीमा तक इस अधिनियम के प्रावधान लागू नहीं होंगे। [धारा 4

NOTES

एकाधिकारात्मक एवं प्रतिबन्धात्मक व्यवहारों में अन्तर
(Difference between Monopolistic and Restrictive Trade Practices)

अधिनियम में एकाधिकारात्मक एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहारों में अन्तर किया गया है। एकाधिकारात्मक व्यापार व्यवहारों में 'प्रभावी फर्म' (Dominant Undertaking) के व्यवहारों को शामिल किया जाता है। इनसे फर्म के वैयक्तिक व्यवहार अथवा तीन फर्मों तक के अल्पाधिकार (Oligoploy) का संकेत मिलता है, क्योंकि फर्म अथवा फर्म समूह का कुल उत्पादन में श्रेष्ठतम भाग होता है। इसके विपरीत, प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार में दो या दो से अधिक शर्तों द्वारा एक समझौता किया जाता है, जिससे उनमें आपसी प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है। ऐसे समझौते में यह आवश्यक नहीं है कि किसी फर्म का उस वस्तु के कुल उत्पादन में प्रधान भाग हो।

एकाधिकारात्मक व्यापार व्यवहारों में एकाधिकार आयोग को केवल सलाहकारी अधिकार दिये गये हैं। यह सरकार पर निर्भर है कि वह आयोग की सलाह को स्वीकार करे अथवा न करे। प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार के बारे में आयोग को आदेशात्मक अधिकार (Mandatory Powers) दिये गये हैं।

एकाधिकार व्यापार व्यवहार
(Monopolistic Trade Practices)
[धारा 31-32]

आयोग द्वारा एकाधिकार व्यापार व्यवहारों की जाँच (Investigation by Commission of Monopolistic Trade Practices) [धारा 31]

(1) केन्द्रीय सरकार द्वारा मामले को सन्दर्भ किये जाने पर अथवा स्वयं जाँच करना - यदि केन्द्रीय सरकार को यह प्रतीत हो कि एक अथवा एक से अधिक उपक्रमों के स्वामी किसी ऐसे व्यवहार में संलग्न हो रहे हैं जोकि एकाधिकार व्यापार व्यवहार है अथवा हो सकता है अथवा किन्हीं माल अथवा सेवाओं में एकाधिकार व्यापार व्यवहार विद्यमान है, तो केन्द्रीय सरकार उस मामले को पूछताछ करने हेतु आयोग को सौंप सकती है। आयोग उचित रूप में सुनवाई करने के पश्चात् अपना प्रतिवेदन केन्द्रीय सरकार को देगा।

किन्तु यदि आयोग को भी ऐसी सूचना मिलती है अथवा वह जान जाता है कि कोई उपक्रम अथवा दो या दो से अधिक उपक्रमों के स्वामी किसी ऐसे व्यापार व्यवहार से संलग्न हो रहे हैं जोकि एकाधिकार व्यापार व्यवहार है अथवा किन्हीं माल अथवा सेवाओं में एकाधिकार व्यापार व्यवहार विद्यमान है, तो वह स्वयं ही, इस उप-धारा के अन्तर्गत बिना केन्द्रीय सरकार के सन्दर्भ के मामले में पूछताछ कर सकता है। [धारा 31 (1)]

(2) **आयोग द्वारा प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जाना** - यदि आयोग पूछताछ करने के पश्चात इस निष्कर्ष पर पहुचता है कि देश की विद्यमान आर्थिक दशाओं को ध्यान में रखते हुए तथा अन्य सम्बन्धित मामलों को भी ध्यान में रखते हुए व्यापार व्यवहार प्रचलन में है अथवा जन-हित के विरुद्ध प्रचलन में आने की सम्भावना है तो आयोग अपने निष्कर्षों सहित प्रतिवेदन केन्द्रीय सरकार के समक्ष प्रस्तुत करेगा। केन्द्रीय सरकार प्रतिवेदन के प्राप्त होने पर, यदि किसी प्रचलित अन्य अधिनियम में इसके विरुद्ध कोई अन्य बात न हो, ऐसे व्यापार व्यवहार से उत्पन्न होने वाले दोषों के उपचार अथवा रोकने हेतु ऐसे आदेश, जो वह उचित समझे, निर्गमित कर सकती है। [धारा 31 (2)]

(3) एकाधिकार व्यापार व्यवहार के धारा 32 में निर्दिष्ट अपवादों में सम्मिलित न होने पर - यदि आयोग के प्रतिवेदन में इस बात का उल्लेख हो कि किसी उपक्रम का स्वामी अथवा दो या दो से अधिक उपक्रमों के स्वामी एकाधिकार व्यापार व्यवहार में संलग्न हैं, अथवा किन्हीं माल अथवा सेवाओं के सम्बन्ध में एकाधिकार व्यापार व्यवहार विद्यमान है, और केन्द्रीय सरकार इस बात से सन्तुष्ट है कि एकाधिकार व्यापार व्यवहार के फलस्वरूप उत्पन्न अथवा उत्पन्न होने वाले दोषों का उपचार करने अथवा रोकने के लिए आवश्यक कदम उठाने आवश्यक हैं और वह एकाधिकार व्यापार व्यवहार धारा 32 में निर्दिष्ट अपवादों में नहीं आता है, यदि प्रस्तुत अधिनियम में अथवा प्रचलित किसी अन्य अधिनियम में कोई विरुद्ध बात न हो, तो केन्द्रीय सरकार निम्न आदेश दे सकती है, जोकि वह उचित समझे।

(अ) सम्बन्धित उपक्रम का स्वामी अथवा सम्बन्धित उपक्रमों का स्वामी, जो भी हो, पर ऐसे एकाधिकार व्यापार व्यवहार में संलग्न रहने पर रोक लगाना, अथवा

(ब) किसी वर्ग के उपक्रमों के स्वामियों अथवा सामान्य रूप में उपक्रमों पर ऐसे माल अथवा सेवाओं सम्बन्धी एकाधिकार व्यापार व्यवहारों में संलग्न रहने पर रोक लगाना, तथा

उपरोक्त माल एवं सेवाओं में एकाधिकार व्यापार व्यवहारों को चालू रहने से उत्पन्न होने वाले दोषों के उपचारस्वरूप अथवा रोकने के लिए भी आदेश निर्गमित कर सकती है। [धारा 31 (2-A)]

आदेश में सम्मिलित होने वाली अन्य बातें -

NOTES

धारा 2-क में प्रदान किये गये अधिकारों के प्रति बिना किसी पूर्वग्रह के केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये गये आदेश में निम्नलिखित को भी सम्मिलित किया जा सकता है -

(i) **उपक्रम द्वारा किसी माल के उत्पादन, संग्रहण, पूर्ति, वितरण अथवा नियन्त्रण का नियमन किया जाना अथवा नियन्त्रण करना अथवा सेवाओं की पूर्ति का नियमन या नियन्त्रण करना और विक्रय की शर्तें (मूल्य सहित) निर्धारित करना अथवा पूर्ति;**

(ii) **किसी उपक्रम को ऐसे किसी कार्य को करने से रोकना जो कि किसी माल के उत्पादन, संग्रह, पूर्ति अथवा वितरण अथवा सेवाओं का प्रावधान करने में होने वाली प्रतियोगिता को रोकता है या उसे कम करता है;**

(iii) उपक्रम द्वारा उपयोग में आने वाले अथवा उत्पादित माल का प्रमाप निर्धारित करना;

(iv) आदेश में अथवा अन्तर्गत किये गये प्रावधानों को छोड़कर अन्य मामलों में होने वाले अनुबन्ध को अवैधानिक घोषित करना;

(v) किसी पक्षकार को निर्धारित अवधि में निर्दिष्ट ठहराव करने के लिए बाध्य करना;

(vi) माल के उत्पादन, संग्रहण, पूर्ति, वितरण अथवा नियन्त्रण अथवा सेवाओं के प्रावधान करने से होने वाले लाभों का नियमन करना;

(vii) माल की किस्म अथवा सेवाओं के प्रावधान का नियमन करना ताकि उनका प्रमाप गिरने न पाये।

(4) **आदेश का निष्पादन-** जब भी केन्द्रीय सरकार द्वारा उप-धारा (2-अ) के अन्तर्गत किसी उपक्रम के स्वामी अथवा किसी वर्ग के उपक्रमों अथवा सामान्यतः उपक्रमों को एकाधिकार व्यापार व्यवहार में संलग्न होने से रोकने के लिए कोई आदेश निर्गमित किया जाता है, तो

(अ) उपक्रम का स्वामी अथवा वर्ग के उपक्रमों के स्वामी, जो भी हो, ऐसा आदेश मिलने की तिथि से 30 दिन के अन्दर (अथवा यदि पर्याप्त कारणों के आधार पर केन्द्रीय सरकार ने समय में वृद्धि कर दी हो तो उक्त बढ़े हुए समय में) केन्द्रीय सरकार को आदेश के निष्पादन की सूचना देंगे, तथा

(ब) महानिदेशक आदेश की तिथि से 90 दिन के अन्दर (अथवा केन्द्रीय सरकार द्वारा समय में वृद्धि करने पर उक्त अवधि की समाप्ति से) केन्द्रीय सरकार को आदेश का निष्पादन करने के बारे में सूचित करेगा। यदि महानिदेशक को यह विश्वास करने का पर्याप्त कारण हो कि किसी उपक्रम के द्वारा ऐसे आदेश का उल्लंघन किया गया है अथवा किया जा रहा है, तो वह केन्द्रीय सरकार को ऐसे उपक्रम के स्वामी के बारे में विवरण सूचित करेगा ताकि केन्द्रीय सरकार इस अधिनियम के अन्तर्गत उसके विरुद्ध ऐसी कार्यवाही कर सके, जो कि वह उचित समझे। **[धारा 31 (4)]**

कुछ मामलों में छोड़कर एकाधिकार व्यापार व्यवहार को जन हित के विरुद्ध माना जाना (Monopolistic Trade Practice to be deemed to prejudicial to the public interest except in certain cases)
[धारा 32]

इस अधिनियम के उद्देश्यों के लिए, निम्नलिखित को छोड़कर, प्रत्येक एकाधिकार व्यापार व्यवहार जन-हित के विरुद्ध माना जायेगा

(अ) ऐसा व्यापार व्यवहार जिसे किसी प्रचलित अधिनियम द्वारा स्पष्ट रूप में अधिकृत किया गया हो, अथवा

(ब) केन्द्रीय सरकार के सन्तुष्ट होने पर कि निम्न व्यापार व्यवहार आवश्यक है -

(i) भारत की रक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं अथवा उसके कुछ भाग हेतु अथवा राज्य की सुरक्षा हेतु, अथवा

(ii) समुदाय के लिए आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति बनाये रखने के लिए; अथवा

(iii) किसी ऐसे ठहराव की शर्तों को प्रभावी बनाने के लिए जिसमें केन्द्रीय सरकार भी एक पक्षकार हो, तो ऐसी स्थिति में केन्द्रीय सरकार लिखित आदेश द्वारा उपक्रम के स्वामी को ऐसा व्यापार व्यवहार चलाने की अनुमति प्रदान कर देगी। **[धारा 32]**

प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहारों से सम्बन्धित पंजीयन योग्य ठहराव
(Registerable agreements relating to Restrictive Trade Practice)

[धारा 33

(1) **प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार कौन से हैं** - निम्नलिखित श्रेणियों के प्रत्येक ठहराव इस अधिनियम के उद्देश्यों के लिए प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार माना जायेगा और उसका पंजीयन इस अध्याय के प्रावधानों के अनुसा होगा -

(a) ऐसा ठहराव जो कि किसी भी विधि द्वारा व्यक्तियों अथवा वर्ग के व्यक्तियों को जिन्हें माल का विक्रय किय जाता है अथवा जिनसे माल का क्रय किया जाता है, रोकता है अथवा रोकने की सम्भावना है;

(b) ऐसा ठहराव जो कि क्रेता को किसी माल का क्रय करने के साथ-साथ किसी अन्य माल के क्रय करने के लि बाध्य करता है;

(c) ऐसा ठहराव जोकि किसी भी ढंग से क्रेता को अपने व्यवहार के दौरान विक्रेता अथवा किसी अन्य व्यक्ति के माल के अतिरिक्त किसी दूसरे का माल प्राप्त करने से रोकता है;

(d) क्रेता तथा विक्रेता के मध्य सहमत मूल्यों अथवा शर्तों पर ही माल को खरीदने अथवा बेचने के लिए प्रस्तुत करने का कोई भी ठहराव;

(e) सम्बन्धों अथवा व्यवहारों के आधार पर रियायतें अथवा लाभ प्रदान करने का ठहराव। इसमें भत्ते, छूट, कटौती अथवा साख (उधार) भी सम्मिलित है;

(f) माल को इस शर्त पर बेचने का ठहराव कि क्रेता द्वारा उसका पुनः विक्रय विक्रेता द्वारा निर्धारित मूल्यों पर ही किया जा सकेगा;

(g) माल का निपटारा करने के लिए, सीमा, प्रतिबन्ध अथवा किसी माल का उत्पादन अथवा पूर्ति को रोकने अथवा क्षेत्र या बाजार का आबंटन करने का ठहराव;

(h) माल के निर्माण में किसी विधि को लागू करने, यन्त्र अथवा प्रक्रिया को लागू करने अथवा रोकने का ठहराव;

(i) किसी व्यापार से सम्बन्धित निर्मित व्यापार संघ में किसी ऐसे व्यक्ति को सम्मिलित न करने का ठहराव जो कि सद्विश्वास से समान व्यवसाय चला रहा है अथवा चलाना चाहता है;

(j) ऐसे मूल्य पर माल को बेचने का ठहराव जिससे प्रतियोगिता या प्रतियोगी समाप्त हो जाये;

(ja) ऐसा ठहराव जो कि किसी भी ढंग से थोक विक्रेताओं, उत्पादकों अथवा पूर्तिकर्ताओं, जिनसे माल क्रय किया जा सकता हो, के वर्ग अथवा संख्या को सीमित करता हो;

(jb) माल के विक्रय हेतु की गई नीलामी में किसी पक्षकार द्वारा बोली लगाने सम्बन्धी ठहराव अथवा ऐसा ठहराव जिसके द्वारा कोई पक्षकार माल के विक्रय की नीलामी में बोली लगाने से रोका जाता है,

(k) ऐसा ठहराव जिसका सन्दर्भ इस अधिनियम में नहीं हो किन्तु केन्द्रीय सरकार द्वारा आयोग की किसी सिफारिश के आधार पर अधिसूचना द्वारा प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार से सम्बन्धित निर्दिष्ट हो,

(l) इस उप-धारा में सन्दर्भित किसी ठहराव को लागू करने के लिए किया गया कोई ठहराव। [धारा 33 (1)]

(2) **प्रस्तुत धारा का सेवा सम्बन्धी ठहरावों पर लागू होना** - इस धारा के प्रावधान, जहाँ तक सम्भव हो, सेवाओं का प्रावधान करने, सम्बन्धी ठहरावों के सम्बन्ध में उसी प्रकार से लागू होंगे कि वे माल के उत्पादन, संग्रह, पूर्ति, वितरण अथवा नियन्त्रण करने से सम्बन्धित ठहरावों पर लागू होते हैं। [धारा 33 (2)]

(3) **किस ठहराव का पंजीयन कराने की आवश्यकता नहीं** - इस धारा के अन्तर्गत आने वाले ऐसे किसी भी ठहराव के पंजीयन की आवश्यकता नहीं है यदि वह उस समय प्रचलित किसी अन्य अधिनियम के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से अधिकृत हो अथवा केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुमोदित हो अथवा यदि सरकार स्वयं उक्त ठहराव की पक्षकार हो। [धारा 33 (3)]

[धारा 34 - इस धारा को हटा दिया है।]

NOTES

(1) केन्द्रीय सरकार द्वारा दिन निश्चित किया जाना - केन्द्रीय सरकार अधिसूचना द्वारा दिन निर्दिष्ट करेगी जिस दिन को एवं जिस दिन से धारा 33 के अन्तर्गत आने वाला प्रत्येक ठहराव इस अधिनियम के अन्तर्गत पंजीयन करने योग्य हो जायेगा।

विभिन्न वर्गों के ठहरावों के लिए विभिन्न दिन निश्चित किये जा सकते हैं। [धारा 35 (1)]

(2) पंजीयन कराने हेतु ठहरावों में दिया जाने वाला विवरण - उक्त निर्धारित दिन को विद्यमान किसी ठहराव की दशा में 60 दिनों के अन्तर, तथा उक्त निर्धारित दिन के पश्चात् किये गये ठहरावों की दशा में ऐसे ठहराव करने के दिन से 60 दिन के अन्दर धारा 33 के अन्तर्गत आने वाले प्रत्येक के सम्बन्ध में महानिदेशक को निम्नलिखित विवरण प्रस्तुत होगा -

(अ) ऐसे व्यक्तियों के नाम जोकि ठहराव के पक्षकार हों, तथा

(ब) ठहराव की सम्पूर्ण शर्तें। [धारा 35 (2)]

(3) **पंजीकृत ठहराव में किये गये परिवर्तन की सूचना** - यदि इस अधिनियम के अन्तर्गत ठहराव का पंजीयन हो जाने के पश्चात् किसी भी समय ठहराव में कोई परिवर्तन किया जाता है (चाहे ऐसा परिवर्तन पक्षकारों के सम्बन्ध में किया गया हो अथवा ठहराव की शर्तों के सम्बन्ध में हो तो ऐसा परिवर्तन करने की तिथि से एक महीने के अन्तर्गत किये गये परिवर्तन का विवरण महा निदेशक के पास भेजना होगा।) [धारा 35 (3)]

(4) **प्रस्तुत किया जाने वाला विवरण** - इस धारा के अन्तर्गत किसी ठहराव में किये गये परिवर्तन का निम्न विवरण प्रस्तुत करना होगा -

(अ) यदि ठहराव में परिवर्तन किसी विलेख के माध्यम से लिखित रूप में किया गया हो, उक्त ठहराव की मूल प्रति अथवा सच्ची प्रतिलिपि प्रस्तुत करके, तथा

(ब) यदि लिखित रूप में परिवर्तन न किया गया हो तो ऐसी स्थिति में परिवर्तन की सूचना देने वाले व्यक्ति के द्वारा लिखित रूप में ज्ञापन प्रस्तुत करके। [धारा 35 (4)]

(5) **विवरण प्रस्तुत करने वाला व्यक्ति** - इस अधिनियम के अन्तर्गत विवरण ऐसे किसी भी व्यक्ति द्वारा अथवा उसकी ओर से प्रस्तुत किया जा सकता है जोकि ठहराव का पक्षकार हो अथवा परिवर्तन करने के तुरन्त पूर्व ठहराव का पक्षकार था। यह विवरण करने के पश्चात् यह मान लिया जायेगा कि इस धारा के प्रावधानों को सभी पक्षकारों ने पूरा कर लिया है। [धारा 35 (5)]

रजिस्टर रखना (Keeping the Register) [धारा 36]

(1) **महानिदेशक द्वारा रजिस्टर रखना और उसमें प्रविष्टि करना** - इस अधिनियम के उद्देश्यों के लिए महानिदेशक निर्धारित प्रारूप में रजिस्टर रखेगा और उसमें ठहराव के पंजीयन से सम्बन्धित निर्धारित विवरण की प्रविष्टि करेगा। [धारा 36 (1)]

(2) **रजिस्टर के विशिष्ट भाग में आयोग द्वारा निर्देशित विवरण को भरने का प्रावधान करना** - महानिदेशक रजिस्टर के विशिष्ट भाग में आयोग द्वारा निर्देशित निम्न विवरण की प्रविष्टि करने अथवा भरने का प्रावधान करेगा -

(अ) ऐसी सूचना का विवरण जिसका प्रकाशन, आयोग की सम्मति में, जन-हित के प्रतिकूल हो,

(ब) किसी मामले में सम्बन्ध में ऐसी सूचना का विवरण, जिसका प्रकाशन होने पर, आयोग की सम्मति में, किसी व्यक्ति के वैध व्यापारिक हितों को पर्याप्त रूप में क्षति पहुँचेगी। [धारा 36 (2)]

(3) **रजिस्ट्रार को आवेदन** - धारा 35 के अन्तर्गत पंजीकृत किये जाने वाले किसी ठहराव का भी पक्षकार रजिस्ट्रार को निम्नलिखित के लिए आवेदन कर सकता है

(i) ठहराव अथवा उसका कोई भाग पंजीयन सम्बन्धी प्रावधानों से इस आधार पर हटाये जाने के लिए कि उक्त ठहराव अथवा उसके किसी भाग की पर्याप्त आर्थिक महत्ता नहीं है, अथवा

(ii) विशिष्ट भाग में ठहराव के किसी प्रावधान को सम्मिलित करने के लिए, महानिदेशक मामले का निपटारा आयोग द्वारा दिये गये सामान्य अथवा विशिष्ट निर्देशों को ध्यान में रखकर करेगा। [धारा 36 (3)]

NOTES

अनुचित व्यापार व्यवहार
(Unfair Trade Practices)
[धारा 36-क - 36-ङ]

अनुचित व्यापार व्यवहारों की परिभाषा (Definition of Unfair Trade Practices) [धारा 36-क]

इस भाग में, जब तक कि कोई अन्य सन्दर्भ न हो, अनुचित व्यापार व्यवहार से आशय ऐसे व्यापार व्यवहार से है जोकि विक्रय संवर्धन, माल के उपयोग अथवा पूर्ति अथवा सेवाओं का प्रावधान करने के लिए निम्नलिखित में से एक अथवा एक से अधिक व्यापार व्यवहारों को अपनाता है और इस प्रकार ऐसे माल अथवा सेवाओं के उपभोक्ताओं को हानि अथवा क्षति पहुँचाता है, चाहे ऐसा प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त अथवा प्रतिबन्धित करके अथवा अन्य प्रकार से किया गया हो।

(1) ऐसे कथन द्वारा, चाहे मौखिक हो अथवा लिखित रूप में अथवा दृष्टिगत प्रतिनिधित्व द्वारा हो, जोकि -

(i) मिथ्या रूप में यह कहता है कि माल एक विशिष्ट प्रमाप, गेड, बनावट, ढंग अथवा प्रतिरूप का है;

(ii) मिथ्या रूप में यह कहता है कि सेवाएँ एक विशिष्ट प्रमाप, किस्म अथवा ग्रेड की हैं;

(iii) मिथ्या रूप में पुनः निर्मित, सैकिण्ड हेण्ड, नवाचार सुधारा हुआ अथवा पुराने माल को नया माल बताता है;

(iv) इस बात का प्रतिनिधित्व करता है कि माल अथवा सेवाओं का प्रयोजन, अनुमोदन, निष्पादन, विशेषताएँ, अतिरिक्त, उपयोग अथवा लाभ है जोकि ऐसे माल अथवा सेवाओं के नहीं होते हैं;

(v) यह प्रतिनिधित्व करता है कि विक्रेता अथवा पूर्तिकर्ता के पास आयोजन अथवा अनुमोदन अथवा सम्बद्धता है जोकि ऐसे विक्रेता अथवा पूर्तिकर्ता के पास नहीं होती है;

(vi) किसी माल या सेवा की आवश्यकता अथवा उपयोगिता के सम्बन्ध में मिथ्या अथवा भुलावा देने वाला अभिवेदन (representation) लाता है;

(vii) किसी उत्पाद अथवा किसी माल के निष्पादन, कुशलता अथवा जीवन की अवधि के सम्बन्ध में जनता को ऐसा आश्वासन अथवा गारण्टी देता है जोकि पर्याप्त उचित परीक्षण पर आधारित नहीं हो;

(viii) ऐसे प्रारूप में जनता को अभिवेदन करता है जिसका अभिप्राय -

(अ) उत्पादन अथवा माल अथवा सेवाओं का आश्वासन अथवा गारण्टी देता हो, अथवा

(ब) किसी वस्तु अथवा उसके भाग का तब तक पुनः स्थापन, बनाये रखने अथवा मरम्मत, बदलने अथवा सेवाएँ प्रदान करने का वचन तब तक कि निर्दिष्ट परिणाम प्राप्त न हो, यदि ऐसे आश्वासन अथवा गारण्टी अथवा वचन का अभिप्राय मूलभूत रूप में भुलावा देना हो अथवा ऐसी उचित सम्भावना न हो कि ऐसे आश्वासन, गारण्टी अथवा वचन को पूरा किया जायेगा;

(ix) किसी उत्पाद अथवा समान उत्पादों अथवा माल अथवा सेवाओं के ऐसे मूल्य के सम्बन्ध में जनता को भुलावा देता है जिस पर कि उसका सामान्य रूप में विक्रय होता है अथवा उसको उपलब्ध किया जता है;

(x) किसी व्यक्ति के माल, सेवाओं अथवा व्यापार के सम्बन्ध में मिथ्यापूर्ण अथवा भुलावा देने वाले तथ्य देता है। [धारा 36-क]

आयोग द्वारा अनुचित व्यापार व्यवहारों के सम्बन्ध में पूछताछ
[Inquiry into Unfair-trade practices by Commission] [धारा 36 -ख]

निम्नलिखित दशाओं में आयोग अनुचित व्यापार व्यवहारों के सम्बन्ध में पूछताछ कर सकता है -

(अ) किसी व्यापार संघ अथवा उपभोक्ता अथवा पंजीकृत उपभोक्ता संघ, चाहे ऐसा उपभोक्ता उस उपभोक्ता संघ का सदस्य हो अथवा नहीं, से ऐसे तथ्यपूर्ण शिकायत प्राप्त होने पर जोकि ऐसे व्यापार की स्थापना करती है; अथवा

(ब) केन्द्रीय सरकार अथवा राज्य सरकार के द्वारा सन्दर्भित किये जाने पर; अथवा

(स) महानिदेशक द्वारा आवेदन-पत्र प्रस्तुत किये जाने पर; अथवा

(द) स्वयं के ज्ञान अथवा सूचना के आधार पर।

कुछ मामलों में प्रक्रिया के निर्गमन से पूर्व महानिदेशक द्वारा जाँच -
(Investigation by Director-General before an issue of process in certain cases) **[धारा 36-ग]**

NOTES

किसी अनुचित व्यापार व्यवहार के सम्बन्ध में जिसकी शिकायत धारा-B के वाक्य - अ के अन्तर्गत की गई हो, आयोग किसी प्रक्रिया के निर्गमन से पूर्व उस व्यक्ति को बुलायेगा जिसके विरुद्ध शिकायत की गई है तथा महानिदेशक को प्रारम्भिक जाँच करने का निर्देश स्वयं की संतुष्टि प्राप्त करने के लिए देगा कि शिकायत के बारे में पूछताछ किये जाने की आवश्यकता है। **[धारा 36 ग]**

अधिकार जिनका उपयोग आयोग द्वारा किसी अनुचित व्यापार व्यवहार की पूछताछ करने में किया जा सकता है (Powers which can be exercised by the Commission inquiring into an unfair trade practice) **[धारा 36-घ]**

(1) **पूछताछ करना एवं आदेश देना** - आयोग किसी ऐसे अनुचित व्यापार व्यवहार के सम्बन्ध में पूछताछ कर सकता है जोकि पूछताछ करने के पश्चात् उसकी सम्मति में व्यवहार जन-हित अथवा उपभोक्ताओं के हितों के सामान्य रूप में विरुद्ध है, तो वह आदेश द्वारा यह निर्देश दे सकता है कि -

(अ) व्यवहार को चालू नहीं रखा जायेगा अथवा दोहराया नहीं जायेगा; अथवा

(ब) ऐसे अनुचित व्यवहार से सम्बन्धित कोई भी ठहराव व्यर्थ होगा अथवा आदेश में निर्दिष्ट ढंग से संशोधित हुआ माना जायेगा। **[धारा 36 घ (1)]**

(2) **हितों के प्रतिकूल न होने पर** - इस धारा के अन्तर्गत आदेश देने के स्थान पर आयोग सम्बन्धित पक्षकार को उसके द्वारा आवेदन करने पर अनुचित व्यवहार को चालू रखने की अनुमति दे सकता है तथा निर्दिष्ट समय में ऐसे कदम उठा सकता है जोकि आयोग द्वारा यह सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक है कि व्यापार व्यवहार अब जन-हित अथवा उपभोक्ता अथवा उपभोक्ताओं के हितों के विरुद्ध नहीं है। यदि आयोग सन्तुष्ट हो जाता है कि उसके द्वारा निर्धारित समय में आवश्यक कदम उठाये जा चुके हैं, तो वह इस अधिनियम के अन्तर्गत उस व्यापार व्यवहार के विरुद्ध कोई भी आदेश नहीं देने का निर्णय कर सकता है। **[धारा 36-I (2)]**

(3) **किसी अन्य प्रचलित अधिनियम के अन्तर्गत व्यापार व्यवहार अधिकृत होने पर** - यदि वह व्यापार व्यवहार प्रचलित किसी अन्य अधिनियम के अन्तर्गत स्पष्ट रूप में अधिकृत हो तो उसके विरुद्ध उप-धारा (1) के अन्तर्गत कोई भी आदेश नहीं दिया जायेगा। **[धारा -36 घ (3)]**

प्रतिबन्धित व्यापार व्यवहारों से सम्बन्धित अधिकार का प्रयोग अथवा निष्पादन अनुचित व्यापार व्यवहारों के सम्बन्ध में भी किया जा सकता है (Power relating to Restrictive Trade Practices may exercised or performed in relation to Unfair Trade Practices) **[धारा 36-ङ]**

धाराएँ 12-क, 12-ख तथा 12-घ के प्रति बिना किसी पूर्वग्रह के आयोग, महानिदेशक अथवा आयोग या महानिदेशक की ओर से अधिकृत अन्य कोई व्यक्ति अनुचित व्यापार व्यवहार के सम्बन्ध में उन्हीं अधिकारों या कर्त्तव्यों का प्रयोग अथवा निष्पादन कर सकता है जिनका वह प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहारों के विरुद्ध उपयोग करने अथवा निष्पादन करने के लिए अधिकारी है अथवा करता है। **[धारा 36-ङ]**

कुछ प्रतिबन्धित व्यापार व्यवहारों का नियन्त्रण
(Control of Certain Restrictive Trade Practices)
[धाराएँ 37-41]

आयोग द्वारा प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहारों की जाँच किया जाना (Investigation into Restrictive Trade Practices by Commission) [धारा 37]

(1) **पूछताछ करना तथा आदेश देना** - आयोग किसी प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार के सम्बन्ध में पूछताछ कर सकता है, चाहे उससे सम्बन्धित ठहराव, यदि कोई हो, धारा 55 के अन्तर्गत पंजीकृत हुआ हो अथवा नहीं। यदि पूछताछ करने के पश्चात् उसकी यह सम्मति हो कि उक्त व्यवहार जन हित के विरुद्ध है, तो आयोग आदेश द्वारा निम्न निर्देश दे सकता है -

(अ) कि व्यवहार को चालू नहीं रखा जायेगा अथवा दोहराया नहीं जायेगा,

(ब) उससे सम्बन्धित ठहराव आदेश में निर्दिष्ट ढंग से व्यर्थ होगा। [धारा 37 (1)]

(2) **प्रतिबन्धित व्यवहार को जारी रखने की अनुमति** - आयोग इस अधिनियम के अन्तर्गत आदेश देने के स्थान पर पक्षकार द्वारा आवेदन करने पर प्रतिबन्धित व्यवहार को चालू रखने की अनुमति दे सकता है तथा इस सम्बन्ध में निर्दिष्ट समय के अन्दर वह ऐसे कदम उठा सकता है जोकि आयोग द्वारा सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक हो कि

व्यापार व्यवहार जन-हित के विरुद्ध नहीं रहा है। ऐसे मामले में यदि आयोग सन्तुष्ट हो जाता है कि निर्दिष्ट समय आवश्यक कदम उठाये जा चुके हैं, तो वह उस व्यापार व्यवहार के विरुद्ध इस अधिनियम के अन्तर्गत कोई भी आदे नहीं देने का निर्णय कर सकता है। [धारा 37 (2)

(3) **निम्नलिखित के सम्बन्ध में उप-धारा (1) के अन्तर्गत कोई भी आदेश निर्गमित नहीं किया जायेगा-** (अ ऐसे माल के सम्बन्ध में क्रेताओं के मध्य हुआ कोई ठहराव जोकि क्रेताओं द्वारा उपभोग के लिए क्रय किया जाता न कि अन्तिम रूप में विक्रय करने के लिए, चाहे उसी अथवा विभिन्न प्रारूप, प्रकार अथवा विशिष्ट अथवा किसी अन्य माल के अंग के रूप में; (ब) ऐसा व्यापार व्यवहार जो किसी अन्य प्रचलित अधिनियम के अन्तर्गत अधिकृत हो [धारा 37 (3)]

(4) **केन्द्रीय सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया जाना** - जब तक उस अधिनियम में कोई प्रतिकूल बात न हो, यदि आयोग उप-धारा (1) के अधीन की गई पूछताछ के दौरान यह पाता है कि किसी उपक्रम का स्वामी एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहारों में संलग्न है, तो वह उप-धारा (1) अथवा (2) के अन्तर्गत प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार के सम्बन्ध में आवश्यक आदेशों को देने के पश्चात् उक्त मामले को अपने निष्कर्षों सहित केन्द्रीय सरकार को आवश्यक कदम उठाने के लिए सौंप सकता है। [धारा 37 (4)]

प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम, 1969 के संदर्भ में निम्नलिखित से आप क्या समझते हैं,
   (अ) अन्तर्सम्बन्धित उपक्रम, (ब) एकाधिकार व्यापार व्यवहार,
   (स) सेवा, (द) उपक्रम।
2. एकाधिकारी व्यापार व्यवहार क्या है? इस संदर्भ में एकाधिकार एवं अवरोधन (प्रतिबन्धात्मक) व्यापार व्यवहार अधिनियम, 1969 के प्रावधानों का वर्णन कीजिए।
3. एकाधिकार एवं अवरोधक (प्रतिबन्धात्मक) व्यापार व्यवहार अधिनियम क्या है? इसके उद्देश्य तथा उन परिस्थितियों को समझाइए जिनमें यह लागू नहीं होता।
4. एकाधिकार तथा अवरोधक व्यापार व्यवहार अधिनियम, 1969 में एकाधिकार व्यापार व्यवहार तथा अवरोधक व्यापार व्यवहार को किस प्रकार परिभाषित किया गया है? उनमें अन्तर कीजिए।
5. एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम के मुख्य प्रावधानों का मूल्यांकन कीजिए।
6. अनुचित व्यापार व्यवहारों की परिभाषा दीजिये। कौन-कौन से व्यापार व्यवहार अनुचित व्यापार व्यवहारों के अन्तर्गत आते हैं?

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :
   (i) एकाधिकार व्यापार व्यवहार।
   (ii) प्रभावी उपक्रम।
   (iii) अनुचित व्यापार व्यवहार।
2. एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक व्यापार व्यवहार अधिनियम के उद्देश्य बताइये।
3. उन मामलों को बताइये जहाँ एकाधिकार एवं प्रतिबन्धात्मक अधिनियम लागू नहीं होता।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

विदेशी मुद्रा विनिमय प्रबन्धन अधिनियम, 1999 (फेमा)

[FOREIGN EXCHANGE MANAGEMENT ACT, 1999 (FEMA)]

विदेशी मुद्रा प्रबन्धन अधिनियम, 1999 सम्पूर्ण भारत पर लागू होगा। यह अधिनियम भारत के अतिरिक्त, विदेशों में स्थित उन सभी शाखाओं, कार्यालयों तथा अभिकर्त्ताओं पर भी लागू होगा यदि वे ऐसे व्यक्ति के स्वामित्व या नियन्त्रण में है जो भारत के निवासी हैं। यह अधिनियम उस तिथि से प्रभावी होगा जिसे केन्द्रीय सरकार गजट द्वारा अधिसूचित करे। यह अधिनियम 1 जून, 2000 से भारत में प्रभावी हो गया है।

प्रमुख विशेषतायें
(Main Features)

विदेशी विनियम प्रबन्धन अधिनियम मुद्रा, 1999 की मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित है -

(1) **संक्षिप्त नाम** - इस अधिनियम को विदेशी मुद्रा विनिमय प्रबंधन अधिनियम 1999 कहा जा सकता है। [धारा 1 (i)]

(2) **प्रारम्भ** - यह अधिनियम 1 जून, 2000 से लागू हुआ है।

(3) **क्षेत्र या विस्तार** - यह अधिनियम सम्पूर्ण भारत में लागू होता है।

(4) इस अधिनियम में कुल 49 धाराएँ हैं।

(5) यह अधिनियम भारत के बाहर स्थित शाखाओं कार्यालयों तथा एजेन्सियों पर लागू होता है।

अधिनियम के उद्देश्य

विदेशी मुद्रा विनिमय प्रबन्धन अधिनियम, 2000 के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं -

(1) भारत में विदेशी पूंजी की प्रविष्टि का नियमन करना।

(2) विदेशी विनिमय के क्रय विक्रय पर नियंत्रण रखना।

(3) विदेशी विनिमय दर में स्थिरता लाना।

(4) भारत के विदेशी विनिमय बाजार को सुदृढ़ विकसित रखना।

(5) भुगतान असन्तुलन को दूर करने में सहायता करना।

(6) विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन देना।

(7) देश के विनिमय संसाधनों का अनुरक्षण करना।

(8) विदेशी जिलों में होने वाली हेरा-फेरी को रोकना।

आधारभूत परिभाषाएँ (Basic Definitions)

विदेशी मुद्रा विनिमय प्रबधन अधिनियम, 1999 में कुछ शब्दों को परिभाषित किया गया है। इनमें प्रमुख परिभाषाएँ निम्न हैं –

1 **व्यक्ति** (Person) – व्यक्ति से आशय है .

(i) एक व्यक्ति (ii) एक हिन्दू अविभाजित परिवार

(iii) एक कम्पनी (iv) एक फर्म

(v) व्यक्तियों का एक संघ या एक संस्था चाहे वह समामेलित हो या नहीं

(vi) प्रत्येक कृत्रिम न्यायिक व्यक्ति जो उपर्युक्त में शामिल न हो।

(vii) ऐसे व्यक्ति के स्वामित्व या नियन्त्रण में कोई एजेन्सी, कार्यालय या शाखा

NOTES

2. **अधिकृत व्यक्ति** (Authorised Person) – 'अधिकृत व्यक्ति' से आशय अधिकृत डीलर, मुद्रा परिवर्त (Money changer), तटीय (off-shore) बैंकिंग इकाई अथवा अन्य उस व्यक्ति से है जिसे कुछ समय के लि विदेशी मुद्रा या विदेशी प्रतिभूतियों में लेन-देन करने हेतु अधिकृत कर दिया गया है।

3. **मुद्रा चलन** (Currency) – 'मुद्रा' या 'मुद्रा चलन' में शामिल है– पत्र मुद्रा, पोस्टल आर्डर, धनादेश, चैक ड्राफ्ट, यात्री चैक, साख पत्र, विनिमय विपत्र व प्रतिज्ञा पत्र, क्रेडिट कार्ड अथवा ऐसा ही अन्य प्रपत्र जो भारतीय रिज बैंक द्वारा अधिसूचित हो सके। यहाँ पत्र मुद्रा (Currency notes) से आशय सिक्कों तथा बैंक नोटों के रूप में रोक से है।

4. **प्रतिभूति** (Security) – 'प्रतिभूति' से आशय है अंश, स्कन्ध, बॉण्ड व ऋण- पत्र, सरकारी बचत पत्र, भारती यूनिट ट्रस्ट व अन्य म्युचुअल फंड के यूनिट, सरकारी प्रतिज्ञा-पत्र तथा अन्य कोई प्रपत्र जो भारतीय रिजर्व बैंक द्वार प्रतिभूति अधिसूचित कर दिये जायें।

5. **विदेशी मुद्रा** (Foreign Currency)– 'विदेशी मुद्रा' से आशय ऐसी मुद्रा से है जो भारतीय मुद्रा नहीं है

6. **विदेशी मुद्रा विनिमय** – 'विदेशी मुद्रा विनिमय' से आशय विदेशी मुद्रा से है जिसमें शामिल होता है –

(i) विदेशी मुद्रा में देय जमाएँ, साख एवं शेष,

(ii) भारतीय मुद्रा में आहरित परन्तु विदेशी मुद्रा में देय ड्राफ्ट, यात्री चैक, साख-प्रपत्र अथवा विनिमय विपत्र।

7. **विदेशी प्रतिभूति** (Foreign Security) – 'विदेशी प्रतिभूति' से आशय ऐसी किसी भी प्रतिभूति से है जैसे– अंश, स्कन्ध, बॉण्ड व ऋण-पत्र अथवा अन्य कोई प्रपत्र जो विदेशी मुद्रा में अभिव्यक्त किया गया हो परन्तु उसका शोधन अथवा उस पर ब्याज अथवा लाभांश भारतीय मुद्रा में देय हो।

8. **भारत को प्रत्यावर्तन** (Reptriate to India) – 'भारत को प्रत्यावर्तन' से आशय है वसूल हुए विदेशी मुद्रा विनिमय को भारत में लाना तथा ऐसी विदेशी मुद्रा विनिमय को रुपयों के बदले अधिकृत व्यक्ति को विक्रय करना अथवा रिजर्व बैंक के नियमानुसार अधिकृत व्यक्ति के यहाँ इसे खाते में जमा रखना अथवा इसमें से विदेशी मुद्रा में प्राप्य ऋण व दायित्व को चुकता करना।

9. **भारत में निवासी व्यक्ति** (Person resident in India) - (i) कोई भी व्यक्ति भारत में निवासी कहा जायेगा यदि वह गत वित्तीय वर्ष में 182 दिन से अधिक भारत में रहा हो परन्तु इसमें निम्न शामिल नहीं होंगे –

(A) एक व्यक्ति की विदेश में रोजगार के कारण या विदेश में व्यवसाय के कारण या अन्य किसी कारण से एक अनिश्चित समय तक भारत से बाहर रहने की इच्छा प्रतीत होती है।

(B) एक विदेशी व्यक्ति की रोजगार या व्यवसाय या अन्य किसी कारण से एक अनिश्चित समय तक भारत में रहने की इच्छा प्रकट होती है।

(i) भारत में पंजीकृत या समामेलित कोई संस्था या कम्पनी।

(ii) भारत के बाहर निवासी व्यक्ति के स्वामित्व या नियन्त्रण वाली भारत में स्थित कोई एजेन्सी, कार्यालय या शाखा।

(iii) भारत में निवासी व्यक्ति के स्वामित्व या नियन्त्रण वाली भारत के बाहर स्थित कोई एजेन्सी, कार्यालय या शाखा।

10. **भारत के बाहर निवासी व्यक्ति** (Person resident outside India) – 'भारत के बाहर निवासी व्यक्ति' से आशय ऐसे व्यक्ति से है जो भारत में निवासी व्यक्ति नहीं है।

11 **पूँजी खाता लेन-देन** (Capital Account Transaction) 'पूँजी खाता लेन-देन' से आशय उन लेन-देनों से है जिनके फलस्वरूप भारत में निवासी व्यक्ति की विदेशों में स्थित सम्पत्तियों व दायित्वों तथा भारत के बाहर निवासी व्यक्ति की भारत में स्थित सम्पत्तियों व दायित्वों में परिवर्तन हो जाता है।

12 **चालू खाता लेन-देन** (Current Account Transaction) – चालू खाता लेन-देन जो पूँजी खाता लेन-देन से भिन्न है, में निम्न शामिल हैं –

(i) विदेशी व्यापार, सेवाओं तथा अल्पकालीन बैंकिंग व साख सुविधाओं के सम्बन्ध में देय अदायगी।

(ii) ऋण पर ब्याज व विनियोगों पर शुद्ध आय का देय भुगतान।

(iii) माता-पिता, बच्चे, पत्नी जो विदेश में रह रहे हैं, उनके जीवन-यापन व्यय हेतु मुद्रा भुगतान।

(iv) माता-पिता बच्चे व पत्नी के विदेश यात्रा, शिक्षा, दवाइयों आदि पर विदेश में किये जाने वाले व्यय का देय भुगतान।

विदेशी मुद्रा का नियमन तथा प्रबन्ध
(Regulation and Management of Foreign Exchange)

A. विदेशी मुद्रा व्यवहार (Foreign Exchange Dealings) – विदेशी मुद्रा विनिमय प्रबन्धन अधिनियम, 1999 के अन्तर्गत एक व्यक्ति पर विदेशी मुद्रा के लेन-देन के सम्बन्ध में अग्र प्रतिबन्ध लागू होंगे। भारतीय रिजर्व बैंक की सामान्य या विशिष्ट अनुमति के बिना –

(i) वह किसी भी व्यक्ति से विदेश में सम्पत्ति प्राप्त करने के प्रतिफलस्वरूप भारत में वित्तीय प्रकृति का लेन-देन नहीं करेगा।

(ii) वह भारत के बाहर निवासी व्यक्ति से अधिकृत व्यक्ति के माध्यम से अतिरिक्त किसी भी रूप में भुगतान प्राप्त नहीं करेगा।

(iii) वह किसी भी रूप में भारत के बाहर निवासी व्यक्ति को न कोई भुगतान करेगा और न उसे खाते में जमा करेगा।

(iv) वह अधिकृत व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति को विदेशी मुद्रा या विदेशी प्रतिभूति का न तो लेन-देन करेगा और न हस्तान्तरण करेगा। **(धारा 3)**

B. विदेशी मुद्रा अधिग्रहण (Holding of Foreign Exchange) – भारतीय रिजर्व बैंक की अनुमति के बिना भारत में निवासी कोई व्यक्ति भारत के बाहर स्थित विदेशी मुद्रा, विदेशी प्रतिभूति अथवा अन्य अचल सम्पत्ति को न तो प्राप्त करेगा, न उसका अधिग्रहण करेगा और न हस्तान्तरण। **(धारा 4)**

C. चालू खाता लेन-देन (Current Account Transaction) – कोई भी व्यक्ति सरकार द्वारा निर्धारित सीमा तक चालू खाता लेन-देन हेतु अधिकृत व्यक्ति से विदेशी मुद्रा का क्रय तथा अधिकृत व्यक्ति को विदेशी मुद्रा का विक्रय कर सकता है। **(धारा 5)**

D. पूँजी खाता लेन-देन (Capital Account Transaction) – कोई भी व्यक्ति खाता लेन-देन हेतु एक अधिकृत व्यक्ति से रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित सीमा तक विदेशी मुद्रा विनिमय का क्रय कर सकता है तथा उसे विक्रय कर सकता है, परन्तु इसमें उन्हीं पूँजीगत लेन-देनों को सम्मिलित किया जायेगा जो भारत सरकार के परामर्श से रिजर्व बैंक द्वारा निर्दिष्ट कर दिये गये हों। यद्यपि रिजर्व बैंक भी ऋणों के भुगतान (Amortisation) पर रोक नहीं लगा सकती। **(धारा 6)**

पूँजीगत लेन-देनों के सम्बन्ध में निम्न प्रावधान भी महत्वपूर्ण हैं –

1. भारत में निवासी व्यक्ति भारत के बाहर स्थित विदेशी मुद्रा, प्रतिभूति या अचल सम्पत्ति का स्वामी हो सकता है, हस्तान्तरण कर सकता है, विनियोग कर सकता है यदि ऐसी मुद्रा, प्रतिभूति या सम्पत्ति प्राप्त करते समय वह भारत के बाहर का निवासी व्यक्ति रहा हो या यह सम्पत्ति भारत के बाहर के निवासी व्यक्ति से उत्तराधिकार में मिली हो।

2. भारत के बाहर का निवासी व्यक्ति भारतीय मुद्रा, प्रतिभूति तथा भारत में स्थित अचल सम्पत्ति का स्वामी हो सकता है, हस्तान्तरण तथा विनियोग कर सकता है बशर्ते कि ऐसी मुद्रा, प्रतिभूति या अचल सम्पत्ति प्राप्त करते समय वह भारत का निवासी व्यक्ति रहा हो या यह सम्पत्ति भारत में निवासी व्यक्ति से उत्तराधिकार में मिली हो।

E. माल एवं सेवाओं का निर्यात – धारा 7 (1) के अनुसार माल का प्रत्येक निर्यातक निर्यात किये जाने वाले माल के सम्बन्ध में आवश्यक सभी तथ्यपूर्ण सही विवरण, माल के पूर्ण मूल्य सहित, रिजर्व बैंक अथवा अन्य अधिकृत संस्था को निर्धारित समय के अन्तर्गत प्रेषित करेगा। यदि माल निर्यात करते समय उसका पूर्ण मूल्य निर्धारित कर पाना सम्भव न हो तो उस समय की बाजार दशाओं के अनुसार निर्यातक को विदेश से प्राप्त हो सकने वाली अनुमानित राशि ही प्रेषित करनी होगी। इसके अतिरिक्त यदि रिजर्व बैंक ऐसे निर्यात से वसूल हो सकने वाली राशि का निर्धारण करने हेतु कोई सूचना माँगती है तो तुरन्त प्रेषित करनी होगी।

रिजर्व बैंक निर्यात किये गये माल के मूल्य को शीघ्र मँगाने के लिए निर्यातक को उचित निर्देश दे सकती है जिनका पालन निर्यातक को करना होगा।

धारा 7 (3) के अनुसार सेवाओं का प्रत्येक निर्यातक भी रिजर्व बैंक या अन्य अधिकृत संस्था को निर्दिष्ट ढंग से तथा निर्दिष्ट प्रारूप में ऐसी सूचना प्रेषित करेगा जिससे सेवाओं से प्राप्त होने वाले भुगतान के सम्बन्ध पूर्ण एवं सही विवरण ज्ञात हो सके।

F. विदेशी मुद्रा विनिमय की वसूलयावी तथा प्रत्यार्पण (Realisation and Repatriation of Foreign Exchnage) – जब भारत में निवासी व्यक्ति के पक्ष में कोई विदेशी मुद्रा विनिमय धनराशि देय या अर्जित हो जाये

NOTES

तो रिजर्व बैंक द्वारा निर्दिष्ट ढंग तथा समयावधि में ऐसे विदेशी मुद्रा विनियोग को वसूल करने तथा भारत भेजने हे वह व्यक्ति सभी उचित कदम उठायेगा। (धारा 8

छूटें (Exemptions) – निम्न दशाओं में उपर्युक्त धारा लागू नहीं होगी –

(i) एक व्यक्ति का विदेशी मुद्रा तथा विदेशी सिक्कों पर उस सीमा तक अधिकार जितना रिजर्व बैंक निर्दिष्ट किया हो।

(ii) रिजर्व बैंक द्वारा निर्दिष्ट सीमा तक निर्दिष्ट व्यक्तियों द्वारा संचालित विदेशी मुद्रा खाता।

(iii) रिजर्व बैंक द्वारा निर्दिष्ट सीमा तक विदेशी मुद्रा की प्राप्ति जो रोजगार व्यवसाय, व्यापार, सेवा, उपहा उत्तराधिकार या अन्य किसी वैध साधन से अर्जित की गई हो।

(iv) अन्य कोई भी विदेशी मुद्रा प्राप्तियाँ जो रिजर्व बैंक द्वारा निर्दिष्ट हों। (धारा 9

अधिकृत व्यक्ति
(Authorised Person)

रिजर्व बैंक प्रार्थना-पत्र प्राप्त होने पर किसी भी व्यक्ति को विदेशी मुद्रा विनिमय में तथा विदेशी प्रतिभूतियों मे लेन-देन करने हेतु एक डीलर, मुद्रा परिवर्तक अथवा तटीय बैंकिंग इकाई आदि के रूप में अधिकृत कर सकती है। ऐस अधिकृतीकरण लिखित में किया जायेगा तथा उन शर्तों के अधीन होगा जो रिजर्व बैंक निर्धारित करे।

[धारा 10 (1)]

ऐसा अधिकृतीकरण रिजर्व बैंक द्वारा किसी भी समय रद्द किया जा सकता है यदि रिजर्व बैंक यह समझती है कि –

(i) ऐसा करना जन-हित में है, अथवा

(ii) अधिकृत व्यक्ति ने कुछ शर्तों का पालन नहीं किया है अथवा उसने अधिनियम के प्रावधानों या अन्य नियमों, सूचनाओं व निर्देशों का उल्लंघन किया है। [धारा 10 (3)]

अधिकृत व्यक्ति का कर्त्तव्य – अधिकृत व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि वह यह सुनिश्चित करे कि विदेशी मुद्रा विनिमय का लेन-देन जो वह अन्य व्यक्ति के लिए कर रहा है अधिनियम के प्रावधानों के अन्तर्गत है। इस सम्बन्ध में वह सम्बन्धित व्यक्ति से कोई भी आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त करने का अधिकार रखता है। संतुष्ट न होने की दशा में अधिकृत व्यक्ति लिखित में ऐसे लेन-देन को करने के लिए मना कर सकता है। [धारा 10 (5)]

रिजर्व बैंक के अधिकार (Powers of Reserve Bank) – अधिनियम के प्रावधानों तथा अन्य सम्बन्धित नियमों व निर्देशों का पूर्ण पालन सुनिश्चित करने हेतु रिजर्व बैंक को निम्न अधिकार हैं –

(i) यह किसी भी अधिकृत व्यक्ति को विदेशी मुद्रा विनिमय सौदे में भुगतान करने या रोक देने का निर्देश दे सकती है।

(ii) यह किसी भी अधिकृत व्यक्ति को सम्बन्धित सूचना भेजने का निर्देश दे सकती है।

(iii) यदि कोई अधिकृत व्यक्ति रिजर्व बैंक के निर्देशों का उल्लंघन करता है या निर्देशित प्रपत्र नहीं भेजता है तो रिजर्व बैंक ऐसे व्यक्ति पर 10,000 रु. तक दण्ड लगा सकती है। इसके उपरान्त भी यदि अधिकृत व्यक्ति उल्लंघन जारी रखता है तो 2,000 रु. प्रतिदिन के हिसाब से उसे अतिरिक्त दण्ड भरना पड़ेगा। (धारा 11)

अधिकृत व्यक्ति द्वारा भेजे गये विवरणों अथवा सूचनाओं की सत्यता की जाँच करने हेतु तथा अधिनियम के प्रावधानों के परिपालन की जाँच करने हेतु रिजर्व बैंक किसी भी अधिकारी को नियुक्ति कर सकती है। ऐसी दशा में अधिकृत व्यक्ति का यह दायित्व है कि वे उपर्युक्त अधिकारी के निर्देशानुसार आवश्यक लेखा बही, विवरण, सूचना आदि प्रस्तुत करें। (धारा 12)

उल्लंघन तथा दण्ड
(Contravention and Penalties)

यदि कोई व्यक्ति इस अधिनियम के किसी प्रावधान का उल्लंघन करता है या सम्बन्धित किसी नियम, अधिसूचना, निर्देश अथवा आदेश का उल्लंघन करता है, रिजर्व बैंक द्वारा अधिकृतीकरण (authorisation) करते समय लगायी गई किसी शर्त का उल्लंघन करता है तो ऐसा व्यक्ति अधिनिर्णय के अन्तर्गत दण्ड के लिए दायी होगा जो उल्लंघन हुए प्रावधान में निहित राशि के तीन गुने यदि उपरान्त भी यदि उल्लंघन जारी रहता है तो 5000 रु. प्रतिदिन की दर से अतिरिक्त दण्ड भरना होगा।

अधिनिर्णय अधिकरण (Adjudicating Authority) – निर्णय देते समय ही यदि उचित मानता है तो दण्ड के अतिरिक्त उल्लंघन से सम्बन्धित मुद्रा, प्रतिभूति अथवा सम्पत्ति को केन्द्रीय सरकार के पक्ष में कर लिए जाने तथा ऐसे विदेशी मुद्रा विनिमय को विदेश से भारत लाने तथा विदेश में ही रोके रखने का आदेश दे सकता है। (धारा 13)

NOTES

अधिनिर्णय तथा अपील
(Adjudication and Appeal)

(1) **अधिनिर्णय अधिकरण** (Adjudication Authority) – केन्द्रीय सरकार, सरकारी गजट में प्रकाशित आदेश के अन्तर्गत, केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों को अधिनिर्णय अधिकरण के रूप में नियुक्त कर सकती है। ये अधिकरण उन शिकायतों की सुनवाई करेंगे, जो किन्हीं भी व्यक्तियों के विरुद्ध धारा 13 के उल्लंघन करने के सम्बन्ध में प्राप्त हुई है। ये अधिकार निर्णय देने तथा दण्ड लगाने से पूर्व आरोपित व्यक्ति को सुनने का उचित अवसर प्रदान करेंगे। यदि अधिनिर्णय अधिकरण को यह आभास होता है कि आरोपित व्यक्ति देश से भाग सकता है या दण्ड भुगतान में कठिनाई उत्पन्न कर सकता है तो ऐसे आरोपित व्यक्ति को आवश्यक धनराशि की गारण्टी की व्यवस्था करने का निर्देश दिया जा सकता है। ये अधिकरण कोई भी जाँच का कार्य तभी लेंगे जब इस तरह की शिकायत सरकार द्वारा पारित आदेश के अन्तर्गत सम्बन्धित अधिकारी ने लिखित में दी हो।

प्रत्येक अधिनिर्णय अधिकरण को सिविल कोर्ट के अधिकार होंगे अतः अधिकरण के समक्ष आरोपित व्यक्ति अपना पक्ष अपने वकील या चार्टर्ड एकाउन्टेंट के द्वारा प्रस्तुत कर सकेगा। ये अधिकरण सभी शिकायतों का शीघ्रतापूर्वक निपटारा करेगी। किसी भी दशा में यह समय शिकायत मिलने वाले दिन से एक वर्ष से अधिक नहीं होगा अन्यथा अधिकरण को लिखित में ऐसे विलम्ब का कारण बताना होगा।

(2) **विशेष निदेशक-अपील्स** (Special Director-Appeals) – केन्द्रीय सरकार अधिसूचना द्वारा एक या एक से अधिक विशेष निदेशक-अपील्स नियुक्त कर सकती है जो अधिनिर्णय अधिकरण के निर्णय से पीड़ित व्यक्तियों के प्रार्थना-पत्र पर सुनवाई करेंगे। यह अपील अधिकरण के आदेश की प्राप्ति प्राप्त होने के 45 दिन के अन्दर कर दी जानी चाहिए। पीड़ित पक्षकार के प्रार्थना-पत्र पर विशेष निदेशक-अपील्स उसे सुनेगा तथा इसके उपरान्त अधिकरण के आदेश की पुष्टि कर सकता है, संशोधित कर सकता है अथवा निरस्त कर सकता है। विशेष निदेशक-अपील्स को सिविल कोर्ट के अधिकार होंगे। वह भारतीय न्यायिक सेवा/भारतीय राजस्व सेवा का संयुक्त सचिव के समकक्ष पद वाला व्यक्ति होगा।

(3) **अपीलीय न्यायाधिकरण** (Appellate Tribunal) – केन्द्रीय सरकार अधिसूचना जारी करके विदेशी मुद्रा विनिमय हेतु अपीलीय न्यायाधिकरण (विशिष्ट दशाओं में) का गठन करेगी जो अधिनिर्णय अधिकरण तथा विशेष निदेशक-अपील्स के आदेश के विरुद्ध की गई अपील पर सुनवाई करेगा। यह अपील केन्द्रीय सरकार या पीड़ित पक्षकार द्वारा अधिकरण या विशेष निदेशक के आदेश की तिथि से 45 दिन के अन्दर निर्धारित प्रारूप में निर्धारित शुल्क सहित की जानी चाहिए।

ऐसी अपील पर अपीलीय न्यायाधिकरण पीड़ित पक्षकार को सुनने का अवसर देगा, अधिकरण या विशेष निदेशक-अपील्स के रिकार्ड का यदि आवश्यक समझे तो अध्ययन करेगा और इसके उपरान्त अपना आदेश पारित करेगा जिसमें वह उस आदेश जिसके विरुद्ध अपील सुनी गई है, की पुष्टि कर सकता है, उसमें संशोधन कर सकता है या उसे निरस्त कर सकता है। ऐसी अपील का निपटारा यह न्यायाधिकरण अपील दाखिल किये जाने के अधिकतम 180 दिन के अन्तर्गत कर देगा अन्यथा लिखित में विलम्ब के कारण बताने होंगे।

अपीलीय न्यायाधिकरण का गठन केन्द्रीय सरकार करेगी। इसमें एक अध्यक्ष तथा सरकार द्वारा निर्धारित संख्या में सदस्य होंगे। अध्यक्ष की योग्यता उच्च न्यायालय के न्यायाधीश तथा सदस्यों की योग्यता जिला न्यायाधीश के समकक्ष होगी। अध्यक्ष तथा सदस्यों का कार्यकाल पाँच वर्ष होगा।

प्रवर्तन निदेशालय
(Directorate of Enforcement)

धारा 36 (i) के अनुसार केन्द्रीय सरकार एक प्रवर्तन निदेशालय की स्थापना करेगी जिसमें एक निदेशक तथा आवश्यकतानुसार अधिकारी नियुक्त होंगे जो इस अधिनियम के अन्तर्गत प्रवर्तन अधिकारी के नाम से जाने जायेंगे।

केन्द्रीय सरकार प्रवर्तन निदेशक या अतिरिक्त निदेशक या विशिष्ट या उप निदेशक को सहायक निदेशक के नीचे के पद वाले प्रवर्तन अधिकारी नियुक्त करने के लिए अधिकृत कर सकती है।

तलाशी व जब्ती के अधिकार (Power of search and seizure) – विदेशी मुद्रा विनिमय प्रबन्धन अधिनियम, 1999 की धारा 13 के उल्लंघन की जाँच का कार्य प्रवर्तन निदेशालय का निदेशक या अन्य कोई अधिकारी जो सहायक निदेशक के निचले पद वाला न हो, कर सकता है। इस तरह का अधिकार केन्द्रीय सरकार अधिसूचना जारी करके केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार रिजर्व बैंक के किसी भी ऐसे अधिकारी को दे सकती है जो सहायक सचिव (Under Secretary) के समकक्ष पद वाला हो। इस अधिनियम में तलाशी व जब्ती के अधिकार आयकर अधिनियम, 1961 वाले ही लागू होंगे। (धारा 37)

केन्द्रीय सरकार, आदेश द्वारा निर्धारित शर्तों व सीमाओं के साथ सटकर व केन्द्रीय उत्पाद कर विभाग के किसी अधिकारी किसी पुलिस अधिकारी अथवा अन्य किसी केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार के अधिकारी को प्रवर्तन निदेशालय सम्बन्धी निश्चित कर्तव्य व अधिकार सौंप सकती है (धारा 38)

NOTES

विविध प्रावधान
(Miscellaneous Provisions)

विदेशी मुद्रा विनिमय प्रबन्धन अधिनियम, 1999 की धाराओं 39 से 49 तक में विविध प्रावधान निम्नलिखित प्रकार से दिये गये है:-

(1) **अधिनियम के क्रियाशीलन पर रोक** - केन्द्रीय सरकार अधिनियम के द्वारा यदि सार्वजनिक हित में आवश्यक समझें तो अनिश्चित अवधि के लिये रोक लगा सकती है और प्रतिबन्ध या रोक हटाये जाने का आदेश दे सकती है। किन्तु अधिसूचना संसद के दोनों सदनों में प्रस्तुत किया जाना आवश्यक होगा।

(2) **केन्द्रीय सरकार का निर्देशन देने का अधिकार** - इस अधिनियम के उद्देश्य की पूर्ति के लिये रिजर्व बैंक को जैसा वह उचित समझे, समय समय पर सामान्य अथवा विशेष निर्देशन देने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को है।

(3) **कम्पनियों द्वारा उल्लंघन** - इस अधिनियम के प्रावधानों, किसी नियम, निर्देश, आदेश का उल्लंघन करने वाली कोई कम्पनी है तो प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो उल्लंघन के समय दोषी माना जायेगा उसके विरुद्ध दण्डात्मक कार्यवाही की जा सकेगी। कम्पनी के निर्देशक, प्रबन्धक, सचिव या अन्य प्राधिकारी दोषी होने पर दण्ड में भागी होंगे।

(4) **कुछ मामलों के अन्तर्गत मृत्यु या दिवालिया** - यदि कोई अधिकार, दायित्व, उत्तरदायित्व हो तो वह सम्बन्धित व्यक्ति की मृत्यु अथवा दिवालिया हो जाने पर समाप्त नहीं होते। बल्कि मृतक अथवा दिवालिया व्यक्ति के वैधानिक उत्तराधिकारी व्यक्ति उत्तरदायी होंगे।

(5) **वैधानिक कार्यवाहियों को रोकना** - इस अधिनियम के अन्तर्गत प्राप्त अधिकारों का प्रयोग करते समय केन्द्रीय सरकार या रिजर्व बैंक वैधानिक कार्यवाहियों के विरुद्ध रोक लगा सकती है।

(6) **कठिनाइयों का हटाया जाना** - अधिनियम के प्रभावी बनाने में यदि किसी प्रकार की कठिनाईयां आती है तो केन्द्रीय सरकार आदेश से इन कठिनाइयों को हटा सकती है।

(7) **नियमों को बनाने का अधिकार** - केन्द्रीय सरकार अधिसूचना द्वारा इस अधिनियम के प्रावधानों के प्रचलन हेतु नियमों को बना सकती है।

(8) **रिजर्व बैंक को अधिकार** - रिजर्व बैंक अधिसूचना द्वारा इन अधिनियमों के प्रावधानों को प्रभावशाली बनाने के लिये नियमन तथा नियमों को बना सकता है।

(9) **संसद के सम्मुख प्रस्तुत नियम एवं नियमन** - इस अधिनियम के अधीन निर्मित प्रत्येक नियम एवं नियमन संसद के दोनों सदनों के समक्ष रखना आवश्यक होता है। यदि दोनों सदन सहमत नहीं होते है तो नियम एवं नियमन लागू नहीं किये जाते है।

(10) **निरस्त तथा बचाव खण्ड** - जब तक कि अधिनियम में इसके विरुद्ध कोई अन्य बात न हो, कोई भी न्यायालय तथा अधिनिर्णायक अधिकारी धारा 51 के अन्तर्गत समाप्त हुये अधिनियम के अधीन अपराध एवं उल्लंघन पर इस अधिनियम के लागू होने के दो वर्ष के पश्चात विचार नहीं करेगा।

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

1. विदेशी मुद्रा विनिमय प्रबन्धन अधिनियम, 1999 के अन्तर्गत विदेशी मुद्रा के नियमन तथा प्रबन्ध सम्बन्धी प्रावधानों को समझाइये।
2. अधिकृत व्यक्ति क्या है ? रिजर्व बैंक को ऐसे अधिकृत व्यक्ति के सम्बन्ध में क्या अधिकार प्राप्त हैं ?
3. विदेशी मुद्रा विनिमय प्रबन्धन अधिनियम 1999 का उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध दण्ड की क्या व्यवस्था की गई है ?
4. विदेशी मुद्रा विनिमय प्रबन्धन अधिनियम, 1999 के अन्तर्गत अधिनिर्णय तथा अपील सम्बन्धी प्रावधानों को स्पष्ट कीजिये।
5. प्रवर्तन निदेशालय के गठन एवं अधिकारों सम्बन्धी प्रावधानों को बताइये।
6. विदेशी मुद्रा विनिमय प्रबन्धन अधिनियम, 1999 के सन्दर्भ में निम्न शब्दावली की व्याख्या कीजिए-
   (i) व्यक्ति, (ii) भारत में निवासी व्यक्ति,
   (iii) विदेशी मुद्रा विनिमय।

13

NOTES

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986
[CONSUMER PROTECTION ACT, 1986]

आजकल सभी स्तरों पर व्यावसायियों में एवं उपभोक्ताओं में अपने अपने उत्तरदायित्वों के प्रति चेतना जागृत करने के प्रयास किये जा रहे हैं। इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए भारत में उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 प्रभावशील है। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य उपभोक्ताओं के हितों की श्रेष्ठ ढंग से रक्षा करना तथा इस उद्देश्य के लिये उपभोक्ता विवादों तथा अन्य सम्बन्धित मामलों का निपटारा करने के लिये उपभोक्ता परिषदों एवं अन्य संस्थाओं की स्थापना करना है।

प्रमुख विशेषताएँ
(Main Features)

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :-

(1) **नाम** – यह अधिनियम उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 के नाम से जाना जाता है तथा इसमें कुल मिलाकर 31 धाराएँ हैं।

(2) **अतिरिक्त अधिनियम** – यह अधिनियम उपभोक्ता संरक्षण के क्षेत्र में वर्तमान में भारत में लागू एकाधिकार एवं प्रतिबन्धित व्यापार व्यवहार अधिनियम के अतिरिक्त है।

(3) **संस्थागत ढाँचा** – इस अधिनियम के अन्तर्गत उपभोक्ता संरक्षण आन्दोलन को गति प्रदान करने के लिए उपभोक्ता संरक्षण परिषद तथा उपभोक्ता परिवादों के निपटारे के लिए एक अर्द्ध-न्यायिक तंत्र की व्यवस्था की गई है।

(4) **क्षेत्र** – यह अधिनियम जम्मू-कश्मीर राज्य को छोड़कर सम्पूर्ण भारत पर लागू है।

(5) **वस्तु और सेवाएँ** – यह अधिनियम सभी वस्तुओं और सेवाओं पर केवल उन्हें छोड़कर, जिन्हें सरकार ने अधिसूचना द्वारा छूट प्रदान कर दी है, लागू होता है।

अधिनियम के उद्देश्य
(Objects of the Act)

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 में निम्न उद्देश्य उल्लेखित हैं :-

(1) उपभोक्ताओं के हितों को श्रेष्ठ संरक्षण प्रदान करना।

(2) उद्देश्यों का संवर्द्धन एवं संरक्षण केन्द्र तथा राज्य स्तर पर स्थापित व्यवसाय संरक्षण परिषदों द्वारा करना।

(3) उपभोक्ता विवादों का शीघ्रता से निपटारा करने के लिए अर्द्ध सरकारी न्यायिक व्यवस्था की स्थापना करना।

(4) उपभोक्ताओं के अधिकारों का संवर्द्धन एवं संरक्षण करना।

(5) उपभोक्ताओं के हितों पर समुचित ध्यान देना।

आवश्यक परिभाषाएँ
(Necessary Definitions)

1. **उपभोक्ता** (Consumer) – 'उपभोक्ता' से आशय ऐसे व्यक्ति से है जो किसी ऐसे प्रतिफल के लिए जिसका भुगतान किया गया है या वचन दिया गया है या किसी आस्थगित भुगतान पद्धति के अधीन माल का क्रय करता है और प्रयोग करता है परन्तु इसमें पुनः विक्रय नहीं आता है। माल की तरह सेवाओं को भाड़े पर लेना और उनका उपयोग करने वाला भी उपभोक्ता ही कहलाता है।

2. **निर्माता** (Manufacturer) 'निर्माता' से आशय ऐसे व्यक्ति से है जो

(i) किसी माल या उसके भाग को बनाता है या निर्माण करता है, या

(ii) अन्य व्यक्तियों द्वारा बनाये गये हिस्सों या पुर्जों को संयोजन करता है, या

(iii) किसी अन्य निर्माता द्वारा बनाये गये माल पर अपना स्वयं का चिह्न लगाता है और यह दावा करता है कि वह उसके द्वारा निर्मित माल है।

3. **दावा** (Suit) इस अधिनियम के अन्तर्गत हर्जाना प्राप्त करने के उद्देश्य से वादी द्वारा लिखित में दिया गया ऐसा कथन जिससे प्रकट हो –

(i) वादी द्वारा खरीदी गई किसी वस्तु में एक या अधिक त्रुटियाँ।

(ii) किसी व्यापारी द्वारा किया गया अनुचित या अवरोधक व्यापार व्यवहार।

(iii) ऐसा माल, जिसकी प्रयोग विधि या प्रभाव का प्रदर्शन किया जाना कानूनन आवश्यक है अन्यथा वह जीवन की सुरक्षा को खतरा पैदा कर सकता है तथा ऐसा माल व्यापारी द्वारा जन-सामान्य के विक्रय हेतु रखा जाना।

(iv) व्यापारी द्वारा परिवाद में वर्णित माल का मूल्य पैकेज पर प्रदर्शित मूल्य या किसी कानून द्वारा नियत मूल्य से अधिक लेना।

(v) वादी द्वारा भाड़े पर ली गई सेवा या (सेवा सम्बन्धी अनुबन्ध) में किसी प्रकार की कोई कमी।

4. **व्यापारी** (Trader) – किसी माल के सम्बन्ध में 'व्यापारी' से आशय ऐसे व्यक्ति से है जो विक्रय के उद्देश्यों से माल को विक्रय करता है तथा उसका वितरण करता है।

5. **अनुचित व्यापार व्यवहार** (Unfair Trade Practices) – 'अनुचित व्यापार व्यवहार' से आशय ऐसे व्यवहार से है, जिनके द्वारा किसी वस्तु का विक्रय, उपभोग या आपूर्ति प्रोत्साहित करने के लिये या सेवाओं की व्यवस्था करने के लिए अनुचित तरीके अथवा छल कपटपूर्ण व्यवहार का उपयोग किया जाता है।

6. **दोष** (Defect) – 'दोष' से आशय किसी माल की किस्म, मात्रा, सामर्थ्य, शुद्धता अथवा प्रमाप जिसे उस समय प्रचलित किसी विधान के अधीन व्यापारी द्वारा, किसी भी प्रकार से माल के सम्बन्ध में बनाये रखना आवश्यक हो, में किसी त्रुटि अथवा कमी से है।

7. **निर्धारित** (Prescribed) – 'निर्धारित' से आशय इस अधिनियम के अन्तर्गत राज्य सरकार या केन्द्र सरकार द्वारा निर्धारित नियमों से है।

8. **अधिसूचना** (Notification) – 'अधिसूचना' से आशय राजपत्र में प्रकाशित किसी अधिसूचना से है।

उपभोक्ता संरक्षण परिषदें
(Consumer Protection Councils)

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 में उपभोक्ता अधिकारों में वृद्धि एवं संरक्षण हेतु केन्द्रीय तथा राज्य स्तर पर उपभोक्ता संरक्षण परिषदें गठित करने की निम्न व्यवस्था की गई है–

(1) **केन्द्रीय उपभोक्ता संरक्षण परिषद्** – केन्द्रीय सरकार एक अधिसूचना द्वारा केन्द्रीय उपभोक्ता संरक्षण परिषद् के रूप में एक परिषद् का गठन कर सकती है जिसमें निम्न सदस्य होंगे–

(i) केन्द्रीय सरकार के उपभोक्ता कार्य का भारसाधक मंत्री जो इसका अध्यक्ष होगा।

(ii) उपभोक्ता हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले अन्य सरकारी या गैर-सरकारी सदस्य एक निर्धारित संख्या में। (धारा 4)

केन्द्रीय परिषद् के उद्देश्य केन्द्रीय परिषद् का उद्देश्य उपभोक्ता के अधिकारों का संवर्द्धन और संरक्षण करना होगा, जैसे –

(अ) जीवन और सम्पत्ति को हानि पहुँचाने वाले माल के विक्रय के विरुद्ध संरक्षण का अधिकार,

(ब) माल का गुण, मात्रा, शक्ति, शुद्धता, मानक और मूल्य के बारे में सूचित किये जाने का अधिकार,

(स) जहाँ भी सम्भव हो वहाँ प्रतिस्पर्धी मूल्यों पर विभिन्न किस्मों का माल और सेवाएँ उपलब्ध कराने में आश्वासन दिये जाने का अधिकार;

(द) उपभोक्ताओं के हितों पर समुचित पीठों में सही रूप से विचार करने और उन्हें सुने जाने का अधिकार;

(य) उपभोक्ताओं के शोषण के विरुद्ध हर्जाना प्राप्त करने का अधिकार, तथा

(र) उपभोक्ता शिक्षा का अधिकार। (धारा 6)

(2) **राज्य उपभोक्ता संरक्षण परिषद्** – राज्य सरकार अधिसूचना द्वारा उपभोक्ता संरक्षण परिषद् के रूप में एक परिषद् का गठन कर सकेगी जिसमें निम्न सदस्य होंगे –

(अ) राज्य सरकार में उपभोक्ता कार्य विभाग के प्रभारी मंत्री इसके अध्यक्ष होंगे, तथा

(ब) उपभोक्ता हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले अन्य सरकारी और गैर-सरकारी व्यक्ति एक निर्धारित संख्या में इसके सदस्य होंगे। (धारा 7)

NOTES

राज्य परिषद् राज्य के भीतर उपभोक्ता के लिए उन अधिकारों को प्राप्त कराने में मदद करेगी जो केन्द्रीय परिषद् के उद्देश्यों में वर्णित किये गये हैं।

अधिनियम में यह भी व्यवस्था की गई है कि वर्ष में केन्द्रीय परिषद् कम से कम एक तथा राज्य परिषद् कम से कम दो बैठकें ऐसे समय व स्थान पर आयोजित करेंगी जो सम्बन्धित अध्यक्ष उचित समझे।

उपभोक्ता विवाद प्रतितोषण अभिकरण
(Consumer Disputes Redressal Agencies)

उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 की धारा 9 से 26 तक में उपभोक्ता विवादों के निपटारे तथा पीड़ित उपभोक्ता को उचित हर्जाना दिलवाने सम्बन्धी प्रावधान किये गये हैं जिनके अन्तर्गत एक न्यायिक तन्त्र के रूप में उपभोक्ता विवाद प्रतितोषण अभिकरण की स्थापना की जायेगी तथा इस अभिकरण के निम्नलिखित प्रमुख अंग होते हैं :-

(1) जिला पीठ या फोरम (धाराएँ 10-15)

(2) राज्य आयोग (धाराएँ 16-19)

(3) राष्ट्रीय आयोग (धाराएँ 20-23)

(1) जिला पीठ या जिला फोरम

राज्य सरकार 'जिला पीठ' के रूप में एक उपभोक्ता विवाद प्रतितोषण पीठ की स्थापना, अधिसूचना द्वारा राज्य के प्रत्येक जिले में करेगी। यदि आवश्यक हो तो एक जिले में एक से अधिक 'जिला पीठ' भी स्थापित की जा सकती है।

संरचना – प्रत्येक जिला पीठ में एक अध्यक्ष तथा दो अन्य सदस्य होंगे जिनमें एक सदस्य महिला होगी। अध्यक्ष ऐसा होगा जो जिला न्यायाधीश है या रह चुका है या होने के लिए योग्यता रखता है। सदस्य ऐसे व्यक्ति होंगे जो आर्थिक, विधि, वाणिज्य लेखा, उद्योग, लोक कार्य या प्रशासन से सम्बन्धित ज्ञान और अनुभव रखते हों। ये नियुक्तियाँ राज्य सरकार द्वारा एक ऐसी चयन समिति की सिफारिश पर की जायेंगी। चयन समिति में राज्य आयोग का अध्यक्ष, राज्य के विधि विभाग तथा उपभोक्ता कार्य विभाग के सचिव होंगे। जिला पीठ के प्रत्येक सदस्य का कार्यकाल पाँच वर्ष या 65 वर्ष की आयु जो पहले तक रहेगा और वह पुनर्नियुक्ति के लिए पात्र नहीं होगा। इन सदस्यों को राज्य सरकार द्वारा निर्धारित मानदेय और अन्य भत्ते देय होंगे।

अधिकार – जिला पीठ को ऐसे परिवादों को ग्रहण करने या सुनने का अधिकार होगा जहाँ माल या सेवा का मूल्य और दावा पाँच रुपये से अधिक न हो। परिवाद उस जिला पीठ में दाखिल किया जायेगा जिसके अधिकारों की स्थानीय सीमाओं के भीतर विरोधी पक्षकार (विक्रेता) निवास करता है या कारोबार करता है या शाखा कार्यालय रखता है।

परिवाद प्रस्तुतीकरण – विक्रित माल या भाड़े पर ली गई सेवा के सम्बन्ध में उपभोक्ता निम्न रूप में परिवाद को जिला पीठ के सम्मुख प्रस्तुत कर सकता है –

(i) उस उपभोक्ता द्वारा जिसको ऐसा माल विक्रय किया गया है या विक्रय अनुबन्ध किया गया है;

(ii) किसी भी मान्यता प्राप्त उपभोक्ता संघ द्वारा चाहे पीड़ित उपभोक्ता उस संघ का सदस्य है या नहीं;

(iii) समान हित वाले बहुत से उपभोक्ताओं की ओर से पीठ की अनुमति से उनमें से एक या अधिक उपभोक्ताओं द्वारा, या

(iv) केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार द्वारा।

परिवादों के प्राप्त होने पर प्रक्रिया – जिला पीठ, किसी परिवाद की प्राप्ति पर निम्न कदम उठायेगा –

(i) परिवाद की एक प्रति विरोधी पक्षकार को इस निर्देश के साथ भेजेगा कि वह तीस दिन के भीतर अथवा पीठ द्वारा 15 दिन बढ़ाई गई अवधि के भीतर मामले के बारे में अपना स्पष्टीकरण दे।

(ii) जहाँ परिवादी ने माल में किसी ऐसी त्रुटि या कमी का जिक्र किया है जिसका पता माल के परीक्षण कराये बिना नहीं लगाया जा सकता तो वहाँ जिला पीठ परिवादी से माल का नमूना प्राप्त करेगा, उसे सीलबन्द करेगा तथा समुचित प्रयोगशाला को परीक्षण हेतु इस निर्देश के साथ भेजेगा कि इसकी रिपोर्ट 45 दिन के अन्दर जिला पीठ को प्रेषित कर दी जाये।

NOTES

(iii) प्रयोगशाला से प्राप्त रिपोर्ट की एक प्रति अपनी टिप्पणी सहित जिला पीठ विरोधी पक्षकार को भेजेगी। यदि विरोधी पक्षकार प्रयोगशाला के औचित्य पर प्रश्न उठाता है तो जिला पीठ उसकी सुनवाई करेगी।

(iv) यदि विरोधी पक्षकार उसको भेजी गई परिवाद की प्रति की प्राप्ति कर उपभोक्ता द्वारा की गई शिकायत से इन्कार करता है या उसका प्रतिवाद करता है या पीठ द्वारा दिये गये समय के अन्दर कोई जवाब नहीं देता है तो जिला पीठ उपभोक्ता अथवा विरोधी पक्षकार द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य के आधार पर उपभोक्ता का निपटारा करेगा।

शक्तियाँ – जिला पीठ की शक्तियाँ उपभोक्ता विवादों को निपटारे के लिए एक सिविल न्यायालय के समान होंगी। वह प्रतिवादी या साक्षी को हाजिर होने, शपथ लेने के निर्देश दे सकता है। जिला पीठ के समक्ष प्रत्येक कार्यवाही भारतीय दण्ड संहिता की धारा 193 और 221 के अर्थ में न्यायिक कार्यवाही समझी जायेगी और जिला पीठ सिविल न्यायालय समझा जायेगा।

निर्णय – यदि उपर्युक्त कार्यवाही के पश्चात् जिला पीठ इस बात से सन्तुष्ट हो जाता है कि माल या सेवाओं में कोई कमी या त्रुटि है तो वह विरोधी पक्षकार को निम्न आदेश दे सकती है–

(i) माल सम्बन्धी त्रुटि की दशा में

(क) प्रश्नगत माल में से समुचित प्रयोगशाला द्वारा प्रकट की गई त्रुटि को दूर करना;

(ख) माल को उसी प्रकार के नये और त्रुटिहीन माल से बदलना;

(ग) उपभोक्ता द्वारा विक्रेता को अदा की गई कीमत या धनराशि को उपभोक्ता को लौटाना; तथा

(घ) उपभोक्ता (परिवादी) को हुई हानि की क्षतिपूर्ति करना।

(ii) सेवा सम्बन्धी त्रुटियों या कमियों की दशा में –

(क) अनुचित/अवरोधक व्यापार व्यवहार को बन्द कर देने तथा दुबारा न करने के लिए,

(ख) जीवन के लिए संकटमय वस्तुओं की बिक्री रोक देने के लिए;

(ग) विक्रय हेतु भेजी गई संकटमय वस्तुओं को वापस मँगा लेने के लिए; तथा

(घ) पक्षकारों को उचित कीमत प्रदान करने के लिए।

अपील – जिला पीठ के आदेश से पीड़ित पक्षकार आदेश की तारीख से तीस दिन के भीतर एक निर्धारित प्रारूप में राज्य आयोग को अपील कर सकेगा। राज्य आयोग, तीस दिन की अवधि की समाप्ति पर भी, यदि उचित कारण है, तो अपील स्वीकार कर सकता है।

(2) राज्य आयोग

(i) संरचना – प्रत्येक राज्य में एक राज्य आयोग का गठन किया जायेगा जिसमें –

(क) एक ऐसा व्यक्ति जो किसी, उच्च न्यायालय का न्यायाधीश है या रह चुका है, इसका अध्यक्ष होगा। अध्यक्ष की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा राज्य के मुख्य न्यायाधीश के परामर्श से की जायेगी।

(ख) दो अन्य सदस्य होंगे, जो योग्य, सत्यनिष्ठा और प्रतिष्ठा पाने वाले व्यक्ति हों और जिन्हें अर्थशास्त्र, विधि, वाणिज्य, लेखाकर्म, उद्योग, लोक कार्य या प्रशासन का पर्याप्त ज्ञान या अनुभव हो। इन सदस्यों में एक सदस्य महिला होगी। ये नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा एक निर्धारित चयन समिति के परामर्श से की जायेगी। चयन समिति में राज्य आयोग का अध्यक्ष, राज्य सरकार के विधि विभाग का सचिव तथा राज्य सरकार के उपभोक्ता कार्य विभाग का प्रभारी सचिव होगा।

(ii) वेतन व कार्य-काल – राज्य आयोग के सदस्यों को देय वेतन या मानदेय और अन्य भत्ते तथा उनकी सेवा शर्तें वे होंगी जो सरकार द्वारा निर्धारित की जायें। राज्य आयोग के सदस्यों का कार्य-काल पांच वर्ष या 65 वर्ष की आयु जो भी पहले हो, तक होगा और उनकी पुनर्नियुक्ति नहीं होगी।

(iii) अधिकार – इस अधिनियम के प्रावधानों के अधीन राज्य आयोग को निम्न अधिकार होंगे –

(अ) ऐसे परिवादों को सुनवाई हेतु स्वीकार करना जहाँ माल और सेवाओं का मूल्य दावा प्रतिकर सहित पाँच लाख रुपये से अधिक परन्तु बीस लाख रुपये से अधिक नहीं है,

(ब) इस राज्य के भीतर किसी जिला पीठ के उदेश्यों के विरुद्ध अपील स्वीकार करना, तथा

(स) जहाँ राज्य आयोग को यह प्रतीत हो कि किसी जिला पीठ ने ऐसे किसी अधिकार का प्रयोग किया है जो कानून उसमें निहित नहीं है या जिला पीठ ने अपने अधिकार का प्रयोग अवैध व अनियमित रूप में किया है तो सम्बन्धित अभिलेखों को मँगाना और उचित आदेश पारित करना।

जो जिला पीठ पर लागू होते हैं। राज्य आयोग इस प्रक्रिया में थोड़ा बहुत संशोधन कर सकता है।

(v) **अपील** – राज्य आयोग द्वारा किये गये किसी आदेश से पीड़ित पक्षकार, आदेश की तारीख से 30 दिन के अन्दर निर्धारित प्रारूप तथा विधि से राष्ट्रीय आयोग को अपील कर सकता है :

परन्तु राष्ट्रीय आयोग, यदि पर्याप्त कारण विद्यमान हों, तो उक्त अवधि की समाप्ति के पश्चात् भी अपील ग्रहण कर सकता है।

NOTES

(3) राष्ट्रीय आयोग

(i) **संरचना** राष्ट्रीय आयोग में निम्न व्यक्ति होंगे –

(अ) एक ऐसा व्यक्ति जो उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश है या रह चुका है, इसका अध्यक्ष होगा। इसकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करेगी।

(ब) चार अन्य सदस्य जो योग्यता, सत्यनिष्ठा और प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति होंगे और जिनको अर्थशास्त्र विधि, वाणिज्य, लेखाकर्म, उद्योग, लोक कार्य या प्रशासन का पर्याप्त ज्ञान व अनुभव होगा। इन सदस्यों में एक महिला होगी। इन सदस्यों की नियुक्ति एक चयन समिति की सिफारिश पर केन्द्रीय सरकार द्वारा की जायेगी।

चयन समिति तीन व्यक्तियों की होगी जिनमें भारत के मुख्य न्यायाधीश द्वारा नामित उच्चतम न्यायालय का कोई न्यायाधीश भारत सरकार के विधिक कार्य विभाग का सचिव तथा भारत सरकार के उपभोक्ता कार्यों का निष्पादन करने वाले विभाग का सचिव, सम्मिलित होंगे।

(ii) **वेतन व कार्य-काल** – राष्ट्रीय आयोग के सदस्यों को देय वेतन या मानदेय और अन्य भत्ते तथा उनकी सेवा की अन्य शर्तें केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित होंगी। राष्ट्रीय आयोग का प्रत्येक सदस्य पाँच वर्ष की अवधि के लिए या 70 वर्ष की आयु जो पहले हो, तक पदासीन रहेगा और पुनर्नियुक्ति नहीं की जा सकेगी।

(iii) **अधिकार** – इस अधिनियम के प्रावधानों के अन्तर्गत राष्ट्रीय आयोग को निम्न अधिकार होंगे–

(अ) ऐसे परिवादों को सुनवाई के लिए ग्रहण करना जहाँ माल या सेवाओं का मूल्य अथवा दावा 20 लाख रुपये से अधिक है।

(ब) किसी राज्य आयोग के आदेशों के विरुद्ध अपील ग्रहण करना।

(स) जहाँ राष्ट्रीय आयोग को यह प्रतीत हो कि राज्य आयोग ने ऐसे किसी अधिकार का प्रयोग किया है जो कानून उसमें निहित नहीं है या अपने अधिकारों का अवैध व अनियमित प्रयोग किया है तो सम्बन्धित अभिलेखों को मँगाकर समुचित आदेश पारित करना।

(iv) **प्रक्रिया** – परिवादों के निपटारे हेतु राष्ट्रीय आयोग के लिए भी वही प्रक्रिया निर्धारित की गई है जो जिला पीठ तथा राज्य आयोग के लिए निर्दिष्ट है। वैसे राष्ट्रीय आयोग ऐसी प्रक्रिया का पालन करने के लिए बाध्य है जो केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित की जाये।

(v) **अपील** – राष्ट्रीय आयोग के आदेश से पीड़ित व्यक्ति आदेश की तारीख से 30 दिन के भीतर उस आदेश के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील कर सकता है। उच्चतम न्यायालय उक्त तीस दिन की समाप्ति के पश्चात् भी अपील स्वीकार कर सकता है। यदि उक्त अवधि में अपील फाइल न कर पाने के पर्याप्त कारण विद्यमान हैं।

अन्य प्रावधान

(1) **आदेशों का प्रवर्तन** – जिला पीठ, राज्य आयोग या राष्ट्रीय आयोग द्वारा किये गये प्रत्येक आदेश का प्रवर्तन उसी भाँति कराया जायेगा जैसे कि वह किसी न्यायालय द्वारा पारित की गई कोई डिक्री या आदेश हो और इसके निष्पादित करने में पक्षकार की असमर्थता की दशा में इसका परिपालन करवाने हेतु उस न्यायालय में भेजा जायेगा जिसकी सीमाओं में आरोपी पक्षकार आता है अर्थात् :

(अ) किसी कम्पनी के विरुद्ध आदेश की दशा में उस कम्पनी के पंजीकृत कार्यालय का स्थान या शहर।

(ब) किसी अन्य व्यक्ति की दशा में वह स्थान जहाँ सम्बन्धित व्यक्ति स्वेच्छा से निवास करता है या कारोबार करता है। (धारा 25)

(2) **व्यर्थ परिवादों का रद्द किया जाना** – जहाँ जिला पीठ, राज्य आयोग या राष्ट्रीय आयोग यह पाता है कि परिवाद व्यर्थ है तो वह उसे निरस्त कर सकता है तथा परिवादी को आदेश दे सकता है कि वह विरोधी पक्षकार को कोई जो दस हजार रुपये से अधिक न होगी, अदा करे। इससे व्यर्थ परिवादों पर अंकुश लगेगा। (धारा 26)

(3) शास्तियाँ – यदि कोई व्यापारी या ऐसा व्यक्ति जिसके विरुद्ध परिवाद किया गया है या परिवादी जिला पीठ राज्य आयोग या राष्ट्रीय आयोग के किसी आदेश का अनुपालन नहीं करता तो वह एक माह से तीन वर्ष तक की सज अथवा 2000 रु. से 10,000 रु. तक के दण्ड अथवा दोनों से दण्डनीय होगा। **(धारा 27)**

उपभोक्ता के सामान्य अधिकार
(General Rights of Consumer)

उपभोक्ता को विभिन्न अधिकार प्राप्त हैं। इस दृष्टि से अमेरिका के उपभोक्ताओं को अन्य देशों की तुलना में सबसे अधिक व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। थोड़ा-सा भी उनके उपभोक्ता का हनन होने पर वह तुरन्त न्यायालय की शरण ले सकते हैं। अतएव वहाँ के उपभोक्ता अपने अधिकारों के प्रति सबसे अधिक जागरूक हैं। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति जॉन एफ. कैनेडी व जॉनसन पहले व्यक्ति थे जिन्होंने उपभोक्ता के अधिकारों को सूचीबद्ध किया। उन्होंने उपभोक्ता के निम्न चार अधिकारों का उल्लेख किया :-

(1) सुरक्षा का अधिकार, (2) चुनाव या पसन्द का अधिकार,

(3) जानने का अधिकार, तथा (4) सुनवाई का अधिकार।

बाद में इन अधिकारों में एक और अर्थात् **पाँचवां अधिकार** जोड़ा गया जो '**मूल्य के अधिकार**' के नाम से जाना जाता है। इन्हीं पाँचों अधिकारों को बाद में अमेरिका के 'उपभोक्ता अधिनियम' में जोड़ा गया।

'उपभोक्ता संघों के अंतर्राष्ट्रीय संगठन' (IOCU) ने इन अधिकारों की सूची में तीन अधिकार और जोड़े हैं। वे हैं :

(i) उपचार का अधिकार, (ii) उपभोक्ता शिक्षा का अधिकार,

(iii) स्वस्थ वातावरण का अधिकार।

इस प्रकार अब अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उपभोक्ता के आठ अधिकार माने जाते हैं। भारत के **उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 की प्रारंभिक टिप्पणी** तथा इस अधिनियम की धारा 6 में उपभोक्ता के अधिकारों का उल्लेख किया गया है। इन अधिकारों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्य आठ अधिकारों में से सात अधिकार सम्मिलित हैं। आठवाँ अधिकार 'पर्यावरण का अधिकार' हमारे देश के अधिनियम में अभी तक सम्मिलित नहीं है। किन्तु हम यहाँ उपभोक्ता के सभी आठों अधिकारों का वर्णन कर रहे हैं :

1. **सुरक्षा का अधिकार** (The Right to Safety)- सुरक्षा के अधिकार से आशय ऐसे अधिकार से है जो उपभोक्ता को समस्त ऐसी वस्तुओं के विपणन के लिए सुरक्षा प्रदान करने में सहायक है जो कि उसके स्वास्थ्य एवं जीवन के लिए खतरनाक अथवा हानिकारक सिद्ध हो सकती हैं, जैसे - वस्तुओं में मिलावट एवं खतरनाक रसायन आदि। अमेरिका में उपभोग की वस्तुओं में मिलावट करने वालों को बड़ी सख्त सजा दी जाती है। वहाँ पर यह एक ऐसा गम्भीर अपराध माना जाता है जिसके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का समझौता मान्य नहीं होता है। यदि अपराध किया है तो सजा तो मिलेगी ही।

2. **चयन या पसन्द करने का अधिकार** (The Right to a Choice)- चयन के उपभोक्ता के अधिकार से आशय उपभोक्ता के ऐसे अधिकार से है जिसके अन्तर्गत वह विभिन्न वस्तुओं एवं सेवाओं में से अपनी इच्छा एवं आवश्यकताओं के अनुरूप उपयुक्त वस्तु अथवा सेवा का चयन करने के लिए स्वतन्त्र है। उसे अमुक वस्तु अथवा सेवा ही क्रय करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। यह अधिकार उपभोक्ता को उपयुक्त वस्तुएँ अथवा सेवाएँ प्रतियोगी मूल्यों पर प्राप्त करने में सहायता करने के साथ-साथ यह भी विश्वास दिलाता है कि उसे सन्तोषप्रद किस्म एवं सेवा ठीक मूल्य पर प्राप्त होगी।

3. **सूचना प्राप्त करने का अधिकार** (The Right to be Informed)- इस अधिकार के अन्तर्गत किसी वस्तु अथवा सेवा क्रय करने से पूर्व उपभोक्ता उसके सम्बन्ध में आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त कर सकता है, जैसे - वस्तु की किस्म, स्तर, मूल्य, उपयोग, वजन, नाप-तौल आदि। सूचना प्राप्त करने का उपभोक्ता का अधिकार उसे कपट, मिथ्याकथन एवं भ्रामक सूचनाओं, झूठे एवं मिथ्या विज्ञापनों एवं अन्य असमान व्यवहारों के प्रति सुरक्षा प्रदान करने से सम्बन्धित है।

4. **सुने जाने का अधिकार** (The Right to be Heard)- उपभोक्ता का यह अधिकार उसकी परिवेदनाओं तथा उसकी सुरक्षा एवं हितों के संरक्षण से सम्बन्धित विचारों को सुने जाने से सम्बन्धित है। इसके साथ ही उसका यह अधिकार उन्हें विश्वास दिलाता है कि इस सम्बन्ध में राजकीय नीतियों के निर्धारण में उपभोक्ताओं के संरक्षण सम्बन्धी हितों एवं विचारों का पूर्ण ध्यान रखा जायेगा।

5. **उपचार का अधिकार** (The Right to be Redressed)- उपभोक्ता का यह अधिकार उसे अपनी परिवेदनाओं एवं शिकायतों का उचित एवं न्यायपूर्ण उपचार अथवा समाधान प्रदान करता है। इस अधिकार के अन्तर्गत

अथवा अनुचित एवं अनैतिक शोषण से मुक्ति मिल सकती है।

NOTES

6. **उपभोक्ता शिक्षा का अधिकार** (The Right to Consumer Education)- यह अधिकार उपभोक्ता को शोषण से मुक्ति दिलाने तथा हितों की रक्षा हेतु शिक्षा प्राप्त करने से सम्बन्धित है। उदाहरण के लिए, जीरा, धनिया, मिर्च आदि मसालों में मिलावट की जाँच कैसे करें? कम नाप-तौल की पकड़ कैसे करें? इत्यादि के सम्बन्ध में यह शिक्षा उपभोक्ताओं को सरकारी तथा गैर-सरकारी प्रचार माध्यमों द्वारा दी जा सकती है।

7. **मूल्य अथवा प्रतिफल का अधिकार** (The Right to Value of Consideration)- उपभोक्ता का यह अधिकार उसे उसके द्वारा चुकाये गये धन वस्तु विक्रय के दौरान अथवा विज्ञापन में किये गये वायदों एवं जगाई गई आशाओं को पूरा करने का अधिकार प्रदान करता है।

8. **स्वस्थ या स्वच्छ वातावरण का अधिकार** (The Right to Healthy Environment)- उपभोक्ताओं को भौतिक स्वच्छ वातावरण प्राप्त करने के अधिकार को स्वच्छ वातावरण का अधिकार कहते हैं। उदाहरण के लिए, विभिन्न प्रकार के प्रदूषणों (जैसे - वायु प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण, जल प्रदूषण आदि) एवं उनके दुष्प्रभावों की रोकथाम सम्बन्धी अधिकार। आजकल उपभोक्ताओं के इस अधिकार की सुरक्षा के लिए राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न कदमों के उठाये जाने पर विशेष बल दिया जा रहा है।

भारत में उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की आवश्यकता अथवा महत्व
(Need or Importance of Consumers Protection Act in India)

यदि देखा जाये तो उपभोक्ताओं के लिए उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की आवश्यकता उस समय अनुभव हुई, जबकि एक ओर तो उपभोक्ताओं को सही मूल्य पर सही मात्रा में, सही किस्म की एवं सही समय पर सही वस्तुएँ अथवा सेवाएँ उपलब्ध होने में कठिनाई होने लगी तथा दूसरी ओर उत्पादक एवं वितरण श्रृंखलाओं की उत्पाद के विषय में भ्रामक सूचनाओं तथा विभिन्न प्रकार से उपभोक्ताओं को ठगे जाने की विधियों द्वारा उपभोक्ताओं के शोषण करने की प्रवृत्ति में वृद्धि होने लगी। अतएव उपभोक्ताओं ने उपरोक्त शोषण से बचने के लिए उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की माँग की।

जहाँ तक भारत में उपभोक्ताओं के संरक्षण हेतु उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की आवश्यकता अथवा महत्ता का प्रश्न है तो भारतीय उपभोक्ता की बढ़ती क्रय क्षमता का ही परिणाम है कि उपभोक्ता वस्तु का उपयोग करने वाले देशों की बिरादरी में आज भारत का अमरीका के बाद दूसरा स्थान है। जिस गति से भारतीय उपभोक्ता बाजार दुनिया का सबसे बड़ा उपभोक्ता बाजार की स्थिति प्राप्त करने जा रहा है, उस अनुपात में उपभोक्ताओं को प्राप्त सुविधाएँ नगण्य हैं। अमरीका में उपभोक्ता की हर तकलीफ का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है। उन्हें हर प्रकार की सुविधाएँ दी जाती हैं। अधिक उत्पादन एवं उचित वितरण ही वहाँ के जन जीवन की धुरी है। व्यापारी के हर योग्य उत्पादन को उपभोक्ता एवं उपभोक्ता को प्रत्येक उचित वस्तु किफायती दामों पर मिल सके इस बात का पर्याप्त ध्यान दिया जाता है।

भारत एक विशाल देश है जिसका जनसंख्या की दृष्टि से चीन के बाद दूसरा स्थान है हमारे देश की जनसंख्या मई, 2000 में 100 करोड़ के अंक को पार कर गयी। भारत के अधिकांश उपभोक्ता गरीब, असहाय, अशिक्षित एवं अज्ञानी हैं। भारत में अधिकांश वस्तुओं में **'विक्रेता का बाजार'** है। यहाँ के अधिकांश विक्रेता भ्रष्ट, बेईमान, धोखेबाज एवं मुनाफाखोरी करने वाले हैं। हमारे यहाँ दैनिक जीवन तक में प्रयोग में आने वाली वस्तुओं में मिलावट, घटिया किस्म की दवाएँ एवं बिजली के उपकरण और खतरनाक रसायन से उपभोक्ताओं के जीवन को खतरा दिनों-दिन बढ़ता जा रहा है। उदाहरण के लिए, पिसे धनिये में 'घोड़े की लीद' मिलाई जाती है। पिसी मिर्च में 'लाल पिसा पत्थर' या 'लाल पिसी बजरी' मिलाई जाती है, तथाकथित शक्ति प्रदान करने वाले अंग्रेजी दवा के टॉनिकों में साधारण पानी में रंग व चीनी का मिश्रण मिलता है, असली घी में मृत पशु की चर्बी मिलाई जाती है, अपार शक्तिवर्द्धक च्यवनप्राश (अवलेह स्पेशल) में आँवले के गूदे के स्थान पर सकरकन्दी का गूदा मिलाया जाता है, दालों में छोटे-छोटे कंकड़ व बहुत निम्न श्रेणी की मौत का पैगाम देने वाली तथाकथित खेसारी दाल के दाने मिलाये जाते हैं। उपभोक्ता की वाजिब शिकायतों को अधिकारीगण जेब में रखकर बैठ जाते हैं। भारत में लैटिन सूत्र 'केविट एम्टर' (Caveat emptor) यानी 'क्रेता सावधान रहें' को माल वस्तु संव्यवहार में ज्यों का ज्यों स्वीकार कर लिया गया है। बेचारा आम भारतीय उपभोक्ता इतना अकेला, असहाय, असगठित, अशिक्षित, अज्ञानी, अनुभवहीन तथ निहत्था होता है कि बेईमान उत्पादक एवं दुकानदार के शक्तिशाली हाथों द्वारा घाटा खाने अथवा लुटने पर भी अपमान का घूँट पीकर रह जाता है। पैसा वापस माँगने पर दुकानदार ठेंगा दिखा देता है।

कहने को तो भारत में सन् 1938 से लेकर अब तक खाद्य पदार्थों में अपमिश्रण अधिनियम, आवश्यक वस्तु अधिनियम और एकाधिकार नियन्त्रक जैसे लगभग दो दर्जन कानून पारित किये जा चुके हैं परन्तु पेचीदगियों, जटिलता

खर्चीलापन तथा विलम्ब के कारण उपभोक्ता वर्ग को कोई राहत नहीं मिल पाई है। व्यापारी और उपभोक्ता के मध्य संव्यवहार को निर्दोष व्यापारिक व्यवहार की संज्ञा नहीं दी जा सकती क्योंकि व्यापारी वर्ग सजग, संगठित तथा जागरूक होता है, जबकि भारत का उपभोक्ता कम शिक्षित या अशिक्षित, असंगठित, लाचार, गरीब, असहाय तथा अनुभवहीन होता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आज समूचे विश्व में तथा विशेषतः भारत के सन्दर्भ में उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की सर्वाधिक आवश्यकता है। यदि देखा जाय तो उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की आवश्यकता अनेक कारणों से होती है जिनमें से कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :

1. **सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति चेतना जगाने के लिए** - आजकल सभी स्तरों पर व्यवसायियों में अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति चेतना जागृत कराने के प्रयास किये जा रहे हैं। इसका कारण यह है कि येन-केन तरीकों से अधिकाधिक लाभ कमाने की लालसा उन्हें सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति उदासीन बना रही है। इस दृष्टि से भी उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की आवश्यकता अनुभव की गयी है।

2. **उपभोक्ताओं की व्यवसायियों की शोषण करने की प्रवृत्ति से रक्षा करने के लिए** - आज व्यवसायियों ने उपभोक्ताओं का शोषण करने के लिए तरह-तरह के तरीके निकाले हुए हैं, जैसे - कम तोलना, उपभोग की वस्तुओं में मिलावट करना, कृत्रिम कमी उत्पन्न कर देना, काला बाजारी करना आदि। भारत जैसे देश में जहाँ का उपभोक्ता अपेक्षाकृत अधिक असंगठित, अनपढ़ या कम पढ़ा-लिखा, लाचार, निहत्था एवं अपने अधिकारों के प्रति कम जागरूक है, आसानी से व्यवसायियों की शोषण की प्रवृत्ति का शिकार बन जाता है। उसे व्यवसायियों की इस दूषित शोषण करने की मनोवृत्ति से बचाने के लिए भी उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की नितान्त आवश्यकता है।

3. **उपभोक्ताओं को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक करने के लिए** - आजकल का सामान्य उपभोक्ता अपने अधिकारों के प्रति उदासीन है। या तो उसे अपने अधिकारों के प्रति जानकारी नहीं है अथवा यदि उसे थोड़ी-सी जानकारी है भी, तो वह विभिन्न कारणों से (जैसे - दयनीय आर्थिक स्थिति) इतना अधिक निराश हो चुका है कि वह कुछ करने के लिए अपने आपको पूर्णतः अकेला, असहाय एवं निष्क्रिय अनुभव करता है। इस दृष्टि से भी उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की आवश्यकता है।

4. **आवश्यक सूचनाएँ उपलब्ध कराने के लिए** - आज सामान्य उपभोक्ता को उपभोग वस्तुओं की गुणवत्ता, टिकाऊपन, शुद्धता, उपयोगिता, उपयोग विधि, तुलनात्मक मूल्य-स्तर आदि के बारे में जानकारी कराना परम आवश्यक है ताकि वह उक्त जानकारी के आधार पर सही समय पर सही वस्तु का चयन कर सके। सामान्य उपभोक्ता के इस मूलभूत अधिकार की क्रियान्विति के लिए भी उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की आवश्यकता है।

5. **परिवेदनाओं तथा शिकायतों का यथाशीघ्र निपटारा करने के लिए** - यदि उपभोक्ता व्यवसायियों के द्वारा किये जाने वाले शोषण का शिकार हो जाता है तो वह उसकी शिकायत करे तो किससे ? क्या उसकी परिवेदना एवं शिकायत की ओर किसी के द्वारा यथाशीघ्र ध्यान दिया जायेगा ? क्या उसके द्वारा की गई शिकायत की सुनवाई में न्यायालयों में चल रहे अन्य विवादों की तरह वर्षों नहीं लगेंगे ? यह सब ऐसे प्रश्न हैं जिनकी ओर ध्यान देना परम आवश्यक है। उपभोक्ताओं को शिकायतें करने का न केवल मूलभूत अधिकार प्राप्त है वरन् उनकी शिकायतों का निपटारा यथाशीघ्र करने की भी व्यवस्था होनी चाहिए। इस बात को ध्यान में रखते हुए तथा की गई शिकायतों का शीघ्र तथा बहुत कम खर्च पर निपटारा करने के उद्देश्य से ही उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 (जिसका आगे विस्तृत विवेचन किया गया है) के अन्तर्गत 'जिला फोरम' की स्थापना की गई है जिसमें उपभोक्ता द्वारा की गई शिकायतों का निपटारा तीन महीनों में होना आवश्यक है।

6. **व्यवसाय की एकाधिकारी मनोवृत्ति से मुक्ति प्रदान करने के लिए** - आजकल व्यवसायी अनाधिकृत संयोजनों के द्वारा वस्तुओं के उत्पादन तथा वितरण पर एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं। इसमें उपभोक्ताओं का शोषण होता है। उन्हें ऐसे व्यवसायियों द्वारा निर्धारित एकाधिकारी मूल्यों पर वस्तुएँ खरीदने के लिए बाध्य होना पड़ता है और इस प्रकार असंगठित उपभोक्ताओं को ऐसे एकाधिकारी व्यवसायिक संगठनों की शोषण रूपी मनोवृत्ति का शिकार होना पड़ता है। व्यवसायियों की इस अनुचित एकाधिकारी मनोवृत्ति का शिकार होने से उपभोक्ताओं को बचाने के लिए भी उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की आवश्यकता है।

7. **प्रदूषण से सुरक्षा प्रदान करने के लिए** - आज प्रदूषण की समस्या चाहे वह जल प्रदूषण हो, वायु प्रदूषण हो अथवा ध्वनि प्रदूषण, दिनों-दिन गम्भीर रूप धारण करती जा रही है। आज के उपभोक्ता को शुद्ध उपभोग्य वस्तुओं का तो कहना ही क्या, उसे उपभोग करने के लिए पर्याप्त शुद्ध जल एवं वायु तक नहीं मिल पाती है जिसके कारण उसका सामान्य जीवन नारकीय बन गया है। वह तरह तरह की बीमारियों का शिकार हो रहा है। प्रदूषण की इस दूषित बीमारी के प्रति उपभोक्ता को सुरक्षा प्रदान करने के लिए भी उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम की आवश्यकता है।

8. **मानवीय कल्याण के लिए** - आज विश्व का प्रत्येक मानव पहले उपभोक्ता है और बाद में कोई और। हम सभी किसी न किसी रूप में उपभोक्ता ही तो हैं। इसमें स्वयं व्यवसायी भी सम्मिलित हैं। मानव कल्याण के लिए यह परम आवश्यक है कि सभी मनुष्यों को उपभोग के लिए पर्याप्त मात्रा में सस्ती, सुन्दर, शुद्ध एवं सही गुणवत्ता वाली वस्तुएँ उपलब्ध हों। इस दृष्टि से भी उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम आवश्यक है। ऐसा करने से मानवीय स्वास्थ्य में भी सुधार होगा।

9. **अनुचित व्यापारिक पद्धति द्वारा किये जाने वाले शोषण से मुक्ति दिलाने के लिए** - प्रायः यह देखने में आता है कि व्यवसायी अपनी अधिकतम लाभ कमाने की लालसा की सन्तुष्टि करने के लिए विभिन्न प्रकार की अनुचित व्यापारिक पद्धतियों का उपयोग करता है, जैसे - कम तोलना, कम नापना, भ्रामक विज्ञापन करना, काला बाजारी करना, नकली पैकिंग करना, मिलावट करना आदि। व्यवसायियों की इन अनुचित पद्धतियों के शोषण से उपभोक्ताओं को मुक्ति प्रदान करने के लिए भी उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम आवश्यक है।

10. **अन्य कारण** - (i) निर्माताओं एवं उत्पादकों को उत्पाद की गुणवत्ता के प्रति जागरूक करने के लिए; (ii) उपभोक्ताओं के उपभोग के स्तर को ऊंचा उठाने के लिए; (iii) शुद्ध एवं गुणवत्ता वाली वस्तुओं के निर्माण एवं उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए; (iv) निर्यातों में वृद्धि करने के लिए; (v) भ्रष्ट एवं बेईमान उत्पादकों, निर्माताओं एवं व्यवसायियों के ऊपर से पर्दा उठाने के लिए; (vi) उपभोक्ता चेतना में वृद्धि करने के लिए; (vii) वितरण प्रणाली के दोषों को दूर करने एवं उसे अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए; (viii) उपभोक्ताओं के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने के लिए; (ix) उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को समझने के लिए; (x) सरकार को उपभोक्ताओं के प्रति जागरूक बनाये रखने के लिए; तथा (xi) उपभोक्ताओं को मानसिक तनाव से मुक्ति प्रदान करने के लिए आदि।

प्रश्न

1. उपभोक्ता संरक्षण से आपका क्या आशय है? उपभोक्ता के प्रमुख अधिकारों का वर्णन कीजिए।
2. उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 क्या है? इसके प्रमुख प्रावधानों का वर्णन कीजिए।
3. उपभोक्ता विवादों के निवारण के लिए उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम में दी गई व्यवस्था का संक्षेप में वर्णन कीजिये।
4. उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 के अन्तर्गत जिला मंच का गठन किस प्रकार किया जाता है? जिला मंच द्वारा उपभोक्ता विवादों को निपटाने के लिए अपनायी जाने वाली प्रक्रिया का संक्षेप में वर्णन कीजिये।
5. उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय संरक्षण परिषद् सम्बन्धी प्रावधानों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।
6. उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 के अन्तर्गत जिला मंच, राज्य आयोग तथा राष्ट्रीय आयोग से सम्बन्धित प्रमुख प्रावधानों का वर्णन कीजिये।
7. उपभोक्ता विवाद अभिकरण क्या हैं? एक जिला मंच क्या है? विवेचना कीजिये।
8. उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम के अन्तर्गत राष्ट्रीय आयोग क्या है? इसके गठन, कार्यक्षेत्र एवं शिकायतों के निवारण की कार्यविधि का वर्णन कीजिए।
9. उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, 1986 के अन्तर्गत जिला मंच का गठन किस प्रकार किया जाता है? जिला मंच द्वारा उपभोक्ता विवादों को निपटाने के लिए अपनायी जाने वाली प्रक्रिया का संक्षेप में वर्णन कीजिए।
10. राज्य आयोग के गठन, क्षेत्र तथा विवाद के निपटारे के सम्बन्ध में अपनायी जाने वाली प्रक्रिया का संक्षेप में वर्णन करो।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

14

पेटेन्ट अधिनियम 1970
(PATENTS ACT, 1970)

इस अधिनियम के मूल तत्वों में यह स्पष्ट किया गया है कि ऐसी खोज, जो नवीन एवं उपयोगी हो तथा पेटेन्ट की तिथि से पूर्व जिसे इसी नाम से नहीं जाना जाता हो और यह खोजकर्ता की स्वयं की ही खोज हो, को ही सम्मिलित किया जाएगा। सामान्यतः पेटेन्ट एक स्वीकृत एकाधिकार है जिससे खोजकर्ता उत्पादों की निपज (Outputs) और मूल्य पर, प्रदत्त अधिकार सीमा के अन्तर्गत एक निश्चित अथवा सीमित समय तक नियंत्रण रखता है। वस्तुतः यह खोजकर्ता की व्यक्तिगत पहल का तथा सृजन-कार्य का पुरस्कार है। यह 'सृजन-कार्य' ही बौद्धिक-सम्पत्ति कहलाता है जिसे अन्य सम्पत्तियों/वस्तुओं की भाँति खरीदा, बेचा एवं किराए पर दिया जा सकता है जिसके लिए अनुज्ञा-पत्र (Licence) लिया जा सकता है। पेटेन्ट के पीछे एक सिद्धान्त यह है कि यदि ऐसा नहीं किया गया तो नव-सृजन (Innovations) को कदापि प्रोत्साहन नहीं मिल पाएगा।

बौद्धिक सम्पदा को यह अधिकार, संविधान की अनुसूची सात की संघ-सूची की प्रथम-सूची (मद संख्या- 49) में प्रदान किया गया है। इसीलिए, यह केन्द्र सरकार का विषय है। औपचारिक रूप से भारतवर्ष में पेटेन्ट सुरक्षा का यह अधिकार **'पेटेन्ट अधिनियम 1911' के माध्यम से दिया गया है।**

भारत सरकार ने अप्रेल, 1994 को 'व्यापार सम्बद्ध बौद्धिक सम्पदा अधिकार' (Trade Related Intellectual Property Rights - TRIPs) के अन्तर्गत, विश्व-व्यापार संगठन के साथ समझौता किया। इस समझौते के अनुसार, भारतवर्ष आगामी 20 वर्षों के लिए अपने निर्गमित उत्पादों के लिए पेटेन्ट ले सकता है तथा दवाओं, भोजन सामग्री एवं रसायनों (Chemicals) के पहले से जारी पेटेन्टों की अवधि को, इतने समय तक के लिए और बढ़ा सकता है।

अधिनियम का परिचय
(Introduction of Act)

यह अधिनियम 20 अप्रैल, 1972 से देश में लागू हुआ। इस अधिनियम के अनुसार, भारत 1 जनवरी, 2000 तक इन पेटेन्ट सम्बन्धी प्रावधानों को लागू कर सकता था। उत्पाद-पेटेन्टों, को 1 जनवरी, 2005 तक प्रस्तुत किया जा सकता था। विदेशी कम्पनियों को खाद्य-उत्पादों तथा दवाइयों इत्यादि की पेटेन्ट स्वीकृति हेतु विस्तृत विपणन अधिकारों (Exclusive Marketing Rights - EMRs) को प्रदान करने के लिए 31 दिसम्बर, 1994 को केन्द्र सरकार ने अध्यादेश जारी किया, किन्तु 26 मार्च, 1995 को राज्य सभा में, यह पास नहीं हो पाया। पुनः 26 मार्च, 1999 को संसद में पेटेन्ट (संशोधित) अधिनियम, 1999 पारित किया गया, जिसे 1 जनवरी, 1995 से लागू माना गया। जून 2002 में दूसरे संशोधन को अधिसूचित किया गया तथा यह संशोधन 01 जनवरी, 2000 से लागू हुआ। अधिनियम ने उत्पाद पेटेन्ट व्यवस्था हेतु तीसरा महत्वपूर्ण संशोधन 26 दिसम्बर, 2004 के अध्यादेश से किया गया और यह 01 जनवरी, 2005 से लागू हो गया है।

विश्व व्यापार संगठन (WTO) के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को पूरा करने के उद्देश्य से सरकार ने पेटेन्ट अधिनियम में संशोधन हेतु एक अध्यादेश 26 दिसम्बर, 2004 को जारी किया है। इससे बहुविवादित रही उत्पाद पेटेन्ट (Product Patent) व्यवस्था 1 जनवरी, 2005 से प्रभावी हो गई है इससे पूर्व 1999 व 2002 के पेटेंट (संशोधन) अधिनियमों के जरिए प्रक्रिया पेटेंट (Process Patent) को लागू कर दिया गया था, जबकि दवाओं, रसायनों व अनाज के मामलों में उत्पाद पेटेंट अभी तक लम्बित था (अन्य क्षेत्रों में उत्पाद पेटेंट का प्रावधान पहले के संशोधन के जरिए किया जा चुका था)। विश्व व्यापार संगठन के बौद्धिक सम्पदा अधिकार (TRIPS) समझौते के तहत भारत को दवाओं, खाद्य पदार्थों व रसायनों के मामले में उत्पाद पेटेंट व्यवस्था को 1 जनवरी, 2005 तक लागू करना था। इस प्रतिबद्धता को सन्दर्भित अध्यादेश के जरिए पूरा किया गया है। विश्लेषकों का मत है कि उत्पाद पेटेंट व्यवस्था लागू होने से शुरू के कुछ वर्ष तक भले ही इसका अधिक प्रभाव आम व्यक्तियों तक न पड़े, किन्तु अन्तत उन्नत दवाओं, रसायनों, कृषि बीजों के मूल्यों में भारी वृद्धियाँ इसके परिणामस्वरूप होंगी।

विश्व व्यापार संगठन के बौद्धिक सम्पदा अधिकार समझौते के तहत नई खोजों पर आधारित उत्पादों के 20 वर्ष तक विपणन का विशेषाधिकार केवल शोधकर्ता व्यक्ति अथवा कम्पनी को प्राप्त होगा तथा उसे उनके मूल्य निर्धारण

की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। इन आलोचनओं का खण्डन करते हुए वाणिज्य मंत्री ने दावा किया है कि नए अध्यादेश के कारण न तो दवाएँ आम आदमी की पहुँच से बाहर होंगी और न ही भारतीय उद्योगों पर इसका बुरा असर पड़ेगा। उन्होंने कहा कि अब भारतीय फार्मा इण्डस्ट्री को उन्नति के पहले से अधिक अवसर प्राप्त होंगे तथा बाजार में प्रतिस्पर्द्धा बढ़ने से दवाएँ सस्ती भी हो सकती हैं। इस सन्दर्भ में तीन तथ्यों का हवाला वाणिज्य मंत्री ने दिया है कि एक तो यह कि बाजार में उपलब्ध 97 प्रतिशत दवाएं पेटेंट के दायरे में आती ही नहीं, इसलिए उनके महँगा होने का सवाल ही नहीं पैदा होता, दूसरे पेटेंट के दायरे में आने वाली बाकी तीन प्रतिशत दवाओं में से भी अनेक ऐसी हैं, जिनके बाजार में विकल्प उपलब्ध हैं और तीसरे, भारत सरकार ने संशोधित कानून में जन हित की दृष्टि से 7 विशेष प्रावधान ऐसे रखे हैं, जिनके जरिए सरकार किसी भी पेटेंट को रद्द करने, पेटेंटशुदा प्रोडक्ट का आयात करने अथवा किसी भी आविष्कार को अपने लिए इस्तेमाल करने का अधिकार रख सकेगी।

अधिनियम के प्रमुख प्रावधान
(Main Provisions of the Act)

1. यह अधिनियम, सम्पूर्ण भारतवर्ष पर उस समय लागू होगा जबकि केन्द्र सरकार, राजपत्र (Gazette) में अधिसूचना जारी कर देगी।

2. **परिभाषाएँ** (Definitions)- इस अधिनियम की धारा 2 में, पेटेन्ट के सन्दर्भ में निम्न प्रमुख परिभाषाएँ दी गई हैं -

(अ) **अभ्यार्पिती/अभिन्यासी** (Assignee)- अभ्यर्पिती से तात्पर्य किसी मृत अभ्यर्पिती के वैधानिक प्रतिनिधि से अथवा जिस व्यक्ति का भी सन्दर्भ ऐसे व्यक्ति के रूप में दिया गया है, से है।

(ब) **नियंत्रक** (Controller)- नियंत्रक से आशय पेटेन्ट, अभिकल्पना (Designing) तथा व्यापार चिह्न (Trade Mark) के लिए नियुक्त मुख्य नियंत्रक से है।

(स) **समझौता प्रार्थना-पत्र** (Convention Application)- समझौता प्रार्थना-पत्र से तात्पर्य, इस अधिनियम की धारा 135 के अनुसार पेटेन्ट के लिए दिए गए प्रार्थना-पत्र से है।

(द) **जिला न्यायालय** (District Court)- जिला न्यायालय का अर्थ, इस प्रयोजन हेतु 'सिविल प्रक्रिया संहिता - 1908' के अन्तर्गत गठित न्यायालय से है।

(य) **उच्च न्यायालय** (High Court)- उच्च न्यायालय, पेटेन्ट कार्यों के प्रयोजनार्थ, उच्च न्यायालयों को निम्न रूप में विभाजित किया गया है -

(i) संघीय क्षेत्र दिल्ली और हिमाचल प्रदेश के लिए - उच्च न्यायालय दिल्ली;

(ii) संघीय क्षेत्र अरुणाचल प्रदेश और मिजोरम के लिए - गौहाटी उच्च-न्यायालय, आसाम;

(iii) संघीय क्षेत्र अंडमान और निकोबार द्वीप समूह के लिए - उच्च न्यायालय, कोलकाता;

(iv) संघीय क्षेत्र लक्षद्वीप के लिए - उच्च न्यायालय, केरल;

(v) संघीय क्षेत्र गोवा, दमन, दीव, दादरा तथा नागर हवेली के लिए - उच्च न्यायालय, मुम्बई; पांडिचेरी के लिए उच्च न्यायालय तमिलनाडु; चंडीगढ़ के लिए - उच्च न्यायालय पंजाब और हरियाणा, तथा

(vi) अन्य राज्यों के सन्दर्भ में तत्सम्बन्धित राज्य के उच्च-न्यायालय।

(ल) **आविष्कार/ईजाद/नव-सृजन** (Invention)- इससे तात्पर्य किसी भी नवीन एवं उपयोगी -

(i) कला, प्रक्रिया, योग या निर्माणी अर्थ की पद्धति;

(ii) मशीन, उसके उपकरण या अन्य पात्र (Article) तथा उन पदार्थों के संयोग में से है जिन्हें किसी निर्माता द्वारा निर्मित (नवीन रूप से) किया गया है।

3. **आविष्कार क्या (नव-सृजन) नहीं है?** (What are not Inventions?)- इस अधिनियम के अन्तर्गत निम्न को नव-सृजन नहीं माना गया है

(i) जो कि तुच्छ (Frivolous) प्रकृति का है और/या प्राकृतिक-नियमों का विरोधी है;

(ii) जिससे जनता के मनोबल और स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता हो;

(iii) जो पूर्व-निर्धारित सिद्धान्त और वैज्ञानिक फार्मूले पर आधारित हो

(iv) जो पूर्व से ही ज्ञात पदार्थ, प्रक्रिया, मशीन अथवा ऐसे उपकरण के बारे में हो जिससे कि नए उत्पाद सामने लाए जा रहे हों;

(v) कृषि अथवा बागवानी का कोई ढंग हो; अथवा

(vi) ऐसी चिकित्सीय, सर्जिकल, सुरक्षात्मक एवं अन्य प्रकृति के इलाज की प्रक्रिया जो मनुष्यों, पशुओं अथवा पौधों या उनके उत्पादों के सम्बन्ध में हो और जो केवल आर्थिक मूल्यों में कमी या बढ़ोत्तरी की दृष्टि से नव-सृजित किए गए हों।

विशेष - परमाणु ऊर्जा से सम्बन्धित किसी भी प्रकार के नव-सृजन को पेटेन्ट के रूप में स्वीकार नहीं किया जाएगा। (परमाणु ऊर्जा अधिनियम, 1962 की धारा 20)

4. पेटेन्ट्स के लिए प्रार्थना-पत्र - (i) इस अधिनियम के अन्तर्गत, नव-सृजन के पेटेन्ट हेतु निम्न में से कोई भी व्यक्ति प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत कर सकता है -

(अ) जिसने प्रथम बार और सत्य रूप में खोज की है, अथवा उसके अभ्यर्पिती (Assingnee) के द्वारा,

(ब) मृत व्यक्ति का (खोजकर्ता का) वैधानिक प्रतिनिधि, जिसे ऐसा प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करने का अधिकार प्राप्त है।

यह प्रार्थना-पत्र व्यक्तिगत अथवा संयुक्त नाम से भी दिया जा सकता है।

(ii) प्रत्येक प्रार्थना-पत्र केवल एक ही नव-सृजन (Invention) के लिए निर्धारित प्रपत्र में भरकर, पेटेन्ट कार्यालय में फाइल किया जा सकेगा,

(iii) प्रार्थना-पत्र में, ऐसे वास्तविक खोजकर्ता का नाम लिखा जाना अथवा घोषणा करना आवश्यक है कि वही 'सच्चा और प्रथम अन्वेषक' (True & First Inventor) है।

(iv) **विदेशी पेटेन्ट के सम्बन्ध में** - यदि कोई अन्वेषक जो कि भारत के बाहर पेटेन्ट हेतु निवेदन (प्रार्थना-पत्र प्रस्तुतीकरण) करता है अथवा भारत में पेटेन्ट लेने हेतु कोई विदेशी अन्वेषक प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करता है तो उसे पेटेन्ट नियंत्रक को समय-समय पर इस आशय की सूचना देनी होगी कि प्रार्थना-पत्र के स्वीकृत होने तक उसने भारत के अलावा और किन-किन देशों में, इसी अन्वेषण के लिए प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत किया है? (यदि ऐसी प्रक्रिया हो तो)

5. **विस्तृत विपणन अधिकार** (Exclusive Marketing Rights)- अन्वेषकों को उक्त अधिकार, भारत सरकार ने पेटेन्ट अधिनियम 1970 की धारा 24-क, 24-ड, संविधान की धारा 70 (8) एवं (9) एवं विश्व-व्यापार संगठन के साथ किए गए TRIPs समझौते के अन्तर्गत, संशोधित पेटेन्ट अधिनियम 1999 द्वारा, (जनवरी 1, 1995 से प्रभावी बनाते हुए) प्रदान किए हैं।

उक्त अधिकारों के बारे में, यह स्पष्ट किया गया है कि किसी तत्व/पदार्थ की खोज का दवाओं के रूप में प्रयोग करने (दवाई बनाने के काम में आने वाले माध्यम रसायनों को छोड़ते हुए) के लिए, यदि पेटेन्ट प्राप्त करने के लिए प्रार्थना (Claim) की जाती है तो 31 दिसम्बर, 2004 तक, ऐसे प्रार्थना-पत्र को, पेटेन्ट नियंत्रक उस पर रिपोर्ट प्राप्त करने के लिए किसी परीक्षक को नहीं भेजेगा।

किन्तु, यदि कोई अन्वेषक, उक्त पदार्थ अथवा उपकरण (Article) को, जिसे कि भारत में बनाया गया है, के लिए विक्रय तथा वितरण कार्य करने हेतु निर्धारित प्रपत्र में, निश्चित शुल्क के साथ प्रार्थना करता है तो पेटेन्ट नियंत्रक, उसे परीक्षक के पास भेजकर, उसके नव-सृजित पदार्थ होने या न होने सम्बन्धी रिपोर्ट मांग सकता है। (धारा 24-क)

परीक्षक से रिपोर्ट प्राप्त होने पर, अन्वेषित पदार्थ के लिए मांगे गए, विक्रय तथा वितरण के विस्तृत अधिकारों हेतु दिए गए प्रार्थना-पत्र को पेटेन्ट हेतु, 'पेटेन्ट-नियंत्रक' द्वारा धारा 24-ख के अन्तर्गत दिए गए नियमों को ध्यान में रखते हुए स्वीकार कर लिया जाता है।

6. **विक्रय या वितरण के लिए विशेष प्रावधान** (Special Provision for Selling of Distribution)- इस अधिनियम की धारा 24-घ, केन्द्र सरकार को इस बात के लिए अधिकृत करती है कि यदि वह चाहे तो जनता के हित में ऐसे अन्वेषित पदार्थों/उत्पादों को स्वयं या अन्य पक्षकारों के माध्यम से (उस व्यक्ति को छोड़ते हुए, जिसे कि विस्तृत अधिकार दिए गए थे) विक्रय अथवा वितरित कर सकता है।

यह धारा, केन्द्रीय सरकार को यह भी अधिकार प्रदान करती है कि जनहित में, राजकीय गजट में अधिसूचना जारी करके ऐसे पदार्थों/उत्पादों का विक्रय और वितरण, इस कार्य हेतु अधिकृत अधिकारी के द्वारा निर्धारित मूल्य पर करा सकती है।

7. **पेटेन्ट स्वीकृति का विरोध** (Opposition to Grant of Patent)- अधिनियम की धारा 25 में, यह इंगित किया गया है कि कोई भी व्यक्ति, किसी विशेष आधार पर (On specified grounds) पेटेन्ट नियंत्रक को सूचना (Notice) देकर पेटेन्ट की स्वीकृति का विरोध कर सकता है। यह विरोध, प्रार्थना-पत्र की स्वीकृति के पश्चात् चार

माह के भीतर कर दिया जाना चाहिए। नियंत्रक, यदि किन्हीं विशेष कारणों से चाहे तो इस अवधि को अधिकतम एक माह के लिए और बढ़ाया जा सकता है।

NOTES

8. **कतिपय अन्वेषणों की गोपनीयता** (धारा 35-40), (Secrecy of Certain Inventions)- इस धारा का प्रादुर्भाव, राष्ट्र की सुरक्षा के कारणों को ध्यान में रखते हुए किया गया है। इसके अनुसार, यदि नियंत्रक को ऐसा प्रतीत होता है कि अन्वेषण जो केन्द्र सरकार द्वारा घोषित/अधिसूचित सूची में, सुरक्षा-उद्देश्यों (Defence purposes) से सम्बन्ध रखता है तो नियंत्रक, उस अन्वेषण के बारे में उस पर रोक लगाने, किसी भी प्रकार की तत्सम्बन्धित सूचना को प्रकाशित न करने या दी हुई सूचना के उल्लंघन न करने के बारे में, निर्देशित कर सकता है।

इसके अतिरिक्त यदि नियंत्रक को यह पता चल जाए कि अन्वेषक ने केन्द्र सरकार को जिस अन्वेषण के लिए पेटेन्ट प्राप्त करने हेतु आवेदन दिया है, वह रक्षा मामलों से सम्बद्ध है तो नियंत्रक, विशिष्टीकृत प्रार्थना-पत्र (Specification Application) स्वीकृत होने से पूर्व ही, उसके बारे में, केन्द्र सरकार को सूचित करते हुए दिशा-निर्देश प्रदान कर सकता है।

9. **निवासी-व्यक्ति एवं देश के बाहर पेटेन्ट हेतु प्रार्थना-पत्र** (Resident to apply for patent outside India)- इस अधिनियम की धारा 39 यह स्पष्ट करती है कि भारत में रहने वाला व्यक्ति, बिना नियंत्रक की अनुमति के, भारत के बाहर पेटेन्ट के लिए प्रार्थना-पत्र, उस तिथि के छह माह के पूर्व नहीं दे सकता है जिस तिथि को उसने, इसी अन्वेषण के लिए पेटेन्ट हेतु भारत में आवेदन किया था।

नियंत्रक, केन्द्र सरकार की पूर्व अनुमति के बिना भारत के बाहर के किसी भी पेटेन्ट के प्रार्थना-पत्र पर लिखित में स्वीकृति प्रदान नहीं कर सकेगा।

10. **पेटेन्ट की स्वीकृति एवं प्रमाणन** (Grant & Sealing of Patent) (धारा-43)

यह धारा, पेटेन्ट नियंत्रक को यह अधिकार (Empowered) देती है कि वह पेटेन्ट को स्वीकृति (Grant) करके उस पर अपनी मोहर (Seal) लगा सकता है, यदि -

(i) प्रार्थना-पत्र देने के पश्चात् अन्वेषक के द्वारा पूर्ण 'विशिष्ट-विवरण' प्रस्तुत कर दिया गया हो; या

(ii) उस पर कोई विरोध नहीं आया हो और/या विरोध प्रकट करने की समय-सीमा समाप्त हो गई हो; या

(iii) कोई प्रार्थना-पत्र अन्वेषण के विरोध में प्रस्तुत किया गया हो, किन्तु अन्त में, अन्वेषक के पक्ष में ही निर्णय ले लिया गया हो; या

(iv) नियंत्रक के प्रार्थना-पत्र को नकार नहीं दिया हो।

पेटेन्ट हेतु संयुक्त प्रार्थनाधारियों के सन्दर्भ में, नियंत्रक द्वारा संयुक्त नाम से ही स्वीकृति प्रदान की जा सकेगी।

अन्वेषकों के लिए यह भी अनिवार्य होगा कि पूर्ण विशिष्ट विवरण से सम्बन्धित आवेदन के स्वीकृत होने पर, उसके पश्चात् के 6 माह के भीतर, वे प्रमाणन (मोहर) के लिए निवेदन अवश्य ही कर दें। किन्तु, छः माह समाप्त होने तक आवेदन-पत्र नियंत्रक अथवा उच्च-न्यायालय के पास स्वीकृति हेतु विचाराधीन है। तो अन्तिम निर्णय के पश्चात् के 12 महीनों के भीतर, इस प्रकार का निवेदन प्रस्तुत किया जा सकता है।

11. **पेटेन्ट स्वीकृति-कतिपय शर्तों पर** (Grant of Patents subject to certain conditions) (धारा-47) - इस धारा में उन शर्तों का वर्णन किया गया है, जिनके आधार पर पेटेन्ट की स्वीकृति प्राप्त हो सकती है -

(i) कोई भी मशीन, उपकरण या अन्य पात्र (Article) जो कि पेटेन्ट की स्वीकृति के सन्दर्भ में है या पेटेन्ट से सम्बन्धित वह वस्तु या पात्र (Article), जिसे किसी प्रक्रिया के द्वारा निर्मित किया गया है, के पेटेन्ट की स्वीकृति के लिए यह आवश्यक होगा कि -

(अ) वह वस्तु आयातित हो अथवा स्वयं के प्रयोग के लिए सरकार की अनुमति से बनाई गई हो, तथा/या

(ब) विशेष रूप से, वह किसी प्रयोग अथवा अनुसंधान के लिए, जनता को ध्यान में रखते हुए बनायी गई हो, उसका प्रयोग किया जाना हो अथवा किसी प्रक्रिया में प्रयुक्त की जानी हो।

(स) कोई भी ऐसी औषधि/दवाई जो राजकीय गजट में अधिसूचित है और किसी अस्पताल या डिस्पेन्सरी में वितरित करने के लिए आयातित की जानी है/की गई है तथा जो सरकार के माध्यम से (On behalf of Government) देश में जनता के हितार्थ मंगाई गई है

NOTES

12. **पेटेन्टधारी/सहधारियों के अधिकार** (Rights of Patentee/Co-owner of Patents) (धारा 48-50

(अ) यदि किसी अन्वेषक से पेटेन्ट अधिनियम के लागू होने के पूर्व से ही पेटेन्ट की स्वीकृति प्राप्त हो चुकं हो तो ऐसे पेटेन्टधारी को भारत में स्वयं को उसके एजेन्ट को एवं उसके लाइसेन्सधारकों को, उस वस्तु के (अन्वेषण के) बनाने, प्रयोग करने, बेचने के विस्तृत अधिकार बने रहेंगे।

(ब) धारा 48 की उपधारा (2) में यह भी स्पष्ट किया गया है कि अधिनियम के लागू होने के पश्चात् पेटेन्ट के विस्तृत अधिकार, उस दशा में प्राप्त होंगे, जबकि -

(i) वह वस्तु या पात्र स्वयं ने, उसके एजेन्ट ने या लाइसेन्सधारक ने भारतवर्ष में ही बनाने, प्रयोग करने बेचने या विस्तृत करने के लिए ईजाद (Invention) की हो; अथवा

(ii) पेटेन्ट किसी वस्तु की निर्माणी प्रक्रिया या विधि (Method) को भारत में विकसित करने के लिए हो।

(स) **संयुक्त-पेटेन्टधारियों की दशा में** - जब दो या अधिक व्यक्तियों को पेटेन्ट स्वीकृत किया जाना हो तो उन्हें एक ठहराव करना होगा कि अन्वेषण में सभी का समान भाग है (जब तक कि कोई विपरीत व्यवस्था, ठहराव में नहीं की गई हो) अर्थात् सभी पेटेन्टधारियों के अधिकार समान रहेंगे किन्तु धारा 50 की उपधारा (4) में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि अन्वेषण के क्रय के पश्चात् यदि किसी प्रकार की त्रुटि आदि के कारण, क्रेता कोई दावा करता है तो वह सभी पेटेन्टधारियों को 'एकाकी विक्रेता' (Sole Patentee) मानकर भी दावा कर सकता है।

13. **पेटेन्ट की अवधि** (Term of Patent) (धारा -53)- उक्त धारा में, यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक पेटेन्ट, जो इस अधिनियम के अन्तर्गत स्वीकृत किया गया है, यदि वह -

(i) भोजन (Food) अथवा औषधि/दवाई की किसी विधि (Method) या निर्माण-प्रक्रिया से सम्बन्धित है तो ऐसा पेटेन्ट या तो प्रमाणीकरण (Sealing) की तिथि से 5 वर्ष के लिए अथवा पेटेन्ट प्राप्त होने की तिथि से, अधिकतम 7 वर्ष के लिए ही मान्य समझा जाएगा;

(ii) किसी अन्य प्रकार के अन्वेषण की दशा में, यह अवधि पेटेन्ट स्वीकृति की तिथि से, अधिकतम 14 वर्ष तक के लिए मानी जाएगी।

किन्तु, पेटेन्ट-नियंत्रक द्वारा, उक्त अवधियों के समापन के बाद पेटेन्ट को उस समय समाप्त किया जा सकता है, जबकि पेटेन्टधारी ने आगामी पेटेन्ट-धारण निमित्त निर्धारित फीस नहीं चुकाई है।

14. **पेटेन्ट का भंग होना (प्रति-संहरण)** (Revocation of Patent)- एक पेटेन्ट को उच्च-न्यायालय, निहित व्यक्ति (Person interested) के द्वारा मुकदमा दायर करने पर अथवा केन्द्रीय सरकार के आग्रह पर या किसी अन्य के पेटेन्ट को अतिलंघन/उल्लंघन (Infringement) करने पर, निम्न में से किसी भी आधार पर (उस पेटेन्ट को) भंग कर सकता है -

(i) यदि उत्पाद/अन्वेषण नया नहीं है तथा वह भारतवर्ष में या अन्यत्र, पहले से ही जनता द्वारा प्रयोग में लाया जा रहा है;

(ii) पेटेन्ट हेतु दावा करने की तिथि से पूर्व ही, उसके बारे में प्रकाशन किया जा चुका है;

(iii) जनता के लिए उपयोगी नहीं है अथवा झूठे वादों के साथ प्रस्तुत किया गया है;

(iv) पेटेन्ट ऐसे व्यक्ति के प्रार्थना-पत्र पर स्वीकृत हो गया हो जो उस अन्वेषण के योग्य नहीं हो;

(v) वादी (Petitioner) के अधिकारों का उल्लंघन करते हुए पेटेन्ट प्राप्त किया गया हो,

(vi) ऐसा उत्पाद जो इस अधिनियम की परिभाषा में अन्वेषण नहीं हो अथवा उसके बारे में सही रूप में पूर्ण-विशिष्टीकरण (Complete Specification) का वर्णन नहीं किया गया हो और जो इस अधिनियम में पेटेन्ट योग्य नहीं माना गया हो;

(vii) यदि अभ्यर्थी (Applicant) नियंत्रक द्वारा पेटेन्ट के बारे में पूछी गई सूचनाओं को देने में असमर्थ रहा हो या गलत सूचना दे दी हो;

(viii) इस अधिनियम की धारा 35 के अनुरूप, उत्पाद की गोपनीयता बनाए रखने के निर्देशों का, प्रार्थी द्वारा उल्लंघन किया गया हो,

(ix) केन्द्रीय सरकार या अन्य कोई व्यक्ति नियंत्रक को (पेटेन्ट का लाइसेन्स प्राप्त करने के दो वर्ष के बाद) इस आशय का प्रार्थना-पत्र देकर पेटेन्ट को भंग करा सकता है, पेटेन्ट न तो जनता की आवश्यकताओं को पूरा कर पा रहा है और ना ही उचित मूल्य पर उपलब्ध है;

(x) पटन्ट स सम्बान्धत उत्पादन क लिए, नियात् हतु बाजार-व्यवस्था, भारतवर्ष के अन्तर्गत पर्याप्त नहा ह और ना ही उस उत्पाद की भारतीय बाजारों में अधिक मांग है।

NOTES

15. दण्ड (Penalies) (धारा 118-124)- इन धाराओं के अन्तर्गत, यह स्पष्ट किया गया है कि इस अधिनियम के प्रावधानों का उल्लंघन करने पर, निम्न प्रकार से दण्ड की व्यवस्था की जा सकेगी -

(i) किसी अन्वेषण के बारे में, इस अधिनियम के ऐसे गोपनीय प्रावधान (Secrety provisions), जिन्हें उजागर नहीं किया जा सकता है, के उल्लंघन करने पर 2 वर्ष तक का कारावास या आर्थिक दण्ड (न्यायाधीश के विवेकानुसार) अथवा दोनों ही दिए जा सकते हैं।

(ii) यदि अन्वेषण के बारे में रखे गए रजिस्टर में गलत प्रविष्टियाँ की जाती हैं तो 2 वर्ष तक का कारावास अथवा आर्थिक दण्ड या दोनों ही दिए जा सकते हैं।

(iii) पेटेन्ट अधिकार प्राप्त करने के लिए अनधिकृत रूप से दावा प्रस्तुत करने पर 500 रु. तक का आर्थिक दण्ड प्रदान किया जा सकता है।

(iv) यदि कोई व्यक्ति अपने व्यवसाय करने के स्थान पर अथवा किसी भी प्रपत्र आदि पर 'पेटेन्ट कार्यालय' शब्द का (गलत रूप में) प्रयोग करता है तो उसे 6 माह तक का कारवास अथवा आर्थिक दण्ड, अथवा दोनों ही दिए जा सकते हैं।

(v) सूचना माँगने पर, उसे प्रदान करने में असफल रहने पर या मना कर देने पर किसी भी व्यक्ति को 6 माह तक का कारवास या आर्थिक दण्ड प्रदान किया जा सकता है।

(vi) बिना पंजीयन कराए हुए, किसी व्यक्ति द्वारा पेटेन्ट-एजेण्ट के रूप में कार्य करने पर, प्रथम बार के अपराध पर 500 रु. तथा आगामी प्रत्येक ऐसी गलती पर 2000 रु. तक का आर्थिक दण्ड दिया जा सकता है।

(vii) एक कम्पनी की दशा में, ऐसा अपराध (Offence) होने पर, वह एक व्यक्ति की भाँति ही दण्ड की भागी मानी जाएगी।

16. अपील (पुनर्विचार-याचिका प्रस्तुतीकरण) (Appeal) (धारा 116-117)- इस धाराओं में यह स्पष्ट किया गया है कि निम्न में से किसी भी कारण से/कारणों से किसी भी निर्णय के विरुद्ध उच्च-न्यायालय के सम्मुख अपील की जा सकती है -

(i) ऐसे आदेशों/निर्देशों के विरुद्ध, जो कि नियंत्रक द्वारा अपने अधिकारों के तहत प्रदान किए गए हैं, किन्तु जिन्हें अन्वेषक विरोध प्रकट करते हुए मानना नहीं चाहता है;

(ii) अन्वेषक, उन निर्देशों में संशोधन चाहता है;

(iii) लिपिकीय गलती को सुधरवाने के लिए, जबकि अधिकारी ऐसी गलती को सुधारने से मना करता है;

(iv) नियंत्रक द्वारा पेटेन्ट की स्वीकृति के सम्बन्ध में विरोध करने पर;

(v) बिना किसी कारण के पेटेन्ट के लिए मना कर दिये जाने पर;

(vi) पेटेन्ट में अन्वेषक का वर्णन कराने हेतु;

(vii) पेटेन्ट के सह-स्वामियों के अधिकारों के सन्दर्भ में;

(viii) पेटेन्ट में और अधिक उत्पाद जोड़ने, प्रार्थना-पत्र में संशोधन कराने, खारिज किए गए पेटेन्ट को वापस बनाए रखने, पेटेन्ट के समर्पण के लिए, पंजीयन एवं हस्ताकन के लिए, लाइसेन्स के सम्बन्ध में तथा पेटेन्ट को भंग करने के बारे में।

17. पेटेन्ट एजेण्ट (Patent Agent)- (i) पेटेन्ट के विशिष्टीकरण के प्रारूप (Drafting of Specification) को बनाने, प्रार्थना-पत्र लिखने, आक्षेप होने पर पेटेन्ट कार्यालय से पत्र-व्यवहार करने, अभ्यर्थी के वाद का सुनवाई हेतु प्रस्तुत करने तथा विरोधियों से बचाव के लिए, एक योग्यताधारी एजेन्ट की नियुक्ति का प्रावधान, धारा 125 में किया गया है। (Patent Rules, 1972 deal with Patent Agent, 93-105)

(ii) पेटेन्ट एजेण्ट के पंजीयन हेतु योग्यताएँ (धारा 126) - ऐसा व्यक्ति, जो

(अ) भारत का नागरिक है,

(ब) 21 वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका है,

(स) स्नातक उपाधि-धारी है,

(द) भारतीय एडवोकेट्स एक्ट 1961 के अनुसार, एक एडवोकेट है, अथवा

(य) उसने इस उद्देश्य के लिए निर्धारित की गई योग्यताओं के लिए परीक्षा पास की है तथा निर्धारित शुल्क भी चुकाया है, पेटेन्ट एजेण्ट के रजिस्टर में अपना नाम दर्ज करवा सकता है।

(iii) **पेटेन्ट एजेण्ट के अधिकार एवं शक्तियाँ** (धारा 127) (Rights & Powers of Patent Agent)- इस धारा के अन्तर्गत, एक पेटेन्ट एजेण्ट को प्रमुख रूप से निम्न अधिकार प्रदान किए गए हैं -

(अ) वह 'नियंत्रक' के सम्मुख किसी भी प्रकार के वाद के लिए जो पेटेन्ट से सम्बन्धित है, प्रैक्टिस कर सकता है;

(ब) विभिन्न प्रपत्रों (Documents) को तैयार कर सकता है;

(स) अधिनियम के अन्तर्गत नियंत्रक से सम्बन्धित विभिन्न कार्यों का निष्पादन एवं सभी प्रकार के कार्य (Business) कर सकता है;

(द) अन्वेषक द्वारा अधिकृत किए जाने पर, किसी प्रपत्र पर प्रार्थना-पत्र पर विनिमय साध्य विलेख पर, विलम्बन को हटाने के लिए प्रस्तुत किए गए आवेदन पर, उसके प्रमाणन-प्रपत्र (Sealing document) पर हस्ताक्षर करने का, वह अधिकारी माना गया है; तथा

(य) वह, अनिवार्य लाइसेन्स से मुक्ति के लिए, उसे भंग करने अथवा पेटेन्ट को समर्पित करने के लिए कार्यवाही कर सकता है।

18. **विदेश एवं पेटेन्ट सन्धि** (Convention Countries) (धारा 133) - इस धारा के अनुसार, भारत सरकार को यह शक्तियाँ प्राप्त हैं कि वह गजट (Gazette) में अधिसूचना (Notification) जारी करने, पेटेन्ट से सम्बन्धित किसी भी राष्ट्र/राष्ट्रों के नाम की (सन्धि (Treaty) करते समय) घोषणा कर सकती है। यदि कोई देश भारत में पेटेन्ट के लिए प्रार्थना-पत्र देता है या भारत के बाहर रहते हुए भी भारत का निवासी है और पेटेन्ट के लिए प्रार्थी है, तो केन्द्र सरकार, उसे भारतीय मानकर ही, पेटेन्ट की सुरक्षा हेतु समस्त सुविधाएँ प्रदान करने का अधिकार रखती है।

पेटेन्ट अध्यादेश : भारत पर प्रभाव

पेटेंट (तीसरा संशोधन) अध्यादेश 2004 के अंतर्गत औषध, रसायन और कृषि उत्पादों को भी उत्पाद पेटेन्ट का संरक्षण मिलेगा। पहली जनवरी, 2005 से पहले औषध उत्पादों को केवल प्रक्रिया पेटेन्ट उपलब्ध था। इससे कोई भी व्यक्ति वैकल्पिक प्रक्रिया/मार्ग अपना कर अंतिम उत्पाद तैयार कर सकता था। यह अध्यादेश विश्व व्यापार संगठन के ट्रिप्स (TRIPs) समझौते के संबंध में भारत के कानूनी दायित्वों को निर्धारित समय (यानि 1 जनवरी 2005 तक) पूरा करने का अंतरिम उपाय है। अंततः संसद द्वारा पारित कानून इस अध्यादेश का स्थान लेगा। इस अध्यादेश में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं जो उत्पाद पेटेन्ट व्यवस्था शुरू करने के कारण आवश्यक हो गए थे। इन महत्वपूर्ण विशेषताओं में शामिल हैं - एकमात्र विपणन अधिकार (एविअ) संबंधी व्यवस्था की समाप्ति (विलोपन), जो अन्यथा भी आवश्यक हो गई थी। इस प्रावधान को शामिल किया जाना है कि उन देशों को जहाँ विश्व व्यापार संगठन की ट्रिप्स और सार्वजनिक स्वास्थ्य पर दोहा घोषणा के अनुसार दवा निर्यात की अपर्याप्त अथवा कोई समता नहीं है, दवाओं के निर्यात के लिए अनिवार्य लाइसेन्स जारी किए जा सकेंगे और पेटेन्ट मंजूर करने के विरोध की प्रक्रिया में परिवर्तन किया जा सकेगा।

बहस का मुख्य मुद्दा यह है कि क्या उत्पाद पेटेन्ट की शुरुआत करने से औषधि उद्योग का ढाचा चरमरा जाएगा और दवाओं की अधिक कीमत के जरिए उपभोक्ता कल्याण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा? इस विषय में परस्पर विरोधी विचार हैं। कुछ लोगों का विचार है कि उत्पाद पेटेन्ट व्यवस्था के कारण कार्यों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इस विचार का आधार यह है कि भारत जैसे देशों में, जहाँ स्वास्थ्य बीमा जैसी सुविधाओं का लाभ गिने-चुने लोगों को मिलता है, लोगों को चिकित्सा संबंधी सभी खर्च अपने अन्य खर्चों में कमी कर के पूरे करने होते हैं। माँग ढाचे में किसी भी परिवर्तन का गरीबों पर काफी असर पड़ेगा। इसके विपरीत, अनुसंधान पर आधारित विश्व की बड़ी दवा निर्माता कम्पनियों की दलील है कि पेटेन्ट उल्लंघन के कारण उन्हें अरबों डॉलर का नुकसान हुआ है। अनेक कम्पनियों ने दूसरी विधि अपनाकर उनकी निर्मित दवाओं को बाजार में उतार दिया। उनकी राय में पेटेन्ट सुरक्षा में कमी के कारण रोगों के अनुसंधान कार्य को बढ़ावा नहीं मिला है जिससे गरीब लोग प्रभावित हुए हैं।

बाजार ढाँचे पर उत्पाद पेटेन्ट का क्या असर होगा इसकी भविष्यवाणी करना कठिन है। संरक्षण का बाजार पर क्या असर होगा इसका पता लगाने के लिए अनेक अध्ययन किए गए हैं लेकिन पूर्व बाजार ढाँचे और बाजार की माँग पर अंतर्निहित अनुमानों के कारण इस तरह के अभ्यास के नतीजे भ्रामक और गुमराह करने वाले हो सकते हैं। तथापि, इन अध्ययनों में से अधिकांश इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि भविष्य में जिन नई दवाओं की खोज की जायेगी वे अगर वर्तमान दवाओं की नई किस्में हैं तो उत्पाद पेटेन्ट लागू करने का विशेष असर नहीं पड़ेगा लेकिन अगर नई दवाएँ

चिकित्सा के क्षेत्र में नई सफलताएँ हैं, रोगों का कम समय में अचूक निदान करती हैं, रोगी का कष्ट कम करती हैं, उनकी जीवन रेखा बढ़ाती हैं तब उनके दाम काफी अधिक होंगे और उनके अधिक दामों के कारण गरीबों को परेशानी होगी।

दवाओं के मूल्यों के साथ भारतीय औषधि उद्योग पर उत्पाद पेटेन्ट व्यवस्था का संभाव्य प्रभाव जुड़ा हैं। दवाओं पर उत्पाद पेटेन्ट व्यवस्था लागू न होने के कारण, भारतीय दवा कम्पनियों ने घरेलू बाजार में अपना हिस्सा (जो 70 के दशक के शुरू में 10 प्रतिशत था) अब, बढ़ा कर 80 प्रतिशत कर लिया गया है। वास्तव में भारत और जापान दो ऐसे देश हैं जहाँ पश्चिमी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का प्रभुत्व नहीं है। दवाओं के मामले में भारत आत्मनिर्भर भी है और अमरीका सहित कई देशों को दवाओं का मुख्य निर्यातक भी है। यह देखते हुए कि उत्पाद पेटेन्ट व्यवस्था नहीं होने के कारण ऐसा वातावरण बना, जिससे भारतीय औषध उद्योग को फलने-फूलने का अवसर मिला। नया पेटेन्ट अध्यादेश दो महत्वपूर्ण प्रश्न खड़े करता है · (1) क्या भारतीय औषधि उद्योग बौद्धिक सम्पदा अधिकारों के अधिक संरक्षण की व्यवस्था में अपनी विकास दर बनाए रख सकता है? (2) क्या भारतीय औषधि कम्पनियाँ पेटेन्ट व्यवस्था का उपयोग अपने लाभ के लिए कर सकेंगी? जैसा कि सभी जानते हैं किसी नई दवा के विकास और उसकी व्यापारिक सफलता में काफी समय और धन लगता है। अनुमान है कि दवाओं के विकास में इस समय लगभग 88 करोड़ डॉलर या 4000 करोड़ रुपए खर्च आता है। नई दवा का विकास कई चरणों में होता है। 10 से 14 वर्ष तक का समय लग जाता है। दवा के विकास के प्रत्येक चरण में यह सम्भावना बनी रहती है कि विकास का काम रोक दिया जाए और तब तक खर्च किए गए व्यय को बट्टे खाते में डाल दिया जाए। अनुमान है कि केवल 30 प्रतिशत दवाएँ अपना विकास खर्च निकाल पाती हैं। इन तथ्यों से यह संकेत मिलता है कि केवल बड़ी फर्में नई मॉलेक्यूल की खोज की दिशा में अग्रसर होंगी। अनेक बड़ी और मझोली दवा निर्माता कम्पनियों के लिए यह चिन्ता का विषय है। इस तरह की कम्पनियों की संख्या 20,000 से अधिक है लेकिन शायद स्थिति उतनी खराब न हो, जितनी प्रस्तुत की जा रही है। आम राय यह है कि छोटी दवा निर्माता कम्पनियाँ भी फल-फूल सकती हैं, अगर वे उन गतिविधियों पर विशेष ध्यान दें जिनमें उन्होंने विशेष योग्यता हासिल की है जैसे कि ठेके पर दवाएँ तैयार करना और बड़ी निर्माता कम्पनियों का स्रोत बनना।

रणनीतिक योजना इस समस्या की कुंजी है। अनुसंधान और विकास के लिए खर्च या साधनों की कमी का अर्थ यह नहीं है कि भारत अनुसंधान और विकास का प्रमुख केन्द्र नहीं बन सकता। भारत की स्थिति अनुकूल इसलिए नहीं है कि यह कम लागत वाली अर्थव्यवस्था है बल्कि इस बात में है कि यहाँ रसायन, प्रक्रिया, इंजीनियरिंग और औषधि निर्माण संबंधी तकनीक में दक्ष एवं कुशल प्रतिभा सम्पन्न लोगों का विशाल वर्ग है। ये भारत को अनुसंधान और विकास का केन्द्र बनाने के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को अनुकूल और आदर्श वातावरण प्रस्तुत करते हैं। यह बात दूर-दूर तक अनुभव की जाती है कि पेटेन्ट व्यवस्था नई दवाओं की खोज को बढ़ावा दे सकती है और भारतीय दवा निर्माता कम्पनियों को अनुसंधान और विकास, विषाक्तता और चिकित्सा संबंधी परीक्षणों का आधार बनने के लिए आदर्श परिवेश प्रस्तुत कर सकती हैं। भारतीय दवा कम्पनियाँ विशेष रूप से सूत्रीकरण, सक्रिय औषध निर्माण संघटक, उत्पादन, पैकिंग आदि में महत्वपूर्ण योगदान कर सकती हैं। भारत में ठेके पर काम करने की अपार संभावनाएँ हैं। बॉयोटेक्नोलॉजी फर्मों के आगमन के बाद अनुसंधान और विकास कार्य सहयोग-समझौतों के द्वारा और संयुक्त उद्यमों के जरिए करने का चलन बढ़ा है। हॉफमैन-ला रोच और स्मिथक्लाइन बेचम आदि जैसी कम्पनियों ने भारत सरकार से अनुसंधान और विकास के लिए अपने पूर्ण स्वामित्व वाली सहायक कम्पनी स्थापित करने की अनुमति माँगी है। भारतीय बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के साथ औषधि निर्माता या विपणन सहयोगियों के रूप में मिल कर काम करने की अपार संभावनाएँ हैं तथापि भारतीय पेटेन्ट कानून को उत्पाद पेटेन्ट में आँकड़ों की अनन्यता सुनिश्चित करनी चाहिए ताकि कोई और फर्म उत्पाद के साथ जारी आँकड़ों का उपयोग कर के उस दवा का निर्माण या विपणन न कर सके (इकोनोमिस्ट, 22-28 जनवरी, 2005)।

औषधि बाजार में जहाँ भारत का हिस्सा मोटे तौर पर विश्व बाजार का 1.6 प्रतिशत है, जातिगत औषध उद्योग की भूमिका की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए, जातिगत दवा बाजार, विशेष रूप से भारत के बाहर, देश की बड़ी औषध निर्माता कम्पनियों की आय में उल्लेखनीय योगदान करता है। अनुमान है कि विश्व का जातिगत दवा बाजार अनुमानतः 36 अरब अमरीकी डॉलर का हो जाएगा और दवाओं पर पेटेन्ट की समाप्ति के बाद इसमें और तेजी आएगी और यह शीघ्र ही 55-65 अरब डॉलर का हो जाएगा। इसके अलावा, विकसित देशों के स्वास्थ्य संबंधी देखभाल की लागत कम करने के दबाव के चलते जातिगत दवाओं के उपयोग में बढ़ोत्तरी होगी। अगले कुछ वर्षों के दौरान (कम से कम 2008 तक) जातिगत (दवा) बाजार के विकास के कारण भारतीय औषध उद्योग को बड़े पैमाने पर परिवर्तन करने का अवसर मिलेगा और वह काफी बड़ी राशि अनुसंधान और विकास में लगा सकेगा। जातिगत दवा व्यापार में कब्जा करने के लिए विशेष रूप से नियामक के आदेशों का पालन, पेटेन्ट और इसी तरह की अन्य कार्यवाहियों को चुनौती देने वाले कानूनी तरीकों को समय पर उठाना होगा। ऐसी मूल्य नीति अपनाना भी महत्वपूर्ण है जो प्रतियोगिता में ठहर सके। इस संदर्भ में भारतीय औषध उद्योग के लिये 'एवरग्रीनिंग' में जुड़े मामलों का सफलता से निपटारा भी आवश्यक

NOTES

है। एवरग्रीनिंग का अर्थ है - उसी दवा में मामूली परिवर्तन कर के बीस वर्ष से अधिक अवधि के लिए पेटेन्ट प्राप्त करना।

यह भविष्यवाणी करना मुश्किल है कि उत्पाद पेटेन्ट व्यवस्था उद्योग और उपभोक्ताओं को किस तरह प्रभावित करेगी। कुल मिला कर दवा कम्पनियाँ आशावान हैं। वे विश्व के जेनरिक दवा बाजार को अपना लक्ष्य बना रही हैं। इसके पीछे यह विचार अंतर्निहित है कि विश्व में प्राप्त अवसरों का उपयोग करना अधिक महत्वपूर्ण है। इसी के साथ उपभोक्ता को विश्वास दिलाना भी महत्वपूर्ण है। यहाँ पर मुख्य जिम्मेदारी औषधि निर्माण कम्पनियों पर है। ने यह सुनिश्चित करेंगी कि एकाधिकार शक्ति का दुरुपयोग नहीं किया जाएगा। दवाओं के मूल्य न्यायसंगत रखने का विचार, जिसका अर्थ है कि मुख्यतः विकसित देशों के लिए दवाओं का मूल्य अपेक्षाकृत अधिक रखा जाए और भारत जैसे देशों में उत्पादन और विपणन लागत से मामूली ऊपर रखा जाए। इस तरह की मूल्य रणनीति सभी को स्वीकार्य होगी। चिन्ता का एक अन्य विषय यह है कि उत्पाद पेटेन्ट व्यवस्था से उन बीमारियों की दवाओं की खोज और अनुसंधान को बढ़ावा नहीं मिलेगा जो भारत के लिए महत्वपूर्ण हैं। आँकड़ों से पता लगता है कि उन दवाओं के अनुसंधान और विकास पर बहुत कम धन व्यय किया जाता है जो विकसित देशों के लिए नहीं लेकिन भारत के लिए उपयोगी हैं। इन मामलों में सरकार द्वारा समर्थित अनुसंधान संस्थाओं की भूमिका आगे आती है। इसके अतिरिक्त सरकार की भूमिका निर्णायक होगी क्योंकि नए पेटेन्ट अध्यादेश का दवा नियंत्रण नियमों, अनिवार्य लाइसेन्स की प्रथा आदि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। तथापि, इन नियमों का उपयोग केवल सोच-समझकर विशेष परिस्थितियों से निपटने के लिए किया जा सकेगा। कम्प्यूटर प्रोग्राम को पेटेन्ट लाभ देने का क्षेत्र व्यापक बना दिया गया है। यह कार्य स्वतः कम्प्यूटर प्रोग्राम को पेटेन्ट सुरक्षा से बाहर कर के प्राप्त किया जाना है, जबकि कम्प्यूटर कार्यक्रम अथवा हार्डवेयर के साथ मिल कर तकनीकी प्रयोग को पेटेन्ट सुरक्षा प्राप्त होगी। पेटेन्ट कानून का सदैव से यह सिद्धान्त रहा है कि केवल खोज विचार को पेटेन्ट नहीं कराया जा सकता, लेकिन वे खोजें और विचार जिनमें तकनीकी पहलू अथवा तकनीकी योगदान भी हैं, पेटेन्ट कराए जा सकते हैं। अतः यह तर्क करना ठीक लगता है कि सारवान तकनीकी योगदान का अभाव आविष्कार को पेटेन्ट सुरक्षा प्राप्त करके अयोग्य बना देगा और यह सम्भव नहीं है कि मूल रूप से पेटेन्ट के लिए योग्य विषय वस्तु को केवल दावे की शब्दावली बदल कर पेटेन्ट योग्य बना दिया जाए। उदाहरण के लिए किसी प्रोग्राम को कम्प्यूटर चिप के लिए वाहक अथवा प्रोग्राम मुक्त परंपरागत कम्प्यूटर का रूप दे कर स्वीकार्य नहीं बनाया जा सकता। पेटेन्ट कानून में परिवर्तन से यह संभावना होती है कि पेटेन्ट योग्य तकनीकी योगदान में वृद्धि होगी। इस प्रावधान के साथ पेटेन्ट कराए जाने वाले कम्प्यूटर कार्यक्रम के प्रोग्रामों का मानक शायद यूरोपीय पेटेन्ट ऑफिस के समकक्ष हो जाएगा, लेकिन यह उतना उदार नहीं होगा जितना अमरीका का पेटेन्ट और ट्रेड मार्क ऑफिस है। फिर भी पेटेन्ट संबंधी नए अध्यादेश में तुच्छ या घटिया पेटेन्टों को सीमित रखने की ओर पूरा ध्यान दिया गया है।

किसी भी ज्ञान आधारित उद्योग के विकास के लिए मजबूत बौद्धिक अधिकार प्रमुख तत्व हैं। भारत में काफी समय से सॉफ्टवेयर प्रोग्रामों को साहित्यिक कृतियों के रूप में कॉपीराइट सुरक्षा प्राप्त है। तथापि, कॉपीराइट सुरक्षा असंकलन और विपरीत इंजीनियरिंग अथवा सॉफ्टवेयर प्रोग्राम और असुरक्षित/सुरक्षित न किए जाने वाले विचारों की नकल को रोकने की समस्या से निपटने में असमर्थ हैं। पेटेन्ट सुरक्षा संबंधी अध्यादेश के प्रावधानों से इस तरह की विशेष समस्याओं के समाधान में सहायता मिलती है। इसके अलावा, सॉफ्टवेयर सुरक्षा मिलने से घरेलू और विश्व बाजार में भारतीय सॉफ्टवेयर फर्मों की स्थिति मजबूत होगी। सॉफ्टवेयर पेटेन्ट किसी दूसरी फर्म को टेक्नोलॉजी का लाइसेन्स देने के लिए आवश्यक है क्योंकि यह सम्पत्ति अवसरवादी आचरण से सुरक्षा प्रदान करता है। अतः सम्भावना है कि सॉफ्टवेयर पेटेन्ट के परिणामस्वरूप अधिक लाइसेन्स दिए जाएंगे और अधिक संख्या में भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी फर्में अन्य बाजारों में प्रवेश कर सकेंगी। सॉफ्टवेयर उद्योग में परिवर्तनों के विशेष लक्षणों पर विचार करते हुए जैसे सूक्ष्म जीवन चक्र और अनुकृत्रिम परिवर्तन को अंततः पेटेन्ट सुरक्षा मिले। इस सुरक्षा से परिवर्तनों की गति तेज होगी और सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र में विकास और रोजगार के अधिक अवसर उत्पन्न होंगे। अनुमान है कि भारत के सकल राष्ट्रीय उत्पाद में सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र का योगदान 7 प्रतिशत और विदेशी मुद्रा में आय का 30 प्रतिशत है।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

1. पेटेन्ट अधिनियम 1970 के प्रमुख प्रावधानों को संक्षेप में समझाइये।
2. पेटेन्ट क्या है? पेटेन्ट अधिनियम के प्रावधानों की विवेचना कीजिए।
3. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए -
   (अ) पेटेन्ट विचार
   (ब) पेटेन्ट एजेन्ट एवं उसके अधिकार
   (स) नई पेटेन्ट व्यवस्था से उपजी समस्या

15

NOTES

सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण
(SOCIO-CULTURAL ENVIRONMENT)

व्यावसायिक पर्यावरण
(Business Environment)

व्यावसायिक पर्यावरण को मुख्य रूप से व्यवसाय के आन्तरिक और बाह्य पर्यावरण के रूप में देखा जाता है। यह माना जाता है कि सामान्यतः आन्तरिक पर्यावरण का व्यवसाय द्वारा नियंत्रण किया जा सकता है, लेकिन व्यवसाय का बाह्य पर्यावरण व्यवसाय के नियंत्रण में नहीं आ पाता। व्यवसाय के आन्तरिक पर्यावरण में पूर्तिकर्ता, विपणन, माध्यम, प्रतिस्पर्धी पक्ष, व्यवसाय की नीतियाँ, उद्देश्य, विचारधाराएँ, क्षमता, उत्पादन प्रणाली, कार्य वातावरण तथा योजनाएँ एवं प्रबंध सम्मिलित किये जाते हैं। व्यवसाय का बाहरी पर्यावरण, समग्र वातावरण का ही एक महत्वपूर्ण स्वरूप है। व्यवसाय के बाह्य पर्यावरण का अध्ययन निम्नलिखित पहलुओं के अध्ययन एवं विश्लेषण के द्वारा किया जाता है—

1. भौतिक पर्यावरण (Physical Environment)
2. आर्थिक पर्यावरण (Economic Environment)
3. राजनीतिक, शासकीय एवं प्रशासनिक पर्यावरण (Political, Government and Administrative Environment)
4. सामाजिक पर्यावरण (Social Environment)
5. सांस्कृतिक पर्यावरण (Cultural Environment)
6. जन-सांख्यिकीय पर्यावरण (Demographic Environment)
7. प्रौद्योगिक पर्यावरण (Technological Environment)
8. वैधानिक पर्यावरण (Legal Environment)
9. नैतिक पर्यावरण (Ethical Environment)
10. अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण (International Environment)

व्यवसाय और पर्यावरण का पारस्परिक संबंध
(Relationship between Business and Environment)

व्यवसाय और पर्यावरण एक-दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं तथा एक-दूसरे में अन्तर्निहित हैं। व्यवसाय के लिये समाज और सामाजिक संस्थाओं का भी अत्यधिक महत्व है, क्योंकि व्यवसाय, समाज का ही एक अंग है। व्यवसाय समाज में रहकर, समाज के लोगों के द्वारा ही किया जाता है। सामाजिक पर्यावरण का व्यवसाय पर पूरा-पूरा प्रभाव पडता है। यह देखा जाता है कि आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक व अन्य शक्तियाँ तथा सम्पूर्ण राष्ट्र के लक्ष्य व्यावसायिक क्रियाओं को प्रभावित करते हैं। सरकार की नीतियाँ एवं निर्णय, समाज के मूल्य, विश्वास, वैधानिक नियम, राजनीतिक प्रणाली, नैतिक स्तर एवं मान्यताएं तथा सम्पूर्ण आर्थिक वातावरण व्यवसाय को प्रभावित करते हैं। समाज में बदलती हुई विचारधाराएँ, प्रबंधकीय ज्ञान व कौशल, वैज्ञानिक विकास, विचार एवं दृष्टिकोण, परिवर्तनशील प्रौद्योगिकी तथा सांस्कृतिक वातावरण सभी किसी न किसी रूप में व्यवसाय को प्रभावित करते हैं। जो व्यवसाय बदलते हुये वातावरण के अनुरूप अपनी कार्य पद्धतियों, उत्पादन प्रणाली, संगठन सरचनाओं, नेतृत्व शैलियों, दर्शन व लक्ष्यों में नवीनता नहीं लाता; ऐसा व्यवसाय न तो समाज में अपना कोई योगदान कर पाता है और न ही अपने लक्ष्यों को पूरी तरह प्राप्त कर सकता है।

व्यवसाय एवं पर्यावरण के परस्पर संबंधों की प्रकृति व स्वभाव को निम्न बिन्दु और अधिक स्पष्ट करते हैं—

1. पर्यावरण में होने वाले बड़े एवं महत्वपूर्ण परिवर्तनों को पहचान का दायित्व व्यवसाय पर ही है।
2. व्यवसाय में विषम दशाओं के होते हुये भी एक व्यापक अनुकूलनशीलता का विद्यमान होना आवश्यक है।

NOTES

3. पर्यावरण में होने वाले आकस्मिक परिवर्तनों से अनेक खतरे उत्पन्न होते रहते हैं।
4. व्यवसाय का सम्पूर्ण पर्यावरण गतिशील है।
5. व्यवसाय को समाज में परिवर्तन लाने का माध्यम माना जाता है।
6. पर्यावरण के बदलते हुये परिदृश्य पर व्यवसाय के द्वारा निरन्तर निगाहें रखना आवश्यक है।
7. पर्यावरण के अनियंत्रित घटकों का व्यवसाय पर असीमित प्रभाव पड़ता है तथा अनेक बाधाएँ भी उत्पन्न होती रहती हैं।
8. व्यावसायिक पर्यावरण के सम्पूर्ण घटकों में पारस्परिक निर्भरता है।
9. व्यावसायिक पर्यावरण अनिश्चित एवं अनियंत्रित है।

व्यवसाय का सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण
(Socio-cultural Environment of Business)

व्यवसाय का सामाजिक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण, सम्पूर्ण व्यावसायिक वातावरण का ही अभिन्न हिस्सा है। समाज व संस्कृति व्यवसाय का आधार माने जाते हैं। सामाजिक घटकों व मूल्यों का उल्लंघन करके कोई भी व्यावसायिक उपक्रम अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रख सकता। समाज तथा संस्कृति ही व्यवसाय के समक्ष लक्ष्य, उद्देश्य व अभिलाषाएँ रखते हैं। व्यवसाय, समाज तथा संस्कृति एक-दूसरे में अन्तर्व्याप्त हैं।

सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य, समाज तथा संस्कृति की देन हैं। समाज में रहते हुये, व्यवसाय में कार्यरत एक व्यावसायिक उपक्रम को सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्यों को समझना आवश्यक हो जाता है। ऐसा करना उपक्रम की व्यावसायिक सफलता के लिये ज़रूरी है और इसलिये भी कि वह समाज का ही एक अंग है, उसने भी संस्कृति से अनेक संस्कार ग्रहण किये हैं तथा समाज और संस्कृति की सेवा करना, उसका कर्तव्य तथा दायित्व हो जाता है। यह भी सच है कि सामाजिक मूल्यों का संबंध किसी व्यक्ति विशेष से न होकर सम्पूर्ण समाज से होता है। आधुनिक समय में जो भी व्यवसायी सामाजिक मूल्यों के प्रति सजग रहा है, उसकी गरिमा में वृद्धि हुई है। सामाजिक मूल्यों में समय-समय पर परिवर्तन भी होते रहते हैं। सामाजिक मूल्यों में परिवर्तनों के कारण ही पिछले कुछ दशकों में नयी सामाजिक मान्यताओं की स्थापना हुई है, जिनका व्यावसायिक दर्शन के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। नयी मान्यताओं में से कुछ प्रमुख मान्यताएँ निम्नलिखित हैं—

(i) जाति, धर्म और सम्प्रदाय से अलग हट कर व्यक्ति के प्रति आदर-भावना में वृद्धि हुई है।

(ii) व्यवसाय में प्रतिस्पर्धा की भावना का विकास हुआ है।

(iii) विज्ञान एवं तकनीक तथा तर्कसंगत बातों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है।

(iv) व्यवसाय के प्रति सद्भावना एवं विश्वास में पहले की अपेक्षा वृद्धि हुई है।

(v) व्यक्तियों के पद व घरानों से संबंध की बजाय उनके कार्यों, योग्यताओं व व्यवहार का सम्मान होने लगा है।

(vi) शिक्षण, प्रशिक्षण तथा ज्ञानार्जन के प्रति रुचि एवं अभिरुचि में अभिवृद्धि हुई है।

(vii) उच्च जीवन स्तर-यापन में विश्वास के फलस्वरूप नयी सामाजिक संरचना ने व्यवसाय की कार्य पद्धतियों व प्रणालियों में गहन परिवर्तन किये हैं।

(viii) कार्य के नये ढंग, विधि, प्रविधि तथा तकनीक विकसित करने के लिये परिवर्तन, प्रयोग एवं शोध का महत्व बढ़ा है।

(ix) समाज में यह विश्वास बढ़ा है कि कार्य की इच्छा व क्षमता रखने वाले व्यक्तियों के लिये समाज में हमेशा 'अवसर' उपलब्ध रहते हैं।

सामाजिक मूल्यों की भाँति सांस्कृतिक मूल्य भी व्यवसाय को नया आकार व स्वरूप प्रदान करते हैं। सांस्कृतिक मूल्य, सामाजिक संरचना तथा समाज के विभिन्न पक्षों पर भी पूरा असर डालते हैं। सांस्कृतिक मूल्यों की झलक व्यवसाय के सोच, दृष्टिकोण, विचारधाराओं तथा मान्यताओं एवं उसके द्वारा लिये जाने वाले निर्णयों में स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

आधुनिक समय की तेज आर्थिक दौड़ में भी व्यावसायिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में उचित एवं अनुचित का निर्धारण सांस्कृतिक मूल्यों तथा आधारों पर ही होता है। प्रत्येक संस्कृति में सामाजिक प्रतिमान स्थापित रहते हैं। इन सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप व्यवहार को उचित तथा प्रतिकूल व्यवहार को अनुचित ठहराया जा सकता है। सांस्कृतिक मूल्य ही व्यवसाय में नैतिकता, सदाचार, उचित, अनुचित, न्यासिता तथा समाज के प्रति उत्तरदायित्व का बोध प्रदान करते

हैं। फार्मर एवं रिचमैन ने सामाजिक-सांस्कृतिक घटकों में इस बात को महत्वपूर्ण माना है कि समाज का व्यवसाय के प्रति दृष्टिकोण क्या है? समाज की व्यवसाय के बारे में किस तरह की मान्यताएँ हैं? इन विद्वानों ने दृष्टिकोण के रूप में सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों को अभिव्यक्त किया है। इनके विचार में समाज में व्यवसाय के प्रति निम्नलिखित महत्वपूर्ण दृष्टिकोण हो सकते हैं—

(i) प्रबंध, व्यवसाय तथा उद्यमशीलता के प्रति समाज का दृष्टिकोण।

(ii) सत्ता, अधिकार, शक्ति एवं अधीनस्थों के प्रति दृष्टिकोण।

(iii) श्रम-प्रबंध, पूँजी-प्रबंध आदि समूहों के बीच सहयोग की सीमा।

(iv) उपलब्धि, कार्य करने तथा दायित्व ग्रहण करने आदि के प्रति दृष्टिकोण।

(v) वर्ग संरचना, वैयक्तिक गतिशीलता, संदर्भ समूहों के प्रति दृष्टिकोण।

(vi) धन, भौतिक लाभों, उपयोगिताओं व सम्पत्ति के प्रति दृष्टिकोण।

(vii) परिवर्तनों, जोखिमों, साहस आदि के प्रति दृष्टिकोण।

सामाजिक पर्यावरण
(Social Environment)

सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण का एक महत्वपूर्ण भाग सामाजिक पर्यावरण है। सामाजिक पर्यावरण के द्वारा ही किसी देश में सामाजिक परिवर्तन या नियोजित परिवर्तन सम्भव होते हैं। सामाजिक पर्यावरण के अत्यन्त व्यापक आयाम हैं। अध्ययन की उपयोगिता की दृष्टि से इसका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

व्यवसाय के लिये समाज और सामाजिक संरचना तथा इनके प्रमुख घटकों को समझना आवश्यक होता है। इसी के द्वारा व्यवसाय की सामाजिक प्रवृत्तियों, शक्तियों व प्रभावी कारकों की जानकारी सम्भव होती है, जिससे व्यावसायिक निर्णयन अधिक प्रभावशाली हो सकते हैं। समाज, सामाजिक संरचनाएँ, संस्थाएँ आदि भिन्न-भिन्न देशों में पृथक-पृथक होते हैं। इनमें सार्वभौमिक एकरूपता मिल पाना कठिन होता है।

सामाजिक पर्यावरण के प्रमुख घटक
(Main Factors of Social Environment)

1. समाज में जाति एवं वर्ग व्यवस्था (Caste and Class System in Society)

समाज में जाति एवं वर्ग व्यवस्था की विद्यमानता समाजशास्त्रीय भाषा में स्तरीकरण कहलाती है। सामाजिक स्तरीकरण द्वारा एक समाज विभिन्न उच्च एवं निम्न समूहों में विभाजित एवं व्यवस्थित किया जाता है, तथा ये समूह परस्पर एक-दूसरे से जुड़े रहते हैं और सामाजिक एकता को बनाये रखते हुये समाज में स्थिरता कायम रखते हैं।

मैल्विन ट्यूमिन कहते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण पारिणामिक है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति के जीवन जीने के अवसर एवं शैली स्तरीकरण के स्वरूपों के आधार पर भिन्न-भिन्न होते हैं। किसी व्यक्ति को कितनी शक्ति, सम्पत्ति एवं मानसिक संतोष प्राप्त होगा, यह समाज में उसके स्तर पर निर्भर है।

स्तरीकरण का प्रमुख आधार (Bases of Stratification) :

समाज में स्तरीकरण का प्रमुख आधार प्राणीशास्त्रीय तथा दूसरा सामाजिक-सांस्कृतिक आधार है।

(अ) **प्राणीशास्त्रीय आधार पर** समाज व जनसंख्या को लिंग (पुरुष-स्त्रियों), आयु (शिशु, किशोर, प्रौढ़ एवं वृद्ध), प्रजाति (गोरी व काली प्रजातियाँ), जन्म (उच्च कुल, वंश, जाति) तथा शारीरिक एवं बौद्धिक कुशलता (बुद्धिमान, परिश्रमी, हृष्ट पुष्ट, कुशल, अकुशल, आलसी, क्षीणकाय तथा अयोग्य) आदि के आधार पर विभाजित किया जाता है।

(ब) **सामाजिक-सांस्कृतिक आधार पर** समाज व जनसंख्या को सम्पत्ति, व्यवसाय, धार्मिक-ज्ञान, राजनीतिक शक्ति के आधार पर विभक्त किया जाता है।

(i) **धार्मिक आधार** पर भारत में पण्डे, पुजारियों, धार्मिक गुरुओं, साधु-सन्तों एवं ब्राह्मणों की सामाजिक स्थिति उनके धार्मिक ज्ञान और धर्म से संबंधित होने के कारण ऊँची रही है। वर्तमान में धर्म के महत्व के घटने के साथ-साथ स्तर निर्धारण में इसका प्रभाव भी क्षीण होता जा रहा है।

(ii) **सम्पत्ति के आधार** पर ऊँच-नीच का भेद पाया जाता है। समाज में वे लोग ऊँचे माने जाते हैं, जिनके पास अधिक सम्पत्ति होती है। वे सभी प्रकार की विलासिता व सुख-सुविधाओं की वस्तुएँ खरीदने की क्षमता रखते हैं। सम्पत्ति के घटने व बढ़ने के साथ-साथ समाज में व्यक्ति का स्तर भी घटता-बढ़ता रहता है। इसी तरह समाज में कुछ व्यवसाय सम्मानजनक व ऊँचे माने जाते हैं तथा कुछ निम्न व घृणित।

NOTES

(iii) **सत्ता एवं अधिकारों के आधार** पर भी स्तरीकरण पाया जाता है। जिन लोगों के पास सैनिक शक्ति, सत्ता व शासन की बागडोर होती है, उनकी स्थिति उन लोगों से ऊँची होती है, जो सत्ता व शक्तिविहीन होते हैं। शासक और शासित का भेद सभी समाजों में पाया जाता है।

जाति प्रथा
(Caste System)

जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता जन्मजात होती है, प्रत्येक जाति का एक नाम और एक व्यवसाय होता है। एक जाति के लोगों का एक वंशानुगत पेशा होता है, और एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह करते हैं। वर्तमान समय में जाति में अनेक परिवर्तन हुये हैं और उसका परम्परागत स्वरूप विघटित हुआ है। जाति व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन या इसको निर्बल बनाने वाले कारक इस प्रकार हैं—

i. धन का बढ़ता महत्व।
ii. यातायात व संचार के साधनों में उन्नति।
iii. स्त्री शिक्षा का विस्तार व स्त्री को समाज में उच्च स्थान।
iv. संयुक्त परिवारों का विघटन।
v. पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता।
vi. स्वतंत्रता आंदोलन व प्रजातंत्र की स्थापना।
vii. औद्योगीकरण एवं नगरीकरण।
viii. अस्पृश्यता का धीरे-धीरे उन्मूलन।

इन कारणों के परिणामस्वरूप जाति-व्यवस्था की संरचना एवं कार्यों में अनेक परिवर्तन आये हैं और जाति में निम्नांकित नवीन प्रवृत्तियों का उदय हुआ है—

i. जातियों के पारस्परिक संबंधों में परिवर्तन आया है।
ii. व्यक्ति के महत्व को आंकने का आधार अब किसी जाति विशेष में जन्म लेना नहीं है।
iii. वर्तमान में जाति के विवाह संबंधी नियंत्रण शिथिल हुये हैं; अब अन्तर्जातीय विवाह, विलम्ब विवाह, विवाह विच्छेद एवं पुनर्विवाह आमतौर से होने लगे हैं।
iv. ब्राह्मणों की स्थिति में गिरावट।
v. अस्पृश्य जातियों के अधिकारों में वृद्धि हुई है।
vi. जातीय व स्तरीकरण में परिवर्तन।
vii. पेशे के चुनाव में स्वतंत्रता।
viii. भोजन संबंधी प्रतिबंधों में परिवर्तन।

वर्ग व्यवस्था
(Class System)

वर्तमान में हमारे यहाँ जाति प्रथा दिनों-दिन कमजोर होती जा रही है और इसके स्थान पर वर्ग व्यवस्था का विकास हो रहा है। आज हमें प्रशासक वर्ग, कृषक वर्ग, मजदूर वर्ग, व्यापारी वर्ग, पूँजीपति वर्ग, अध्यापक वर्ग, बुद्धिजीवी वर्ग, नौकरशाही वर्ग आदि के रूप में अनेक वर्ग दिखायी देते हैं।

भारतवर्ष में वर्गों के बनने में निम्नलिखित प्रमुख आधारों को महत्वपूर्ण माना जाता है—

1. व्यवसाय की प्रकृति।
2. विभिन्न धर्म एवं सम्प्रदाय।
3. निवास की स्थिति तथा अवधि।
4. सम्पत्ति, धन और आय।
5. परिवार और नातेदारी।
6. शिक्षा, प्रशिक्षण एवं पेशेवर शिक्षा।

वीसेन्ज एवं वीसेन्ज ने व्यक्ति के मकान का प्रकार, पड़ोस एवं आय के स्रोत को भी वर्ग निर्धारण में महत्वपूर्ण माना है। प्रत्येक वर्ग की एक अपनी खान-पान, रहन-सहन, सामाजिक प्रस्थिति (Status) एवं विशिष्ट संस्कृति एवं जीवन-शैली होती है जो दूसरे वर्गों से भिन्न होती है। हमारे देश में जिस प्रकार के वर्ग पाये जाते हैं, उनकी सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

NOTES

1. समाज में पायी जाने वाली भिन्नताओं तथा इनकी विशिष्टताओं के आधार पर समाज स्वतः ही अनेक वर्गों में विभाजित हो जाता है।
2. सामान्यतः एक वर्ग के लोगों को जीवन के कुछ विशिष्ट अवसर एवं सुविधाएँ समान रूप से प्राप्त होती हैं।
3. समाज में वर्गों की एक श्रेणी होती है, जिसमें कुछ वर्ग ऊपर, कुछ वर्ग मध्यम तथा कुछ वर्ग निम्नतम स्थान पर होते हैं।
4. एक वर्ग के लोगों की सामाजिक प्रस्थिति एक समान होती है।
5. प्रत्येक वर्ग के लोगों में वर्ग चेतना तथा ऊँच-नीच की भावना पायी जाती है।
6. वर्ग व्यवस्था में खुलापन होता है तथा जन्म का कोई महत्व नहीं होता।
7. प्रत्येक सामाजिक वर्ग में कई उपवर्ग भी पाये जाते हैं।
8. एक वर्ग के लोगों का जीवन जीने का तरीका लगभग समान होता है।

2. पारिवारिक संरचना एवं भूमिका (Structure and Role of Family)

संस्कृति के सभी स्तरों में चाहे उन्हें उन्नत कहा जाये या निम्न, किसी न किसी प्रकार का पारिवारिक संगठन अनिवार्यतः पाया जाता है। मनुष्य की समस्त सामाजिक संस्थाओं में परिवार एक आधारभूत एवं सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। परिवार, एक समूह, एक संघ तथा एक संस्था के रूप में समाज में विद्यमान है। मानव समाज के विकास के साथ-साथ परिवार के भी अनेक रूप अस्तित्व में आये हैं। प्रत्येक स्थान की भौगोलिक, आर्थिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की परिवार व्यवस्था को जन्म दिया है। मुख्य रूप से केन्द्रीय या नाभिक परिवार, संयुक्त परिवार तथा विस्तृत परिवारों की विद्यमानता समाज में रही है। विस्तृत परिवार का प्रायः लोप हो चुका है, तथा अब केन्द्रीय या नाभिक परिवार अधिक संख्या में पनपने लगे हैं। नवीन परिस्थितियों के कारण संयुक्त परिवार में होने वाले परिवर्तनों को कुछ विद्वानों ने 'पारिवारिक विघटन' माना है, तो कुछ इसे स्वरूप परिवर्तन ही कहते हैं।

एक संयुक्त परिवार में तीन या तीन से अधिक पीढ़ियों के सदस्य साथ-साथ एक ही घर में निवास करते हैं, उनकी सम्पत्ति सामूहिक होती है, वे एक ही रसोई का बना भोजन काम में लेते हैं, सामूहिक पूजा में भाग लेते हैं और परस्पर किसी नातेदारी व्यवस्था से संबंधित होते हैं। हिन्दुओं में और प्रमुखतया गाँवों में अभी तक संयुक्त परिवार का प्रचलन अधिक है। विस्तृत परिवार में सभी रक्त संबंधी एवं कुछ अन्य संबंधी भी सम्मिलित होते हैं। ऐसे परिवारों की सदस्य संख्या बहुत अधिक होती है।

केन्द्रीय परिवार आधुनिक औद्योगिक समाजों की प्रमुख विशेषता है। औद्योगीकरण तथा नगरीकरण के बढ़ने से ऐसे परिवारों की संख्या बढ़ी है। आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार तथा भौतिकवादी एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के विकास ने एकाकी परिवारों को बढ़ाने में विशेष योग दिया है। आज व्यक्ति नाते-रिश्तेदारों की दृष्टि से विशेष न सोच कर अपनी पत्नी व बच्चों के दृष्टिकोण से ही सोचता है। यही कारण है कि संयुक्त परिवार में रहने वाले बहुत से लोग भी आज एकाकी या नाभिक परिवार स्थापित करने की दृष्टि से सोचते हैं। केन्द्रीय या नाभिक परिवार, परिवार का सबसे छोटा रूप है, जो एक पुरुष, स्त्री तथा उसके आश्रित बच्चों से मिलकर बना होता है।

3. समाज एवं संस्थाएँ (Society and Institutions)

समाज व देश में अनेक सामाजिक संस्थाएँ होती हैं। सामाजिक संस्था समाज की एक ऐसी संरचना है जिसे मुख्यतः सुस्थापित प्रणालियों के द्वारा लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये संगठित किया जाता है। किसी देश में पायी जाने वाली विभिन्न संस्थाओं को मुख्यतः निम्नलिखित श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है

1. धार्मिक संस्थाएँ
2. राजनीतिक संस्थाएँ
3. सांस्कृतिक संस्थाएँ
4. शैक्षणिक संस्थाएँ
5. आर्थिक संस्थाएँ
6. सामाजिक संस्थाएँ
7. मनोरंजनात्मक संस्थाएँ।

समाज में विद्यमान संस्थाएँ समाज के कल्याण एवं एक नयी सामाजिक संरचना में योगदान के लिये निम्नलिखित कार्य करती हैं—

1. व्यक्तियों के कार्य को सरल बनाती हैं।
2. परिवार और जाति नामक संस्थाएँ हजारों वर्षों से अनेक रूपों में बच्चे सदस्यों के व्यवहारों को नियंत्रित कर रही हैं।

NOTES

3. संस्थाएँ संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करने का महत्वपूर्ण कार्य करती हैं।
4. संस्थाएँ सामाजिक परिवर्तन में सहायक होती हैं।
5. व्यक्तियों के व्यवहारों में अनुरूपता या समानता उत्पन्न करने में योगदान देती हैं।
6. संस्था व्यक्ति को स्थिति (पद) प्रदान करने और उससे संबंधित कार्य (भूमिका) का निर्धारण करने का महत्वपूर्ण कार्य करती हैं।
7. संस्थाएँ सामाजिक समस्याओं तथा जटिलताओं को सुलझाने के लिये सदैव प्रयत्नशील रहती हैं।

4. सामाजिक संरचना एवं समूह (Social Structure & Groups)

सामाजिक संरचना समाज के बाह्य स्वरूप का बोध कराती हैं। सामाजिक संरचना अनेक इकाइयों जैसे परिवार, संघ, प्रतिमानित संबंधों, मूल्यों, पदों तथा अन्य संस्थाओं गे से गिल कर बनती हैं। ये सभी इकाइयाँ परस्पर व्यवस्थित रूप से संबंधित होती हैं और अपने-अपने स्थान पर अपेक्षया स्थिर होती हैं। सामाजिक संरचना का अध्ययन सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों अर्थात् समूहों, समितियों तथा संस्थाओं के प्रकार एवं इन सबके संकुल जिनसे कि समाज का निर्माण होता है, से संबंधित है।

विभिन्न सामाजिक इकाइयों की रचना जिनसे मिल कर सामाजिक संरचना बनती है, समाज के बाह्य स्वरूप का निर्धारण करती हैं। **मैकाइवर एवं पारसन्स** सामाजिक संरचना को एक अमूर्त धारणा मानते हैं। उनका यह विचार है कि सामाजिक संरचना का निर्माण जिन संस्थाओं, एजेन्सियों, प्रतिमानों, प्रस्थितियों व भूमिकाओं से मिल कर होता है, वे सभी इकाइयाँ अमूर्त हैं। इसके अतिरिक्त इन इकाइयों में एक क्रमबद्धता भी पायी जाती है। प्रत्येक समाज की एक सामाजिक संरचना होती है और वह दूसरे से भिन्न होती है। प्रत्येक संरचना किसी न किसी सांस्कृतिक व्यवस्था से प्रभावित होती है। सामाजिक संरचना के निर्माण में सहयोगी एवं असहयोगी प्रक्रियाओं जैसे—सहयोग, अनुकूलन, व्यवस्थापन, एकीकरण, सात्मीकरण, प्रतिस्पर्धा आदि की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाइयों में 'समूहों' का महत्वपूर्ण स्थान है। समूह विभिन्न प्रकार के होते हैं—

1. व्यक्तियों की विभिन्न आवश्यकताओं—शैक्षणिक, व्यावसायिक, बौद्धिक, कलात्मक, राजनीतिक आदि की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के समूह निर्मित हो जाते हैं।
2. आकांक्षा के आधार पर एक महत्वपूर्ण क्षेत्र 'संदर्भ समूहों' (Reference groups) का है। ऐसे समूह को संदर्भ समूह माना जाता है।
3. कुछ समूह बड़े तथा कुछ छोटे होते हैं। इनका मुख्य आधार संख्या रहती है।
4. संबंधों की घनिष्ठता के आधार पर प्राथमिक तथा द्वितीयक समूह बनते हैं।
5. समूह औपनारिक तथा अनौपनारिक भी होते हैं।
6. कुछ समूह सार्वभौमिक प्रकृति के होते हैं तथा स्थिर समूहों की श्रेणी में आते हैं तथा कुछ ऐसे समूह होते हैं, जिनका अस्तित्व बिल्कुल अस्थायी होता है।

5. सामाजिक प्रास्थिति एवं भूमिका (Social Status and Role)

समाज की संरचना एवं संगठन का निर्माण विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा धारण की गयी सामाजिक प्रास्थितियों एवं भूमिकाओं के व्यवस्थित संयोग से ही होता है। अनेक प्रास्थितियाँ व्यवस्थित रूप से मिल कर ही सम्पूर्ण समाज का निर्माण करती हैं। समाज में उनके महत्व एवं उपयोगिता के आधार पर ही प्रास्थितियों के साथ सम्मान एवं शक्ति जुड़ी हुई होती है। प्रास्थिति के अनुरूप ही भूमिका के निर्वाह की स्थिति को हम 'प्रास्थिति एवं भूमिका का संतुलन' कहते हैं। यह संतुलन ही सामाजिक संगठन का मुख्य आधार है।

प्रास्थितियाँ मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित होती हैं। इसमें एक तो प्रदत्त प्रास्थिति तथा दूसरी अर्जित प्रास्थिति हो सकती है। प्रदत्त प्रास्थिति पर व्यक्ति का अपना कोई नियंत्रण नहीं होता। ये प्रास्थितियाँ व्यक्ति को किसी परिवार विशेष में जन्म लेने व परम्परा आदि के कारण प्राप्त होती हैं। समाज में प्रदत्त प्रास्थितियाँ पहले से ही विद्यमान होती है, जो नवीन जन्म लेने वाले बच्चों को प्रदान कर दी जाती हैं। दूसरी ओर समाज में कुछ प्रास्थितियाँ ऐसी भी हैं, जिन्हें व्यक्ति अपने गुण, योग्यता एवं क्षमता के आधार पर प्राप्त करता है। ये अर्जित प्रास्थितियाँ कहलाती हैं।

समाज में भूमिका को प्रास्थिति का गतिशील या व्यावहारिक पहलू माना जाता है। प्रास्थितियाँ धारण की जाती हैं, जबकि भूमिका का निर्वाह किया जाता है। एक व्यक्ति जिस प्रकार से एक प्रास्थिति से संबंधित दायित्वों का निर्वाह और उससे संबंधित सुविधाओं एवं विशेषाधिकारों का उपयोग करता है, उसे ही भूमिका कहा जाता है।

NOTES

6. धर्म और उसका प्रभाव (Religion and its Effects)

भारत जैसे धर्म-प्राण देश में धर्म का विशेष महत्व रहा है। हमारा देश एक विशाल जनसंख्या और काफी विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र वाला देश है। इस देश के निवासी विभिन्न धर्मों के अनुयायी हैं। भारतीय समाज में हिन्दू, जैन, सिख, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई तथा पारसी धर्म के मानने वाले लोग पाये जाते हैं। धर्म के आधार पर ही समाज व्यवस्था, सामाजिक संस्थाओं एवं समस्त मानव जीवन को व्यवस्थित करने का प्रयास किया गया है। मानव की सम्पूर्ण क्रियाओं का केन्द्र धर्म माना गया है। पश्चिमी देशों में भौतिक सुख को अधिक महत्व दिया गया है, किन्तु भारत में धर्म और आध्यात्मिक सुख को। धर्म भारतीय समाज का आधार है और भारतीयों का सम्पूर्ण जीवन धर्म के इर्द-गिर्द चक्कर लगाता है।

धर्म भारतीय संस्कृति का एक अटूट अंग है। धर्म व्यक्तियों के लिये कुछ कर्तव्य, आदेश व निषेध निर्धारित करता है, जिनका पालन अलौकिक शक्ति एवं ईश्वर के भय के कारण किया जाता है। एक ही धर्म के अनुयायियों के व्यवहारों में समानता के कारण एक सुदृढ़ संगठन की स्थापना होती है। धर्म के द्वारा सामाजिक आचरण के तरीकों को निर्धारित किया जाता है। व्यक्तियों द्वारा नियमों एवं कर्तव्यों के पालन से समाज में नियंत्रण बना रहता है।

धर्म ही एक ऐसी सामाजिक संस्था है जो व्यक्ति को अपने आप को परिस्थितियों से अनुकूलन करने में सहायता देता है। दुर्खीम का मत है कि धर्म उन सभी लोगों को एकता के सूत्र में पिरोता है, जो इसमें विश्वास करते हैं। धर्म सामाजिक कल्याण एवं मूल्यों को महत्वपूर्ण स्थान देकर सामाजिक एकीकरण में वृद्धि करता है। धर्म के द्वारा सामाजिक नियमों एवं नैतिकता की पुष्टि सम्भव होती है। धर्म के द्वारा ही भारतीय संस्कृति की रक्षा होती है। संसार में कई संस्कृतियों एवं सभ्यताओं ने जन्म लिया और लुप्त हो गयीं, किन्तु आज भी भारतीय संस्कृति अजर-अमर है। इसका श्रेय यहाँ के प्रमुख धर्म—'हिन्दू धर्म' को ही है।

सांस्कृतिक पर्यावरण
(Cultural Environment)

संस्कृति जीवन की सम्पूर्ण विधि है तथा मानसिक, सामाजिक एवं भौतिक साधन है, जिससे कि जीवन की सम्पूर्ण विधि बनी हुयी है। संस्कृति मानव की श्रेष्ठतम धरोहर है, जिसकी सहायता से वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे बढ़ता जा रहा है। बिना संस्कृति के मानव समाज का निर्माण सम्भव नहीं है। ई.डब्ल्यू. टेलर कहते हैं कि "संस्कृति वह जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा एवं ऐसी ही अन्य क्षमताओं एवं आदतों का समावेश है जो मनुष्य द्वारा समाज का एक सदस्य होने के नाते प्राप्त की जाती हैं।" आर. पिडिंगटन के अनुसार, "संस्कृति उन भौतिक एवं बौद्धिक साधनों और कारणों का सम्पूर्ण योग है जिसके द्वारा मानव अपनी प्राणीशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की संतुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।" लोवी के अनुसार "सम्पूर्ण सामाजिक परम्परा (Whole of Social Tradition) को संस्कृति कहते हैं।"

संस्कृति मानव के सीखे हुये व्यवहार-प्रतिमानों का योग है। संस्कृति मनुष्य को अपने माता-पिता द्वारा उसी प्रकार वंशानुक्रमण में प्राप्त नहीं होती, जिस प्रकार से शरीर रचना प्राप्त होती है। एक मनुष्य जिस समाज में पैदा होता है, उसी संस्कृति को धीरे-धीरे समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखता है। एक मनुष्य का पालन-पोषण किसी सांस्कृतिक पर्यावरण में ही होता है। संस्कृति में प्रचलित रीति-रिवाजों, धर्म, दर्शन, कला, संगीत, विज्ञान, प्रथाओं व व्यवहारों की छाप व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ती है।

संस्कृति की विशेषताएँ
(Characteristics of Culture)

संस्कृति की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं—

1. संस्कृति में संतुलन एवं संगठन होता है।
2. संस्कृति मनुष्य और जीवन से ऊपर व श्रेष्ठ है।
3. संस्कृति में अनुकूलन की क्षमता होती है।
4. संस्कृति सीखी व अपनायी जाती है।
5. संस्कृति किसी भी समाज की एक अमूल्य धरोहर है।
6. संस्कृति समूह के लिये आदर्श होती है।
7. प्रत्येक समाज की एक विशिष्ट संस्कृति होती है।
8. मानव व्यक्तित्व के निर्माण में संस्कृति निरन्तर सहायक होती है।

9. पीढ़ी-दर-पीढ़ी संस्कृति का हस्तान्तरण होता रहता है।
10. संस्कृति मानव-निर्मित है।
11. संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है।
12. संस्कृति में सामाजिक गुण निहित होता है।

भौतिक संस्कृति
(Material Culture)

आदिकाल से मनुष्य ने प्राकृतिक वस्तुओं और शक्तियों को परिवर्तित एवं नियंत्रित करके अपनी आवश्यकता-पूर्ति के लिये हजारों-लाखों वस्तुओं को बनाया है, जो भौतिक संस्कृति के अंग माने जाते हैं। भौतिक संस्कृति के अंतर्गत मानव निर्मित भौतिक एवं मूर्त वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है। भौतिक संस्कृति के सभी तत्वों को गिनना सरल नहीं है। सरल एवं आदिम समाजों की अपेक्षा जटिल एवं आधुनिक समाजों में इनकी संख्या बहुत अधिक है। इसी प्रकार पुरानी पीढ़ी की अपेक्षा नयी पीढ़ी के पास भौतिक संस्कृति अधिक है। मानव समाज के विकास के साथ-साथ भौतिक संस्कृति में भी वृद्धि होती गयी है।

अभौतिक संस्कृति
(Non-Material Culture)

अभौतिक संस्कृति में हम सामान्यतः सामाजिक विरासत में प्राप्त विचारों, विश्वास, मानदंड, व्यवहार, प्रथा, रीति-रिवाजों, कानून, मनोवृत्ति, साहित्य, ज्ञान, कला, संगीत, भाषा, नैतिकता, धर्म आदि को सम्मिलित करते हैं। ये सभी पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे चलते रहते हैं तथा प्रत्येक पीढ़ी में इनका नये सिरे से अर्जन व परिवर्तन भी किया जाता रहता है। लेकिन यह भौतिक संस्कृति की अपेक्षा कम परिवर्तनशील हैं तथा अधिक स्थायी हैं। एक व्यक्ति जिस समाज में जन्म लेता है, उसकी अभौतिक संस्कृति से अनुकूलन करके ही वह सफल सामाजिक जीवन व्यतीत कर सकता है। सफल अनुकूलन के अभाव में व्यक्ति को कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

संस्कृति के तत्व (Components of Culture) :

प्रत्येक संस्कृति की संरचना संस्कृति के कई छोटे-छोटे तत्वों, इकाइयों, भागों एवं उपभागों से मिलकर बनती है। संस्कृति की विभिन्न इकाइयों के परस्पर निर्भर व संबंधित होने से सम्पूर्ण संस्कृति में एक व्यवस्था एवं संतुलन दिखायी देता है। संस्कृति की संरचना को निर्मित करने वाले प्रमुख उपादान या अंगों में हम संस्कृति-तत्व, संस्कृति-संकुल, संस्कृति-प्रतिमान और संस्कृति-क्षेत्र को सम्मिलित करते हैं। संस्कृति की सबसे छोटी इकाई संस्कृति-तत्व है। कई संस्कृति-तत्व जब अर्थपूर्ण ढंग से परस्पर संबंधित हो जाते हैं तो उसे संस्कृति-संकुल कहते हैं। संस्कृति-संकुल जब संस्कृति को एक विशिष्ट रूप प्रदान करते हैं तो उसे संस्कृति-प्रतिमान कहते हैं। एक विशिष्ट क्षेत्र तक इन सांस्कृतिक प्रतिमानों का विस्तार ही संस्कृति क्षेत्र कहलाता है।

संस्कृति तत्व—जिस प्रकार से पदार्थ की छोटी से छोटी इकाई परमाणु है, शरीर की छोटी से छोटी इकाई कोष तथा सामाजिक-संरचना की परिवार है, उसी प्रकार से संस्कृति की छोटी से छोटी अविभाज्य इकाई संस्कृति-तत्व (Culture traits) है। संस्कृति के भौतिक एवं अभौतिक दोनों ही पक्ष होते हैं। इसलिये सांस्कृतिक-तत्व भी भौतिक एवं अभौतिक दोनों ही प्रकार के होते हैं।

संस्कृति संकुल (Culture complex) : जब सांस्कृतिक तत्व परस्पर अर्थपूर्ण ढंग से जुड़ जाते हैं और वे मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं तो उसे सांस्कृतिक-संकुल कहते हैं। ये सब तत्व परस्पर विशेष अर्थों में उसी तरह से जुड़े हुये हैं जिस प्रकार कई फूल मिल कर गुलदस्ते का निर्माण करते हैं; नागा जनजाति के लोगों में नरमुण्ड प्राप्ति एक सांस्कृतिक-संकुल है, जिसमें अनेक धार्मिक एवं सामाजिक क्रियाओं के रूप में सांस्कृतिक तत्व सम्मिलित हैं।

संस्कृति-प्रतिमान (Culture Pattern)—संस्कृति-प्रतिमान की अवधारणा के अंतर्गत संस्कृति की मूलभूत प्रेरणाओं और आदर्शों का अध्ययन किया जाता है जो कि संस्कृति को एक विशेष दिशा व स्वरूप प्रदान करते हैं। प्रत्येक संस्कृति में हमें कुछ मूलभूत प्रेरणाएं, आदर्श या सिद्धान्त देखने को मिलते हैं, जो दूसरी संस्कृतियों से भिन्न हो सकते हैं। इन आदर्शों एवं प्रेरणाओं को उस संस्कृति के सभी लोग स्वीकार करते हैं एवं उन्हें सीखते व ग्रहण करते हैं, जिससे उनके व्यवहारों में एकरूपता आती है।

संस्कृति-क्षेत्र (Culture Area)—संस्कृति-तत्व या सांस्कृतिक संकुल एक विशेष भौगोलिक क्षेत्र में फैलकर संस्कृति क्षेत्र का निर्माण करते हैं। ऐसा क्षेत्र भी संस्कृति-क्षेत्र कहलाता है, जिसमें समान संस्कृतियाँ पायी जाती हैं। एक

सांस्कृतिक-क्षेत्र भौगोलिक क्षेत्र के उस भाग के रूप में माना जाता है, जिससे संस्कृति इतनी मात्रा में समानता प्रकट करती है कि उसे उन संस्कृतियों से पृथक कर देती है, जो उस क्षेत्र के बाहर हैं।

संस्कृति के अंतर्गत हम मानव द्वारा निर्मित भौतिक एवं अभौतिक सभी तत्वों को सम्मिलित करते हैं। मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो संस्कृति का धनी है। संस्कृति-विहीन मानव पशु समान है। संस्कृति ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण करती है, उसके व्यवहार को निर्देशित एवं नियंत्रित करती है तथा व्यवसाय को आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करती है। समाज में व्यक्तियों का व्यवहार-संस्कृति का प्रतिबिम्ब माना जाता है।

सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का प्रभाव
(Impact of Socio-Cultural Values)

व्यावसायिक निर्णयों को प्रभावित करने में सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों तथा प्रतिमानों का बहुत बड़ा हाथ होता है। सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य ऐसे मानक के रूप में होते हैं, जिनके द्वारा हम किसी व्यवहार, वस्तु, भावना, लक्ष्य एवं साधन को उचित एवं अनुचित, अच्छा या बुरा तथा सही या गलत ठहराते हैं। मूल्य एक प्रकार से सामाजिक माप है, जिसके आधार पर किसी वस्तु का मूल्यांकन किया जाता है। इन मूल्यों को मनुष्य समाजीकरण की क्रिया द्वारा ही सीखता है और आन्तरीकृत करता है, तथा उन्हीं के अनुरूप आचरण करने की सोचता है।

डॉ. राधाकमल मुखर्जी का मत है कि यदि कोई समाज अपने अस्तित्व को बनाये रखना चाहता है तो उसे व्यक्तित्व के सर्वोच्च मूल्यों की नियमित रूप से पूर्ति करनी चाहिये।

एच.एम. जॉनसन के अनुसार, "मूल्य को एक धारणा या मानक के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो कि सांस्कृतिक हो सकता है या केवल व्यक्तिगत और जिसके द्वारा वस्तुओं की एक साथ तुलना की जाती है और वे एक-दूसरे के संदर्भ में स्वीकार या अस्वीकार की जाती हैं। वांछित या अवांछित, अच्छी या बुरी, अधिक या कम उचित मानी जाती हैं।"

एच. फिशर के अनुसार, "समाजशास्त्रीय दृष्टि से मूल्यों को उन कसौटियों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जिनके द्वारा समूह या समाज व्यक्तियों, प्रतिमानों, उद्देश्यों और अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुओं के महत्व का निर्णय करते हैं।" इस प्रकार मूल्य वे कसौटियाँ हैं जो कि सम्पूर्ण संस्कृति एवं समाज को अर्थ एवं महत्व प्रदान करती है।

एम. हारलाम्बो लिखते हैं कि "मूल्य एक विश्वास है, जो यह बताता है कि क्या अच्छा और वांछनीय है। यह परिभाषित करता है कि क्या महत्वपूर्ण है, लाभप्रद है और प्राप्त करने योग्य है।"

एस.एफ.जे. वुड्स लिखते हैं कि "सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य वे सामान्य सिद्धान्त हैं जो दिन-प्रतिदिन के जीवन में व्यवहार को नियंत्रित करते हैं। ये मानव व्यवहार को दिशा प्रदान करने के साथ-साथ अपने आप में आदर्श एवं उद्देश्य भी हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य में केवल यही नहीं देखा जाता कि क्या होना चाहिये, बल्कि यह भी कि क्या सही है एवं क्या गलत है।"

सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की प्रमुख विशेषताएँ
(Main Characteristics of Socio-Cultural Values)

सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

1. **सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य भिन्नताएँ लिये होते हैं**—प्रत्येक समाज एवं संस्कृति के अपने मूल्य होते हैं, जो दूसरे समाज और संस्कृति से भिन्न होते हैं। भारतीय समाज व संस्कृति एवं पश्चिमी समाजों व संस्कृतियों के मूल्य में भिन्नता पायी जाती है।

2. **सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य गतिशील होते हैं**—सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य हमेशा एक समान नहीं होते। समय और परिस्थितियों के साथ इनमें परिवर्तन आता रहता है। मूल्यों का उद्देश्य समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करना है, अतः जब समाज की आवश्यकताएँ बदलती हैं, तो ये मूल्य भी परिवर्तित होते हैं।

3. **सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य सामाजिक कल्याण व आवश्यकताओं के लिये महत्वपूर्ण**—सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य समूह के कल्याण एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये आवश्यक हैं। इनके अनुरूप आचरण करने पर ही समूह में संगठन, एकरूपता व एकरूपता बनी रहती है। इनके अभाव में सामाजिक संबंधों में समानता लाना कठिन है।

4. **सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य भावनाओं से जुड़े होते हैं**—मूल्यों के साथ लोगों की भावनाएँ जुड़ी हुई रहती हैं। यही कारण है कि वे व्यक्तिगत हितों को तिलांजलि देकर भी इनकी रक्षा करते हैं। देशभक्ति के मूल्यों की रक्षा के लिये ही लोग युद्ध में अपना बलिदान देते हैं।

5. सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य-समूह सामाजिक मानक हैं—मानक का तात्पर्य है जिसके द्वारा हम किसी वस्तु या व्यवहार को मापते हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य भी मानक हैं, जिनके द्वारा हम किसी वस्तु, व्यवहार, लक्ष्य, साधन गुण आदि को अच्छा या बुरा, उचित या अनुचित, वांछित या अवांछित ठहराते हैं।

6. सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य समाज द्वारा स्वीकार किये जाते हैं—समूह एवं समाज के सभी लोगों में इन मूल्यों के बारे में एकमतता पायी जाती है। वे सभी उन्हें स्वीकार करते हैं और मान्यता प्रदान करते हैं।

7. सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य सामूहिक होते हैं—मूल्यों का किसी व्यक्ति विशेष से संबंध नहीं होता वरन ये सारे समाज व समूह की धरोहर होते हैं। इनका निर्माण किसी एक व्यक्ति के द्वारा नहीं किया जाता, बल्कि ये सामूहिक अन्तर्क्रिया की उपज एवं परिणाम होते हैं।

सामाजिक प्रतिमानों का प्रभाव
(Impact of Social Norms)

सामाजिक प्रतिमानों के आधार पर हम किसी मानवीय व्यवहार को उचित या अनुचित ठहराते हैं। मनुष्य में मूल रूप से वे सभी प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं जो पशुओं में होती हैं। किन्तु पशुओं का व्यवहार केवल शारीरिक आवश्यकताओं से प्रभावित होता है, जबकि मनुष्य का व्यवहार अंशतः शारीरिक व अंशतः सांस्कृतिक व्यवस्था द्वारा प्रभावित होता है। सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाये रखने के लिये ही मनुष्य ने अनेक प्रथाओं, रीति-रिवाजों, परिपाटियों, रूढ़ियों एवं कानून आदि की रचना की है।

किंग्सले डेविस ने सामाजिक प्रतिमानों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है—जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, कानून, संस्थाएँ, प्रथाएँ, नैतिकता और धर्म, परिपाटी, शिष्टाचार, फैशन या धुन। इनके प्रभावों को जानने के लिए कुछ प्रमुख प्रकार के प्रतिमानों का विवेचन किया जा रहा है।

जनरीतियाँ अथवा लोकरीतियाँ—जनरीतियाँ या लोकरीतियाँ हमें सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण में रहने की कला सिखलाती हैं। सभी युगों तथा संस्कृति की सभी अवस्थाओं में मनुष्यों के सम्पूर्ण जीवन पर प्रारम्भिक नियंत्रण जनरीतियों के एक विशाल समूह से होता रहता है। बार-बार दोहराने के कारण जनरीतियाँ हमारे कार्य करने और विचार करने की आदत बन जाती हैं तथा वे हमारे मानसिक जीवन की अकथनीय सीमाओं का निर्माण करती हैं। जनरीतियों में केवल ऊपरी सतह से ही परिवर्तन होते हैं। दैनिक जीवन में हम हजारों तरह की जनरीतियों का पालन करते हैं। खाने-पीने, नहाने, सोने, उठने-बैठने, अभिवादन करने, वस्त्र पहनने आदि के लिये प्रत्येक समाज में जनरीतियाँ प्रचलित हैं।

लोकाचार एवं रूढ़ियाँ—मानव व्यवहार के वे प्रतिमान हैं जिनका उल्लंघन करना समाज का अपमान करना समझा जाता है। ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते रहते हैं, जिन्हें बिना किसी विचार या तर्क के स्वीकार कर लिया जाता है। लोकाचार के प्रमुख उदाहरणों में एक विवाह प्रथा, सती प्रथा, पतिव्रत, पति सेवा, मातृ-पितृ सेवा, बाल-विवाह, विधवा विवाह निषेध, सम्पत्ति उत्तराधिकार के नियम, पत्नी का पति के प्रति वफादार होना आदि उल्लेखनीय हैं।

प्रथाएं—ये भी अनौपचारिक सामाजिक प्रतिमान है। जब जनरीतियों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित किया जाता है, तो वे प्रथाएँ बन जाती हैं। प्रथाएँ हमारी संस्कृति की धरोहर मानी जाती हैं, उनमें तर्क का होना आवश्यक नहीं है। प्रथाएँ ऐसी जनरीतियाँ हैं जो एक पीढ़ी तक निरन्तर प्रचलन में रहते हुये औपचारिक मान्यता प्राप्त कर लेती हैं।

परम्परा—यह मनुष्य को विरासत में मिलती है। व्यक्ति के जीवनयापन के लिये अनेक भौतिक व अभौतिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। यह सब उसे समाज द्वारा प्रदत्त सामाजिक विरासत के रूप में मिलता है। परम्परा में विश्वास की दृढ़ता ही प्रबल शक्ति है। सिसरो ने कहा है "यदि पूर्व की घटनाओं की स्मृतियाँ वर्तमान को अतीत के साथ सम्बद्ध न करें तो फिर मानव जीवन है ही क्या? परम्परा के बिना मानव जीवन विशृंखलित हो जायेगा।" समस्याओं को सुलझाने एवं परिस्थितियों का सामना करने के पुराने ढंगों के आधार पर नये ढंगों की खोज की जा सकती है। परम्पराएं हमें धैर्य, साहस एवं आत्म-विश्वास प्रदान करती हैं।

फैशन तथा धुन—ये समाज में निरन्तर बने रहते हैं। इन्हें समझने व इनका विश्लेषण करना व्यवसाय के लिए जरूरी है। मनुष्य नवीनता एवं भिन्नता के लिये परिवर्तन चाहता है। वह प्राचीन आदर्शों का अन्धानुकरण करता हुआ भी नवीनता व परिवर्तन का प्रेमी है। जनरीतियों, लोकाचार, प्रथा, परम्परा, नैतिकता, परिपाटी एवं शिष्टाचार में अपेक्षाकृत स्थायित्व पाया जाता है जबकि फैशन पूर्णतः अस्थायी प्रकृति के होते हैं। स्पेन्सर ने फैशन को प्रथाओं के बीच पाये जाने वाले भेदों को दूर करने वाला माना है। जब प्रथाओं का पतन होता है तो फैशन का अधिक प्रचलन होता है। औद्योगीकरण की वृद्धि के साथ-साथ फैशन का प्रचलन भी बढ़ा है।

NOTES

सामाजिक एवं व्यावसायिक जीवन पर प्रभाव

मनुष्य की आधारभूत इच्छाओं तथा आवश्यकताओं की संतुष्टि करने में मूल्यों का महत्वपूर्ण हाथ होता है। सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य समाज में एकता, संगठन व नियंत्रण बनाये रखते हैं। सामाजिक व व्यावसायिक जीवन को सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य निम्नांकित ढंग से प्रभावित करते हैं—

1. मानव आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक—सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि ये मानव के शारीरिक, सामाजिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये ही समय-समय पर अनेक आविष्कार होते रहे हैं और वे समाज तथा संस्कृति के अंग बनते गये हैं।

2. मानवीय मूल्य व आदर्शों के स्रोत—प्रत्येक समाज व संस्कृति में मानव व्यवहार एवं आचरण से संबंधित कुछ मूल्य एवं आदर्श होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति इन मूल्यों एवं आदर्शों के अनुरूप ही समाज में व्यवहार करता है।

3. सामाजिक नियंत्रण में सहायक—सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य सामाजिक नियंत्रण के सशक्त साधन हैं। ये व्यक्ति एवं समूह पर एक निश्चित प्रकार का व्यवहार करने या न करने के लिये दबाव डालते हैं। समाज द्वारा मूल्यों के विपरीत आचरण करने वालों के लिये दण्ड तथा मूल्यों के अनुरूप आचरण करने वालों की प्रशंसा व सराहना की जाती है।

4. बदलते हुये समय में परिवर्तित मूल्यों को अपनाना—सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य समय व परिस्थिति के साथ यदि परिवर्तित नहीं होते हैं या समाज के लोगों की आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक होते हैं, तो लोगों द्वारा ऐसे मूल्यों का खंडन एवं त्याग करना प्रारम्भ हो जाता है और समयानुकूल नये मूल्यों को अपनाने लगते हैं।

5. सामाजिक क्षमता का मूल्यांकन—सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों द्वारा ही समाज के व्यक्ति यह जानने में समर्थ होते हैं कि दूसरे लोगों की दृष्टि में उनका क्या स्थान है? वे संस्तरण में कहाँ स्थित हैं? समूह एवं व्यक्ति की क्षमता का मूल्यांकन सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के आधार पर ही किया जाता है।

6. समाज में एकरूपता उत्पन्न करते हैं—सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य, सामाजिक संबंधों एवं व्यवहारों में एकरूपता उत्पन्न करते हैं। सभी व्यक्ति समाज में प्रचलित मूल्यों के अनुसार ही आचरण करते हैं। इसके परिणामस्वरूप सभी के व्यवहारों में समानता उत्पन्न होती है।

7. सामाजिक भूमिकाओं का निर्देशन—सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य यह तय करते हैं कि एक व्यक्ति किसी विशिष्ट परिस्थिति में किस प्रकार की भूमिका निभायेगा। समाज उससे किस प्रकार का आचरण करने की अपेक्षा करता है। स्थान व काल के अनुसार भूमिकाओं में भिन्नता पायी जाती है। भारत में पति पत्नी की भूमिका अमेरिका व इंग्लैंड में पति-पत्नी की भूमिका से इसलिये भिन्न है कि इन देशों की 'मूल्य व्यवस्था' में अन्तर है।

8. भौतिक संस्कृति का महत्व बढ़ाते है—भौतिक संस्कृति के कुछ तत्व समाज के कुछ लोगों या समूहों के लिये चाहे इतने अधिक महत्वपूर्ण न भी हों, किन्तु उनके पीछे सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य कार्यरत रहते हैं। अतः लोग उन वस्तुओं को रखने में रुचि रखते हैं।

9. सामाजिक संगठन व एकीकरण में सहायक—सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य समाज में एक विशिष्ट प्रकार के स्वीकृत एवं प्रतिमानित व्यवहारों को जन्म देते हैं। समूह के सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे इन प्रतिमानित व्यवहारों के अनुरूप आचरण करें। समान आदर्शों, व्यवहारों एवं मूल्यों को स्वीकार करने के कारण आत्मीयता एवं सामुदायिक भावना का विकास होता है।

10. व्यक्ति के व्यवहार एवं प्रगति के लिये महत्वपूर्ण—सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का व्यक्तिगत जीवन से भी घनिष्ठ सबंध है। सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य सारे समूह एवं समाज की देन होते हैं। समाजीकरण द्वारा व्यक्ति इन मूल्यों को आत्मसात् करता है और अपने व्यवहार, आचरण एवं जीवन को उनके अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है।

11. सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्य व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं—प्रत्येक मनुष्य का पालन-पोषण सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण में ही होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति के अभौतिक तत्वों जैसे प्रथाओं, रीति-रिवाजों, धर्म, दर्शन, कला विज्ञान आदि को ग्रहण करता है और अपने व्यक्तित्व में उनको आत्मसात् करता है।

सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों में भारतीय परम्पराओं का महत्व
(Importance of Indian Traditions in Socio-cultural Values)

एडवार्ड शिल्स यह कहते हैं कि "वर्तमान में जितनी भी चीजें हैं, उनका एक भूतकाल (इतिहास) रहा है। जो कुछ भी घटित होता है, वह अपनी भूतकाल की पकड़ से पूर्णतः मुक्त नहीं होता। जो भी नवीनताएं हैं, वे पूर्व में जो कुछ

NOTES

मौजूद था, उसी का रूपान्तरण हैं।" परम्पराएँ एक ऐसी प्रक्रिया का परिणाम है जिसमें सांस्कृतिक विरासत के तत्व एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित किये जाते हैं। परम्पराओं का मुख्य वाहक भाषा है।

भारतीय परम्पराएँ भारतीय समाज की अमूल्य निधि हैं। अपनी मौलिक परम्पराओं के कारण ही भारतीय समाज आज भी जीवित है, जबकि विश्व के अनेक प्राचीन समाज पतन के गर्त में जा चुके हैं। भारतीय समाज का विश्व इतिहास में अनूठा स्थान है।

भारतीय परम्पराओं की कुछ प्रमुख व महत्वपूर्ण विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं—

1. खण्डात्मकता—प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी परिवार, वंश, जाति, उपजाति व नातेदारी समूह का सदस्य होता है। यह खण्डात्मकता हमें धर्म व देवी-देवताओं में भी मिलती है।

2. परलोकवाद—भारतीय परम्परा में इस भौतिक जगत के स्थान पर परलोक अर्थात् आध्यात्मिक जगत को अधिक महत्व दिया गया है। इस जगत को 'माया' की संज्ञा दी गयी है, जिसका तात्पर्य है कि हम जो कुछ देख रहे हैं वह सब नश्वर है।

3. धर्म—भारतीय समाज की परम्परा धर्म प्रधान रही है। यहाँ धर्म के द्वारा मानव जीवन के प्रत्येक व्यवहार को नियंत्रित करने का प्रयास किया गया है। भारतीयों का धर्म सभी जीवों के कल्याण, क्षमा और दया में विश्वास करता है।

4. पुरुष-प्रधानता—यहाँ स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों को श्रेष्ठ माना जाता है। भारतीय समाज पुरुष-प्रधान समाज है। कई ऐसे कार्य हैं जो केवल पुरुषों के लिये ही निर्धारित हैं।

5. संगति—यह विभिन्न रूपों व अवस्थाओं में दिखायी देती है। मानव शरीर के विभिन्न अंगों की तरह मनुष्य और अलौकिक शक्ति के बीच, परिवार में विभिन्न सदस्यों के बीच, ग्रामीण जीवन व राजनीति के बीच संगति रहती है। इसके अभाव में विघटन शुरू हो जाता है।

6. संस्तरण—समाज उच्च व निम्न समूहों में बँटा हुआ है। आधुनिक औद्योगिक संगठनों तथा अन्य संगठनों में भी एक निश्चित संस्तरण (Hierarchy) देखने को मिलता है।

7. **बौद्धिकवाद**—बौद्धिकवाद को जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। बौद्धिक एवं धार्मिक क्रियाओं का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति का शरीर के बंधन से मुक्त होना है।

8. **जीवन चक्र**—जीवों को जन्म-मरण के चक्र से गुजरना होता है। भारतीय परम्परा में 84 लाख योनियों की कल्पना की गयी है, जिनमें से व्यक्ति को गुजरना पड़ता है। मोक्ष प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति ही जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होता है।

9. **कुटुम्बिकता**—भारतीय परम्पराओं में व्यक्ति की अपेक्षा परिवार और नातेदारी को अधिक महत्व दिया गया है। विवाह को दो व्यक्तियों का नहीं, बल्कि दो परिवारों का मिलन माना जाता है।

10. **अहिंसा**—बुद्ध, महावीर और गाँधी भारत में अहिंसा के पुजारी माने जाते हैं। व्यक्तियों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे प्रत्येक जीवन का आदर करें और उसके प्रति मन, कर्म तथा वचन से किसी प्रकार से भी हिंसा न करें।

11. **पवित्रता-अपवित्रता की धारणा**—इन्हें हमारे समाज में उच्च विचार से देखा गया है। पवित्रता की अपेक्षा अनेक स्थानों, अवसरों पर व्यक्ति जाति विशेष के लिए की जाती है। अनेक बातों को अपवित्र माना गया है जिन्हें दूर रहने की अपेक्षा की जाती है।

उपरोक्त विशेषताओं के अलावा भी भारतीय परम्पराओं में अनेक महत्वपूर्ण विशेषताएं देखने को मिलती हैं—

(i) निष्काम कर्म व पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास।

(ii) नैतिकता का निर्वाह।

(iii) लोगों का अध्यात्मवाद में विश्वास।

(iv) वैराग्य और सहिष्णुता व प्रेम-भाव की विद्यमानता।

(v) सत्य, आत्मा व ईश्वर में विश्वास।

(vi) सर्वोदय एवं सर्वांगीणता की विचारधाराओं में विश्वास।

(vii) न्यासिता की प्रबलता में विश्वास।

NOTES

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

1. व्यावसायिक पर्यावरण से आपका क्या आशय है ? सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का व्यावसायिक पर्यावरण पर पड़ने वाला प्रभाव समझाइये।
2. व्यवसाय और वातावरण का पारस्परिक सम्बन्ध समझाइए तथा व्यवसाय एवं वातावरण की अन्तर्क्रियाओं के प्रभावों की जानकारी का महत्व बताइए।
3. व्यवसाय के सामाजिक-सांस्कृतिक पर्यावरण को विस्तारपूर्वक समझाइए।
4. सामाजिक वातावरण के विभिन्न घटकों का विस्तार से विवेचन कीजिए।
5. सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों को परिभाषित कीजिए तथा इनकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
6. संस्कृति का अर्थ समझाइए तथा संस्कृति के प्रमुख उपादानों को समझाइए।
7. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये—
   (i) समाज में जाति एवं वर्ग व्यवस्था।
   (ii) सामाजिक प्रास्थिति एवं भूमिका।
   (iii) व्यवसाय पर सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों का प्रभाव।
   (iv) सामाजिक प्रतिमानों का प्रभाव।
   (v) सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों में भारतीय परम्पराओं का महत्व।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

16

अन्तर्राष्ट्रीय व्यावसायिक पर्यावरण एवं विकासशील देशों की समस्याएँ

(INTERNATIONAL BUSINESS ERVIRONMENT AND PROBLEMS OF DEVELOPING COUNTRIES)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ
(Meaning of International Trade)

जब दो या दो से अधिक राष्ट्रों के मध्य वस्तुओं या सेवाओं का आदान-प्रदान किया जाता है तो उसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहा जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ स्पष्ट करने के लिए 'राष्ट्रीय' शब्द को समझना आवश्यक है। राष्ट्र से तात्पर्य राजनीतिक दृष्टिकोण के साथ-साथ आर्थिक पहलू से भी होता है। किण्डलबर्गर (Kindleberger) के अनुसार, एक देश स्वयं को एक राजनीतिक इकाई के रूप में इस कारण सफलतापूर्वक संगठित कर लेता है कि उसके नागरिक एवं उसकी सरकार आपस में एकता एवं निकटता का सम्बन्ध बनाये रखते हैं। इसी प्रकार आर्थिक अर्थ में एक राष्ट्र उत्पादकों का एक ऐसा समूह है जिसमें श्रम एवं पूँजी (उत्पत्ति के साधन) गतिशील होते हैं।

मोटे तौर पर व्यापार को दो भागों में विभाजित किया जाता है, यथा (1) **आन्तरिक व्यापार** (Internal Trade) और (2) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार** (International Trade)। इनका विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है –

(1) **आन्तरिक व्यापार** (Internal Trade) – एक ही देश के विभिन्न स्थानों या क्षेत्रों के निवासियों के मध्य वस्तुओं और सेवाओं के क्रय-विक्रय को आन्तरिक व्यापार कहते हैं, जैसे इन्दौर से कपड़ा, मद्रास या भोपाल अथवा दिल्ली बेचा जाना आन्तरिक (Internal) व्यापार कहलाता है। आन्तरिक व्यापार को गृह व्यापार (Home Trade), घरेलू व्यापार (Domestic Trade), राष्ट्रीय व्यापार (National Trade) एवं अन्तर्क्षेत्रीय व्यापार (Inter Regional Trade) भी कहते हैं।

(2) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार** (International Trade) – जब दो या दो से अधिक राष्ट्रों के मध्य वस्तुओं एवं सेवाओं का क्रय-विक्रय होता है, तब उसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहते हैं। बेस्टेबल के शब्दों में "सामाजिक विज्ञान के दृष्टिकोण से हम कह सकते हैं कि सामान्यतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समाजों के मध्य व्यापार है।" प्रो. वासरमेन एवं प्रो. हल्टमेन के अनुसार "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वस्तुओं, सेवाओं, उपहारों, पूँजी एवं मूल्यवान वस्तुओं का वह विनिमय है जिससे इन मदों का स्वामित्व एक देश के निवासियों के पास से दूसरे देश के निवासियों के पास चला जाता है। यह वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने से संबंधित कानूनों, संस्थाओं एवं व्यवहारों का वर्णन, इसे विश्लेषण करता है।" संक्षेप में, दो या दो से अधिक देशों के बीच होने वाले व्यापार को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का उदाहरण है, जैसे इंग्लैण्ड और भारत के बीच कपड़े का व्यापार।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता
(Need for International Trade)

वर्तमान समय में विश्व की अर्थव्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक महत्वपूर्ण स्थान है। जिन देशों को हम आज विकसित राष्ट्रों की श्रेणी में रखते हैं उनका आर्थिक विकास भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वारा ही सम्भव हो पाया है। आज के इस विशिष्टीकरण के युग में कोई भी राष्ट्र स्वयं अपने साधनों से अपना आर्थिक विकास नहीं कर सकता। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे धनी देशों को भी अनेक वस्तुओं के लिए अन्य देशों पर निर्भर रहना पड़ता है। इसका मुख्य कारण अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण एवं श्रम-विभाजन की क्रियाएँ हैं। विशिष्टीकरण से तात्पर्य है कि प्रत्येक देश उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करता है जिनके लिए उसके प्राकृतिक साधन, पूँजी तथा श्रम आदि बातें दूसरे देशों की अपेक्षा अच्छी हैं, अर्थात् जिनकी उत्पादन-लागत निम्नतम होती है। इस प्रकार कम लागत वाली वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करके उनका निर्यात करता है एवं उन वस्तुओं का आयात करता है जिनका उत्पादन देश में महँगा पड़ता है।

इस सम्बन्ध में एडम स्मिथ ने ठीक ही लिखा है — "प्रत्येक समझदार व्यक्ति की यह मान्यता है कि वह कोई भी ऐसी वस्तु घर पर नहीं बनाये जिसे वह बाजार से सस्ता खरीद सकता है। दर्जी अपने जूतों को स्वयं बनाने का प्रयास नहीं करता बल्कि उन्हें मोची से बनवाता है। इसी प्रकार, मोची अपने कपड़ों की सिलाई स्वयं नहीं करता, बल्कि दर्जी से करवाता है। किसान दोनों में से किसी के लिए भी स्वयं प्रयास नहीं करता तथा भिन्न-भिन्न व्यवसाय वालों को काम पर लगाता है। यह सब लोगों के हित में है कि वे अपने समस्त उद्योग को उस वस्तु के उत्पादन में लगा दें कि जिसके उत्पादन में उसे अपने पड़ोसी से अधिक सुविधा प्राप्त है और अपने उत्पाद के एक भाग या उस भाग के मूल्य से दूसरी वस्तु को, जिसके लिए अवसर मिलता है, खरीद लें। जो बात एक परिवार के लिए सही है वह एक देश के लिए मूर्खतापूर्ण नहीं हो सकती है।"

प्रो. रिकार्डो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता न केवल निरपेक्ष लाभों की स्थिति में ही करते हैं बल्कि सापेक्ष लाभों को प्राप्त करने के लिए भी इसको आवश्यकता बताते हैं। यदि विश्व का प्रत्येक देश उन वस्तुओं के उत्पादन एवं निर्यात में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है जिनके उत्पादन के लिए वह अधिक योग्य है तथा उन वस्तुओं का आयात करता है जिनको वह घर की अपेक्षा विदेश से अधिक सस्ती कीमत पर प्राप्त करता है तो इस क्रिया से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में संलग्न देशों की वास्तविक राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी, जिसके फलस्वरूप उनके आर्थिक कल्याण में भी वृद्धि होगी।

संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार देश के प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग करने में सहायक होता है। चूँकि प्रत्येक देश केवल उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में अपने साधनों को लगाता है जिनमें उसका तुलनात्मक लाभ अधिकतम होता है, जैसे अल्पविकसित देशों में कृषिगत वस्तुओं एवं कच्चे माल की बहुतायत होती है, अतः ये देश इन वस्तुओं का निर्यात करके अन्य देशों से बनी हुई वस्तुओं का निर्यात करते हैं। इस प्रकार आयात एवं निर्यात से प्रत्येक देश को लाभ प्राप्त होता है तथा जिन वस्तुओं का उत्पादन सम्भव नहीं हो पाता है उन्हें विदेशों से आयात करके उपभोग किया जा सकता है।

स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्रत्येक देश को उन्नति करने का समान अवसर प्राप्त होता है। सभी देश विश्व-बाजार में अपने माल का क्रय-विक्रय कर सकते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सहायता से कोई भी राष्ट्र अपने उद्योग-धन्धों से सम्बन्धित कच्चा माल, मशीनरी, तकनीकी ज्ञान आदि का आयात करके वस्तुओं के निर्माण द्वारा औद्योगीकरण को प्रोत्साहित कर सकता है। निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सभी देशों के लिए, चाहे वे विकसित हों या विकासशील अथवा पिछड़े, आवश्यक है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रमुख लाभों की व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है-

(1) **अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण**— प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का कारण श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण है। वर्तमान में कोई भी देश आत्मनिर्भर नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे समृद्धशाली देश भी अनेक वस्तुओं के लिए दूसरे देशों पर निर्भर करते हैं। इस निर्भरता का कारण अधिकाधिक अन्तर्राष्ट्रीय विशिष्टीकरण एवं श्रम-विभाजन की क्रियाएँ हैं। विशिष्टीकरण के सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक देश उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन पर अधिक ध्यान देता है जिनके लिए उसे तुलनात्मक लाभ अधिक प्राप्त होता है अथवा उनकी उत्पादन-लागत न्यूनतम होती है।

(2) **प्राकृतिक साधनों का इष्टतम उपयोग**— प्रत्येक देश उपलब्ध प्राकृतिक साधनों का पूरा-पूरा प्रयोग करता है। चूँकि किसी भी वस्तु के उत्पादन में उत्पादन के विभिन्न साधनों की आवश्यकता होती है, अतः वह देश आवश्यक दुर्लभ साधनों का आयात करके अपने प्रचुर साधन का प्रयोग उत्पादन-क्रिया में कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अभाव में दुर्लभ साधनों को प्राप्त नहीं किया जा सकता, फलस्वरूप अपने प्रचुर साधन का उपयोग भी असम्भव बना रहता है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक मुख्य लाभ प्राकृतिक साधनों का अनुकूलतम उपयोग भी है।

(3) **दोनों देशों के उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तुओं की प्राप्ति**— अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण बाजार प्रतियोगिता में वृद्धि हो जाती है। पुनः विशिष्टीकरण एवं देश के प्राकृतिक साधनों का पूर्ण उपयोग होने से उत्पादन-लागत भी कम हो जाती है। अतः दोनों देशों के उपभोक्ताओं को अच्छी वस्तुएँ कम कीमत में प्राप्त हो जाती हैं।

(4) **उच्च जीवन-स्तर**— जब उपभोक्ताओं को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप वस्तुएँ अच्छी एवं सस्ती उपलब्ध हो जाती हैं तो वे अपनी सीमित आय से अधिक मात्रा में वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं। इसके साथ-साथ उन वस्तुओं का भी उपयोग कर सकते हैं जो इस देश में उत्पन्न नहीं की जातीं। इस प्रकार उनका जीवन-स्तर ऊँचा हो जाता है।

(5) **आर्थिक विकास की तीव्र गति**– अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप विश्व के गरीब देश भी अपने आर्थिक विकास की गति को तीव्र कर सकते हैं। उनको विदेशी पूँजी प्राप्त हो सकती है जिसकी सहायता से अपने देश में भावी उद्योगों की स्थापना कर सकते हैं। इनके परिणामस्वरूप देश की राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय में भी वृद्धि होती है तथा देश का आर्थिक विकास तीव्र गति से होता है। अब विश्व में जितने भी विकसित देश हैं उनके विकास के पीछे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ही एक प्रमुख कारण रहा है।

भारत में 1991 के बाद से आर्थिक उदारीकरण के दौर में मशीनों, कच्चे माल आदि पर रोपित प्रशुल्क दरों में जिस गति से कमी की गई है उसके पीछे मूल उद्देश्य यही है कि देश में औद्योगिक उत्पादन बढ़े तथा आर्थिक विकास की दर 7 से 8 प्रतिशत हो सके।

(6) **अकाल अथवा संकटकाल में सहायता**– जब देश में अकाल, भूचाल, महामारी, युद्ध अथवा अन्य संकट उत्पन्न हो जाता है तो उससे सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती है। देश में आवश्यक वस्तुओं का अभाव उत्पन्न हो जाता है तथा वस्तुओं की कीमतें आसमान छूने लगती हैं। ऐसे संकटकालीन समय में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उस देश की अर्थव्यवस्था के लिए वरदान सिद्ध होता है। अन्य देशों से आवश्यक वस्तुओं का आयात करके समस्या का समाधान किया जा सकता है।

(7) **कच्चे माल की उपलब्धि**– अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उन देशों को भी औद्योगीकरण और आर्थिक विकास का अवसर मिल जाता है जिनके पास कच्चे माल के अतिरिक्त अन्य साधन उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए, भारत का जूट उद्योग पाकिस्तान एवं बांगलादेश के कच्चे जूट पर निर्भर है, अतः विदेशी व्यापार देश के औद्योगीकरण को प्रोत्साहित करता है।

(8) **विदेशी विनिमय की उपलब्धि**– एक कहावत है कि निर्यात आयातों का भुगतान करते हैं। वस्तुतः निर्यातों द्वारा देश को विदेशी विनिमय की प्राप्ति होती है जिसका उपयोग कच्चे माल व मशीनों के आयात हेतु सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। वर्तमान समय में विदेशी विनिमय किसी भी देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विशेष रूप में अर्द्ध-विकसित देशों के लिए विदेशी विनिमय की अति आवश्यकता है। विदेशी विनिमय के द्वारा वे विदेशों से आवश्यक मात्रा में औद्योगिक सामग्री एवं तकनीकी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

(9) **सांस्कृतिक सम्बन्ध**– अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विभिन्न देशों के मध्य व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करता है, जिसके फलस्वरूप एक देश के व्यक्ति अन्य देशों में व्यापारिक जानकारी हेतु भ्रमण करते हैं। भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के लोग जब आपस में मिलते हैं तो उन्हें एक-दूसरे के रीति-रिवाज, राजनीतिक आचार-विचार, रहन-सहन आदि के बारे में जानकारी मिलती है। वे एक-दूसरे को समझने लगते हैं एवं आपस में सामंजस्य स्थापित होता है तथा विश्व-एकता को बढ़ावा मिलता है।

(10) **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग**– अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के फलस्वरूप एक-दूसरे पर निर्भरता बढ़ती जाती है। अतः दोनों पक्षों के आपसी सहयोग से ही दोनों की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति हेतु विश्व में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का निर्माण किया गया है जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद्, एशियन विकास बैंक, आदि अनेक संस्थाएँ मुख्य हैं। इन सबका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को प्रोत्साहित करना है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हानियाँ
(Losses from International Trade)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभों की विवेचना करने के बाद हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाली हानियों का उल्लेख भी करेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हानियों का पता लग जाने पर उनको आवश्यक नियन्त्रण द्वारा दूर किया जा सकता है।

(1) **स्वावलम्बन का अभाव** (Lack of Self-sufficiency)– अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उपस्थिति में प्रत्येक देश श्रम-विभाजन तथा विशिष्टीकरण को अपना लेता है। फलस्वरूप वह अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओं का उत्पादन न करके केवल उन्हीं वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करता है जिनमें उसको तुलनात्मक लाभ अधिक मिलते हैं। परिणामस्वरूप अपनी आवश्यकता की अन्य वस्तुओं के लिए वह विदेशों पर निर्भर रहता है। कभी-कभी आर्थिक संकट के समय विदेशों से आशान्वित सहायता न मिलने पर उस देश की अर्थव्यवस्था पूर्णतः अस्त-व्यस्त हो जाती है तथा आर्थिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। यही कारण है कि युद्धकाल में देश को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(2) **विदेशी प्रतियोगिता की समस्या** (Problem of Foreign Competition)– जब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के द्वार खुले होते हैं तो देश के विभिन्न उद्योगों को केवल स्वदेशी प्रतियोगिता का सामना ही नहीं करना पड़ता बल्कि

प्रतिस्पर्धा का भी सामना करना पड़ता है। केवल वही उद्योग पनप पाते हैं जो विदेशी प्रतियोगिता का सामना कर सकने में समर्थ हों। अल्प-विकसित देशों की अर्थव्यवस्था का निम्न स्तर होने का एक मुख्य कारण विदेशी प्रतियोगिता है। भारत में कुटीर-उद्योग-धन्धों के पतन का मुख्य कारण भी विदेशी प्रतियोगिता ही रही है। जब व्यक्तियों को विदेशों की बनी हुई वस्तुएँ सस्ती कीमत पर मिल सकती हैं तो वे देशी वस्तुओं को नहीं खरीदते, फलतः वे उद्योग समाप्त हो जाते हैं।

(3) **खनिज पदार्थों तथा कच्चे माल की समाप्ति** (Exhaustion of Minerals and Raw Materials) – प्रत्येक देश में खनिज पदार्थ तथा अन्य कच्चे माल का भण्डार सीमित मात्रा में ही होता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण अल्प-विकसित देश अपने कच्चे माल का स्वयं उपयोग नहीं कर पाते तथा उनका निर्यात करके अपनी आवश्यक वस्तुओं का आयात करते हैं। एक समय बाद उनके खनिज पदार्थों का भण्डार समाप्त हो जाता है तथा उनके स्वयं आर्थिक विकास करने के मार्ग भी बन्द हो जाते हैं।

(4) **राशिपातन की समस्या** (Problem of Dumping) – अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण हर समय राशिपातन की सम्भावना रहती है। एक (विकसित) देश अपनी वस्तुओं को दूसरे (अल्प) विकसित देश में वस्तुओं के लागत-मूल्य से भी कम मूल्य पर बेचकर उस देश के नये या पुराने उद्योगों को समाप्त करने का प्रयास करता है। यदि यह देश अपने प्रयास में सफलता प्राप्त कर लेता है तो फिर वह उन उद्योगों के समाप्त हो जाने पर अपनी वस्तुओं की बिक्री में एकाधिकार कायम कर लेता है। इस प्रकार आयातकर्ता देश को हानि उठानी पड़ती है।

दूसरी ओर अल्प-विकसित देशों को अपने आयात बिल चुकाने के लिए अपनी वस्तु (कच्चा माल) को कम मूल्य पर बेचना पड़ता है (जबकि वह अपने ही देश में उसे अधिक कीमत पर बेच सकता है) अतः राशिपातन से एक देश को दोहरी हानि उठानी पड़ सकती है।

(5) **आर्थिक शोषण** (Economic Exploitation) – विदेशी व्यापार के कारण विश्व के देश प्रायः दो भागों में विभाजित हो गये हैं। प्रथम श्रेणी में वे अल्प-विकसित देश आते हैं जो कच्चे माल का उत्पादन करते हैं तथा दूसरी श्रेणी में वे देश आते हैं जो निर्मित माल का उत्पादन करते हैं। अधिक-विकसित देश हमेशा अल्प-विकसित देशों का शोषण करने में लगे रहते हैं। कमजोर होने के कारण इनको विकसित देशों की व्यापार-शर्तें स्वीकार करनी पड़ती हैं। कभी-कभी तो इनको अपनी आन्तरिक नीतियों में किये गये हस्तक्षेप को भी स्वीकार करना पड़ता है। भारत द्वारा अपनी मुद्रा का 1966 से अब तक अनेक बार किया गया अवमूल्यन इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

(6) **सकल लाभ भ्रामक हो सकते हैं** (Aggregated Gains may be Misleading) – भारत द्वारा हाल ही में विदेशी व्यापार की जो उदार नीति अपनाई गई है उससे जहाँ कुछ उद्योगों को कच्चे माल व मशीनों की सुलभता से लाभ होगा, वहीं अन्य उद्योगों को तैयार वस्तुओं के संदर्भ में विदेशी उद्योगपतियों से स्पर्द्धा करनी होगी जो देश के लिए घातक भी हो सकती है। इसी प्रकार कृषि जिंसों के स्वतन्त्र व्यापार से जहां कुछ राज्यों के कृषक लाभान्वित होंगे, अन्य क्षेत्रों के कृषकों पर प्रतिकूल प्रभाव भी होगा। कुल मिलाकर विदेशी व्यापार में उदारता के फलस्वरूप क्षेत्रीय विषमताएँ बढ़ने की आशंका होगी।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ के साथ-साथ अनेक हानियाँ भी हैं। इससे होने वाले लाभ इसकी हानियों से अधिक महत्वपूर्ण हैं, अतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्वीकारोक्ति में सन्देह नहीं है। फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर आवश्यक प्रतिबन्ध लगाकर इससे होने वाली हानियों को कम किया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भविष्य
(Future of International Trade)

विदेशी व्यापार दो तरह से अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहित करता है। एक तो साधनों की उपलब्धि के अन्तर को नीचे करके और द्वितीय, साधनों के गुणों में अन्तर को तीव्र करके। वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के पीछे मुख्य कारण क्षेत्रीय विशिष्टीकरण तो है ही, किन्तु दूसरा कारण भी महत्वपूर्ण है जो है तकनीक और पूँजी की मात्रा में अन्तर। विकसित देशों को आज जो निर्माण उद्योगों में तुलनात्मक रूप से अधिक लाभ है, उसका कारण अनुकूल प्राकृतिक साधन नहीं है वरन् यह है कि इन देशों के पास श्रेष्ठ उत्पादन तकनीक और बड़ी मात्रा में पूँजी है। यदि अर्द्ध-विकसित देशों के पास यह तकनीक और पूँजी उपलब्ध हो तो वे अधिक सस्ते निर्माण उद्योगों की वस्तुओं को तैयार कर सकते हैं। इससे स्पष्ट है कि विकसित देशों को जो तुलनात्मक लाभ प्राप्त हो रहा है, वह प्राकृतिक न होकर, प्राप्त किया हुआ है जिसमें तकनीक और पूँजी का प्रमुख हाथ है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के माध्यम से अर्द्ध-विकसित देश भी मशीनें और तकनीकी ज्ञान का आयात कर अपनी उत्पादन क्षमता बढ़ा सकते हैं। इस प्रकार विकसित और अर्द्ध-विकसित देशों में प्राप्त तकनीकी स्तर का अन्तर कम किया जा सकता है। इससे क्रमशः एक ऐसी स्थिति भी आ सकती है, जब अर्द्ध-विकसित देश तुलनात्मक रूप से कम

लागत पर निर्माण उद्योगों की वस्तुएँ एवं पूँजीगत वस्तुएँ तैयार कर सकते हैं। इस प्रकार दोनों प्रकार के देशों क तकनीकी और पूँजी का अन्तर समाप्त होने पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समाप्त हो जायेगा, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समाप्त नहीं होगा क्योंकि विभिन्न देशों के बीच प्राकृतिक साधनों का अन्तर विद्यमान रहेगा। हाँ, इसके पहले तकनीकी और पूँजी के प्राप्त अन्तर के आधार पर जो व्यापार हो रहा है उसका स्थान वह व्यापार ले लेगा जो प्राकृतिक साधनों के अन्तर के कारण होगा। जब तक प्राकृतिक संसाधनों में अन्तर रहेगा, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए क्षेत्र खुला रहेगा। यहाँ तक कि समान प्राकृतिक साधनों के होने पर भी विशिष्टीकरण और बड़े पैमाने की बचतों के कारण विदेशी व्यापार होता रहेगा। इसके साथ ही राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं के कारण भी तुलनात्मक लागत में अन्तर बना रहेगा जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करेगा।

यद्यपि पिछले वर्षों में अर्द्ध-विकसित देशों में औद्योगीकरण के कारण उनकी राष्ट्रीय आय में वृद्धि हुई है तथा इन देशों ने उन वस्तुओं का उत्पादन भी प्रारम्भ कर दिया है जिनका पहले आयात किया जाता था, किन्तु फिर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार समाप्त नहीं हुआ है। ऐसे देशों में अब अधिक उच्च उपभोग की वस्तुओं की माँग उत्पन्न हुई और उनका आयात किया जा रहा है। जहाँ तक विभिन्न देशों में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्थिति का प्रश्न है, आँकड़ों से स्पष्ट है कि विकसित देशों के बीच में अधिक पैमाने पर व्यापार किया जाने लगा है। इसकी तुलना में विकसित तथा अर्द्ध-विकसित और आपस में अर्द्ध-विकसित देशों के बीच व्यापार की मात्रा कम है।

विश्व में तेजी से बढ़ रहे भू-मण्डलीकरण (Globalisation) के दौर में विभिन्न देश उदारीकरण प्रक्रिया को अपनाकर अपनी देश की सीमाएँ दूसरे देशों की वस्तुओं के लिए खोल रहे हैं। भारत में अपनाई गई आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया भी इसका एक उदाहरण है। इस दिशा में GATT (जो 1995 में समाप्त हो गया) ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। वर्तमान में GATT के स्थान पर गठित विश्व व्यापार संगठन (WTO) एक सजग प्रहरी के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सफल बनाने की भूमिका निभा रहा है। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों पर सभी राष्ट्रों की निर्भरता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का भविष्य उज्ज्वल है।

विकासशील (अर्द्ध-विकसित) राष्ट्रों की विदेशी व्यापार सम्बन्धी समस्याएँ
(Trade Problems of Under-developed Countries)

अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों के लिए यद्यपि विदेशी व्यापार का अत्यधिक महत्व है, परन्तु इन देशों को विदेशी व्यापार सम्बन्धी अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

1. बढ़ता हुआ ऋण-भार,
2. सीमान्त बाजार,
3. विकसित देशों की संरक्षणवादी नीति,
4. निर्यात सम्वर्द्धन सम्बन्धी समस्याएँ,
5. आयात सम्बन्धी समस्याएँ,
6. व्यापार की शर्तें।

(1) **बढ़ता हुआ ऋण-भार** (Increasing Debt Burden) – अर्द्ध-विकसित देशों की विदेशी व्यापार की सबसे बड़ी समस्या यह है कि उन पर विकसित देशों द्वारा ऋण का भारी बोझ है जो अधिकांश रूप से प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन का परिणाम है।

(2) **सीमित बाजार** (Limited Market) – अर्द्ध-विकसित देशों की विदेशी व्यापार सम्बन्धी दूसरी महत्वपूर्ण समस्या बाजार का सीमित होना है अतः बड़े पैमाने के उत्पादन के लाभ प्राप्त नहीं हो पाते। बाजार सीमित होने के कारण श्रम विभाजन और बाह्य मितव्ययिताएँ उपलब्ध नहीं हो पातीं।

(3) **विकसित देशों की संरक्षणवादी नीति** (Protection Policies of Developed Countries) – अर्द्ध-विकसित देशों के विदेशी व्यापार में बहुत बड़ा धक्का इसलिए भी लगा है क्योंकि विकसित देशों ने विकासशील देशों के आयातों पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये हैं।

(4) **निर्यात संवर्द्धन सम्बन्धी समस्याएँ** (Export Promotion's Problem) - अर्द्ध-विकसित देशों में निर्यात संवर्द्धन (प्रोत्साहन) को अधिक से अधिक महत्व दिया जा रहा है जिससे घरेलू विनियोग की मात्रा में अधिक वृद्धि की जा सके, परन्तु इन राष्ट्रों में कुल निर्यात-आयात का बहुत थोड़ा भाग ही पूँजी-निर्माण के लिए उपलब्ध होता है।

(अ) **गैर-अनुपातिक निर्यात में वृद्धि नहीं** (Unproportional Increase in Export) – अर्द्ध-विकसित देशों की आय में वृद्धि होने के साथ-साथ मशीनों, प्लाण्ट, पूँजीगत सामानों एवं विलासिता की वस्तुओं की माँग बढ़ती है परन्तु विकसित राष्ट्रों में आय की वृद्धि के साथ-साथ खाद्य पदार्थों एवं कच्चे माल की माँग में आय-वृद्धि के अनुपात में वृद्धि नहीं होती।

(ब) **चक्रीय परिवर्तन** (Trade Cycle Changes) – अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों का विदेशी व्यापार चक्रीय परिवर्तन से प्रभावित होता है जबकि औद्योगिक अर्थव्यवस्था वाले देशों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।

(स) औद्योगिक उत्पादन के प्रकार में परिवर्तन (Changes in Kinds of Industrial Production)– विकसित और अर्द्ध-विकसित राष्ट्रों में औद्योगिक उत्पादन के प्रकार में परिवर्तन हो रहा है जिसके कारण भी अर्द्ध-विकसित देशों के निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है।

(द) विकसित देशों से प्रतिस्पर्द्धा (Competition from Developed Countries)– विकासोन्मुख देशों में कच्चे माल व प्राथमिक वस्तुओं के निर्यात में कमी हो जाने पर अन्य वस्तुओं, जैसे– हल्की इन्जीनियरिंग वस्तुएँ, टिकाऊ उपभोक्ता वस्तुएँ आदि के निर्यात को बढ़ाने के प्रयास किये जाते हैं।

(य) साहसी वर्ग का अभाव (Lack of Entrepreneur Class)– अर्द्ध-विकसित देशों में सुयोग्य साहसी वर्ग का अभाव होने और अर्थव्यवस्था सुसंगठित न होने के कारण निर्यात द्वारा प्राप्त विदेशी मुद्रा का उत्पादन विनियोजन नहीं हो पाता।

(5) **आयात सम्बन्धी समस्याएँ** (Import Problems)– एक विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था को जो औद्योगीकरण करने के लिए प्रयत्नशील है, बड़ी मात्रा में आयात की आवश्यकता होती है। आयात में सम्मिलित होने वाली वस्तुएँ प्रायः देश के आकार, घरेलू साधनों की उपलब्धता, आय, वितरण के ढाँचे आदि पर निर्भर रहती है।

विकास की प्रारम्भिक अवस्था में एक अर्द्ध-विकसित देश की विकास की योजनाओं द्वारा औद्योगिक अव्यवस्था में परिवर्तन का प्रयत्न किया जाता है फलतः बड़ी मात्रा में निम्नलिखित वस्तुओं के आयात की आवश्यकता होती है–

(अ) पूँजीगत वस्तुएँ (Capital Goods)– जैसे मशीनरी तथा अन्य साज-सामान, **(ब) औद्योगिक कच्चा माल, (स) तकनीकी ज्ञान**– इन सभी वस्तुओं का प्रायः एक अर्द्ध-विकसित देश में अभाव पाया जाता है। इन देशों में पूँजी का अभाव रहता है इसलिए इन्हें विदेशों से ऋण लेने पड़ते हैं।

(6) **व्यापार की शर्तें** (Terms of Trade)– किसी भी देश की निर्यात से प्राप्त होने वाली आय केवल निर्यात की मात्रा पर निर्भर नहीं रहती है बल्कि उसके मूल्य पर निर्भर रहती है। इस प्रकार विदेशी व्यापार के लाभ की गणना करने में व्यापार की शर्तों का अधिक महत्व होता है।

यदि व्यापार प्राथमिक वस्तुओं अर्थात् कृषि वस्तुओं का उत्पादन करने वाले देशों (अर्द्ध-विकसित देशों) तथा औद्योगिक वस्तु के उत्पादक देशों (विकसित देशों) के बीच हो रहा हो तो व्यापार की शर्तें सदैव औद्योगिक राष्ट्रों के पक्ष में रहती हैं क्योंकि (अ) कृषि वस्तुओं की माँग की एक अधिकतम सीमा होती है। (ब) कृषि पदार्थों के मूल्यों में अत्यधिक अस्थिरता होती है।(स) कृषि वस्तुएँ टिकाऊ नहीं होती हैं और उनका दीर्घकाल तक संग्रह नहीं किया जा सकता है।

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

1. किसी अर्द्ध-विकसित देश के आर्थिक विकास पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्या प्रभाव पड़ता है? पूर्ण रूप से समझाइए।
2. विश्व व्यापार की प्रवृत्तियों एवं विकासशील देशों की समस्याओं पर निबन्ध लिखिये।
3. क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने अर्द्ध-विकसित देशों के आर्थिक विकास में बाधा उपस्थित की है? तर्कपूर्ण ढंग से समझाइए।
4. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ-हानियों की विवेचना कीजिए।
5. अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अर्थ समझाते हुए उसकी आवश्यकता बताइये।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

6. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये :

   (i) विकासशील देशों की विश्व व्यापार से सम्बंधित समस्याएँ

/ARTH/3104-6.PM5 FIRST PROOF DATE : 04.06.2016 (RAJENDRA\AKS)

17

NOTES

व्यवसाय का सामाजिक उत्तरदायित्व
(SOCIAL RESPONSIBILITY OF BUSINESS)

व्यवसाय एक सामाजिक संस्था है। इस नाते वह उपभोक्ताओं श्रमिकों एवं कर्मचारियों, विनियोग-कर्त्ताओं के साथ-साथ समग्र रूप में सम्पूर्ण समाज से जुड़ा हुआ है। व्यवसाय का जन्म ही सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यक वस्तुएँ सेवाएँ उपलब्ध कराने के लिए हुआ है। कोई भी व्यवसाय समाज के सहयोग के बिना जीवित नहीं रह सकता। चूँकि व्यवसाय समाज में पोषण प्राप्त करता है, अतः व्यवसाय का यह दायित्व हो जाता है कि वह केवल अपने, या उन व्यक्तियों के जिन्होंने उसमें अपनी पूँजी लगा रखी है अथवा जो उसका प्रबंध कर रहे हैं, हितों तक ही सीमित न रहे वरन सम्पूर्ण समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करें। व्यवसाय के व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सामाजिक-हित सर्वोपरि है क्योंकि **'व्यवसाय समाज के लिए, समाज व्यवसाय के लिए नहीं।'** यदि विशुद्ध आर्थिक दृष्टि से भी देखा जाए तो भी स्वयं व्यवसाय की प्रगति समाज की प्रगति से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी रहती है।

1. एच.आर. बोवेन - के अनुसार, "सामाजिक उत्तरदायित्व से आशय उन नीतियों को अपनाने एवं उन निर्णयों को लेने अथवा ऐसे कार्यों को करने से है जो हमारे समाज के मूल्यों (Values) तथा उद्देश्यों की दृष्टि से आवश्यक है।"

2. कून्ट्ज तथा ओडोनैल के शब्दों में, "सामाजिक उत्तरदायित्व अपने स्वयं के हित में कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत दायित्व है कि वह विश्वस्त हो कि दूसरों के अधिकार तथा न्यायोचित हित न टकरायें।"

3. जार्ज ए. स्टेनियर के शब्दों मे, "वास्तविक अर्थ में सामाजिक उत्तरदायित्वों की मान्यता का आशय समाज की आकांक्षा को समझना तथा मान्यता देना है तथा इसकी उपलब्धियो में योगदान देने का संकल्प है।"

4. अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार, दिल्ली (1965) के अनुसार, **"व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व से आशय ग्राहकों, श्रमिकों, अंशधारियों तथा समुदाय के प्रति दायित्व से है।"**

5. ए. दासगुप्ता के अनुसार, "व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व का पूर्ण क्षेत्र कुशल निष्पादन द्वारा लाभ कमाना है और साथ ही कर्मचारियों, ग्राहकों, समुदाय एवं सरकार के प्रति दायित्वो तक विस्तृत है।"

6. कीथ डेविस (Keith Davis) के अनुसार, "व्यवसाय के सामाजिक दायित्व का अर्थ यह है कि व्यवसायी द्वारा लिए गए निर्णय एवं किए गए कार्य फर्म के आर्थिक व तकनीकी हितो के परे है एवं उनका संबंध सीधे सामाजिक कल्याण से है।"

7. केनथ आर. एण्ड्रूज (Kenneth R. Andrews) के शब्दो मे, "सामाजिक दायित्व से आशय सामाजिक कल्याण के लिए किए गए कार्य से है, ऐसी भावना से विनाशकारी या विध्वसक कार्यों का अंत हो जाता है भले ही वे तात्कालिक लाभ देने वाले हो और इस प्रकार अन्ततः मानव व समाज के सुख एव समृद्धि में वृद्धि होती है।"

उपयुक्त परिभाषा - "व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व से आशय समाज के विभिन्न वर्गों के प्रति व्यवसायी द्वारा तथा व्यवसायी के प्रति समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा अपने उत्तरदायित्वों को निभाने से है।" सामाजिक दायित्व दोहरी प्रक्रिया है जिसमें व्यवसायी समाज के प्रति और समाज व्यवसाय के प्रति अपने-अपने दायित्व को निभाते है। यह एक सार्वभौमिक विचारधारा (Universal Concept) है जिसे सभी पक्षकारो को स्वेच्छा से निभाना चाहिए।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व के लक्षण
(Characteristics of Social Responsibility of Business)

व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रमुख लक्षण निम्न है -

1. निजी एवं सार्वजनिक दोनों प्रकार के व्यवसायों पर लागू होना - व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारधारा निजी एव सार्वजनिक दोनो प्रकार के व्यवसायों पर समान रूप से लागू होती है।

2. व्यक्तिगत एवं सामाजिक हितों में सामंजस्य - व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारधारा व्यवसाय के व्यक्तिगत पहलू तथा सामाजिक पहलू दोनों को परस्पर संबंधित करती है।

3. सामूहिक एवं सामाजिक संस्था - व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व को एक सामूहिक एवं सामाजिक संस्था मानते हैं, जिसका संगठन एवं संचालन समाज के लाभ के लिए किया जाता है।

4. द्वि-मार्गीय प्रक्रिया - व्यवसाय का सामाजिक उत्तरदायित्व द्वि-मार्गीय (Two-way Traffic) क्रिया है। अर्थात् जहाँ एक ओर व्यवसाय से उसके स्वामी, ग्राहक, कर्मचारी, समुदाय तथा सरकार विभिन्न आशाएँ रखते हैं, वहाँ व्यवसाय भी इन लोगों से कुछ आशाएँ रखता है। अतः जब तक इन दोनों में परस्पर सक्रिय सहयोग न हो तब तक व्यवसाय के उद्देश्यों को प्राप्त करना संभव नहीं है। व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाया जाना, पारस्परिक सहयोग, सद्विश्वास एवं नैतिकता पर निर्भर है।

5. विभिन्न पक्षकारों का सर्वांगीण विकास - व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारधारा व्यवसाय से संबंधित विभिन्न पक्षकारों के सर्वांगीण विकास पर बल देती है।

6. व्यावसायिक सफलता का आधार - आज के युग में कोई भी व्यवसाय सामाजिक उत्तरदायित्वों की अवहेलना करके अधिक समय तक नहीं टिक सकता है। बिना सामाजिक सहयोग के व्यवसाय में सफलता की कामना करना व्यर्थ है। सामाजिक सहयोग प्राप्त करने के लिए सामाजिक उत्तरदायित्वों का निभाना परम आवश्यक है। अतः व्यावसायिक सफलता का मूलभूत आधार सामाजिक उत्तरदायित्व है।

7. एक सतत् प्रक्रिया - व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व की प्रक्रिया एक सतत् प्रक्रिया है। एक व्यवसायी जब तक व्यावसायिक क्रियाएँ करता रहता है तब तक उसका सामाजिक दायित्व बना रहता है।

8. सामाजिक शक्ति प्राप्त करने का साधन - सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए व्यवसायी सरलता से सामाजिक शक्ति प्राप्त कर लेता है। **कीथ डेविस** के अनुसार, "यदि व्यवसायी सामाजिक उत्तरदायित्वों की अवहेलना करता है तो उसकी सामाजिक शक्ति कम हो जाती है।"

9. नवीन सामाजिक व आर्थिक मूल्यों की स्थापना - सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारधारा नवीन सामाजिक व आर्थिक मूल्यों की स्थापना करने में सहायक होती है। जैसे - व्यावसायिक नैतिकता, विकेन्द्रीयकरण आदि।

10. अन्य लक्षण - (i) व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारधारा राष्ट्रपिता स्वर्गीय महात्मा गाँधी के 'न्याय सिद्धांत' (Doctrine of trusteeship) की पुष्टि करता है। (ii) यह परिवर्तनशील एवं गत्यात्मक विचारधारा है। (iii) इस विचारधारा का नीतिशास्त्र से गहरा संबंध है।

व्यवसाय का समाज के विभिन्न पक्षकारों के प्रति सामाजिक उत्तरदायित्व

(1) **ग्राहकों अथवा उपभोक्ताओं के प्रति दायित्व**- ग्राहक अथवा उपभोक्ता ही व्यवसाय की आधारशिला है, इनके प्रति व्यवसाय के प्रमुख दायित्व ये है :

(i) वस्तुओं या सेवाओं के लिए उचित मूल्य लेना,

(ii) श्रेष्ठ गुण वाली मानक वस्तुएँ उपलब्ध कराना;

(iii) मिलावट, कम-तोलना, छल-फरेब, जमाखोरी जैसे-अनैतिक कार्य न करना, अर्थात् उच्चकोटि की व्यावसायिक-नैतिकता का पालन करना,

(iv) ग्राहकों का उचित सम्मान करना तथा अपनी वस्तुओं एवं सेवाओं का सही विज्ञापन करना एवं उपभोक्ताओं को उनके प्रयोगों के बारे में शिक्षित करना है; तथा

(v) किसी भी प्रकार से उपभोक्ताओं का शोषण नहीं करना। ध्यान रहे **'संतुष्ट ग्राहक ही सर्वश्रेष्ठ विज्ञापन है।'**

(2) **श्रमिकों एवं कर्मचारियों के प्रति दायित्व**- व्यवसाय में कार्यरत श्रमिक एवं कर्मचारी ही किसी व्यवसाय की श्रेष्ठ पूँजी होते है। इस मानवीय-सम्पदा या पूँजी के प्रति व्यवसाय के उत्तरदायित्व अग्रानुसार है :

(i) श्रम की प्रतिष्ठा को हृदय से स्वीकार करना।

(ii) श्रमिकों एवं कर्मचारियों को उनके श्रम का उचित पारितोषण देना।

NOTES

NOTES

(iii) प्रगतिशील श्रम नीतियों द्वारा अच्छे, ईमानदार एवं परिश्रमी व्यक्तियों को प्रोत्साहन देना।

(iv) श्रम कल्याण एवं सामाजिक-सुरक्षा के कार्यों में पर्याप्त रुचि लेना।

(v) श्रमिकों के शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था द्वारा मानवीय शक्ति के विकास की व्यवस्था करना।

(vi) श्रमिकों की प्रबंध में भागीदारी लागू करना।

(vii) श्रमिकों का शोषण न करते हुए उनके प्रति प्रगतिशील दृष्टिकोण रखना।

(3) **अंशधारियों अथवा विनियोगकर्त्ताओं के प्रति दायित्व -**

(i) समुचित लाभ अर्जित करना ताकि विनियोजित पूँजी पर लाभांश या प्रत्याय (return) दिया जा सके।

(ii) व्यवसाय की आन्तरिक सुदृढ़ता बनाए रखना ताकि विनियोजित पूँजी सुरक्षित रहे।

(iii) उन्हें व्यवसाय की प्रगति तथा व्यवसाय से संबंधित अन्य महत्वपूर्ण बातों से अवगत कराते रहना।

(4) **राज्य या सरकार के प्रति दायित्व -**

(i) व्यवसाय से संबंधित सभी नियमों, कानूनों एवं आदेशों का सही ढंग से पालन करना।

(ii) सरकारी योजनाओं एवं कार्यक्रमों के कार्यान्वयन में वांछित सहयोग देना।

(iii) उचित ढंग से सही लेखे रखना।

(iv) आवश्यक सूचनाएँ, जानकारी, रिटर्न सही-सही तथा समय पर उपलब्ध कराना।

(v) करों का भुगतान समय पर तथा ईमानदारी के साथ करना।

(vi) आर्थिक-भ्रष्टाचार को बढ़ावा न देना।

(5) **समाज के प्रति दायित्व**- सम्पूर्ण समाज के प्रति व्यवसाय के उत्तरदायित्व हैं -

(i) सामाजिक मूल्यों, रीति-रिवाजों एवं परिपाटियों का आदर करना।

(ii) सामाजिक विकास के विभिन्न कार्यक्रमों जैसे सामान्य एवं तकनीकी शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, सामाजिक स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण कार्यक्रमों, ग्रामीण विकास, गरीबी उन्मूलन, पिछड़े वर्गों एवं पिछड़े क्षेत्रों के विकास आदि में सक्रिय भागीदारी करना।

(iii) सामाजिक कार्यक्रमों एवं नीतियों के कार्यान्वय में सहयोग देना।

(iv) पर्यावरण की रक्षा करना तथा प्रदूषण न होने देना। पर्यावरण की रक्षा हेतु वृक्षारोपण जैसे कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से भाग लेना।

(6) **स्वयं अपने प्रति उत्तरदायित्व -**

(i) निरंतर विकास करना।

(ii) अपने उद्देश्यों को सफलता-पूर्वक प्राप्त करना।

(iii) समाज में अपनी अच्छी छवि एवं प्रतिष्ठा बनाना।

(iv) व्यवसायिक शिष्टाचार एवं सदाचार का पालन करना।

(v) स्वयं को आर्थिक रूप से सुदृढ़ एवं सक्षम बनाए रखना।

(vi) प्रगतिशील दृष्टिकोण रखना।

व्यवसाय के सामाजिक दायित्व के संबंध में **राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी** के ये शब्द महत्वपूर्ण है- **''किसी भी व्यक्ति की आय को तब उचित माना जा सकता है तथा उसके व्यावसायिक उपक्रम को तभी रचनात्मक कहा जा सकता है जब वह अपने आप को समाज के सेवक के रूप में देखता हो, समाज के लिए जीविकोपार्जन करता हो तथा उसे समाज पर ही व्यय करता हो।''**

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

(7) **ऋणदाताओं के प्रति दायित्व** : वित्त व्यवसाय का जीवन-रक्त है अतः व्यवसाय के सुचारु रूप में संचालन करने के लिए व्यवसायी को ऋणदाताओं से ऋण लेना पड़ता है। ऐसी स्थिति के ऋणदाताओं के प्रति भी सामाजिक उत्तरदायित्व हैं जो कि निम्न हैं -

(1) उचित शर्तों पर ऋण प्राप्त करना। (2) ऋण के रूप में प्राप्त धन की सुरक्षा बनाये रखना।

(3) यथा समय ब्याज का भुगतान करना। (4) इच्छित सूचनाएँ प्रदान करना।

(5) बंधक की गई सम्पत्ति को सुरक्षित रखना एवं सौंपना।

NOTES

(8) **पारस्परिक व्यावसायिक संबंध बनाये रखने के प्रति दायित्व** : यह दुःख का विषय है कि व्यवसाय की विभिन्न इकाइयों एवं क्षेत्रों के मध्य आज पारस्परिक संबंध असंतोषजनक हैं, जैसे- सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र के मध्य तनावपूर्ण संबंधों का होना, छोटी व्यावसायिक एवं बड़ी व्यावसायिक इकाइयों के मध्य प्रतिस्पर्द्धा का होना, बड़ी व्यावसायिक इकाइयों में विषम प्रतिस्पर्द्धा का होना, पारस्परिक निर्भरता वाली इकाइयों को निम्न श्रेणी का कच्चा माल दिया जाना आदि। ऐसे असहयोग की स्थिति में प्रत्येक व्यवसाय का यह सामाजिक उत्तरदायित्व है कि वह पारस्परिक संबंधों को पूर्णतः स्वस्थ बनाये रखे।

(9) **विश्व के अन्य देशों के प्रति सामाजिक उत्तरदायित्व** : आयातित-निर्यातित माल की किस्म का गिरा हुआ होना, माल का वापस लौटना, माल तौल में कम होना, मूल्यों का अधिक होना, विदेशी बाजार में अनुचित प्रतिस्पर्द्धा का होना आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिन्हें व्यवसायी साधारण मानकर उनके प्रति कोई ध्यान नहीं देते हैं। इसका मुख्य कारण विदेशी व्यापार करने वाले व्यापारियों के मध्य सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का अभाव होना है। इसलिए हमें इस भावना को पुनः जागृत करना होगा। हमें यह शपथ लेनी होगी कि हम केवल प्रमाणित किस्म का माल ही निर्धारित मात्रा में उचित भावों पर निर्यात करेंगे तथा एक-दूसरे की कठिनाइयों को समझते हुए समुचित पारस्परिक सहयोग प्रदान करेंगे।

(10) **पेशेवर संस्थाओं के प्रति दायित्व** : पेशेवर संस्थाओं में प्रबंध संस्थान, भारतीय कम्पनी उचित संस्थान, इन्स्टीट्यूट ऑफ कास्ट एण्ड वर्क्स एकाउण्टेण्ट्स ऑफ इण्डिया, इन्स्टीट्यूट ऑफ चारटर्ड एकाउण्टेण्ट्स ऑफ इण्डिया, इन्जीनियरिंग इन्स्टीट्यूट आदि को सम्मिलित करते हैं। आजकल इनका तेजी से विकास हो रहा है। इनके प्रति व्यवसाय के निम्न उत्तरदायित्व है -

(1) पेशेवर संस्थाओ की सदस्यता ग्रहण करना।

(2) इनके द्वारा निर्धारित आचार संहिता का पालन करना।

(3) पेशेवर संस्थाओं द्वारा प्रकाशित पत्रिकाओ व अन्य साहित्य को क्रय करना।

(4) आवश्यकता पड़ने पर इन्हें अनुदान देने एवं अन्य रूप से सहायता प्रदान करना।

(5) पेशेवर संस्थाओं द्वारा आयोजित शोध परियोजनाओं में सहायता देना।

(6) इनके द्वारा आयोजित गोष्ठियों मे भाग लेने के लिए कर्मचारियों को भेजना।

(7) पेशेवर संस्थाओं द्वारा आयोजित परीक्षाओं में बैठने के लिए कर्मचारियों को प्रोत्साहन देना तथा पास होने पर पदोन्नति या वेतन वृद्धि आदि करना।

(8) रोजगार में प्राथमिकता देना।

(11) **निक्षेपकर्ताओं के प्रति उत्तरदायित्व** : आजकल अधिकांश बड़ी-बड़ी ख्याति प्राप्त व्यावसायिक संस्थाएँ जनता से समय-समय पर निक्षेप आमंत्रित करती है और उस पर ब्याज देती है। इन निक्षेपकर्ताओ के प्रति व्यवसाय के निम्न सामाजिक उत्तरदायित्व है -

(1) निक्षेपित धन को पूर्ण सुरक्षा प्रदान करना।

(2) निर्धारित ब्याज का भुगतान यथा समय करना।

(3) आवश्यकता पड़ने पर अवधि से पूर्व भी जमा की राशि लौटाने की सुविधा प्रदान करना।

(4) विशेष सुविधाएँ देना, जैसे अंशों के विक्रय करते समय क्रय मे प्राथमिकता।

(5) निर्धारित तिथियों पर निक्षेपित राशि लौटाना।

NOTES

समाज के विभिन्न वर्गों का व्यवसाय के प्रति सामाजिक दायित्व
(Social Responsibilities of Different Sections of Society towards Business)

व्यवसायी का व्यवसाय के प्रति सामाजिक उत्तरदायित्वों का अध्ययन करने के पश्चात् अब हम समाज का व्यवसायी के प्रति सामाजिक उत्तरदायित्वों का अध्ययन करेंगे। इसका अध्ययन निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत किया जा सकता है -

(1) **व्यवसाय के प्रति स्वयं व्यवसायी (स्वामी) के दायित्व** (Responsibilities of Owner towards Business) : चूँकि व्यवसायी स्वयं व्यवसाय का अंग है और वह समाज में रहकर समाज के सदस्यों से व्यवसाय करता है अतएव स्वयं व्यवसायी का भी व्यवसाय के प्रति उत्तरदायित्व है। व्यवसाय के विस्तार के फलस्वरूप व्यवसाय का स्वामित्व और प्रबंध (संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों तथा सरकारी संस्थाओं की दशा में) दोनों अलग-अलग हो गये हैं। ऐसी दशा में व्यवसाय के स्वामी के प्रति निम्न दायित्व हैं-

(1) व्यवसाय के लिए पर्याप्त मात्रा में पूँजी की व्यवस्था करना।

(2) व्यवसाय के संचालन के लिए योग्य, अनुभवी एवं पेशेवर व्यक्तियों (संचालकों) का चयन करना।

(3) प्रबंध व्यवस्था में अनुचित एवं अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करना।

(4) लाभों के एक प्रमुख भाग का पुनर्विनियोजन करना।

(5) आहरण पर प्रभावी नियंत्रण रखना।

(6) व्यवसाय के मूलभूत सिद्धांतों का पालन करना।

(7) व्यवसाय के धन और सम्पत्ति का उचित हिसाब रखना तथा अपने निजी हित में उपयोग नहीं करना।

(8) कम्पनी की सभाएँ बुलाना, उनमें भाग लेना तथा पारित प्रस्तावों को लागू करना आदि।

(2) **कर्मचारियों के दायित्व** (Responsibilities of Employees) : चूँकि कर्मचारीगण अपनी आजीविका व्यावसायिक संस्था से कमाते है एवं उनकी स्वयं की समृद्धि व्यवसाय की समृद्धि पर निर्भर करती है, अतएव व्यवसाय के प्रति उनके भी निम्न दायित्व हैं -

(1) पूर्ण परिश्रम, लगन, निष्ठा एवं ईमानदारी से अपने कार्य को पूरा करना।

(2) अपने निजी हितों की तुलना में संस्था के हितों को प्राथमिकता देना।

(3) संस्था के साधनों का दुरुपयोग नही करना।

(4) अनुचित माँगें प्रस्तुत नही करना तथा अपने सभी विवादों व कठिनाइयों को पारस्परिक विचार-विमर्श एवं सद्भावना से हल करना।

(5) व्यावसायिक संस्था के विकास एव विस्तार के कार्यक्रमों में अपना पूरा सहयोग देना।

(6) व्यावसायिक हित की बातो को गोपनीय बनाये रखना।

(7) आचार-संहिता का पालन करना।

(8) हड़ताल, घेराव आदि का अपवादस्वरूप तथा अंतिम हथियार के रूप मे ही प्रयोग करना।

(9) प्रबंध मे भागीदारी की योजना को सफल बनाना तथा इसके लिए कुशल एवं अनुभवी प्रतिनिधियों का ही चयन करना।

(10) रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाना।

(11) निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति में अपना पूर्ण सहयोग प्रदान करना।

(3) **उपभोक्ताओं के दायित्व** (Responsibilities of Consumers) यह सर्वविदित ही है कि उपभोक्ता सम्पूर्ण व्यावसायिक क्रियाओ का 'सम्राट' कहलाता है। किन्तु जहाँ वह एक ओर व्यवसायी से अनेक आशाएँ रखता है वही दूसरी ओर उसे भी व्यवसाय के प्रति अपने उत्तरदायित्वो को भली प्रकार निभाना चाहिए। उपभोक्ताओं के व्यवसायी एवं व्यवसाय दोनो के प्रति निम्न उत्तरदायित्व हैं -

(1) आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ नही खरीदना।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

(2) अपनी रुचि, पसन्द, आदतों तथा माँग की जानकारी यथासमय देना।

(3) क्रय की गई वस्तुओं के मूल्य का समय पर भुगतान करना तथा उधार देने के लिए जोर नहीं डालना।

(4) कालाबाजारी एवं मुनाफाखोरी करने वालों से वस्तुएँ क्रय नहीं करना।

(5) विक्रयोपरान्त सेवाओं का दुरुपयोग नहीं करना।

NOTES

(6) उपभोक्ता संघों की स्थापना करना।

(7) सदैव प्रमाणित वस्तुओं के क्रय को प्राथमिकता देना।

(8) उत्पादकों एवं विक्रेताओं को पूर्ण समर्थन प्रदान करना आदि।

(4) **पूर्तिकर्ताओं के दायित्व** (Responsibilities of Suppliers) : पूर्तिकर्ता व्यवसाय के महत्वपूर्ण अंग होते हैं। वे व्यवसाय को कच्चे माल, उपकरण एवं अन्य सामग्री प्रदान करते हैं। पूर्तिकर्ता के व्यवसाय के प्रति निम्न दायित्व है -

(1) आवश्यक कच्चे माल, उपकरण तथा अन्य सामग्री की पूर्ति सौदे की शर्तों के अनुसार यथा समय करना।

(2) अच्छी किस्म के माल की पूर्ति करना।

(3) माल का उचित मूल्य लेना।

(4) कमी के दिनों में भी पूर्ति का क्रम निरन्तर बनाये रखना।

(5) पूर्ति की जाने वाली सामग्री के गुणों में निरंतर सुधार करते रहना।

(6) बाजार में कच्चे माल आदि का कृत्रिम अभाव उत्पन्न नहीं होने देना।

(7) माल उपयुक्त न होने की दशा में वापस लेने, बदलने आदि की सुविधाएँ प्रदान करना आदि।

(5) **विनियोक्ताओं के दायित्व** (Responsibilities of Investors) : जिन व्यक्तियों ने व्यवसाय में अपने धन का विनियोजन किया है उनके भी व्यवसाय के प्रति निम्न दायित्व है -

(1) विनियोजित धन को व्यवसाय में बनाये रखें, अचानक निकाले नहीं।

(2) धन की कमी के दिनों में धन वापसी के लिए व्यवसायी को अनावश्यक रूप से परेशान नहीं करें।

(3) विनियोजित धन पर उचित दरों से ब्याज लें।

(4) आवश्यकता पड़ने पर अतिरिक्त ऋण यथा समय उपलब्ध करें।

(5) व्यावसायिक क्रियाओं में अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप न करें।

(6) ऐसा कोई कार्य न करें जिससे व्यवसाय की ख्याति को ठेस पहुँचने की संभावना हो आदि।

(6) **सरकार के दायित्व** (Responsibilities of Government) : किसी भी दायित्व की सफलता एवं विकास में सरकार (स्थानीय, राजकीय या केन्द्रीय) का महत्वपूर्ण योगदान होता है। एक प्रगतिशील सरकार अपने नियत्रण के क्षेत्र में व्यवसायों को पनपने के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण करती है, उनको विविध प्रकार की सुविधाएं, आवश्यक वस्तुएँ एवं सरक्षण प्रदान करती है और उनके नियमित विकास के लिए उपयुक्त कानून एवं नियम बनाती है। निष्कर्ष रूप में, सरकार के व्यवसाय के प्रति निम्न दायित्व है -

(1) उद्योग एवं वाणिज्य के विकास में सहायक, सुदृढ एवं प्रगतिशील आर्थिक नीति का निर्माण करना।

(2) उपयुक्त आयात-निर्यात नीति का निर्माण करना।

(3) अपनायी गई आर्थिक नीति के अनुरूप कानूनों एवं नियमों का निर्माण करना तथा उन्हें प्रभावी ढंग से लागू करना।

(4) औद्योगिक एवं वाणिज्यिक क्रियाओं में सहायक सुविधाएँ प्रदान करना, जैसे - बिजली, पानी, यातायात, ऋण, कच्चे माल, अनुसंधान, तकनीकी शिक्षण एवं प्रशिक्षण

NOTES

(5) विदेशी प्रतिस्पर्द्धा के प्रति संरक्षण देना।

(6) सुदृढ़ औद्योगिक नीति।

(7) प्रेरणात्मक कराधान नीति।

(8) उपेक्षित क्षेत्रों में व्यवसाय की स्थापना हेतु विशिष्ट सुविधाएँ प्रदान करना।

(9) स्वदेशी माल के प्रयोग को बढ़ावा देना।

(10) उचित मूल्य-स्तर बनाये रखने में सहायता देना।

(11) मुनाफाखोरी, मिलावट आदि पर प्रभावी नियंत्रण स्थापित करना आदि।

(12) व्यवसाय की प्रगति में बाधक दूषित 'इन्सपेक्टर राज्य' में या तो सुधार करना अथवा समाप्त करना।

(7) **समाज या समुदाय के दायित्व** (Responsibilities of Society or Community) : समाज या समुदाय के व्यवसाय के प्रति निम्न दायित्व हैं -

(1) व्यवसाय के लिए पर्याप्त स्थान उपलब्ध करना।

(2) स्थानीय समुदाय को व्यावसायिक क्रियाओं के संचालन में **'बंद'** आदि आयोजन करके बाधाएँ उत्पन्न नहीं करना चाहिए, जैसे - 'आगरा बंद', 'अलीगढ़ बंद', 'कोलकाता बंद' आदि।

(3) स्थानीय कर्मचारियों को अधिक वेतन के लालच में दूर के उद्योगों या विदेशों में नौकरी आदि के लिए नहीं जाना चाहिए क्योंकि व्यवसाय का विकास होने पर स्वतः उनके वेतन आदि में सुधार होने की संभावनाएँ रहती है।

(4) स्थानीय लोगों को स्थानीय क्षेत्र के उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं के उपभोग को प्राथमिकता देनी चाहिए आदि।

व्यवसाय का सामाजिक उत्तरदायित्व एक द्विमार्गीय क्रिया है - जहाँ एक ओर व्यवसायी का समाज के विभिन्न वर्गों के प्रति सामाजिक उत्तरदायित्व है - वहाँ दूसरी ओर समाज के विभिन्न वर्गों का भी व्यवसाय के प्रति सामाजिक उत्तरदायित्व है। जब दोनों अपने-अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करेंगे, तभी सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का सही रूप में क्रियान्वयन संभव हो सकेगा एवं निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति होगी।

सामाजिक उत्तरदायित्व के विषय में विवाद
(Social Responsibilties : A Controversy)

आजकल व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व भिन्न-भिन्न विद्वानों के बीच विवाद का विषय बने हुए हैं। कुछ विद्वान इसे एक अनिवार्य अपेक्षा बताते हैं, तो कुछ इन्हें अनावश्यक प्रलाप और पाखण्ड से ज्यादा कुछ नहीं समझते। पहले विद्वानों के अनुसार व्यवसाय समाज की रचना है, जो समाज के साधनों का समाज की जरूरतों को पूरा करने के लिए इस्तेमाल करता है, अतः समाज के सामने उत्तरदेय है। लेकिन दूसरे वर्ग के विद्वानों के अनुसार व्यवसाय एक आर्थिक क्रिया है जिसे आर्थिक सिद्धान्तों के अनुसार चलाया जाना जरूरी है। अतः इसे केवल आर्थिक दायित्वों की कसौटी पर ही परखा जा सकता है। यही नहीं, सामाजिक उत्तरदायित्व की अवधारणा में व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी हैं क्योंकि यह सामाजिक उत्तरदायित्व प्रायः अनेक पक्षों के हितों से जुड़ा रहता है और एक पक्ष के हितों की अभिवृद्धि कई बार दूसरे पक्षों के हितों पर कुठाराघात साबित होती है। कई बार समाधान समस्या से ज्यादा विकट बन जाता है जैसे आण्विक शक्ति संयंत्र लगाना, यद्यपि शक्ति की उपलब्धता को तो बढ़ा देता है, लेकिन आण्विक क्षय (atomic waste) की निकासी भी गंभीर समस्या को जन्म दे देती है। भोपाल में यूनियन कार्बाइड का कीटाणुनाशक दवाई बनाने वाला कारखाना 3 दिसम्बर 1984 को सारे भोपालवासियों के लिए सन्त्रास का स्रोत बन गया और लगभग 2000 लोगों की मौत और असंख्य लोगों के अभिशप्त जीवन का कारण सिद्ध हुआ।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

सामाजिक उत्तरदायित्व के विवाद में उसके पक्ष तथा विपक्ष में दिये गये तर्कों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है -

सामाजिक उत्तरदायित्व के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of Social Responsibility)

सामाजिक उत्तरदायित्व के पक्ष में विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गये तर्कों का सारांश इस प्रकार है-

(1) सामाजिक उत्तरदायित्व की पूर्ति **स्वयं व्यवसाय के दीर्घकालीन हित** में है। संतुष्ट ग्राहक, संतुष्ट कर्मचारी तथा संतुष्ट पूँजीदाता किसी भी संस्था की भावी सफलता की सबसे बड़ी गारण्टी है।

NOTES

(2) इसके कारण व्यवसाय **सरकार के कठोर हस्तक्षेप से बच सकता है।** वर्तमान राजनीतिक परिस्थितियों में किसी भी देश की सरकार व्यावसायिक संस्थाओं द्वारा की जाने वाली मनमानी को मूक दर्शक बनकर नहीं देख सकती वरन् सक्रिय हस्तक्षेप द्वारा प्रभावी ढंग से कुचल देती है।

(3) इससे **व्यवसाय की व्यावहारिकता में सुधार** होता है क्योंकि व्यवसाय से संबंधित सभी पक्ष इसका प्रबल समर्थन करते हैं और इसकी छोटी-मोटी कमजोरियों को नजरअंदाज कर देते हैं।

(4) सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति **सजगता व्यवसाय की जन छवि में वृद्धि करती है।** जनता इसके विन्यास और विकास में दोनों हाथ खोलकर समर्थन प्रदान करती है।

(5) इससे व्यवसाय की **अपने व्यवहार के प्रति जबावदेही में वृद्धि होती है।** यह जबावदेही विभिन्न पक्षकारों के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को निभाये जाने पर बल देती है।

(6) सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना **व्यवसाय को उसके द्वारा उत्पन्न सामाजिक समस्याओं को स्वयं ही हल करने को अभिप्रेरित करती है।** उदाहरण के लिए, गन्दी बस्तियों की समस्या औद्योगीकरण का ही परिणाम है अतएव इसे संबंधित औद्योगिक उपक्रमों द्वारा ही सुलझाना चाहिए।

(7) सामाजिक उत्तरदायित्व ही अवधारणा **व्यवसाय को राष्ट्र की सम्पत्ति एवं संस्कृति का शोषण करने के लिए नहीं वरन् उसकी रक्षा करने के लिए प्रेरित करती है।**

(8) व्यवसाय के पास सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए आवश्यक **साधन भी है और सक्षम प्रबंधक भी,** फिर क्यों न स्वयं अपनी ओर से आगे आकर उन्हें निभायें।

(9) जो व्यवसायी अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति **सजग एवं निष्ठावान हैं, उनका स्वत: समाज में सम्मान एवं अभिनन्दन होगा** जिसके परिणामस्वरूप उनके व्यवसाय का दिन दूनी रात चौगुनी गति से विकास एवं विस्तार होगा।

(10) व्यवसाय द्वारा सामाजिक उत्तरदायित्व निभाये जाने से उनकी **विपणन की समस्याओं का काफी सीमा तक स्वयं समाधान हो जायेगा।**

सामाजिक उत्तरदायित्व के विपक्ष में तर्क (Arguments against Social Responsibility)

सामाजिक उत्तरदायित्व के विपक्ष में विभिन्न विद्वानों द्वारा दिये गये तर्कों का सारांश इस प्रकार है -

(1) सामाजिक उत्तरदायित्व की अवधारणा **संस्था की लागत में वृद्धि करती है** क्योंकि यह स्वयं खर्चे की मद है। संस्था की लागत में यह वृद्धि उसकी अन्य समान संस्थाओं की तुलना में, जो कि सामाजिक उत्तरदायित्व को नहीं निभाती हो, प्रतियोगिता क्षमता में कमी कर देती है।

(2) सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति सजगता **व्यवसाय को अपने आर्थिक लक्ष्यों से विमुख कर देती है** और इसके परिणामस्वरूप उन्हें अपनी **अकुशलता को छिपाने का बहाना** मिल जाता है।

(3) सामाजिक उत्तरदायित्व के संबंध में **प्रबंधकों की स्वेच्छाचारिता व्यावसायिक संस्था के लिए नित्य नई समस्याएँ पैदा कर देगी** क्योंकि किसी एक पक्ष के हित का संवर्द्धन कई बार अन्य पक्षकारों द्वारा पसंद नहीं किया जाता अथवा उनका अहित करता है।

(4) व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व की अवधारणा **उसकी अधिकार सत्ता में अनावश्यक रूप से वृद्धि कर देगी।** आज का व्यवसाय केवल आर्थिक शक्ति तक केन्द्रित है। किन्तु यदि व्यवसाय को समाज के क्षेत्र में कार्य करने की स्वतंत्रता प्रदान की गई तो **इसकी शक्ति बढ़ जायेगी और यह सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक व शैक्षणिक मामलों में भी सक्रिय रूप में हस्तक्षेप करने लगेगा।**

(5) आलोचकों का यह भी मत है **व्यवसाय के क्षेत्र में कार्यरत प्रबंधक सामाजिक उत्तरदायित्व के क्षेत्र में वर्तमान में न तो प्रशिक्षित ही हैं और न योग्य ही।** ऐसी स्थिति में उन्हें सामाजिक उत्तरदायित्व निभाने की जिम्मेदारी सौंपना खतरे से खाली नहीं है।

(6) सामाजिक उत्तरदायित्वों के नाम से **व्यवसायियों की करनी एवं कथनी में अंतर निरंतर बढ़ता जा रहा है** जिसके कारण आम उपभोक्ता भ्रमित है।

आज हमें व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व की सबसे अधिक आवश्यकता है किन्तु इस दिशा में उठाये जाने वाला हमारा प्रत्येक कदम इससे उत्पन्न होने वाले खतरों के प्रति सजगता के लिए होना चाहिए।

NOTES

भारतीय सन्दर्भ में व्यवसाय का सामाजिक उत्तरदायित्व

(Social Responsibility of Business in Indian Reference)

विगत कुछ वर्षों से भारतीय व्यवसायियों ने सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना को अनुभव करना आरम्भ किया है। व्यावसायिक क्षेत्रों के अतिरिक्त सामाजिक, राजनैतिक, प्रशासनिक एवं शैक्षणिक स्तर पर भी इस दिशा में गम्भीरता से विचार किया जाने लगा है। उदाहरणस्वरूप, हमारे यहाँ उद्योगपतियों, राजनीतिज्ञों, समाज-सेवकों तथा प्रशासकों द्वारा उपर्युक्त विचारधारा के समर्थन में समय-समय पर विचार प्रकट दिये जा रहे हैं।

सन् 1964 में देश के तत्कालीन **प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री** ने 'एसोसियेटेड चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज' की वार्षिक व्यापक सभा में भाषण देते हुए कहा था कि "सरकार के लिए इससे अधिक प्रसन्नता की और कोई बात नहीं होगी कि देश के उद्योग-धंधे अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को समझें और निभाएँ ताकि सरकार उद्योगों पर नियंत्रण रखने की बजाय उनको सहायता पहुँचाने वाले साधनों पर अधिक ध्यान दे सके।" **स्वर्गीय श्री जयप्रकाश नारायण** तथा अन्य नेताओं ने भी व्यवसायी वर्ग से उनके सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए समय-समय पर आग्रह किया है। 1 मार्च, 1965 को दिल्ली में आयोजित एक गोष्ठी में व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व के विभिन्न पहलुओं पर विचार विनिमय किया गया था तथा यह आग्रह किया था कि व्यवसाय को अन्य पक्षकारों के अतिरिक्त उपभोक्ता वर्ग के समूचे समुदाय के प्रति भी अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाना होगा। मार्च (25-27), 1966 को कलकत्ता में व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व पर एक सेमिनार का आयोजन किया गया था जिसमें स्वर्गीय श्री जयप्रकाश नारायण ने इस विषय की महत्ता पर अपने भाषण में प्रकाश डाला था। अन्य बातों के अतिरिक्त उन्होंने यह भी कहा कि "व्यवसाय का उद्देश्य केवल लाभ कमाना न होकर सामाजिक न्याय पर बल देना है। सबके भले में ही व्यवसाय का भला है।" 20 अक्टूबर, 1966 को **'उचित व्यापारिक पद्धति परिषद'** की स्थापना की गई। इस परिषद ने 9 सूत्री संहिता (9- Clause Code of Fair Trade Practices) का निर्माण किया, जिसका पालन प्रत्येक व्यवसायी के लिए करना अनिवार्य कर दिया गया। इस संहिता को स्वर्गीय श्री जयप्रकाश नारायण ने जुलाई, 1968 को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। इस परिषद ने अन्य बातों के अतिरिक्त अत्यधिक मुनाफाखोरी को एक सामाजिक अपराध घोषित किया। फरवरी 1971 में अखिल भारतीय प्रबंधक संगठन ने अपने सार्वजनिक अधिवेशन में औद्योगिक एवं व्यापारिक वर्ग के सामाजिक उत्तरदायित्व के पहलू पर पर्याप्त बल दिया। भारतीय वाणिज्य एवं उद्योग चैम्बर ऑफ फेडरेशन के भूतपूर्व अध्यक्ष **श्री मदनमोहन** ने मार्च, 1973 को भारतीय व्यवसायियों से अनुरोध किया कि "उन्हें व्यवसाय के प्रति अपने दायित्वों को समझकर उनका पालन करना चाहिए।" देश के विख्यात उद्योगपति **जी.डी. बिड़ला** ने देशवासियों को चेतावनी दी थी कि " यदि भारतीय व्यवसायी ने देश की जनता पर सर्वोपरि ध्यान नहीं दिया तो उनकी भी कोई परवाह नहीं करेगा।"

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

देश की भूतपूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने इण्डियन मर्चेन्ट्स चैम्बर, मुम्बई की हीरक जयन्ती के सुअवसर पर अपने भाषण में कहा था कि " हमने निजी साहस को एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। हम चाहते है कि वह फले-फूले, किन्तु उसे ऐसे अनुशासन का पालन करना चाहिए जो कि उत्तम किस्म की वस्तुओं के उत्पादन, अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में प्रतिस्पर्द्धात्मक मूल्यों पर उनके विक्रय तथा राष्ट्रीय नैतिक मानकों (Standards of National Ethics) के अनुरूप व्यावसायिक पद्धतियों को बढ़ावा देने के लिए आवश्यक हो। एक प्रजातांत्रिक समाज में आत्मसंयम सबसे अधिक प्रभावी साधन होता है।" 10 जनवरी 1976 को गुजरात चैम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज द्वारा आयोजित व्यवसायियों के एक सम्मेलन को संबोधित करते हुए तत्कालीन केन्द्रीय उद्योग एवं नागरिक संचारण मंत्री **श्री टी.ए. पै** ने कहा है कि "व्यवसायी समुदाय का उद्देश्य केवल लाभ कमाना ही नहीं होना चाहिए। उन्हें चाहिए कि वे समाज के कमजोर वर्गों को उपभोक्ता वस्तुएँ कम लाभ लेकर सस्ती दर पर प्रदान करें और वे ऐसा कोई काम न करें जिससे सरकार को उनकी क्रियाओं में हस्तक्षेप करना पड़े।" धीरे-धीरे हमारी सरकार विभिन्न व्यवसायों का राष्ट्रीयकरण करती जा रही है। उदाहरण के लिए, जब सूती वस्त्र उद्योग निर्धारित मात्रा में कपड़े का निर्यात करने में असमर्थ रहा तो सरकार ने दिनांक 22 अगस्त, 1972 को सूती वस्त्र निर्यात का कारोबार अपने हाथ में ले लिया। इसी प्रकार से आम बीमे का राष्ट्रीयकरण किया गया। जीवन बीमा, सामान्य बीमा, प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण तो पहले ही किया जा चुका है। वर्तमान सरकार भी निजी एवं

सार्वजनिक सभी क्षेत्रों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना को विकसित करने एवं निभाने के विषय को सर्वोच्च प्राथमिकता देने पर बल दे रही है। इस संबंध में सरकार ने कई ठोस कदम भी उठाये हैं।

जुलाई 1981 में राष्ट्रपति द्वारा एक अध्यादेश निर्गमित किया गया जिसमें आवश्यक सेवाओं में हड़तालों आदि पर रोक लगाने का अधिकार सरकार को दिया गया है। उत्पादन की किस्म सुधारने तथा मूल्य वृद्धि को रोकने के लिए भी सरकार द्वारा कई कदम उठाये गये हैं। जो व्यवसायी सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का पालन करते हैं उन्हें आयात करने में प्राथमिकताएँ दी जा रही हैं। 15 अगस्त, 1982 को स्वतंत्रता की 35वीं वर्षगाँठ पर भाषण देते हुए भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने आर्थिक अपराधियों को कड़े शब्दों में चेतावनी देते हुए कहा था कि " देश की सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति में बाधाएँ पैदा करने वाले तत्वों से सख्ती से निपटा जायेगा। व्यवसायियों की जमाखोरी, मुनाफाखोरी तथा कालाबाजारी जैसी दूषित मनोवृत्तियों पर नियंत्रण पाने के लिए सख्त से सख्त कदम उठाये जायेंगे।" यदि भारतीय व्यापारियों एवं उद्योगपतियों ने समय की गति को नहीं पहचाना तो वह दिन दूर नहीं जबकि सरकार अन्य उद्योगों एवं व्यवसायों को भी अपने हाथ में ले लेगी। उदाहरण के लिए, चीनी उद्योग के राष्ट्रीयकरण की सर्वत्र माँग की जा रही है। अतएव हमारा समस्त व्यापारियों एवं उद्योगपतियों से अनुरोध है कि वे सिद्धांत एवं व्यवहार दोनों में सामाजिक उत्तरदायित्व को समझें एवं निभाएँ। इस संबंध में प्रत्येक व्यवसायी एवं उद्योगपति को किसी भी कार्य (जो कि अपने व्यवसाय अथवा उद्योग से संबंधित हो) को करने से पूर्व उक्त कार्य को निम्न सामान्य सिद्धांतों की कसौटी पर कसना चाहिए। यदि वे इस कसौटी पर खरे उतरते हैं तब तो उन्हें करना चाहिए अन्यथा उनका परित्याग कर देना चाहिए - (1) क्या यह सत्य है ? (2) क्या यह समस्त संबंधित पक्षकारों के लिए उचित (Fair) है? (3) क्या यह ख्याति (Goodwill) तथा अच्छी मित्रता का निर्माण करेगा? (4) क्या यह समस्त संबंधित पक्षकारों के लिए लाभप्रद होगा?

भारतीय व्यवसायियों द्वारा सामाजिक उत्तरदायित्व (Social Responsibility by Indian Businessmen)

वर्तमान में भारतीय व्यवसायी वर्ग शनैः-शनैः समाज के विभिन्न वर्गों के प्रति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाने के लिए सजग हो चला है। किन्तु फिर भी कुल मिलाकर स्थिति संतोषजनक नहीं कही जा सकती है क्योंकि स्वंतत्रता प्राप्ति के बाद अभूतपूर्व औद्योगिक प्रगति एवं सरकार द्वारा इस प्रकार की गई विभिन्न सुविधाओं के बावजूद भी ऐसा लगता है कि हमारा व्यवसायी समाज अंधा बनकर 'आर्थिक मनुष्य' की उपासना करना छोड़ना नहीं चाहता। आज हमारे व्यवसायी समाज में इस बात की कड़ी प्रतिस्पर्द्धा होने लगी है कि कौन येन-केन तरीकों से न्यूनतम साधनों के द्वारा कम से कम समय में पूँजीपति बने। भारतीय व्यवसायी किस सीमा तक अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को निभा रहे हैं - यह बात नीचे दिये गये विवेचन से स्पष्ट हो जायेगी -

1. **स्वयं के प्रति** - इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत के अधिकांश व्यवसायियों ने अपने स्वयं के प्रति सामाजिक उत्तरदायित्वों को सफलतापूर्वक निभाने का प्रयास किया है, उन्होंने अच्छे लाभ कमाये हैं, धन का संचय भी किया है तथा व्यवसाय का समुचित विकास एवं विस्तार किया है। इस दिशा में उन्हें पर्याप्त सफलता भी मिली है।

2. **स्वामियों या अंशधारियों के प्रति** - अधिकांश व्यवसायी स्वामियों या अंशधारियों के प्रति अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाने में असफल रहे हैं। प्रारम्भ में संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों की प्रबंध व्यवस्था की बागडोर प्रबंध अधिकर्ताओं के हाथों में थी जिन्होंने मनमाने ढंग से कम्पनी के आर्थिक साधनों का शोषण किया। परिणामस्वरूप सरकार को बाध्य होकर सन् 1970 में प्रबंध अधिकर्ता प्रणाली को पूर्णतः समाप्त करना पड़ा। इस दिशा में समय-समय पर सरकार द्वारा कम्पनी अधिनियम में निरंतर संशोधन (जैसे- सन् 1988 में किये गये संशोधन) किये जा रहे हैं किन्तु फिर भी अंशधारियों के हितों की पूर्ण सुरक्षा नहीं हो सकी है। अतएव सरकार कम्पनी अधिनियम में व्यापक संशोधन कर रही है।

3. **कर्मचारियों के प्रति** - कुछ व्यावसायिक एवं औद्योगिक गृहों को छोड़कर अधिकांश व्यवसायियों एवं उद्योगपतियों ने अपने कर्मचारियों के प्रति सामाजिक उत्तरदायित्वों को समुचित ढंग से नहीं निभाया है। सरकार ने कर्मचारियों तथा श्रमिकों के हितों की सुरक्षा के लिए समय-समय पर वेतन, बोनस, सामाजिक सुरक्षा तथा श्रम-कल्याण संबंधी विभिन्न नियमों का निर्माण किया है तथा उनमें आवश्यक संशोधन भी किये हैं। किन्तु फिर भी सुनने में यही आता है कि इन नियमों का मनमाने ढंग से उल्लंघन किया जाता है और तरह-तरह से कर्मचारियों एवं श्रमिकों का शोषण किया जाता है।

4. **उपभोक्ताओं के प्रति** - यह दुख का विषय है कि हमारा व्यवसायी वर्ग उपभोक्ताओं एवं अपने प्रति सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाने में प्रायः उदासीन रहा है। 'मिलावट', 'कम नाप-तौल', 'मुनाफाखोरी', 'कालाबाजारी' जैसे दूषित कार्यों के लिए हमारा व्यवसायी आज विश्वविख्यात हो चुका है। उदाहरण के लिए,

NOTES

चावल व चीनी में 'सफेद कंकड़', पिसे धनिये में 'घोड़े की लीद', गेहूँ में 'कंकड़ व रेत', काली मिर्च में 'पपीते के बीज', तिली के तेल में 'अलसी का तेल', चाय की पत्ती में 'लकड़ी का बुरादा', आदि कार्य करना एक आम बात हो गई है। यही कारण है कि अभी भी हमारे लोगों में विदेशी वस्तुओं के प्रति विशेष रुचि मौजूद है।

NOTES

5. पूर्तिकर्ताओं के प्रति - भारतीय व्यवसायियों ने पूर्तिकर्ताओं के प्रति अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को भली-भाँति नहीं निभाया है। भारत के व्यवसायियों ने संघों की स्थापना करके पूर्तिकर्ताओं (जैसे- जूट, गन्ना व कपास आदि) का समय-समय पर मनमाने ढंग से शोषण किया है जिसके कारण सरकार को बाध्य होकर ऐसे पूर्तिकर्ताओं के हितों की सुरक्षा के लिए समय-समय पर उचित कदम (जैस न्यूनतम कीमत निर्धारण करना, चैक द्वारा भुगतान संशोधन अधिनियम, 1989 आदि) उठाने पड़े हैं।

6. सरकार के प्रति - हमारे देश के अधिकांश व्यवसायी एवं उद्योगपति सरकार द्वारा बनाये गये कानूनों एवं नियमों का घोर उल्लंघन करते हैं। आयकर, बिक्री कर, उत्पादन कर आदि की चोरी करना तो एक सामान्य आदत सी हो गयी है। सरकारी अधिकारियों को भ्रष्ट करने का प्रयास करना, हिसाब-किताब में गड़बड़ करना आदि बातें भी देखने में आये दिन आती हैं।

7. स्थानीय समुदाय के प्रति - स्थानीय समुदाय के प्रति व्यवसायियों एवं उद्योगपतियों ने अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को मिश्रित रूप में निभाया है। जहाँ एक ओर विभिन्न स्थानों पर कुछ प्रतिष्ठित व्यावसायिक संस्थानों ने जन-कल्याण हेतु शिक्षण संस्थाओं, चिकित्सालयों, धर्मशालाओं, मन्दिरों, क्रीड़ा स्थलों, पार्कों आदि का निर्माण किया है- वहाँ दूसरी ओर बाहर से आये अधिकांश व्यावसायिक संस्थानों ने स्थानीय संसाधनों का अपने हित के लिए शोषण करने के अतिरिक्त स्थानीय जन-कल्याण पर कुछ भी व्यय नहीं किया है, जिसके कारण वहाँ के स्थानीय लोगों द्वारा उन्हें वहाँ से निकालने के लिए विभिन्न प्रकार के समय-समय पर आन्दोलन किये गये हैं, जैसे - असम व बंगाल से आये लोगों को निकालने के लिए किये गये आन्दोलन आदि।

8. विश्व के प्रति - इस क्षेत्र में भी हमारा व्यवसायी व औद्योगिक वर्ग अपने दायित्वों को निभाने में लगभग असफल रहा है। इसका उदाहरण विदेशों में भारतीय व्यवसायियों की निरंतर गिरती हुई ख्याति है जिसके कारण हमारी सरकार को राजकीय व्यापार निगम को विदेशी कारोबार का कार्यभार सौंपना पड़ा है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि कुल मिलाकर हमारा व्यवसायी केवल स्वयं के प्रति उत्तरदायित्व को छोड़कर शेष सभी क्षेत्रों में अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाने में असफल रहा हैं यही कारण है कि आज समाज में व्यवसायी के प्रति दूषित भावना बनी है। सरकार की विचारधारा भी व्यवसायी के प्रति अच्छी नहीं है। यदि ऐसी स्थिति और अधिक समय तक बनी रही तो फिर वह दिन दूर नहीं जबकि समाज व्यवसायी वर्ग के विरुद्ध बगावत कर बैठेगा, जिसके दुष्परिणाम व्यवसाय के लिए बड़े भयंकर होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी वर्तमान सरकार समाज की व्यवसाय के प्रति इस भावना से परिचित है और वह व्यवसाय पर अंकुश लगाने के लिए समय-समय पर विभिन्न कदम उठा रही है। व्यवसायियों मे भी अब चेतना आ रही है और वे अब सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने की दिशा में शनैः-शनैः कदम उठा रहे हैं।

व्यवसायियों को अपने सामाजिक दायित्वों के प्रति सजग करने के लिए सुझाव

(Suggestions to Alert Businessmen towards their Social Responsibilities)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

व्यवसायियों, विशेषतः भारतीय व्यवसायियों को अपने सामाजिक उत्तरदायित्वों के प्रति सजग करने एवं उसे प्रभावी ढंग से निभाने हेतु निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते है -

1. व्यवसाययों के संघों को अपने सदस्यों के लिए एक आचार संहिता का निर्माण करना चाहिए और उसका दृढ़तापूर्वक पालन होना चाहिए। उसका उल्लंघन करने वाले सदस्यों के विरुद्ध दण्ड का प्रावधान होना चाहिए।
2. समय-समय पर समाचार-पत्रों, रेडियो तथा टेलीविजन, वार्ताओं आदि के माध्यम से व्यवसायियों को उनके सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति याद दिलाते रहना चाहिए।
3. समय-समय पर विचारगोष्ठियों एवं सभाओं का आयोजन करके इसके महत्व पर प्रकाश डालना चाहिए तथा उत्पन्न हुई कठिनाइयों का पारस्परिक विचार विनिमय द्वारा समाधान किया जाना चाहिए।
4. सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति विशेष रूप से सजग व्यवसायियों के नाम एवं उनके कार्यों का प्रचार किया जाना चाहिए। ऐसे व्यवसायियों को उचित पुरस्कार भी दिया जाना चाहिए।

5. उपभोक्ता संघों को चाहिए कि व्यवसायियों को उपभोक्ताओं के प्रति सामाजिक उत्तरदायित्व निभाने के लिए बाध्य करें। इस संबंध में उदासीन व्यवसायियों का बहिष्कार किया जाना चाहिए।

6. सरकार को भी अपने तंत्र (Machinery) द्वारा व्यवसायियों को अपने सामाजिक उत्तरदायित्व निभाने के लिए बाध्य करना चाहिए। उदासीन व्यवसायियों के प्रति कठोर कदम उठाने चाहिए।

7. मुनाफाखोरी, काला बाजारी, घूंसखोरी एवं मिलावट करने वालों की सार्वजनिक रूप से निन्दा की जानी चाहिए तथा उन्हें सार्वजनिक रूप से दण्डित किया जाना चाहिए।

8. व्यवसायी के मस्तिष्क में यह बात अच्छी तरह से बिठानी होगी कि समाज से ही वह अपना सम्पूर्ण लाभ कमाता है, अतः उसके प्रति उसे अपना सामाजिक उत्तरदायित्व निभाना होगा। इसे व्यवसाय से पृथक् नहीं किया जा सकता है।

9. सामाजिक उत्तरदायित्व के निभाने की स्थिति का समय-समय पर मूल्यांकन किया जाना चाहिए तथा वस्तुस्थिति का प्रकाशन करना चाहिए। साथ में आवश्यक सुझाव भी दिये जाने चाहिए।

10. अनुचित रूप से लाभ कमाने वाले व्यवसायियों के अर्जित लाभ एवं सम्पत्ति आदि को तुरन्त जब्त किया जाये। इस संबंध में व्यापक पैमाने पर छापे मारे जाएँ। हमारा आयकर विभाग इस कार्य को सक्रियता से कर रहा है।

11. व्यवसायियों को अपने धन के बल पर राजनैतिक संरक्षण प्राप्त करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। जो व्यवसायी ऐसा करके समाज विरोधी कार्यों में संलग्न होते हैं, उनके विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही की जानी चाहिए।

12. अनुचित रूप से लाभ कमाने वाले व्यवसायियों के लाभ एवं सम्पत्ति दोनों को जब्त कर लेना चाहिए एवं उनके विरुद्ध अन्य कठोरतम कार्यवाहियाँ भी की जानी चाहिए।

13. उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम को प्रभावी ढंग से लागू करना चाहिए।

व्यवसाय के सामाजिक उत्तरदायित्व का महत्व
(Importance of Social Responsibility of Business)

आधुनिक व्यवसाय के क्षेत्र में सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारधारा दिनों-दिन प्रचलित होती जा रही है, जिसके परिणामस्वरूप इसका महत्व भी तीव्रगति से निरंतर बढ़ता जा रहा है। यही कारण है कि सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारधारा आधुनिक व्यवसाय का अभिन्न अंग कहलाने लगी है। आखिर ऐसा क्यों? व्यवसाय तो पहले भी होता था किन्तु फिर आज ही इसकी महत्ता क्यों अनुभव की जा रही है? इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं-

1. **व्यवसाय तथा व्यवसायी दोनों समाज के अभिन्न अंग होना** (Business and Businessmen both is a Part of Society) - व्यवसायी और व्यवसाय दोनों ही समाज के अभिन्न अंग है। व्यवसायी का जन्म एवं विकास समाज में ही होता है। इस दृष्टि से समाज व्यवसाय का अंग हुआ। इसी प्रकार व्यवसाय भी समाज के लोगों के साथ किया जाता है। अतएव व्यवसाय भी समाज का अंग हुआ। ऐसी दशा में व्यवसाय तथा व्यवसायी दोनों का समाज के प्रति अपना सामाजिक उत्तरदायित्व बनता है जिसे उन्हें निभाना चाहिए।

2. **उपभोक्ता आन्दोलन** (Consumer's Movement) - वह समय अब लद गया जब व्यवसायी मनमाने ढंग से उपभोक्ताओं का शोषण किया करता था। अब उपभोक्ता अपने संघ बनाने लगे हैं तथा अपने हितों के प्रति सजग हो गये हैं। सरकार भी व्यवसाय के विभिन्न क्षेत्रों में उपभोक्ता संघों के निर्माण को प्रोत्साहित कर रही है। अमेरिका में तो उत्पादक अथवा निर्माता को अपने उत्पाद को बाजार में प्रविष्टि कराने के लिए उपभोक्ताओं के संघों से पूर्व अनुमति लेनी पड़ती है। वहाँ पर उपभोक्ता अपने हितों के प्रति पूर्णतः सजग एवं संगठित है। भारत में भी कई क्षेत्रों में उपभोक्ता संघों की स्थापना की गई है तथा शेष में की जा रही है। अतएव व्यवसायियों को भी उपभोक्ताओं के हितों की पूर्ति करने का दायित्व सहर्ष स्वीकार करना चाहिए।

3. **अस्तित्व की सुरक्षा** (Protection to Existence)- यदि कोई व्यवसायी अपने व्यवसाय का दीर्घकाल तक अस्तित्व बनाये रखना चाहता है तो उसे समाज के विभिन्न वर्गों के प्रति सामाजिक उत्तरदायित्व को पूरा करना ही पड़ेगा। आधुनिक व्यवसायी के लिए तो सामाजिक उत्तरदायित्व के निभाये जाने का प्रश्न एक प्रकार से उसके जीवन-मरण का प्रश्न बनता गया है जिसे पूरा करना ही होगा। इसके अभाव में उसका सर्वनाश होना लगभग निश्चित सा बन गया है।

NOTES

NOTES

4. पेशेवर प्रबंधकों का योगदान (Role fo Professional Managers) - आधुनिक व्यवसाय में पेशेवर प्रबंधकों का प्रवेश बड़ी तेजी से बढ़ रहा है। पेशेवर प्रबंधकों का प्रवेश ज्यों-ज्यों बढ़ता जा रहा है वैसे-वैसे सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारधारा के लागू होने की संभावना भी बढ़ती जा रही है।

5. वैधानिक प्रावधान (Legal Provisions) - आज प्रायः सभी देशों में देश व समाज के हित में व्यवसाय का नियंत्रण करने के लिए बड़ी तेजी से वैधानिक प्रावधानों को लागू किया जा रहा है। अधिकांश वैधानिक प्रावधानों को लागू करने से सामाजिक उत्तरदायित्व पूरे हो जाते हैं, जैसे - उपभोक्ता संरक्षण अधिनियम, श्रम कल्याण तथा सामाजिक सुरक्षा संबंधी प्रावधान, न्यूनतम मजदूरी भुगतान अधिनियम आदि।

6. सरकारी नीतियाँ (Government Policies) - विशेषतः एक कल्याणकारी राज्य की नीतियाँ व्यवसाय को सामाजिक उत्तरदायित्व के निभाने पर दबाव डालती हैं। यदि कोई व्यवसायी समाज के प्रति उत्तरदायित्व की भावना का उल्लंघन करता है तो सरकार उसके व्यवसाय को अपने नियंत्रण में ले लेती है।

7. श्रम आन्दोलन (Labour Movement) - भारत सहित सभी देशों में श्रम आंदोलन बड़ी तेजी से विकसित हो रहे हैं। आज का श्रमिक अपने अधिकारों के प्रति काफी जाग्रत है। ऐसी स्थिति में व्यवसायियों को सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति सजग होना पड़ा है।

8. प्रतिष्ठा एवं सम्मान पाने की भूख (Hunger for Prestige and Respect)- आज का व्यवसायी केवल लाभों से ही संतुष्ट नहीं है अपितु व्यवसायी होने के नाते उसमें समाज में प्रतिष्ठा एवं सम्मान पाने की भूख घर कर गई है। इस कारण भी वह सामाजिक उत्तरदायित्व को पूरा करने पर बल देता है।

9. व्यवसाय का विस्तार एवं विकास (Expansion and Development of Business) - आधुनिक व्यवसायी केवल विद्यमान व्यवसाय से ही संतुष्ट नहीं है वह न्यूनतम समय में द्रुतगति से अपने व्यवसाय का विस्तार एवं विकास करना चाहता है। ऐसा करने के लिए भी उसे सामाजिक उत्तरदायित्व को पूरा करना आवश्यक है।

10. अधिकाधिक संतुष्टि प्रदान करना (To Provide Maximum Satisfaction) - आज का व्यवसायी शोषण की मनोवृत्ति का उन्मूलन करके सभी क्षेत्रों में अधिकाधिक संतुष्टि प्रदान करने पर बल देता है। ऐसा करने पर ही उसके व्यवसाय की दीर्घ आयु होगी तथा उसके व्यवसाय का भविष्य उज्जवल हो सकेगा। इस हेतु भी वह सामाजिक उत्तरदायित्व के निभाने पर बल देता है।

11. राष्ट्रीयकरण का भय (Fear of Nationalisation) - वर्तमान समय में कोई भी व्यवसायी समाज के हितों की उपेक्षा करते हुए अधिक समय तक व्यवसाय का संचालन नहीं कर सकता। यदि कोई व्यवसायी समाज की मान्यताओं, सरकारी अधिनियमों तथा देश के हितों की अवहेलना करके समाज तथा सरकार द्वारा प्रदान किये गये साधनों का शोषण करता है तो सरकार उसके विरुद्ध सख्त से सख्त कदम उठाती है। इसके बावजूद भी यदि कोई व्यवसायी अपनी अनुचित गतिविधियों को समाप्त नहीं करता तो सरकार समाज व देश के हित में उसके व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण तक कर लेती है। जीवन बीमा, सामान्य बीमा दोनों इसके ज्वलंत उदाहरण है।

12. व्यापारिक संगठनों द्वारा मान्यता (Recognition by Business Organisations) - विभिन्न स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यावसायिक संगठनों ने सामाजिक उत्तरदायित्व के महत्व को स्वीकारा है तथा इनके द्वारा समय-समय पर व्यवसायी वर्ग को अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को निभाने हेतु अभिप्रेरित किया जाता है। परिणामस्वरूप व्यवसायियों में सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना का विकास हुआ है।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

13. व्यावसायिक नीति शास्त्र पर बल (Emphasis on Business Ethics) - नीतिशास्त्र व्यक्तियों के आचरण एवं जीवन-मूल्यों से संबंधित शास्त्र है। व्यावसायिक नीतिशास्त्र भी व्यवसाय के आचरण एवं उसके मूल्यों से संबंधित शास्त्र है। चूँकि व्यवसायी यह तथ्य स्वीकार नहीं करते है कि अच्छी व्यावसायिक नीतियों से व्यवसाय दिन-दूनी रात-चौगुनी गति से पनपता है तथा बुरी व्यावसायिक नीतियों से उसका पतन होने लगता है, अतएव व्यवसायी सामाजिक उत्तरदायित्व के निभाने पर बल देते है।

14. समाज की बदलती हुई अवधारणाएँ (Changing Concepts of Business) - व्यवसाय में तेजी से बदलती हुई अवधारणाओं ने भी व्यवसाय के उद्देश्यों में आमूलचूल परिवर्तन किया है। एक समय था जबकि व्यवसाय का एकमात्र उद्देश्य केवल अधिकतम लाभ कमाने तक ही सीमित था। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह अपने व्यवसाय का संचालन करता था। किन्तु अब लाभ उद्देश्य के अतिरिक्त सामाजिक उद्देश्य को भी महत्ता दी जाती है। आधुनिक व्यवसायियों को तो यह धारणा है कि यदि व्यवसायी सामाजिक तथा मानवीय उद्देश्यों का पालन करेगा तो लाभ उद्देश्य की पूर्ति तो स्वयं ही हो जायेगी। अतएव आधुनिक व्यवसायियों का सामाजिक

उद्देश्य प्रथम तथा लाभ उद्देश्य गौण बन गया है। इस कारण भी सामाजिक उत्तरदायित्व की अवधारणा को बल मिला है।

15. बढ़ती हुई व्यावसायिक शक्ति (Increasing Business Power) - यदि देखा जाय तो आधुनिक व्यवसाय का आकार दिनों-दिन तीव्र गति से निरंतर बढ़ता ही जा रहा है। आज अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की कई बहुराष्ट्रीय कम्पनियों (Multinational Companies) की सम्पत्ति कई देशों की कुल राष्ट्रीय आय से भी अधिक है। यही नहीं, इसमें निरंतर वृद्धि होती जा रही है। आर्थिक एवं व्यावसायिक शक्ति सामाजिक तथा राजनैतिक शक्ति पर हावी होती जा रही है। भारत में स्थित कुछ औद्योगिक संस्थान (जैस- टाटा, बिड़ला आदि) इनके उदाहरण हैं। इस कारण भी सामाजिक उत्तरदायित्व की अवधारणा बढ़ रही है क्योंकि यही व्यावसायिक शक्ति का सही मार्गदर्शन कर सकती है।

16. बढ़ती हुई सामाजिक चेतना (Increasing Social Consciousness) - आधुनिक युग में समाज के प्रत्येक क्षेत्र में नवीन सामाजिक चेतना बड़ी तेजी से विकसित हो रही है चाहे उपभोक्ता हो, कर्मचारी हो अथवा सरकार सभी यही चाहते हैं कि व्यवसाय अपने सामाजिक उत्तरदायित्व की पूर्ति करे। शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों, प्रतिस्पर्द्धात्मक विज्ञापन, सम्प्रेषणों के साधनों, समाचार-पत्रो, रेडियो, टेलीविजन आदि सभी ने इस चेतना की जागृति में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

1. व्यवसाय के सामाजिक दायित्व की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
   Explain the concepts of social responsibility of business.
2. व्यवसाय के सामाजिक दायित्व से आप क्या समझते है? समाज के विभिन्न वर्गों के प्रति व्यवसाय के दायित्व को समझाइए।
   What do you mean by social responsibility of business? Explain the responsibilities of business towards various sedrous of society.
3. सामाजिक दायित्व से क्या तात्पर्य है? उपभोक्ताओं और कर्मचारियों के प्रति व्यवसाय के सामाजिक दायित्वों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

●●●

NOTES

18

NOTES

विश्व व्यापार संगठन एवं भारत
(WORLD TRADE ORGANISATION AND INDIA)

प्रशुल्क एवं व्यापार संबंधी सामान्य समझौता
(General Agreement on Tariffs and Trade)

दो विश्व-युद्धों के फलस्वरूप विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के व्यापारिक संबंधों में पारस्परिक द्वेष एवं भेदभावपूर्ण प्रवृत्ति विकसित हुई। परिणामतः विश्व व्यापार की मात्रा में अभूतपूर्व गिरावट आयी। सन् 1929 में विश्व के कुल व्यापार का मूल्य 5,590 करोड़ डालर था जो 1937 में घटकर 2,430 करोड़ डालर रह गया। द्वितीय विश्व-युद्ध के तत्काल बाद ही इस दिशा में और गिरावट आयी। विश्व समुदाय ने इसे एक गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक चुनौती के रूप में लिया।

विकासशील राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग में अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। परिणामतः अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के समानता एवं न्याय के सिद्धान्त के आधार पर संचालन एवं विकास हेतु द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास प्रारम्भ हुये। इस क्रम में विश्व-युद्ध के बाद ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संबंधी नीतियों के निर्धारण एवं कार्यान्वयन हेतु विभिन्न देशों ने संगठित होना प्रारम्भ कर दिया।

अन्ततः 1947 में हवाना अधिवेशन में एक समझौता हुआ, जिससे "प्रशुल्क-दरों एवं व्यापार पर सामान्य समझौता (GATT)" की संज्ञा दी गयी है। प्रारम्भ में इस समझौते को केवल अस्थायी व्यवस्था माना गया था, परन्तु 1948 से यह एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के रूप में कार्यशील है। प्रारम्भ में इसके सदस्यों की संख्या 23 थी जो दिसम्बर, 1994 में बढ़कर 123 हो गयी थी। अब GATT की जगह जनवरी 1995 से विश्व व्यापार संगठन (WTO) ने स्थान ले लिया है और इसके सदस्यों की संख्या बढ़कर अब 144 हो गई।

गैट के सिद्धान्त

"प्रशुल्क-दरों एवं व्यापार पर सामान्य समझौता" एक ऐसी सन्धि थी जिसके प्रति सभी सदस्य देशों का दायित्व रहता था। सदस्य देशों के प्रतिनिधि समय-समय पर मिलकर विचार-विमर्श करते थे। यह एक ऐसी सन्धि थी जो निम्नलिखित चार महत्वपूर्ण सिद्धान्तों पर आधारित थी :

(1) विभिन्न देशों के बीच बिना भेद-भाव के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किया जाये,

(2) विदेशी व्यापार को प्रभावित करने हेतु केवल प्रशुल्क-दरों का आश्रय लिया जाये,

(3) एक देश दूसरे देश के लिये क्षतिप्रद नीति अपनाने से पूर्व उस (दूसरे) देश से विचार-विमर्श करे, तथा

(4) ऐसे कदम उठाये जायें जिनसे प्रशुल्क-दरों में परस्पर विचार-विमर्श के माध्यम से कमी की जा सके।

प्रशुल्क-दरों एवं व्यापार के सामान्य समझौते के उद्देश्य
(Objectives of GATT)

समझौते का मुख्य प्रयोजन प्रशुल्क-दरों में पर्याप्त कटौती एवं व्यापार के विस्तार में आने वाली बाधाओं को कम करके परस्पर लाभ पहुँचाने वाले निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति करना था :

(1) सदस्य देशों में जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना,

(2) पूर्ण रोजगार की दिशा में अर्थव्यवस्था को प्रवृत्त करना तथा वास्तविक आय एवं प्रभावी माँग के परिणाम में वृद्धि करना,

(3) विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा उत्पादन में वृद्धि करना,

(4) विश्व में उपलब्ध साधनों का इष्टतम उपयोग करना, तथा

(5) दो देशों की अपेक्षा अनेक देशों के व्यापार की समृद्धि हेतु वार्ताएँ आयोजित करना ताकि विभिन्न देशों के बीच व्यापार में सरकारी हस्तक्षेप एवं बाधाओं को न्यूनतम किया जा सके।

स्वीकार किये गये हैं :

(अ) व्यापार का विस्तार एवं अधिकतम उत्पादन की प्राप्ति तभी सम्भव है जबकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भेदभावपूर्ण व्यापार नहीं अपनाया जाये तथा प्रशुल्क-दरों एवं व्यापार-प्रतिबंधों के माध्यम से इसे सीमित नहीं किया जाये,

(ब) विदेशी व्यापार में आयात-कोटे का निर्धारण या मात्रात्मक प्रतिबंध अनुचित एवं निन्दनीय है, तथा

(स) विद्यमान प्रशुल्क-दरों में कमी करने हेतु "समझौते" में अनुबंधित देशों को परस्पर विचार-विमर्श एवं एक दूसरे के लाभ व कठिनाइयों को समझते हुये कोई नीति अपनानी चाहिये।

गैट के विभिन्न दौर

सदस्य देशों के बीच आपसी विचार-विमर्श हेतु आयोजित की जाने वाली सामान्य बैठकों को गैट दौर (GATT Round) कहते हैं। गैट में आपसी विचार-विमर्श के अब तक आठ दौर हो चुके हैं जिनका संक्षिप्त ब्यौरा सारणी-1 में दिया गया है-

सारणी 1- विभिन्न प्रशुल्क सम्मेलनों के मुख्य तथ्य

	अधिवेशन	सम्मिलित व्यापार का मूल्य	प्रदत्त रियायतों की संख्या
1.	जिनेवा - 1947	10 बिलियन डालर	45,000
2.	अनेसी - 1949	आँकड़े अप्राप्त	5,000
3.	तोरके - 1951	आँकड़े अप्राप्त	8,700
4.	जिनेवा - 1956	2.5 बिलियन डालर	आँकड़े अप्राप्त
5.	जिनेवा - 1961 (डिल्लन राउण्ड)	4.9 बिलियन डालर	4,400
6.	जिनेवा - 1964-67 (कैनेडी राउण्ड)	40 बिलियन डालर	आँकड़े अप्राप्त
7.	जिनेवा - 1973-79 (टोकियो राउण्ड)	300 बिलियन	27,000
8.	उरुग्वे - 1986-94 (उरुग्वे राउण्ड)	आँकड़े अप्राप्त	आँकड़े अप्राप्त

गैट के इन आठ राउण्डों में से पहले 6 राउण्ड मुख्यतः बहुमुखी प्रशुल्क दरों में कमी करने के लिए आयोजित किये गये तथा उन्हें इस उद्देश्य की प्राप्ति में अपेक्षित सफलता भी प्राप्त हुई, किन्तु इन राउण्ड के दौरान यह तथ्य सामने आया कि प्रायः सदस्य देश प्रशुल्क को घटाकर उसके स्थान पर गैट-प्रशुल्क प्रतिबन्ध लागू करने लगे थे। इसलिये गैट के 7वें राउण्ड में प्रशुल्क और गैट-प्रशुल्क दोनों प्रकार के प्रतिबन्धों को समाप्त करने हेतु कुछ नवीन प्रकार के कोड बनाये गये। गैट का आठवाँ राउण्ड (उरुग्वे राउण्ड) जो कि 1986 से 1994 तक चला अभी तक के सभी राउण्ड की तुलना में सबसे अलग होने के साथ ही चर्चित एवं विवादास्पद रहा है।

उरुग्वे राउण्ड
(Urugway Round)

गैट वार्ताओं का आठवाँ दौर (राउण्ड) 20 सितम्बर, 1986 को उरुग्वे में प्रारम्भ हुआ जिसमें कुल 120 देशों ने भाग लिया। इस दौर की 15 दिसम्बर, 1993 को अंतिम बैठक में सात वर्षीय उरुग्वे दौर की बातचीत समाप्त हुई। 15 अप्रैल, 1994 को 123 सदस्य देशों के मंत्रियों ने उरुग्वे दौर के परिणामों को मराकश (मोरक्को) में स्वीकृति प्रदान कर दी। इसके साथ ही गैट समाप्त होकर 1 जनवरी, 1995 को विश्व व्यापार संगठन (WTO) में विलीन हो गया।

उरुग्वे राउण्ड की प्रथम बैठक में विचार-विमर्श हेतु रखे गये प्रस्ताव को दो भागों में बाँटा गया था। प्रथम भाग के अन्तर्गत वस्तु व्यापार के क्षेत्र में प्रशुल्क, गैर-प्रशुल्क उपाय, टैक्सटाइल तथा कपड़े, कृषि, प्राकृतिक संसाधन आधारित वस्तुएँ, बहुपक्षीय व्यापार वाली संधियाँ, आर्थिक सहायता, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, गैट अनुच्छेद, बचाव संबंधी उपाय, विवाद निपटारा, गैट प्रणालियों की कार्य विधि से सम्बन्धित कुल 14 क्षेत्र शामिल थे। दूसरे भाग के अन्तर्गत सर्वथा नवीन एवं वस्तु व्यापार से अलग सेवाओं संबंधी व्यापार को शामिल किया गया। इस राउण्ड में गैट ने अपने कार्यक्षेत्र में विभिन्न परम्परागत क्षेत्रों के साथ ही तीन नये क्षेत्र जोड़े जो निम्न हैं -

1. व्यापार संबंधी बौद्धिक सम्पदा अधिकार (TRIPs),
2. व्यापार संबंधी विनियोग उपाय (TRIMs),
3. सेवा क्षेत्र को व्यापार में शामिल करना।

उपर्युक्त तीनों क्षेत्र गैट के आठवें राउण्ड में गम्भीर विवाद का विषय बने रहे। गैट के तत्कालीन कार्यकारी निदेशक आर्थर डंकेल ने सभी सदस्य देशों के सुझावों को ध्यान में रखते हुए एक प्रस्ताव तैयार किया जो 'डंकेल प्रस्ताव' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रस्ताव में सभी अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक हस्तान्तरणों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत शामिल किया गया। इस प्रस्ताव के प्रथम भाग को 24 वर्गों में बाँटा गया है जिसमें विभिन्न वस्तुओं के व्यापार, चुंगी, मूल्यांकन, राशिपातन, सरकारी क्रय आदि विषयों पर विचार प्रस्तावित थे। द्वितीय भाग में सेवाओं के व्यापार, बौद्धिक सम्पदा संबंधी अधिकार और एक नये विश्व व्यापार संगठन की स्थापना से सम्बन्धित प्रस्ताव शामिल थे। डंकेल प्रस्ताव को अनेक संशोधनों के बाद स्वीकार कर उरुग्वे दौर को समाप्त करने का प्रस्ताव पारित किया गया।

गैट का मूल्यांकन

गैट की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग के क्षेत्र की महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती है, किन्तु गैट अपने प्रारम्भिक वर्षों में विशेष उल्लेखनीय कार्य करने में असफल रहा। गैट की स्थापना सदस्य देशों के मध्य व्यापार प्रतिबन्धों को समाप्त कर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने के लिए की गई थी, किन्तु आलोचकों ने यह विचार व्यक्त किया है कि अमेरिका ने विश्व की व्यापारिक गतिविधियों को संचालित करने हेतु गैट का उपयोग किया है। इसके फलस्वरूप अल्प विकसित एवं विकासशील देश अपने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ाने में असफल हुए हैं। इसके बावजूद गैट अपने उद्देश्यों की प्राप्ति में काफी हद तक सफल रहा है।

समझौता एवं भारत
(GATT and India)

प्रारम्भ से ही भारत "समझौते" का सक्रिय भागीदार रहा है। भारतीय प्रतिनिधियों ने न केवल समझौते के अंतर्गत आयोजित प्रशुल्क मन्त्रणाओं में भाग लिया है, अपितु विभिन्न समितियों की बैठकों में विकासशील देशों की समस्याओं एवं दृष्टिकोण को भी स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया है, परन्तु भारत जैसा विकासशील देश अपनी प्रतियोगात्मक शक्ति में वृद्धि करके ही 'समझौते' से पूरा लाभ उठा सकता है, चाहे वह शक्ति आन्तरिक आर्थिक अनुशासन से प्राप्त की जाये अथवा विदेशों में हमारी विक्रय-कला के श्रेष्ठतम प्रदर्शन द्वारा। यह भी आवश्यक है कि देश में बढ़ती हुई उत्पादन लागतों एवं कीमतों पर अंकुश लगाया जाये।

जुलाई 1980 में भारत सरकार द्वारा चार गैर-टैरिफ उपायों से संबंधित समझौते स्वीकार करने की घोषणा की गयी थी। इनका संबंध इन उपायों से है : अनुदान तथा प्रतिकारी उपाय, राशिपातन विरोधी उपाय, सीमा शुल्कों का मूल्यांकन तथा आयात लाइसेन्सिंग प्रणाली से संबंधित उपाय।

"समझौते" से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लाभ

प्रो. जगदीश भगवती ने हाल के अपने लेखों में यह स्पष्ट किया है कि "गैट" के फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपनी औसत प्रशुल्क-दरों को 1947 की तुलना में 1/12 तक कम कर दिया है। वे यह भी बतलाते हैं कि गैट के कारण आमतौर पर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उदारता का संचार हुआ है तथा अधिकांश देशों ने प्रशुल्क-दरों में भारी कटौती की है। इस प्रकार इन मन्त्रणाओं का लाभ "समझौते" से सम्बद्ध सभी देशों को हुआ है।

परन्तु प्रो. जगदीश भगवती यह भी तर्क देते हैं कि "गैट" के अंतर्गत व्यापार को इष्टतम सीमा तक उदार बनाना सम्भव नहीं हो पाया है क्योंकि जहाँ एक ओर विकसित देशों ने प्रशुल्क-दरों में कटौती करके अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उदारता लाने का मार्ग प्रशस्त किया है वहीं उन देशों सहित अनेक देशों ने संरक्षण की अन्य विधियों का सहारा लेकर उस सफलता को काफी धूमिल कर दिया है। एक ओर विकसित देशों मे कृषि-उत्पादों के प्रवेश में व्यवधान है तो दूसरी ओर विकासशील देशों ने प्रशुल्क-दरों तथा आयात-प्रतिबंधों के माध्यम से विनिर्मित वस्तुओं के आयात को सीमित कर रखा है।

प्रायः राशिपातन-विरोधी प्रावधानों तथा प्रशुल्क-दरों का प्रयोग प्रतिद्वन्द्वी देशों की सरकारों व वहाँ की जनता पर दबाव डालने हेतु किया जाता है, परन्तु कुछ समय तक यदि ये उपाय जारी रखे जायें तो इससे संरक्षणवाद पनपता है। इसी प्रवृत्ति के कारण गैट के वांछित लाभ नहीं मिल पाते।

इसके उपरान्त भी प्रो. जगदीश भगवती के मतानुसार "गैट" की मन्त्रणाओं के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उदारता की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई है जिसके फलस्वरूप विश्व के सभी देशों की आय की अपेक्षा विश्व के व्यापार की वृद्धि-दर 1953 से लेकर 1983 के मध्य अनवरत् रूप से अधिक रही।

समझौते के दोष
(Defects of GATT Agreements)

प्रशुल्क-दरों एवं व्यापार पर हुये सामान्य समझौते के उद्देश्य काफी अच्छे होने पर भी इसमें ऐसे अनेक दोष हैं जिनके कारण निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त करना कठिन हो जाता है। ये दोष निम्न प्रकार हैं :

(1) समझौते द्वारा एक ऐसा फोरम तैयार हो गया जहाँ परस्परता के आधार पर बहुपक्षीय मन्त्रणाएँ होती हैं तथा इससे एक ऐसा तन्त्र स्थापित हो गया है जहाँ परस्पर विचार-विमर्श द्वारा विवादों का निपटारा हो सकता है। परन्तु यह भी स्थिति में पर्याप्त सुधार नहीं ला सकता है। वस्तुतः "बचाव की धाराओं" की आड़ में संरक्षण की नीति अपनायी जाती रही है तथा "समझौते की केन्द्रीय समिति" के पास इन्हें रोकने का कोई उपाय नहीं है।

(2) "समझौते" से सम्बद्ध देशों की स्थिति (आर्थिक व राजनीतिक) में काफी अन्तर होने से कोई भी सामान्य नियम नहीं बनाये जा सकते।

(3) भेदभावपूर्ण व्यवहार न करने के सिद्धान्त एवं परस्परता के सिद्धान्त को मिलाने पर पूर्वाग्रहों एवं जटिल समस्याओं की उत्पत्ति होती है। वस्तुतः इनमें से एक सिद्धान्त को एक बार में कार्यान्वित करना अधिक उपयुक्त रहता है। भेदभाव न करने की नीति के लिये एक देश को परस्परता की अवहेलना करनी पड़ती है।

(4) अधिकांशतया मन्त्रणाएँ वस्तुओं के आधार पर की जाती हैं और इसलिये दो देशों के बीच ही व्यापार में वृद्धि करने पर बल दिया जाता है। इससे अन्य देशों के प्रति उपेक्षा की भावना भी व्याप्त हो सकती है।

(5) "समझौता" विश्व के सभी देशों या विश्व के एक बहुत बड़े भाग की प्रतिनिधि संस्था नहीं है। इसमें अनेक विकासशील (एवं कुछ विकसित देश) सम्मिलित नहीं हुये हैं।

इन कमियों के बावजूद ऐसा मत है कि समझौता (गैट) विश्व व्यापार को उदार बनाने में सहायक हो सकता है। आवश्यकता इस बात की है कि इसमें कृषि वस्तुओं एवं सेवाओं के विषय में प्रचलित प्रशुल्क पर भी मन्त्रणा की जाये और उसके लिये बहुउद्देशीय चर्चाओं को अधिक पारस्परिक विश्वास के साथ किये जाने की जरूरत होगी।

डंकल प्रस्ताव : एक विश्लेषण

गैट के आठवें राउण्ड अर्थात् उरुग्वे राउण्ड का प्रारम्भ सितम्बर 1986 में हुआ। इस वार्ता की समाप्ति के लिये चार वर्षों की अवधि (1986 से 1990 तक) निर्धारित की गयी थी, किन्तु यह वार्ता अनेक विवादों के कारण लम्बी चलती गई। अन्ततः गैट के तत्कालीन महानिदेशक आर्थर डंकल (Arthur Dunkel) को इस समस्या के समाधान का दायित्व सौंप दिया गया। 20 दिसम्बर, 1991 को आर्थर डंकल ने नये सिरे से सदस्य देशों के सामने आपसी सहमति के लिये एक विस्तृत दस्तावेज प्रस्तुत किया। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि इन प्रस्तावों को एक साथ इनके मूल रूप में स्वीकार कर लिया जाना चाहिये। यद्यपि अधिकांश सदस्य देशों ने इन्हें एक रूप में स्वीकार कर लेने में कठिनाई जाहिर की तथापि उरुग्वे दौर की वार्ता को इन प्रस्तावों पर आधारित करके जारी रखना स्वीकार किया गया। इन प्रस्तावों को ही डंकल प्रस्ताव (Dunkel Proposal) अथवा 'ड्राफ्ट फाइनल एक्ट' (Draft Final Act) कहा जाता है। प्रस्ताव के निष्कर्षों के लिये अंतिम रूप से 15 दिसम्बर, 1993 की तारीख भी निर्धारित कर दी गई थी। तदनुरूप सदस्य देशों द्वारा इसे 15 दिसम्बर, 1993 को जिनेवा में स्वीकृति प्रदान कर दी गई। 15 अप्रैल, 1994 को मोरक्को के मराकश नगर में 124 सदस्य देशों द्वारा समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये गये।

गैट की आठवें दौर की वार्ता में कुल 15 क्षेत्रों को सम्मिलित किया गया था जिन्हें दो भागों में विभाजित किया गया। पहला भाग व्यापारिक वस्तुओं से संबंधित था, जबकि दूसरा भाग सेवाओं से संबंधित था।

पहले भाग में निम्नलिखित 14 मदें (क्षेत्र) शामिल थीं— (1) प्रशुल्क (Tariffs), (2) गैर-प्रशुल्क उपाय (Non-Tariff Measures), (3) उष्णकटिबंधीय उत्पाद (Tropical Products), (4) राष्ट्रीय संसाधनों पर आधारित उत्पाद (National Resource Based Products), (5) वस्त्र एवं कपड़ा (Textiles and Clothing), (6) कृषि (Agriculture), (7) गैट धाराएँ (GATT-Articles), (8) सुरक्षा (Safeguards), (9) बहुपक्षीय व्यापार समझौते तथा व्यवस्थाएँ (Multilateral Trade Agreements and Arrangements), (10) सब्सिडी (Subsidies), (11) विवाद निपटारे (Dispute Settlements), (12) बौद्धिक सम्पदा अधिकार के व्यापार संबंधी पहलू (Trade Related Aspects of Intellectual Property Rights, TRIPs), (13) व्यापार संबंधी निवेश उपाय (Trade Related Investment Measures-TRIMs), (14) गैट कार्य पद्धति (Functioning of the GATT System)।

द्वितीय भाग में सेवाओं के व्यापार को अलग से वार्ता हेतु सम्मिलित किया गया।

आगे चलकर उपर्युक्त वर्णित 14 क्षेत्रों को निम्नलिखित सात क्षेत्रों के अंतर्गत पुनः विभाजित किया गया— (1) बाजार पहुँच (Market Access), (2) कृषि (Agriculture), (3) वस्त्र (Textiles), (4) ट्रिम्स (TRIMs), (5) ट्रिप्स (TRIPs), (6) सेवाओं का व्यापार (Trade in Services), तथा (7) संस्थागत मामले (Institutional Matters)।

उपर्युक्त विषयों पर आपसी विचार-विमर्श के बाद आम सहमति प्राप्त करनी थी, किन्तु ऐसा नहीं हो सका। वस्तुतः बौद्धिक सम्पदा अधिकार के व्यापार संबंधी पहलू (TRIPs) और व्यापार संबंधी निवेश उपायों (TRIMs) तथा सेवाओं को गैट के अंतर्गत ले आने के प्रश्न पर ही मुख्य विरोध उत्पन्न हो गया। अमेरिका द्वारा प्रस्तुत इस प्रस्ताव का भारत सहित अनेक विकासशील देशों ने विरोध किया। इन विषयों के संबंध में विकासशील देशों का दृष्टिकोण यह रहा था कि यदि सेवा, निवेश एवं प्रबंध जैसे क्षेत्रों में विकसित देशों को मुक्त व्यापार करने की छूट दे दी जायेगी तो विकासशील देशों में इन क्षेत्रों का विकास रुक जायेगा, किन्तु विकसित देश यह चाहते थे कि विकासशील देश उन्हें प्रत्येक क्षेत्र में मुक्त व्यापार की सुविधा प्रदान करें, ताकि उनके देशों के ये अग्रणी क्षेत्र (सेवा, बौद्धिक सम्पत्ति तथा निवेश) विकासशील देशों के इन क्षेत्रों को अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा से बाहर करके अपना पूर्ण एकाधिकार स्थापित कर सकें।

अन्ततः 15 अप्रैल, 1994 को मराकश में सदस्य राष्ट्रों ने गैट के उरुग्वे चक्र समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये व इसके परिणामस्वरूप 1 जनवरी, 1995 से विश्व व्यापार संगठन की स्थापना भी कर दी गई।

गैट समझौते का भारतीय अर्थव्यवस्था पर प्रभाव

(1) समझौते से भारत के निर्यात में सालाना डेढ़ से दो अरब डालर वृद्धि होने की आशा।

(2) भारतीय कृषि जिन्सों के लिये विदेशी बाजार में अच्छा प्रतिस्पर्धा का माहौल बनेगा।

(3) भारत में कृषि पर दी जाने वाली सब्सिडी में कटौती नहीं होगी, बल्कि सब्सिडी बढ़ाने की गुंजाइश रहेगी।

(4) सार्वजनिक वितरण प्रणाली बिना बाधा के जारी रहेगी।

(5) नई किस्म के पौधे तैयार करने वालों के हित में भारत में कानून बनेगा।

(6) प्राकृतिक रूप से पैदा होने वाले जीन्स के पेटेंट की जरूरत नहीं पड़ेगी, लेकिन अगले दस साल के अन्दर पेटेंट कानून बनाना पड़ेगा।

(7) दवा, खाद्य उत्पाद और रसायनों के लिये उत्पाद पेटेंट प्रणाली दस साल के अन्दर लागू करनी पड़ेगी।

(8) पेटेंट दवाओं के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि नहीं होगी और सरकार गैर-वाणिज्यिक सार्वजनिक इस्तेमाल वाली दवाओं पर अनिवार्य लाइसेंस प्रणाली लागू कर सकेगी। दवाओं पर मूल्य नियंत्रण का अधिकार सरकार के पास रहेगा।

(9) भारत में पूँजी निवेश करने वाली विदेशी कम्पनियों के साथ नियमों और नीति के मामले में स्वदेशी इकाइयों की तरह समान व्यवहार करना पड़ेगा।

विश्व व्यापार संगठन
(World Trade Organisation)

"विश्व व्यापार संगठन", प्रशुल्क व व्यापार पर सामान्य समझौता (General Agreement on Trade & Tariff- GATT) का एक उत्तराधिकारी संगठन है। इसकी स्थापना सदस्य राष्ट्रों की संसदों द्वारा अनुमोदित एक अन्तर्राष्ट्रीय संधि के आधार पर हुई है। विश्व के आर्थिक जगत में इसकी स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष व विश्व बैंक के समान है। विश्व व्यापार संगठन (WTO) ने 1 जनवरी, 1995 से अपना कार्य प्रारम्भ किया। भारत इस संगठन का संस्थापक सदस्य है। सिंगापुर में पहला मंत्रिस्तरीय सम्मेलन आरम्भ होने से पूर्व इसकी सदस्य संख्या 128 थी जो बढ़कर जनवरी, 2002 तक 144 हो गई। इसका मुख्यालय जिनेवा में है।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि विश्व व्यापार संगठन की स्थापना इसके पूर्ववर्ती 'गैट' (GATT) को उरुग्वे चक्र की लम्बी वार्ता (1986-93) के परिणामस्वरूप हुई है। स्वयं गैट की स्थापना सन् 1947 में हवाना चार्टर के महत्वपूर्ण मुद्दे – "व्यापार प्रतिबन्धों में ढिलाई" को मूर्त रूप देने के लिये हुई थी। स्थापना के समय गैट के मुख्य उद्देश्य थे – अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार करना, व्यापार पर लगे प्रतिबन्धों को समाप्त करना, सदस्य देशों में पूर्ण रोजगार की व्यवस्था कर विश्व उत्पादन में वृद्धि करना, विश्व संसाधनों का विकास करना तथा उनका पूर्ण उपयोग करना और विश्व में समग्र दृष्टिकोण के आधार पर सम्पूर्ण समाज के लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा उठाना। गैट में अभी तक आठ अधिवेशन हुए और अन्तिम अधिवेशन, जिसे उरुग्वे राउण्ड के नाम से जाना जाता है, में सदस्य देशों की

ने ले लिया है।

संगठन एवं प्रबन्ध –

NOTES

विश्व व्यापार संगठन के कार्य संचालन के लिए एक **सामान्य परिषद्** (General Council) है जिसमें प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का एक स्थायी प्रतिनिधि होता है। इसकी बैठक सामान्यतः माह में एक बार जिनेवा में होती है। इसके साथ ही नीति निर्धारण करने हेतु सर्वोच्च अधिकार प्राप्त इसका **'मन्त्रिस्तरीय सम्मेलन'** (Ministerial Conference) है। मन्त्रिस्तरीय सम्मेलन का आयोजन प्रत्येक दो वर्ष में होता है।

दिन-प्रतिदिन के प्रशासकीय कार्यों को सम्पन्न करने के लिए संगठन का सर्वोच्च पदाधिकारी **महानिदेशक** (Director General) होता है। सामान्य परिषद द्वारा महानिदेशक का चुनाव 4 वर्ष के लिए किया जाता है। इटली के पूर्व व्यापार मन्त्री **श्री रिनेटो रूगेरो** इसके पहले महानिदेशक बनाए गए थे। 1 सितम्बर, 1999 से तीन वर्ष के लिए न्यूजीलैण्ड के पूर्व प्रधानमन्त्री **माइक मूर** को WTO का महानिदेशक बनाया गया। 1 सितम्बर, 2002 से आगामी तीन वर्षों के लिए यह पद थाइलैण्ड के उप प्रधानमन्त्री सुपाचाई पानिचपाकड़ी को सौंपा गया। महानिदेशक की सहायता के लिए विभिन्न सदस्य राष्ट्रों से चार उपमहानिदेशक भी चुने जाते हैं।

विश्व व्यापार संगठन के कार्य संचालन हेतु अनेक महत्वपूर्ण समितियाँ हैं। सर्वाधिक महत्वपूर्ण दो समितियाँ – (i) विवाद निवारण समिति (Dispute Settlement Body - DSB), तथा (ii) व्यापार नीति समीक्षा समिति (Trade Policy Review Body - TPRB), विवाद निवारण समिति (DSB) का कार्य विभिन्न राष्ट्रों के विरुद्ध विश्व व्यापार संगठन के व्यापार नियमों के उल्लंघन की शिकायतों पर विचार करना है। सभी सदस्य देश इस समिति के सदस्य होते हैं, किन्तु किसी शिकायत विशेष के गहन अध्ययन के लिए यह विशेषज्ञों की समिति गठित कर सकती है। इस समिति की बैठक माह में दो बार होती है।

विश्व व्यापार संगठन की व्यापार नीति समीक्षा समिति (TPRB) का कार्य सदस्य राष्ट्रों की व्यापार नीति की समीक्षा करना है। सभी बड़ी व्यापारिक शक्तियों की व्यापार नीति की दो वर्ष में एक बार समीक्षा की जाती है। संगठन के सभी सदस्य राष्ट्र इस समिति के सदस्य होते हैं।

इसके साथ ही विश्व व्यापार संगठन की अन्य महत्वपूर्ण समितियाँ – **वस्तु व्यापार परिषद्** (Council for Trade in Goods), **सेवा व्यापार परिषद्** (Council for Trade in Services) तथा **बौद्धिक सम्पदा अधिकारों के व्यापार सम्बन्धी पहलुओं पर परिषद्** (Council for Trade Related Aspects of Intellectual Property Rights) आदि हैं।

विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य
(Objectives of World Trade Organisation)

विश्व व्यापार संगठन के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार हैं –

1. व्यापार और वित्त के क्षेत्र में इसके कार्यों का संचालन इस प्रकार किया जाएगा जिससे सदस्य देशों में पूर्ण रोजगार के साथ-साथ वास्तविक आय एवं प्रभावी माँग में लगातार वृद्धि हो जिससे कि रहन-सहन के स्तर में सुधार हो तथा वस्तुओं और सेवाओं का उत्पादन तथा व्यापार में विस्तार हो।
2. विश्व के साधनों का इष्टतम उपयोग सतीय (Sustainable) दृष्टि से करना, जिससे कि : (क) पर्यावरण की रक्षा और संरक्षण और (ख) पर्यावरण रक्षा के साधनों का विस्तार, आर्थिक विकास के विभिन्न स्तरों की आवश्यकताओं और समस्याओं के अनुरूप हो।
3. निश्चयात्मक प्रयत्न करना जिससे विकासशील देश, विशेषतः निम्नतम विकसित देश अपने आर्थिक विकास की आवश्यकताओं के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि में अपना उचित भाग पा सकें।
4. पारस्परिक और परस्पर लाभकारी व्यवस्थाएँ जिनके द्वारा टैरिफ और व्यापार की रुकावटें तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार संबंधों में पक्षपातकारी व्यवहार को हटाकर इन उद्देश्यों की प्राप्ति करना।
5. गैट में सम्मिलित, भूतकालीन व्यापार उदारीकरण के परिणाम और उरुग्वे दौर की सभी बहुपक्षीय व्यापार वार्ताओं के फलस्वरूप अधिक स्थायी और व्यवहार्य बहुपक्षीय संगठित व्यापार प्रणाली को विकसित करना।
6. व्यापारिक नीतियों, पर्यावरण संबंधी नीतियों और सततीय विकास से संबंध स्थापित करना।

विश्व व्यापार संगठन के उपर्युक्त उद्देश्यों से यह स्पष्ट है कि इसके उद्देश्य गैट के उद्देश्यों से काफी मिलते-जुलते हैं, किन्तु डब्ल्यू.टी.ओ. के उद्देश्य निर्यात प्रतिस्पर्धा की नीति, बाजार पहुँच (Market Access) और स्वतंत्र व्यापार को अधिक सख्ती से लागू करके उसे प्राप्त करने की दिशा में अधिक सुदृढ़ है।

NOTES

विश्व व्यापार संगठन के कार्य
(Functions of World Trade Organisation)

विश्व व्यापार संगठन के **प्रमुख** कार्य निम्न प्रकार हैं –

1. यह सदस्यों के लिए मंत्रिस्तरीय कान्फ्रेंस द्वारा स्वीकृत समझौतों संबंधी, बहुपक्षीय व्यापार संबंधी-विषयक वार्ताओं तथा इनके द्वारा किए गए निर्णयों के कार्यान्वयन के लिए एक मंच प्रस्तुत करता है।
2. यह समझौते के झगड़ा-निपटान के नियमों तथा प्रक्रियाओं की व्याख्या का प्रबंध-संचालन करता है।
3. व्यापार एवं प्रशुल्क से संबंधित मुद्दों के लिए एक उचित मंच सदस्यों के लिए प्रदान करना।
4. विश्व संसाधनों का **अनुकूलतम** प्रयोग करना।
5. विश्व स्तर पर **आर्थिक नीति** निर्माण में अधिक सामंजस्य उत्पन्न करने के लिए IMF एवं IBRD का सहयोग करना।
6. व्यापार नीति समीक्षा प्रक्रिया से संबंधित नियमों एवं प्रावधानों को लागू करना।
7. यह समझौते और बहुपक्षीय व्यापार समझौतों के कार्यान्वयन, प्रबंधन और संचालन को सरल बनाता है।

विश्व व्यापार संगठन के समझौते
(WTO Agreements)

गैट के उरुग्वे राउण्ड की बहुपक्षीय वार्ताओं के परिणामों के आधार पर विश्व व्यापार संगठन (WTO) के मूलभूत समझौते निम्न प्रकार हैं –

1. **वस्तुओं के व्यापार के बहुपक्षीय समझौते (Multilateral Agreement on Trade in Goods)**– (अ) **कृषि सम्बन्धी समझौता** (Agreement on Agriculture) – डब्ल्यू.टी.ओ. में कृषि क्षेत्र से सम्बन्धित चर्चाएँ सर्वाधिक विवादास्पद रही हैं। अंतिम अधिनियम (Final Act) में कृषि में निम्न मुद्दों पर सहमति बनी है –

(i) **घरेलू समर्थन** (Domestic Support) – सभी देशों को घरेलू समर्थन कीमतें कम करने का प्रावधान है। इसे समर्थन के लिये कुल उपाय (Aggregate Measeres for Support - AMS) कहा गया है। यदि समर्थन के लिये कुल उपाय (AMS) 10 प्रतिशत से अधिक हो जाते हैं, तब इन्हें 10 वर्षों में घटाकर 10 प्रतिशत की सीमा में रखना होगा। गैर-सीमा शुल्कों को भी आयात-निर्यात करों द्वारा प्रतिस्थापित करना होगा।

(ii) **निर्यात प्रतियोगिता** (Export Competition) – विश्व व्यापार संगठन का एक आधारभूत उद्देश्य विश्व व्यापार में प्रतियोगिता को बढ़ाना है। अतः वस्तु-बाजार में भी इसे बढ़ाना है। इसे एक नियमित व्यवस्था के रूप में स्वीकारा गया है।

(iii) **बाजार पहुँच** (Market Access) – व्यापार अवरोधों को कम करके तथा भेद-भाव को समाप्त करके, चाहे ये विदेशी उपायों या घरेलू नीतियों के द्वारा किये जाएँ, सभी देशों के बाजार पहुँच के सिद्धान्त को स्वीकारा गया है। इसके लिये सीमा करों की बाध्यता को कम किया जाता है।

(ब) **कपड़ा और वस्त्रों का समझौता** (Agreement on Textiles & Clothing) – गैट के अन्तर्गत सन् 1994 में एक बहुतंत्रीय समझौता (Multi Fibre Agreement) किया गया था। इसे डब्ल्यू.टी.ओ. में भी स्वीकार कर लिया गया है। इस समझौते के अन्तर्गत विकसित देशों में संरक्षणात्मक प्रवृत्ति है, उसे समाप्त करने का प्रावधान है। इससे विकासशील निर्यातक देशों को स्वतंत्रतापूर्वक विकसित देशों को कपड़ा एवं वस्त्रों के निर्यात की सुविधा प्राप्त होगी।

(स) **व्यापार में तकनीकी बाधाओं का समझौता** (Agreement on Technical Barriers to Trade) – यह समझौता सुनिश्चित करता है कि तकनीकी विमर्श और मानक परीक्षण और प्रमाणन प्रणालियाँ व्यापार के मार्ग में बाधक न बनें।

(द) **व्यापार संबंधी निवेश उपायों के पहलुओं का समझौता** (Trade Related Investment Measures)– व्यापार से संबंधित निवेश उपाय (Trade Related Investment Measures – TRIMs) के अनुसार विदेशी निवेश पर सभी प्रकार के प्रतिबंध हटा देने चाहिए। प्रत्येक सदृश्य देश को विदेशी निवेशकर्ताओं को वे सभी सुविधाएँ देनी चाहिए जो वे घरेलू निवेशकर्ताओं को दे रहे हैं। विदेशी निवेशकर्ताओं पर निर्यात संवर्धन, स्थानीय कच्चे माल के प्रयोग या इसी प्रकार का कोई अन्य प्रतिबंध नहीं लगाया जाना चाहिए। संक्षेप में, WTO में TRIMS के प्रावधान विदेशी निवेशकों को विश्व में किसी भी आर्थिक क्रिया में निवेश करने के अवसर देते हैं।

2. **सेवाओं में व्यापार का सामान्य समझौता** (General Agreement on Trade in Services – GATS)– इस समझौते के अधीन पहली बार व्यापार के साथ-साथ सेवाओं के विदेशी व्यापार से भी प्रतिबंध हटाने का समझौता किया गया है। GATS में केवल उन्हीं सेवाओं को मुक्त व्यापार करने के लिए चुना गया है जिनके लिए उच्च किस्म की तकनीक (Advanced Technology) की आवश्यकता है जैसे, बैंकिंग, शिपिंग, यातायात, बीमा, टेलीकम्युनिकेशन्स

आदि। इन सेवाओं पर से सभी प्रकार के प्रतिबंध समाप्त कर दिये जाने चाहिए तथा विदेशी कंपनियों को इन सेवाओं को प्रदान करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। विश्व व्यापार संगठन का यह मानना है कि इसका मुख्य लाभ विकसित देशों को होगा।

NOTES

3. बौद्धिक संपदा अधिकारों के व्यापार संबंधी पक्ष का समझौता (Agreement on Trade Related Aspects of Intellectual Property Rights – TRIPs) – विश्व व्यापार संगठन के बौद्धिक सम्पदा अधिकारों से सम्बन्धित (TRIPS) समझौते में बौद्धिक सम्पत्ति से सम्बन्धित निम्न प्रावधान उल्लेखित हैं –

(अ) कॉपीराइट तथा तत्संबंधी अधिकार, ट्रेडमार्क, भौगोलिक संकेत, औद्योगिक डिजाइन, पेटेंट, संघटित सर्किट तथा **व्यापारिक रहस्य** (Trade Secrets)। यह समझौता बौद्धिक संपत्ति अधिकारों के दुरुपयोग को रोकने के उद्देश्य से विभिन्न देशों की सरकारों के मध्य विचार-विमर्श को प्रेरित करता है।

(ब) WTO **'व्यापार से संबंधित बौद्धिक संपदा अधिकार'** संबंधी व्यवस्था उत्पादों के पेटेंट की व्यवस्था करती है। इसमें सभी देशों के विकास का स्तर एक माना गया है और उन्हें समान रूप से संरक्षण देने के लिए उच्च स्तर के मानकों (Standards) की व्यवस्था की गयी है। इस दृष्टि से कॉपीराइट, ट्रेडमार्क, पेटेंट्स आदि को महत्व दिया गया है जिन देशों में पेटेंट की व्यवस्था नहीं है उन्हें यह व्यवस्था करने के लिए दस वर्ष का समय दिया गया है।

(स) पौधों के प्रजनन (Plant Breeding) के संरक्षण के लिये एवं विशेष व्यवस्था का प्रावधान किया गया है। यह व्यवस्था स्वे-जेनेरिस (Sui-generis) प्रणाली कहलाती है, जो पेटेंट व्यवस्था से अलग किन्तु बौद्धिक सम्पत्ति की रक्षा से सम्बन्धित है।

4. विवाद निपटारा प्रणाली (Dispute Settlement System)– सदस्य देशों के आपसी विवादों के निपटारे के लिए नियमों और प्रणालियों के समझौते में प्रावधान किये गये हैं। इसके लिए एक विवाद निपटारा संस्था (Dispute Settlement Body) की स्थापना की गयी है। इस विवाद निपटारा कार्यविधि में अल्पविकसित देशों के विशेष हित के कई लक्षण हैं, जिसमें WTO के **डायरेक्टर जनरल** के कार्यकाल तक स्वयंमेव पहुँच (Automatic Access) शामिल है, ताकि उसकी मध्यस्थता से किसी विवाद का संतोषजनक हल प्राप्त हो सके और कम समय की सीमा में ही पंच (Penal) अपने विमर्श (Deleberations) पूरे कर विवादों को सुलझाने में सहायक हो सकें।

5. **व्यापार नीति पुनरावलोकन तंत्र** (Trade Policy Review Mechanism – TPRM) – यह समझौता व्यापार तंत्र के सुचारु रूप से चलने के लिए बहुपक्षीय और अनेक पक्षीय व्यापार समझौतों के अंतर्गत व्यापार नीतियों और प्रक्रियाओं की व्याख्या करता है। व्यापार नीति अनुवीक्षण (TPR) प्रक्रिया ने व्यापार तथा आर्थिक सुधारों का मूल्यांकन करने के लिए देशों को काफी सहायता दी है और कुछ अंश तक उदारीकरण में भी योगदान दिया है। भविष्य में *TPR* प्रक्रिया अपने समझौतों को लागू करने का मूल्यांकन करने में WTO सदस्यों को सहायता देगी और व्यापार प्रणाली में संभावित प्रवृत्तियों के बारे में भागीदारों को चेतावनी भी देगी। कार्यप्रणाली में पूर्ण पारदर्शिता के लिए प्रत्येक सदस्य देश को निरन्तर अपने द्वारा जारी व्यापार नीतियों और प्रक्रियाओं की रिपोर्ट देना होगी। समय-समय पर इन नीतियों का गहराई से निरीक्षण भी किया जावेगा।

विश्व व्यापार संगठन का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(Critical Appraisal of WTO Agreements)

विश्व व्यापार संगठन में गैट के उरुग्वे राउण्ड द्वारा 8 लम्बे वर्षों की चर्चाओं के दौरान हुए विभिन्न समझौतों में से 28 समझौतों का समावेश किया गया है। इसमें सम्मिलित विभिन्न समझौतों का आलोचनात्मक मूल्यांकन निम्न प्रकार है –

1. **कृषि से सम्बन्धित समझौता** – यह एक विवाद का विषय रहा है कि डब्ल्यू.टी.ओ. के कृषि से सम्बन्धित समझौते का विकासशील देशों को लाभप्रद रहेगा या नहीं यह समझौता खाद्य सुरक्षा की उन्नति और आत्मनिर्भरता के लिए दी हुई सब्सिडियों तथा कृषि उत्पादों के निर्यात में वृद्धि के लिए सब्सिडी में कोई भेद नहीं करता, क्योंकि यह विकासशील देशों के उत्पाद के मूल्य के 10% तक की ही सब्सिडी की स्वीकृति देता है। अतएव उन देशों की सरकारों के लिए विशेष कृषि वस्तुओं में कीमत-सहायता देना लगभग असंभव हो जायेगा। यही बात निवेश-सब्सिडियों को भी है जो केवल अल्प आय वाले किसानों तक ही सीमित हैं। इस प्रकार किसानों के कुल आगतों जैसे ईंधन, बिजली, खाद, माल की ढुलाई, बीज आदि पर तथा उपभोक्ताओं के जन-वितरण इत्यादि के रूप में सब्सिडियाँ समाप्त ही करनी पड़ेंगी। सब्सिडियों में कटौती और बिल्कुल हटाने के साथ-साथ यदि विवेकी कीमत नीति नहीं अपनाई गई तो विकासशील देशों के किसानों की अपार क्षति होगी।

कृषि के क्षेत्र में मुक्त बाजार तथा आयतों से समस्त प्रतिबन्ध हटाने से भी कृषकों को हानि हो सकती है। इसके साथ ही कृषि में प्रयुक्त उर्वरक एवं कीटनाशक भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा स्थापित मानदण्डों के अनुरूप होना चाहिए। अतः यह भी सम्भावित है कि ये संगठन विकासशील देशों की कृषि उपजों को असुरक्षित घोषित कर सकते हैं, किन्तु यदि विकसित देशों द्वारा अपने देशों में कृषि क्षेत्र को दी जाने वाली सब्सिडी समाप्त कर दी जाती है, तो इससे विकासशील देशों को लाभ होने की सम्भावना है।

2. कपड़ा और वस्त्र – कपड़ा और वस्त्रों से सम्बन्धित समझौते से सामान्यतः विकासशील देशों को लाभ होगा। यह लाभ बहुतंत्रीय समझौते (Multi-Fibre Agreement या MFA) को शामिल करने से प्राप्त होगा, किन्तु इस समझौते के संक्रमण काल (10 वर्ष) में विलम्ब होने से लाभ की मात्रा सीमित हो जावेगी। संक्षेप में, यह समझौता छोटे वितरकों और रुई-उत्पादक एवं निर्यातक विकासशील देशों के लिए लाभदायक होगा।

3. व्यापार सम्बन्धी निवेश उपायों के पहलुओं का समझौता (TRIMs) – इस समझौते के अन्तर्गत यह प्रावधान है कि विदेशी निवेश कम्पनियों को घरेलू कम्पनियों के बराबर रखा जावेगा तथा विदेशी पूँजी के निवेश में आने वाली रुकावटों को रोकता है। यद्यपि इस समझौते में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का नाम नहीं लिया गया है, तथापि यह आशंका है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ विकासशील देशों में उच्च प्राथमिकता वाले क्षेत्रों पर नियंत्रण करने की चेष्टा करेंगे। संक्षेप में, TRIMs समझौते से राष्ट्रीय सरकारों की निर्णयात्मक शक्ति कम हो गई है।

4. मात्रात्मक रुकावटें (Quantitative Restrictions) – अपनी भुगतान सन्तुलन सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिये मात्रात्मक प्रतिबन्धों को विकासशील देशों के लिये अ-प्रभावकारी बना दिया है। इसे केवल न्यूनतम विकसित देशों तक सीमित कर दिया गया है। मात्रात्मक रुकावटों के स्थान पर कीमत आधारित उपाय लागू किए जा सकते हैं। विकासशील देशों को भिन्न-भिन्न वस्तुओं पर भिन्न-भिन्न दरों से कर लगाने का अधिकार दिया गया है जिससे कि वे अनावश्यक वस्तुओं के आयातों को निरुत्साहित कर सकें।

5. सेवाओं में व्यापार का सामान्य समझौता या गेट्स (GATS) – सेवाओं में व्यापार से सम्बन्धित समझौते या गेट्स सामान्यतः विकासशील देशों के हितों के विरुद्ध जाता है। यह उन्हीं सेवाओं के उदारीकरण पर जोर देता है जिनमें विकसित देशों को निश्चित लाभ है, जैसे आर्थिक, जलपोत संबंधी, परिवहन और संचार सेवाएँ, स्वास्थ्य, शिक्षा, व्यवसाय और मीडिया सेवाएँ। सेवाओं के व्यापार में उदारीकरण द्वारा विकसित देशों का मुख्य ध्येय विकासशील देशों के उत्पादन और सेवाओं के प्रयोग पर नियंत्रण की चेष्टा करना ही है।

विवाद का मुख्य मुद्दा यह है कि विकासशील देशों के सेवा-क्षेत्र को विकसित देशों की फर्मों के विशाल संसाधनों की प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ेगा। कुछ विकासशील देशों के पास कुशल और अकुशल कर्मियों का तुलनात्मक अधिक लाभ है, परन्तु उनके स्वतन्त्र आवागमन के विरुद्ध विकसित देशों ने कठोर आप्रवासिक कानून बना रखे हैं। सेवा क्षेत्र के इस पहलू पर कोई सुझाव नहीं दिया गया क्योंकि चयनात्मक बुद्धिजीवी पलायन से विकसित देशों को ही लाभ होता है।

6. बौद्धिक सम्पत्ति अधिकारों के व्यापार से सम्बन्धित समझौते-ट्रिप्स TRIPs – आलोचकों का मत है कि बौद्धिक सम्पत्ति अधिकारों से सम्बन्धित समझौता या ट्रिप्स समझौता विशेषतः पक्षपातपूर्ण है। यह अनेक कारणों से विकसित देशों के हित में होगा और विकासशील देशों को अहितकर। यह औषधियों, कृषि पौधे और पशु आदि संबंधी पेटेंट प्रणाली के अंतर्गत प्रभावी क्षेत्र का विस्तार करेगा। क्योंकि विकसित देशों और उनकी बहुदेशीय कंपनियों के पास अनुसंधान और विकास के असीम साधन और सुविधाएँ हैं, इसलिए उन्हें निवेश करने और प्रक्रियाओं तथा वस्तुओं को पेटेंट करवाने की अधिक सुविधा होगी। ऐसी सब स्थितियों में विकासशील देशों को रॉयल्टी देनी पड़ेगी। ऐसे सब पदार्थों, विशेषतया औषधियों तथा मशीनों की कीमतें बढ़ जाएँगी और उपभोक्ता पर अधिक भार पड़ेगा। विकासशील देशों में पेटेंट किए हुए कच्चे माल और पदार्थों का और अधिक आयात होगा और निर्यात को आघात पहुँचेगा। परिणामस्वरूप, भुगतान-शेष और अधिक बिगड़ेगा।

विकसित देश भी ट्रिप्स से प्रभावित होंगे। एक अनुमान के अनुसार, यदि ट्रिप्स समझौते का पूर्णतया पालन किया गया तो औषधियों की कीमतों में आकाशभेदी वृद्धि होगी और विश्व की 90% आबादी पर इसका कुप्रभाव पड़ेगा।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विश्व व्यापार संगठन के अनेक प्रावधान विकसित देशों के पक्ष में। इनमें से कुछ समझौते विकासशील देशों को हानि भी पहुँचा सकते हैं, किन्तु यदि दीर्घकालीन प्रभावों का अध्ययन करें तो यह स्पष्ट होगा कि विकासशील देशों को विकास का अवसर प्राप्त होगा और वे अपनी प्रतियोगी शक्ति को बढ़ाकर स्वतंत्र व्यापार से लाभान्वित हो सकते हैं।

भारत एवं विश्व व्यापार संगठन
(India and World Trade Organisation)

भारत विश्व के उन प्रमुख देशों में से एक है जो मुक्त व्यापार एवं बहुपक्षीय व्यापार समझौता प्रणाली के समर्थक हैं। इसी तारतम्य में भारत पहले गैट (GATT) और फिर बाद में विश्व व्यापार संगठन (WTO) का संस्थापक सदस्य रहा। विश्व व्यापार संगठन के प्रति वचनबद्धता के कारण ही भारत ने इस संगठन द्वारा लिये गये सभी निर्णयों का स्वागत किया और तदनुसार उनका अनुसरण किया। भारत को विश्व व्यापार संगठन से सम्भावित लाभ निम्न प्रकार हैं –

समझौता समाप्त हो जायगा। इन दरों के साथ द्विपक्षीय समझौता नहीं करना पड़ेगा। इसके अलावा सामान शुल्क की दरों में कमी और मंडियाँ खुलने से व्यापार में वृद्धि होती है। अनुमान है कि WTO समझौते के फलस्वरूप विश्व व्यापार में 2,000 से 3,000 करोड़ डालर की वृद्धि होगी। कृषिगत पदार्थों के निर्यात के बढ़ने के भी नये अवसर उत्पन्न हुए है, क्योंकि विदेशों में कृषि पर सब्सिडी कम होगी साथ ही कृषिगत निर्यातों पर भी सब्सिडी घटेगी जिससे भारतीय माल के बिकने की संभावनाएँ बढ़ेंगी।

(2) **कपड़ा एवं वस्त्र** – वस्त्रों एवं सिले-सिलाये कपड़ों के बहुतंत्रीय समझौते के अंतर्गत 1974 से कपड़ों के व्यापार पर कोटा संबंधी प्रतिबंध लागू थे, 2005 तक समाप्त कर दिये जायेंगे। कोटा निर्धारण प्रक्रिया समाप्त हो जाने से भारत को अपने वस्त्रों एवं सिले-सिलाये कपड़ों के निर्यात में वृद्धि करने में मदद मिलेगी।

(3) **सेवा क्षेत्र** – विश्व व्यापार संगठन के प्रस्ताव के अंतर्गत सेवा क्षेत्र के व्यापार को शामिल कर लेने से भारत जैसे विकासशील देशों को लाभ प्राप्त होगा। इस प्रस्ताव के अनुसार विकसित देश विकासशील राष्ट्रों में अनेक व्यापारिक एवं सेवा के प्रतिष्ठानों जैसे बैंक, यातायात, होटल आदि खोलेंगे। इसके बदले में विकसित राष्ट्र भारत को अपनी वस्तुएँ बेचने के लिए व्यापक बाजार उपलब्ध करायेंगे।

(4) **व्यापार संबंधित बौद्धिक संपदा अधिकार** – कॉपीराइट, ट्रेडमार्क, ट्रेड सीक्रेट्स, औद्योगिक डिजाइन, विद्युत आपूर्ति, भौगोलिक संकेतांक और पेटेंट्स को बौद्धिक संपदा अधिकार के अंतर्गत रखा गया है। इस प्रस्ताव से भारत को कोई विशेष हानि होने वाली नहीं है, क्योंकि केवल पेटेंट्स को छोड़ अन्य सभी क्षेत्रों में भारत की न्यायिक और प्रशासनिक पद्धति अंतर्राष्ट्रीय स्तर की है।

पेटेंट्स के संबंध में यह आशंका है कि इससे दवाइयों की कीमत में थोड़ी वृद्धि हो सकती है, परन्तु इस संबंध में भी विशेष चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भारत में कुल उपलब्ध दवाइयों में से केवल 10% से 15% दवाइयाँ ही पेटेंट सूची के अंतर्गत हैं।

(5) **राशिपातन से सुरक्षा** – राशिपातन से सुरक्षा के लिये यह व्यवस्था की गई है कि यदि आयातकर्ता देश के घरेलू उद्योग को हानि पहुँचाता है तो अनुबंधित सदस्यों को अधिकार है कि वे राशिपातन-विरोधी उपायों को अपनाएँ। भारत में कई देशों द्वारा अपने उत्पादों का राशिपातन किया जाता है, इन नियमों से यहाँ की सरकार को राशिपातन के खिलाफ नियम बनाने में मदद मिलेगी।

(6) **विदेशी-मुद्रा भंडारों में वृद्धि** – भारत के निर्यातों एवं विशेषज्ञों की सेवाओं के निर्यात से होने वाली वृद्धि से विदेशी-मुद्रा की प्राप्ति होगी तथा देश में एक मजबूत विदेशी-मुद्रा कोष बनेगा।

(7) **विदेशी निवेश में वृद्धि** – समझौते में विदेशी निवेश कंपनियों को घरेलू कंपनियों के बराबर रखे जाने की व्यवस्था है। इससे देश में विदेशी निवेश बढ़ेंगे।

(8) **विदेशी वस्तुओं की उपलब्धता** – गैट समझौते से उदारीकरण को जो बल मिलेगा उससे देश में विदेशी वस्तुएँ उचित मूल्य पर पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होंगी।

यह कहना ठीक नहीं है कि भारत को विश्व व्यापार संगठन से लाभ ही लाभ प्राप्त होंगे, हानि नहीं। आलोचकों का मत है कि भारत जैसे तीसरे विश्व तथा विकासशील देशों में निम्न हानियों की भी सम्भावनाएँ हैं–

(1) **कृषि क्षेत्र** - विश्व व्यापार संगठन की सदस्यता से भारत का कृषि क्षेत्र को निम्न प्रकार से हानि की सम्भावना है -

(i) कृषकों को कृषि सम्बन्धी तकनीकों, उन्नत बीजों, कीटनाशक, उर्वरक कृषि यंत्र आदि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से खरीदने होंगे;

(ii) कृषि को मिलने वाली सब्सिडी धीरे-धीरे समाप्त हो जाएगी जिससे छोटे एवं लघु कृषकों को हानि उठाना पड़ेगी।

(iii) खाद्यान्नों का देश की कुल खपत का 3% अनिवार्य रूप से आयात करना होगा जिससे देश भुगतान सन्तुलन पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

(2) **विदेशी विनियोग** – भारत विदेशी विनियोग पर कोई नियंत्रण नहीं लगा सकेगा। फलतः बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ यहाँ अपने उद्योग स्थापित करने के लिये स्वतंत्र होगी। इससे घरेलू उद्योगों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा। विदेशी विनियोग सम्बन्धी समझौतों से राष्ट्रीय सरकारों की निर्णयात्मक शक्ति कम होगी।

(3) **बौद्धिक सम्पदा अधिकार** – इनसे भारत को हानि होना सम्भावित है, जो कि निम्न प्रकार सम्भावित हैं –

(i) औषधियों, कृषि और पशु आदि सम्बन्धी पेटेंट प्रणाली का विस्तार होगा। चूँकि विकसित देशों के पास अनुसंधान और विकास के अधिक साधन हैं, फलतः पेटेंट प्रणाली का उन्हें अधिक लाभ होगा।

NOTES

NOTES

(ii) विदेशी विनियोग की छूट, पेटेंट के लिये रायल्टी का भुगतान आदि से देश की मुद्रा बाहर जाएगी जिससे भुगतान सन्तुलन प्रभावित होगा।

(iii) विकासशील देशों को पेटेंट किए गए कच्चे माल का आयात करना होगा। इससे अनावश्यक रूप से आयातों में वृद्धि होगी।

(4) **सेवा क्षेत्र** – सेवाओं के सामान्य समझौते विकसित देशों के पक्ष में हैं, क्योंकि उन्हीं सेवाओं को उदारीकृत किया गया है जिनका लाभ उन्हें मिले। भारत की बैंकिंग, बीमा, यातायात, शिक्षा तथा होटल आदि को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की सेवाओं से प्रतियोगिता करना होगी।

(5) **अन्य हानियाँ** –

(i) मात्रात्मक प्रतिबन्धों के स्थान पर मूल्य आधारित प्रतिबन्धों को अपनाना होगा।

(ii) निर्यातों की तुलना में आयातों में अधिक वृद्धि होगी जिससे भुगतान सन्तुलन प्रभावित होगा।

(iii) ऐसा अनुमान है कि विकसित देशों द्वारा बाल-श्रम, मानवाधिकार, पर्यावरण एवं अन्य सामाजिक मुद्दों पर भारत के निर्यातों पर प्रतिबन्ध लगाए जाएगी।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि विश्व व्यापार संगठन के समझौते भारत जैसे तीसरे विश्व के देशों के लिये चुनौती हैं। अतः इनसे लाभ तभी उठाया जा सकता है कि देश को तकनीकी दृष्टि विकसित किया जाए जिससे लागतों में कमी के साथ-साथ औद्योगिक एवं कृषि उत्पादनों में गुणवत्ता में सुधार लाया जाये। चीन का उदाहरण हमारे सामने है, जो अनेक क्षेत्रों में विश्वस्तरीय वस्तुओं का उत्पादन कर बड़ी मात्रा में निर्यात कर रहा है। अतः भारतीय अर्थव्यवस्था को भी कुशलता प्राप्त करनी होगी जिससे कि यहाँ के उत्पादन विश्व-प्रतियोगिता का सामना कर सके।

विश्व व्यापार संगठन के मंत्रिस्तरीय सम्मेलन
(Ministerial Conference of WTO)

विश्व व्यापार संगठन (WTO) का मंत्रिस्तरीय सम्मेलन नीतियों के निर्धारण हेतु सर्वोच्च शक्तिशाली मंच है। विश्व व्यापार संगठन के अब तक छह मंत्रिस्तरीय सम्मेलन हो चुके हैं, जिनका ब्यौरा निम्न तालिका में दर्शाया गया है-

तालिका-2
WTO के मंत्रिस्तरीय सम्मेलन

सम्मेलन	वर्ष	स्थान
पहला	9-13 दिसम्बर, 1996	सिंगापुर
दूसरा	18-20 मई, 1998	जिनेवा
तीसरा	30 नव.-30 दिसम्बर, 1999	सिएटल
चौथा	9-14 नवंम्बर, 2001	दोहा (कतर)
पाँचवाँ	10-14 सितम्बर, 2003	कानकुन (मैक्सिको)
छठवाँ	13-18 दिसम्बर, 2005	हांगकांग (चीन)

छठवाँ मंत्रिस्तरीय सम्मेलन (हांगकांग, 2005)

विश्व व्यापार संगठन का छठवां मंत्रिस्तरीय सम्मेलन 13 से 18 दिसम्बर, 2005 को हांगकांग (चीन) में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में विकासशील देशों ने ग्रांड एलायंस (जी-110) बनाकर एकजुटता प्रदर्शित की, फलतः विकसित देशों को कृषि सब्सिडी समाप्त करने को सहमत होना पड़ा। सम्मेलन में दोहा वर्क प्रोग्राम को पूर्णतः निष्पादित करने तथा वर्ष 2006 में वार्ताओं को समाप्त करने का संकल्प लिया गया। हांगकांग घोषणा-पत्र में विकसित देश अपनी कृषि निर्यात सब्सिडी को चरणबद्ध ढंग से 2013 तक पूर्णतः समाप्त करने को सहमत हुए हैं। कृषि बाजार समझौते में विकासशील देशों के लिए पर्याप्त ढील की व्यवस्था की गई है। अब भारत जैसे विकासशील देशों को कृषि क्षेत्र की योजनाओं पर किये जाने वाले सरकारी व्यय में कटौती की आवश्यकता नहीं होगी। कृषि क्षेत्र के विकास से सम्बन्धित सभी योजनाओं को विश्व व्यापार संगठन के नियमों की परिधि से बाहर रखा गया है। अब विकासशील देश बाजार पहुँच में अपनी स्वास्थ्य सुरक्षा, आजीविका सुरक्षा और ग्रामीण जरूरतों के लिए अधिक लोचपूर्ण प्रशुल्क कटौती उपाय हेतु प्रशुल्क (टैरिफ) लाइनों की उचित संख्या को 'विशेष उत्पादों' के रूप में नामित कर सकेंगे। इसके साथ ही

जायेगी। संक्षेप में हांगकांग सम्मेलन में भारत सहित अन्य विकाशील देश एकजुट होकर अपने हितों को प्रभावपूर्ण ढंग से रखने में सफल रहे।

NOTES

तीसरे विश्व के देशों में निर्यात के मार्ग में अवरोध
(Barriers to Exports from The Third World Countries)

तीसरे विश्व से आशय उन विकासशील देशों से है जो यद्यपि विकसित देशों की तुलना में पिछड़े हैं, तथापि तेजी से विकास के मार्ग में आगे बढ़ रहे हैं। अति आधुनिक मशीनें एवं उन्नत तकनीकी के अभाव में ये देश उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों को समुचित विदोहन नहीं कर पा रहे हैं। फलतः इन देशों की प्रति व्यक्ति आय विकसित देशों की तुलना में कम है।

इन देशों की एक विशेषता यह है कि यहाँ जनसंख्या वृद्धि की दर लगभग 2.0 प्रतिशत प्रति वर्ष है, जो कि विकसित देशों की तुलना में बहुत अधिक है। तीव्र जनसंख्या की वृद्धि के कारण इन देशों में जहाँ उपभोग व्यय तेजी से बढ़ रहा है, वहीं बचत एवं पूँजी-निर्माण की दर में वृद्धि धीमी गति से हो रही। इसके साथ ही तीसरे विश्व के देशों में धीमी विकास दर के कारण बेरोजगारी एवं गरीबी जैसी भयावह समस्याएँ विद्यमान हैं। इन समस्याओं के कारण इन देशों में जहाँ पूर्ण मशीनीकरण सम्भव नहीं है, वहीं श्रम-गहन तकनीकी के अपनाने से उत्पादन लागत को प्रतियोगी बनाना कठिन हो जाता। इससे विकास दर भी प्रभावित होती है।

इन देशों की एक समस्या भुगतान सन्तुलन के असाम्य की भी है। जहाँ औद्योगीकरण के लिये इन देशों को बड़ी मात्रा में आयात करना होता है, जिससे कि मशीनें, तकनीकी विशेष प्रकार के कच्चे एवं अर्ध-निर्मित माल, रासायनिक एवं अन्य अनेक पदार्थ को प्राप्त किया जा सके, वहीं दूसरी ओर निर्यातों में वृद्धि नहीं हो पाती। फलतः भुगतान सन्तुलन के असाम्य की भयावह समस्या का सामना करना पड़ता है। इस समस्या से निपटने के लिये इन देशों को अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं एवं विकसित देशों से ऋण लेना पड़ता है। कहा जाता है कि इन देशों पर ऋण भार इतना अधिक हो गया है कि ये "ऋण जाल" में फँस चुके हैं। प्रतिवर्ष मूलधन एवं ब्याज के रूप में एक बड़ी मात्रा में विदेशी मुद्रा का भुगतान करना पड़ता है।

अतः यह स्पष्ट है कि इन देशों की समस्याओं का निदान बहुत बड़ी सीमा तक निर्यात व्यापार को बढ़ाने में है। गैट की चर्चाओं और विश्व व्यापार संगठन की स्थापना के बाद से ही यह स्वीकारा गया है कि तीसरे विश्व के देशों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से समुचित लाभ प्राप्त होना चाहिए। यद्यपि सैद्धान्तिक आधार पर विश्व व्यापार संगठन में अनेक ऐसे प्रावधान हैं, जिनसे तीसरे विश्व के देशों के निर्यातों को प्रोत्साहन मिलेगा, किन्तु, व्यावहारिक दृष्टिकोण से ये प्रावधान निर्यातों के स्थान पर आयातों के भार को बढ़ाने वाले सिद्ध हो रहे हैं।

निर्यात के मार्ग में अवरोध
(Barriers to Export)

तीसरे विश्व के निर्यात व्यापार में अनेक प्रकार के अवरोध एवं बाधाएँ हैं जिनके कारण इन देशों के निर्यात नहीं बढ़ पा रहे। इन अवरोधों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है, प्रथम-विश्व व्यापार संगठन के प्रावधानों से पैदा होने वाले अवरोध और द्वितीय परम्परागत अवरोध। इनका विस्तृत विवरण निम्न प्रकार हैं –

(अ) विश्व व्यापार संगठन से सम्बन्धित अवरोध

1. **पर्यावरण (Environmental) से सम्बन्धित अवरोध** – विश्व व्यापार संगठन के प्रावधानों में यह उल्लेखित है कि विकसित देश विकासशील देशों के ही कृषि पदार्थ आयात करेंगे जिन पर उर्वरक, कीटनाशक, बीज एवं अन्य श्रम-मानक रसायनों की प्रभाव शून्य हो। यदि उन्हें इन वस्तुओं पर कोई भी प्रभाव दृष्टिगत हुआ तो ये देश विकासशील देशों से कोई भी आयात नहीं करेंगे। स्पष्ट है कि इस प्रावधान की आड़ में कोई भी विकसित देश तीसरे देशों से कृषि पदार्थों का आयात नहीं करेगा। ऐसी स्थिति में ये देश अपने निर्यातों को बढ़ाने में सफल नहीं होंगे। कृषि पदार्थों के साथ-साथ यह व्यवस्था चमड़ा एवं चमड़े का सामान, सिले हुए वस्त्र जैसी अनेक वस्तुओं पर लागू होगा जहाँ पर विभिन्न प्रकार के रासायनिक पदार्थों एवं रंग आदि का प्रयोग होता है।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि विकसित देशों ने अपने यहाँ उत्पादनों को विविधीकृत कर लिया है एवं विकासशील देशों से आयात की जाने वाली वस्तुओं की प्रतिस्थापन वस्तुओं का उत्पादन अपने यहाँ प्रारम्भ कर दिया है जिसके कारण इन वस्तुओं के आयातों की माँग कम हो गई है।

इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि विकासशील देशों में अनुसंधान एवं विकास की सुविधाएँ बहुत सीमित हैं। अतः ऐसे रासायनिक पदार्थों का उत्पादन करना एक कठिन कार्य है जिनका उपयोग विकसित देशों के मानदण्डों पर खरा सिद्ध हो। उदाहरणार्थ शुद्ध पेय जल (मिनरल वाटर) का उत्पादन पश्चिमी देशों द्वारा स्थापित मानदण्डों

NOTES

के अनुसार करना बहुत अधिक खर्चीला है तथा व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में कृषि आधारित एवं अन्य उत्पादनों का विकसित देशों को निर्यात करना एक कठिन कार्य होगा।

(2) **श्रम मानक** (Labour Standard) **सम्बन्धी अवरोध** – श्रम मानक से आशय है वस्तुओं का उत्पादन जिन श्रमिकों के द्वारा किया जाता है उनका किसी प्रकार शोषण नहीं होना चाहिए। भारत कई वर्षों से कार्पेट, सिले हुए वस्त्र, कलात्मक सामान का निर्यात कर रहा है, किन्तु अब इन वस्तुओं के निर्यात के समय उत्पादक को यह प्रमाणित करना होगा कि इन वस्तुओं के उत्पादन में मानक श्रम का ही उपयोग किया गया है, किन्तु यदि कहीं यह तथ्य उजागर होता है कि इनके उत्पादन में 'बाल श्रमिकों' का उपयोग किया गया है, तो उन्हें अपने आयात निरस्त करने का अधिकार होगा। तीसरे विश्व के देशों में गरीबी एवं परम्परागत आधार पर बाल श्रम का उपयोग अनेक उद्योगों में किया जाता रहा है, किन्तु विश्व व्यापार संगठन के प्रावधानों के अन्तर्गत अब ऐसी वस्तुओं का निर्यात करना कठिन हो जावेगा।

(3) **बौद्धिक सम्पत्ति अधिकार** – ट्रिप्स समझौते भी विकासशील देशों के निर्यात व्यापार को प्रभावित करेंगे। कारण यह है कि अनुसंधान एवं विकास की सुविधाएँ विकसित देशों में बहुत अधिक हैं। परिणाम स्वरूप जड़ी-बूटियाँ एवं अनेक पदार्थों, जिनका उपयोग विकासशील देशों में परम्परागत रूप से हो रहा है, पर अनुसंधान करके बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपना एकाधिकार स्थापित कर लेंगे। जैसा कि हल्दी, नीम, अदरक आदि के बारे में हुआ है। परिणाम यह होगा कि इन वस्तुओं का निर्यात व्यापार प्रभावित होगा। कारण यह है कि विकसित देशों में प्रक्रियाओं तथा वस्तुओं को पेटेंट करवाने की अधिक सुविधाएँ हैं। विकासशील देशों को निर्यात के स्थान पर पेटेंट किए हुए कच्चे माल और पदार्थों का आयात करना होगा।

(ब) परम्परागत अवरोध या कठिनाइयाँ –

(i) **निर्यात उद्योगों की कमी** – तृतीय विश्व के देशों में ऐसे उद्योग सीमित होते हैं जिनके उत्पादन की निर्यात सम्भावनाएँ अधिक होती हैं। वास्तविकता यह है कि मशीनें एवं तकनीकी स्तर की कमी के कारण निर्यात-उद्योगों का समुचित विकास नहीं हो पाता। फलतः ऐसे देशों के निर्यात व्यापार में वृद्धि नहीं हो पाती।

(ii) **घरेलू बाजार में माँग का अधिक होना** – तृतीय विश्व के देशों में जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है जिसके कारण घरेलू बाजार में निर्मित वस्तुओं की माँग भी तेजी से बढ़ती है। फलतः ऐसे देशों में निर्यात हेतु अतिरिक्त उत्पादन बहुत सीमित मात्रा में होता है जिससे निर्यात व्यापार बढ़ नहीं पाता।

(iii) **कृषि का पिछड़ापन** – तृतीय विश्व के देश मुख्य रूप से कृषिगत वस्तुओं का निर्यात करते हैं, किन्तु कृषि के पिछड़े होने के कारण कृषि-उत्पादों की पूर्ति कम होती है तथा निर्यात हेतु उपलब्ध मात्रा बहुत सीमित होती है। फलतः निर्यात व्यापार को बढ़ाना सम्भव नहीं हो पाता।

(iv) **विदेशों में माँग का बेलोचदार होना** – तीसरे विश्व के देश जिन वस्तुओं का निर्यात करते हैं, उनकी विदेशों में माँग बेलोचदार होती है। ऐसी स्थिति में कीमतों को कम करके भी अधिक मात्रा में निर्यात करना सम्भव नहीं हो पाता।

(v) **परस्पर प्रतियोगिता** – निर्यात के क्षेत्र में तीसरे विश्व के देश परस्पर प्रतियोगिता करते हैं। इससे निर्यात का समुचित लाभ नहीं मिल पाता। उदाहरण के लिये, चाय के निर्यात में भारत को श्रीलंका से कड़ी प्रतियोगिता करना पड़ती है। फलतः निर्यात की सम्भावनाएँ सीमित हो जाती हैं।

(vi) **गुणात्मक स्तर में कमी तथा कीमत का अधिक होना** – तीसरे विश्व के देशों में वस्तुओं की किस्म उच्च कोटि की नहीं होती। इसके साथ ही उनकी कीमतें भी अधिक रहती हैं। इससे निर्यात व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि तीसरे विश्व के देशों के सामने अनेक ऐसी बाधाएँ एवं अवरोध होते हैं जिनके कारण उनका निर्यात व्यापार आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं बढ़ पाता। व्यापार संगठन की स्थापना से इन अवरोधों में कमी के स्थान पर वृद्धि हुई है। प्रयास ऐसा होना चाहिए कि तीसरे विश्व के देश मिलकर प्रभावी संगठन बनाएँ एवं अपने हित के प्रावधानों को विश्व व्यापार संगठन की चर्चाओं में प्रस्तुत करें और उन्हें स्वीकार कराने के लिये दबाव डालें।

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

1. व्यापार एवं प्रशुल्क सम्बन्धी सामान्य समझौते (गैट) की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
2. विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य एवं कार्यों की विवेचना कीजिए।
3. विश्व व्यापार संगठन के विभिन्न समझौतों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

4. 'विश्व व्यापार संगठन एवं भारत' पर एक लेख लिखिए।

5. विश्व व्यापार संगठन का विश्व के व्यापार को सुगम बनाने एवं इसके विस्तार में जो योगदान रहा है, विस्तार से समझाइये।

NOTES

6. विश्व व्यापार संगठन के उद्देश्य एवं कार्य क्या हैं? भारत जैसे विकासशील देश इससे क्या लाभ प्राप्त करने की सम्भावना रखते हैं?

7. विश्व व्यापार संगठन क्या है? विश्व व्यापार संगठन के भारतीय अर्थव्यवस्था पर हुए प्रभावों की व्याख्या कीजिए।

8. **निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिए-**

   (i) प्रशुल्क एवं व्यापार सम्बंधी सामान्य समझौता (GATT),

   (ii) उरुग्वे दौर (Uruguay Round),

   (iii) ट्रिप्स एवं ट्रिम्स (TRIPs & TRIMs),

   (iv) भारत एवं गैट (GATT & India),

   (v) भारत एवं विश्व व्यापार संगठन (WTO & India),

   (vi) विश्व व्यापार संगठन समझौता (WTO Agreements),

   (vii) पर्यावरण एवं श्रम मानक (Environmental & Labour Standards).

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

19

NOTES

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं भारत
(INTERNATIONAL MONETARY FUND AND INDIA)

भूमिका (Introduction)

प्रथम विश्व युद्ध के बाद विश्व के विभिन्न देशों के मध्य मौद्रिक सहयोग समाप्त हो गया था। प्रत्येक देश **भुगतान सन्तुलन को अपने पक्ष में करने के उद्देश्य से विनिमय नियंत्रण, अवमूल्यन, निर्यात प्रोत्साहन नीति** आदि का सहारा ले रहा था। इन नीतियों से विभिन्न देशों के मध्य एक प्रकार का **आर्थिक युद्ध** प्रारंभ हो गया था और इसी से द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ा। फलतः द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान ही **अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग एवं शांति** की आवश्यकता **महसूस** की गई।

इस दिशा में सन् 1943 में **प्रो. जे.एम. कींस** (J.M. Keynes) एवं इसी समय अमेरिका के **प्रो. एच.डी. व्हाइट** (H.D. White) ने **अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक** सहयोग की अपनी योजनाएँ प्रस्तुत कीं। इन योजनाओं पर विचार करने के लिये **अमेरिका** ने **ब्रेटेन वुड्स** (Bretten Woods) नामक स्थान पर एक सम्मेलन बुलाया जिसमें 44 देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में **"अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष** (International Monetary Fund)" एवं **"अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास बैंक** (International Bank for Reconstruction & Development)" या संक्षेप में **विश्व बैंक** (World Bank) **की स्थापना की सहमति हुई**। इसके फलस्वरूप 27 दिसम्बर, 1945 को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का **कार्यालय वाशिंगटन में स्थापित किया** गया। **एक मार्च 1947 से इसने कार्य करना प्रारंभ किया। वर्तमान में** 183 राष्ट्र इसके सदस्य हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्य
(Objectives of International Monetary Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं :-

(1) मौद्रिक सहयोग (Monetary Cooperation) – कोष का मुख्य उद्देश्य सदस्य देशों के मध्य मौद्रिक सहयोग स्थापित करना है। इस हेतु यह समय-समय पर सदस्य देशों को आर्थिक एवं वित्तीय नीतियों से संबंधित सुझाव देता है।

(2) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सन्तुलित विकास (Balanced Growth of International Trade)– इस हेतु कोष सदस्य देशों के **आर्थिक विकास** में सहयोग करता है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हल करता है। **इससे उत्पादक साधनों** का इष्टतम उपयोग होता है एवं रोजगार का स्तर बढ़ता है।

(3) विनिमय दरों में स्थिरता (Stability in Exchange Rate) – कोष का उद्देश्य विनिमय दरों में स्थिरता लाना भी है। इस हेतु कोष प्रतियोगितात्मक विनिमय दरों की गिरावटों को रोकता है। धारा 4.3 (a) व 4.3 (b) के अनुसार मुद्रा कोष सदस्य देशों की विनिमय दर पर कड़ी नजर रखता है। कोष सदस्य देशों को एक निश्चित सीमा तक विनिमय दर में परिवर्तन की अनुमति एवं विनिमय दर के विपक्ष में हो जाने पर उसे ठीक करने से सम्बन्धित सुझाव देता है।

(4) बहुपक्षीय भुगतान को प्रोत्साहन (To Encourage Multiple Payments) – सदस्य देशों के विनिमय नियंत्रणों को दूर करने के लिए कोष अल्पकालीन मौद्रिक सहायता प्रदान करता है **इससे** बहुपक्षीय भुगतान को प्रोत्साहन मिलता है।

(5) प्रतिकूल भुगतान सन्तुलन को ठीक करना (To Remove the Disequilibrium of Balance of Payment) – सदस्य देश का भुगतान सन्तुलन अल्पकालीन एव अस्थायी रूप से प्रतिकूल होने पर कोष उसे ठीक करने के लिये अल्पकालीन ऋण प्रदान करता है। स्थायी असन्तुलन को ठीक करने के लिए भी मुद्रा कोष ठोस सुझाव देता है।

(6) आर्थिक विकास हेतु वित्तीय एवं तकनीकी सहायता (Financial and Technical Assistance for Economic Development) – मुद्रा कोष सदस्य देशों को उनके तीव्र आर्थिक विकास के लिये वित्तीय एवं तकनीकी

सहायता उपलब्ध कराता है। सदस्य देशों को उनकी आवश्यकतानुसार किसी भी मुद्रा में ऋण देता है तथा सदस्य देशों की समस्याओं के अध्ययन एवं सुझाव के लिये समय-समय पर विशेषज्ञों के अध्ययन दल भी भेजता है।

NOTES

(7) **अन्तर्राष्ट्रीय तरलता की समस्या को हल करना** (To Solve the Problem of International Liquidity) – वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वृद्धि एवं उसके भुगतान की समस्या कठिन हो रही है। कोष का उद्देश्य इस समस्या को हल करना भी है।

मुद्रा कोष की प्रबन्ध व्यवस्था
(Management of Monetary Fund)

मुद्रा कोष की प्रबन्ध व्यवस्था निम्नलिखित है :-

(1) **प्रशासन मण्डल** (Board of Governors) – यह कोष की साधारण सभा (General body) है जो नीति निर्धारण का कार्य करती है। इसमें प्रत्येक देश का एक प्रशासक एवं एक स्थानापन्न प्रशासक होता है। प्रशासक सामान्यतः सदस्य देश का वित्तमंत्री होता है एवं स्थानापन्न प्रशासक उस देश की केन्द्रीय बैंक का गवर्नर होता है। स्थानापन्न प्रशासक कोष की सभाओं में भाग लेता है एवं प्रशासक की अनुपस्थिति में मतदान कर सकता है। इसकी बैठक वर्ष में एक बार अवश्य होती है।

प्रशासन मण्डल के पास व्यापार अधिकार हैं। यह सदस्य देशों के कोटे में संशोधन, नये सदस्यों के प्रवेश, संचालकों के चुनाव तथा सदस्य देशों की मुद्राओं की समता दरों के बारे में निर्णय लेता है।

(2) **प्रबन्धक मण्डल** (Board of Executive Directors) – कोष के दैनिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिये 12 सदस्यों का एक प्रबन्ध मण्डल होता है। इनमें 5 सदस्य स्थाई हैं जिनके अभ्यंश अधिकतम हैं। शेष सदस्य अस्थायी होते हैं और उनका चुनाव क्षेत्रीय आधार पर होता है। वर्तमान में प्रबन्धक मण्डल में 20 सदस्य हैं। प्रबन्धक मण्डल में चुने गये सदस्य देश का एक स्थानापन्न (Alternative) प्रबन्धक भी होता है।

(3) **प्रबन्ध निर्देशक** (Managing Director) – इसकी नियुक्ति प्रबन्धक मण्डल करता है। यह दैनिक कार्यों को सम्पन्न करता है। यह प्रबन्धक मण्डल की बैठकों की अध्यक्षता करता है। किसी मामले पर बराबर मत आने पर यह निर्णायक मत देता है। इसका कार्यकाल प्रबन्धक मण्डल की इच्छा पर निर्भर करता है।

(4) **विशेषज्ञ समितियाँ** (Expert Committees) – कोष विभिन्न क्षेत्रों में विशेषज्ञों की समितियाँ नियुक्त करता है जो प्रशासन मण्डल एवं प्रबन्धक मण्डल को विशेष कार्यों पर राय देती है। इनमें से दो समितियाँ प्रमुख हैं (अ) अन्तरिम समिति (Interim Committee) एवं विकास समिति (Development Committee)।

(5) **मताधिकार** (Voting Power) – कोष के साधारण निर्णय बहुमत से होते हैं। प्रत्येक सदस्य को 250 निश्चित मत प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त उसे प्रति एक लाख डालर के अभ्यंश पर एक अतिरिक्त मतदान का अधिकार है। उदाहरणार्थ - अमेरिका का अभ्यंश 37.3 बिलियन SDR है तो उसे कुल 37.3 बिलियन मत देने का अधिकार है।

(6) **प्रधान कार्यालय** (Head Office) – सर्वाधिक अभ्यंश वाला देश होने से कोष का प्रधान कार्यालय अमेरिका के वाशिंगटन नगर में है।

(7) **सदस्यता** (Membership) – मुद्रा कोष की स्थापना के समय इसके केवल 44 देश सदस्य थे, किन्तु सदस्य संख्या में स्थापना के बाद तेजी से वृद्धि हुई, वर्तमान में 185 देश इसके सदस्य हैं।

कोष के साधन एवं पूँजी
(Resources and Capital of the Fund)

कोष की पूँजी या साधन अभ्यंश से प्राप्त होते हैं। प्रारंभ में कोष के साधन 1000 करोड़ डालर रखे गये थे, किन्तु रूस में शामिल न होने से इसकी कुल पूँजी 880 करोड़ डालर रह गई। प्रत्येक देश का अभ्यंश उसके सदस्य बनने के पूर्व तय कर दिया जाता है जिसमें बाद में परिवर्तन किया जा सकता है। प्रारंभ में सदस्य देश को अपने अभ्यंश का 20% अथवा अपने देश के कुल स्वर्ण एवं डालर कोष का 10% (दोनों में से जो भी कम हो) स्वर्ण के रूप में मुद्राकोष को देना पड़ता था। अपने अभ्यंश के शेष भाग को सदस्य देश अपनी मुद्रा में जमा कराते हैं। किन्तु 1976 में स्वर्ण जमा करना बन्द कर दिया गया। अब सदस्य देश अपने अभ्यंश का 75% अपनी मुद्रा में तथा 25% किसी भी आरक्षित मुद्रा (Reserve) में जमा करा सकता है।

सन् 1971 तक मुद्रा-कोष के अभ्यंश तथा सभी लेन-देन अमरीकन डालर में व्यक्त किये जाते थे जिसका समता मूल्य स्वर्ण में 35 डालर एक औंस विशुद्ध स्वर्ण के बराबर था। डालर के मूल्य में अवमूल्यन के कारण मार्च 1972 से मुद्रा-कोष के सामान्य लेखे को विशेष आहरण अधिकार या एस.डी.आर. (Special Drawing Rights) में रखा

NOTES

जाने लगा। सन् 1981 से एसडी.आर. का मूल्य केवल 5 देशों, यथा अमरीकी डालर, जर्मन मार्क, जापानी येन, ब्रिटिश पौंड और फ्रांसीसी फ्रैंक की मुद्राओं के आधार पर निर्धारित होता है।

एसडी.आर. को लेखे की इकाई स्वीकार करने के बाद से ही सदस्य देशों की मुद्राओं का मूल्य भी एसडी.आर. में व्यक्त किया जाने लगा। सितम्बर 1982 में मुद्रा कोष की पूँजी 61 बिलियन एसडी.आर. थी जो बढ़कर नवम्बर, 1992 में 135 बिलियन एवं फरवरी, 1998 को 212 बिलियन एसडी.आर. (लगभग 297 अरब डालर) हो गई। वर्तमान में भारत का अभ्यंश 4.16 बिलियन एसडी.आर. था कुल अभ्यंशों का 1.96 प्रतिशत है। मुद्रा कोष की स्थापना के समय भारत का स्थान पाँचवाँ था और वह स्थाई निदेशक पद का हकदार था किन्तु अब भारत का स्थान 13वाँ हो गया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सदस्य देशों के अभ्यंश उनकी आर्थिक स्थिति तथा मुद्रा कोष को पूर्व में दी गयी सहायता राशि के आधार पर निर्धारित किए जाते हैं। सामान्यतः अभ्यंश राशि का पुनरीक्षण प्रत्येक 5 वर्ष में होता है। इस समय अमरीका का अंशदान या अभ्यंश सर्वाधिक 17.66 प्रतिशत है और इसके बाद जापान, जर्मनी, ब्रिटेन तथा फ्रांस का स्थान है।

मुद्रा कोष के कार्य
(Functions of Monetary Fund)

कोष अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये निम्नलिखित कार्य करता है –

(1) ऋण देने सम्बन्धी कार्य (Lending Operations) – मुद्रा कोष – मुद्रा के क्रय विक्रय के रूप में ऋण देता है। ऋण माँगने वाले देश को उस देश की मुद्रा या स्वर्ण के बदले मुद्रा कोष अन्य देश की मुद्रा की पूर्ति करता है। कोष के ऋण की तीन सीमाएँ हैं- (अ) माँगी गई मुद्रा का प्रयोग चालू भुगतान के लिये किया जाता है। (ब) माँगी गई मुद्रा को कोष ने दुर्लभ मुद्रा घोषित नहीं किया है। (स) सदस्य देश अपने अभ्यंश से 200% से अधिक मूल्य की मुद्रा उधार नहीं लेगा। वर्तमान में यह सीमा बढ़ाकर 400 से 440 प्रतिशत तक कर दी है। 30 अप्रैल, 1999 को समाप्त हुए वित्तीय वर्ष में मुद्रा कोष ने अपने सदस्य राष्ट्रों को कुल मिलाकर 30.5 अरब डालर के ऋण दिये। कोष अल्पकालीन अर्थात् उसे 3 से 5 वर्षों के लिये ऋण देता है। असामान्य दशा में यह समय बढ़ाया जा सकता है। मुद्रा कोष का ऋण अग्निशमन यंत्र (Fire Brigde) की तरह है जो अत्यावश्यक दशा में ही दिया जाता है। कोष निम्न रूपों में ऋण या सहायता देता है –

(अ) **संकटकालीन सहायता** – सदस्य देश के आर्थिक या राजनैतिक संकट की दशा में कोष इस शर्त पर ऋण देता है कि सदस्य देश शीघ्र आर्थिक सुधार के प्रयास करेगा। कोष ने ब्रिटेन को स्वेजनहर विवाद एवं 1967 के अवमूल्यन के समय 140 करोड़ SDR की सहायता दी। फ्रांस को 1968 में राजनैतिक संकट के समय 74.5 करोड़ SDR, अमेरिका को 136.2 करोड़ SDR (1972 में) तथा भारत को 1983 में 560 करोड़ SDR की सहायता दी।

(ब) **तात्कालिक विनिमय संकट को दूर करने के लिये** – भुगतान सन्तुलन के तात्कालिक अथवा सामयिक असन्तुलनों के सुधार हेतु मुद्रा कोष 6 से 12 माह तक का ऋण देता है और इसका भुगतान नियमित रूप से होता रहता है। इस उद्देश्य के लिये कोष ने अनेक देशों को ऋण दिये। क्यूबा, निकारागुआ आदि सीमित मात्रा में निर्यात करने वाले देशों को संकट के समय भी कोष ने सहायता की है।

(स) **चालू भुगतान शेष की कठिनाई को दूर करना** – वे सदस्य देश जो उपभोक्ता या पूँजीगत वस्तुओं का आयात करते हैं, को भी कोष अल्पकालीन सहायता देता है, ताकि उनके चालू भुगतान शेष की समस्या हल हो सके। कोष ने डेन्मार्क, फ्रांस, भारत आदि देशों को इस प्रकार की सहायता दी है।

(द) **स्थायित्व ऋण** – वे देश जो भुगतान शेष की कठिनाई को दूर करने के लिये विनिमय नियंत्रण एवं बहु-विनिमय दरों का सहारा लेते हैं, उनकी विनिमय दर को समता दर के समान लाने के लिये भी कोष ऋण देता है।

(2) **विनिमय दर में स्थिरता** (Stability in Exchange Rate) – कोष ने इस हेतु सभी देशों की मुद्राओं का मूल्य स्वर्ण या डालर में निर्धारित किया था, किन्तु फिर भी सदस्य देश अपनी मुद्रा का 10% परिवर्तन कर इसकी सूचना कोष को दे सकता है। 10 से 20% परिवर्तन कोष से पूर्व अनुमति लेकर तथा 20% से अधिक परिवर्तन कुल सदस्यों के दो तिहाई भाग से सहमति लेकर कर सकता है, किन्तु सन् 1978 से यह व्यवस्था समाप्त कर दी गई है तथा अब लोचदार विनिमय प्रणाली को अपना लिया गया है। इस प्रणाली के अन्तर्गत सदस्य देश किसी भी विनिमय व्यवस्था को अपनाने के लिये स्वतंत्र हैं। अनेक देशों ने विदेशी मुद्रा के माँग-पूर्ति सिद्धान्त को अपनाया है।

(3) दुर्लभ मुद्रा (Hard Currency) – जब किसी देश की मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति से अधिक है तथा मुद्रा-कोष अपने साधनों से उसकी पूर्ति नहीं कर पाती है तो इस स्थिति में कोष सम्बन्धित देश से मुद्रा उधार ले सकता है या स्वर्ण के बदले में उसे खरीद सकता है। इसके बाद भी यदि उस देश की मुद्रा की माँग को पूरा नहीं किया जा

सके तो कोष इस मुद्रा को दुर्लभ मुद्रा घोषित कर देता है। ऐसी मुद्रा के लिये कोष को राशनिंग का अधिकार प्राप्त हो जाता है।

(4) पुनः क्रय (Re-purchase) – जब कोई देश मुद्रा कोष से ऋण लेता है तो उसे अपनी मुद्रा से अन्य देश की मुद्रा क्रय करनी होती है। इससे मुद्रा-कोष के पास ऋणी देश की मुद्रा का स्टॉक बढ़ जाता है। जब ऋणी देश अपने ऋण को चुकाना चाहता है, तो उसे अपनी मुद्रा को अन्य देशों की मुद्राओं के द्वारा क्रय करना होता है। प्रावधान यह है कि ऋणी देश को अपनी बेची हुई मुद्रा को पाँच वर्षों के अन्दर पुनः क्रय करना पड़ता है।

(5) विनिमय नियंत्रण (Exchange Control) – कोष का उद्देश्य विनिमय नियंत्रण समाप्त करना है, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी प्रवाह को रोकने के लिये कोष विनिमय नियंत्रण की अनुमति भी देता है।

(6) संक्रान्ति कालीन सुविधाएँ (Facilities During the Transitional Period) – कोष सदस्य देश के संक्रान्तिकालीन समय में विनिमय नियंत्रण, संरक्षण एवं अन्य प्रतिबन्ध लगाने की अनुमति देता है।

(7) क्षतिपूरक वित्तीय सहायता – प्राथमिक वस्तुओं का उत्पादन कर निर्यात करने वाले देशों को कोष उनके अभ्यंश के आधार पर अतिरिक्त वित्तीय सहायता देता है।

(8) सेवा शुल्क एवं लाभांश (Service Charges & Dividend) – ऋण प्राप्तकर्ता देश के पास कोष से ऋण लेने पर विदेशी मुद्रा बढ़ जाती है ऐसी दशा में कोष ऋणीदेश से सेवा शुल्क के रूप में 5 से 4% अतिरिक्त ब्याज लेता है।

(9) पूरक वित्त (Supplementary Finance) – कोष ने 1979 से पूरक वित्त पोषण सुविधा नामक योजना प्रारंभ की है। कोष भारी घाटे वाले सदस्य देशों को सामान्य सहायता के अतिरिक्त दीर्घकालीन पूरक वित्त पोषण सुविधाएँ भी देता है।

(10) तकनीकी सहायता (Technological Assistance) – मुद्रा कोष दो प्रकार से सदस्य देशों को बैंकिंग, विदेशी विनिमय, भुगतान सन्तुलन आदि के लिये (i) अपने विशेषज्ञ भेज कर एवं (ii) बाहरी विशेषज्ञ भेजकर तकनीकी सहायता देता है।

(11) प्रशिक्षण (Training) – मुद्रा कोष 1951 से सदस्य देशों के प्रतिनिधियों को अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान, आर्थिक विकास, आँकड़ों का संकलन और विश्लेषण संबंधी अनेक कार्यों के लिये प्रशिक्षण देता है। सन् 1964 के बाद प्रशिक्षण व्यवस्था में विस्तार हुआ है।

(12) प्रकाशन (Publications) – मुद्रा कोष बैंकिंग, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नीति आदि विषयों पर पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित करता है। इनमें अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सांख्यिकी (मासिक), व्यापार दिशा (मासिक), वित्त एवं विकास (त्रैमासिक) आदि प्रसिद्ध हैं।

(13) ट्रस्ट कोष – मुद्रा कोष ने जनवरी 1976 में ट्रस्ट कोष बनाने का निर्णय लिया है। मुद्रा कोष द्वारा 4 वर्षों में 2.50 लाख औंस का सोना बेचकर उससे प्राप्त आधिक्य से ट्रस्ट कोष बनाया है। ट्रस्ट कोष राशि 0.5% ब्याज पर भारत सहित 62 देशों को दी गई है।

मुद्रा कोष के वर्जित कार्य –

1. कोष केवल अधिकृत मौद्रिक संस्थाओं एवं केन्द्रीय बैंक के माध्यम से ही कार्य करता है। अन्य किसी संस्था के माध्यम से नहीं।
2. कोष निजी व्यक्तियों तथा संस्थाओं के साथ भी व्यवसाय करता है।
3. यह केवल अल्पकालीन ऋण देता है दीर्घकालीन नहीं।
4. कोष भुगतान सन्तुलन को ठीक करने के लिये सदस्य देश की आन्तरिक अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सफलताएँ या उपलब्धियाँ
(Achievements of the IMF)

मुद्रा कोष की प्रमुख सफलताएँ या उपलब्धियां निम्नलिखित हैं –

(1) अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग (International Monetary Cooperation) – कोष एक ऐसा मंच बन गया है जहाँ विश्व के विभिन्न देश एक साथ बैठकर अपनी मौद्रिक समस्याओं का व्यापक हित में विचार-विमर्श करते हैं और उन्हें परस्पर सहायता के द्वारा हल करने का प्रयास करते हैं।

(2) विनिमय दरों में स्थिरता (Stability in Exchange Rates) – कोष ने सदस्य देशों की विनिमय दर में स्थिरता लाने का प्रयास किया है। यद्यपि अभी भी अनेक देशों की विनिमय दरें अस्थिर हैं फिर भी कोष की स्थापना के बाद से इसमें बहुत कम उच्चावचन हुए हैं। वास्तविकता यह है कि सन् 1978 के बाद लोचदर विनिमय दर व्यवस्था को अपनाया है, जिससे अर्ध-विकसित एवं विकासशील देशों की विनिमय दरों में अधिक परिवर्तन हुए हैं।

(3) सुरक्षित कोष का निर्माण (Formation of Safety Fund) – कोष के पास सभी सदस्य देशों की मुद्राएँ होती हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सुरक्षित कोष का कार्य करती हैं। इस सुरक्षित कोष का उपयोग सदस्य देशों के मौद्रिक संकट के समय किया जा सकता है।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि – विदेशी व्यापार के विस्तार में सबसे बड़ी समस्या तरलता की है। यहाँ तरलता से आशय विदेशों से वस्तुएँ क्रय करने के लिये तरल मुद्रा (विदेशी मुद्राओं) की उपलब्धता से है। मुद्रा कोष ने इस समस्या को हल करने के लिये अपने साधनों में वृद्धि के उद्देश्य से विशेष आहरण अधिकार (S.D.R.) योजना प्रारम्भ की है। परिणामस्वरूप अब मुद्रा-कोष 67 अरब डालर से भी अधिक के ऋण जारी कर सकता है।

(5) भुगतान सन्तुलन में सहायक – मुद्रा कोष का प्रारम्भ से ही यह उद्देश्य रहा है कि सदस्य देशों के भुगतान सन्तुलन के असाम्य को दूर किया जावे। मुद्रा कोष ने विकसित एवं साधन सम्पन्न देशों, जैसे अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, जापान आदि से सहायता प्राप्त करके अनेक विकासशील देशों, जैसे– भारत, इण्डोनेशिया, घाना पाकिस्तान आदि को सहायता उपलब्ध कराई।

(6) विश्व व्यापार का विस्तार (Expansion of World Trade) – कोष की स्थापना से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लगे विभिन्न राष्ट्रीय सरकारों के प्रतिबंध समाप्त हो गये हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का काफी विस्तार हुआ है। विश्व व्यापार 1948 की अपेक्षा 1999 में बीस गुना से भी अधिक बढ़ा है।

(7) बहुपक्षीय भुगतान प्रणाली (Multilateral Payment System) – कोष ने विदेशी व्यापार एवं विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से भुगतान की बहुपक्षीय प्रणाली की स्थापना करने में सफलता प्राप्त की है।

(8) प्रतिस्पर्द्धात्मक अवमूल्यन पर रोक (Control Over Competitive Devaluation) – मुद्रा कोष की स्थापना के पूर्व अनेक देशों में अवमूल्यन की होड़ लगी हुई थी, मुद्रा कोष ने इस प्रवृत्ति को समाप्त किया है। अब कोई सदस्य देश, कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर मुद्रा कोष की अनुमति के बिना अवमूल्यन नहीं करता है।

(9) तकनीकी सहायता (Technical Assistance) – कोष ने सदस्य देशों के मौद्रिक, साख, प्रशुल्क नीति, विनिमय नियंत्रण आदि अनेक विषयों पर पर्याप्त सहायता दी है।

(10) प्रशिक्षण सुविधाएँ (Training Facilities) – मुद्रा कोष, सदस्य देशों के मुद्रा एवं बैंक तथा बजट अधिकारियों को विभिन्न विषयों पर 1951 से सतत् प्रशिक्षण देता आ रहा है।

(11) सदस्यों की संख्या में वृद्धि – मुद्रा कोष की एक महत्वपूर्ण सफलता इसके सदस्य देशों की संख्या में वृद्धि है। प्रारम्भ (1947) में जहाँ केवल 44 देश इसके सदस्य थे, अब बढ़कर 185 हो गए हैं। वर्तमान में पूर्वी-यूरोप एवं पूर्व-सोवियत गणराज्य के देश भी इसके सदस्य हैं।

(12) परस्पर सहयोग एवं मदद – मुद्रा कोष ने छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों को एक मंच पर विचार-विमर्श हेतु लाकर विश्व की अनेक आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक समस्याओं को हल करने में मदद की है। वर्तमान में मुद्रा कोष न केवल भुगतान सन्तुलन की समस्या को हल करने के लिये ऋण उपलब्ध करता है वरन् क्षतिपूरक वित्त व्यवस्था, विस्तार सुविधा, बफर स्टॉक सुविधा, तेल सुविधा आदि के द्वारा भी सदस्य देशों की मदद करता है। निश्चित ही अर्ध-विकसित एवं विकासशील देशों को इससे बहुमूल्य मदद मिली है।

मुद्रा कोष की असफलताएँ अथवा आलोचनाएँ
(Criticism or Failures of IMF)

(1) सीमित कार्यक्षेत्र (Limited Scope) – मुद्रा कोष केवल चालू भुगतानों के लिए ही विदेशी मुद्रा की सहायता देता है, युद्ध या पुराने ऋण लौटाने आदि के लिये यह ऋण नहीं देता है।

(2) विनिमय दरों में स्थिरता का अभाव (Lack of Stability in Exchange Rates) – विनिमय दरों को स्थिर रखने में कोष असफल रहा है। फ्रांस (1948 में) एवं ब्रिटेन (1967 में) सहित अनेक देशों ने कोष की अनुमति के बिना अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर लिया है।

(3) धनाढ्य देशों का प्रभुत्व (Superiority of Rich Countries) – मतदान की कुल मात्रा का बड़ा भाग धनाढ्य देशों के पास है अतः कोष की नीति का निर्माण में वे अपने लाभ सर्वोपरि रखते हैं। इसका मूल कारण यह है कि विभिन्न राष्ट्रों के मध्य अभ्यंशों का निर्धारण वैज्ञानिक आधार पर नहीं किया गया है। उदाहरण के लिये, अकेले

(17.66%) प्राप्त है। इससे मुद्रा-कोष की सभी नीतियों एवं कार्यक्रमों पर अमरीका का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है।

(4) विकासशील देशों को सीमित लाभ (Limited Advantages to Developing Countries)– कोष की विभिन्न नीतियों का लाभ विकसित देशों को ही मिलता है। विकासशील देशों को इनसे कोई विशेष लाभ नहीं मिलता है। मुद्रा-कोष इन देशों को दीर्घ-कालीन ऋण प्रदान करने में पूर्णतः असफल रहा है।

(5) दोषपूर्ण नीतियाँ (Defective Policies) – मुद्रा कोष की अवमूल्यन, अभ्यंश, विनिमय नियंत्रण आदि नीतियाँ आज भी दोषपूर्ण हैं। मुद्रा-कोष के अभ्यंशों का आवंटन अवैज्ञानिक होने के कारण अमरीका जैसे सम्पन्न देशों का प्रभुत्व स्पष्ट दिखाई देता है।

(6) भुगतान सन्तुलन की समस्या (Problems Relating to Balance of Payment) – विश्व के विकासशील देशों का भुगतान सन्तुलन गंभीर रूप से उनके विपक्ष में है। मुद्रा कोष ने इस समस्या को हल करने के लिये कोई विशेष प्रयास नहीं किये।

(7) दीर्घकालीन ऋण नहीं (No Long Period Loan) – सामान्यतः सभी अर्ध-विकसित देश दीर्घकालीन ऋण चाहते हैं जबकि कोष केवल अल्पकालीन ऋण प्रदान करता है।

(8) गैर-योजनागत ऋण (Non Plan Loans) – कोष आर्थिक विकास की योजनाओं की अपेक्षा गैर-योजनागत कार्यों के लिये ऋण देता है। इससे यह एक दानी संस्था बन गई है।

(9) साधनों की कमी (Scarcity of Resources) – विश्व के विभिन्न विकसित और विकासशील देशों की ऋण संबंधी आवश्यकताओं की तुलना में कोष के पास बहुत ही कम साधन हैं।

निष्कर्ष – मुद्रा-कोष की सफलताओं एवं असफलताओं के अध्ययन से स्पष्ट है कि जहाँ अनेक क्षेत्रों में इससे सफलताएँ मिली हैं, वहीं कुछ क्षेत्रों में कमियाँ भी दिखाई दे रही हैं। विश्व-स्तर पर विभिन्न मौद्रिक एवं आर्थिक समस्याओं के विचार-विमर्श हेतु इस संस्था ने एक सुदृढ़ मंच प्रदान किया है। विश्व के बदलते परिप्रेक्ष्य में आशा की जानी चाहिये कि मुद्रा-कोष आर्थिक गतिशीलता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।

विकासशील देश और मुद्रा कोष
(Developing Countries and IMF)

पिछले वर्षों में मुद्रा कोष से विकासशील देशों को निम्नलिखित लाभ हुए हैं –

(1) व्यापार संतुलन में सहायता (Help in Balance of Trade) – उन विकासशील देशों को जो प्राथमिक वस्तुओं का निर्यात करते हैं, उनके व्यापार सन्तुलन में होने वाले घाटे की पूर्ति के लिये कोष सहायता देता है। सन् 1975 में सहायता का अनुपात उनके पूँजी कोटे के 25% भाग से बढ़ाकर 75% कर दिया है। यह सहायता उन्हीं देशों को दी जाती है जो अपने घाटे की पूर्ति करने में असमर्थ हैं। यह सहायता अल्पकालीन होती है तथा सहायता पाने वाले देशों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे प्रतिकूल व्यापार संतुलन को ठीक करने के लिये आवश्यक प्रयास करेंगे।

(2) विशेषज्ञों की सेवाएँ (Expert's Services) – मुद्रा कोष विकासशील देशों को राजकोषीय, मौद्रिक एवं विनिमय नीतियों में सुधार के लिये अपने विशेषज्ञों की सेवाएँ उपलब्ध कराता है। इन देशों में कोष के विशेषज्ञ जाकर विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन में सलाह देते हैं।

(3) प्रशिक्षण (Training) – कोष विकासशाली देशों के मुद्रा एवं बजट अधिकारियों को अपने यहाँ प्रशिक्षण देता है।

(4) सुझाव (Advise) – मुद्रा कोष विकासशील देशों को उनकी वित्तीय समस्याओं जैसे – मुद्रा स्फीति, प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन, मूल्य स्थिरता आदि पर विचार करके इनके समाधान हेतु सुझाव देता रहता है।

(5) प्रतिबंध हटाने में सहायता (Help in Removing Restrictions) – मुद्रा कोष ने सदस्य देशों के विभिन्न प्रकार के विनिमय नियंत्रण एवं प्रतिबंध हटाने में सहायता देकर, विनिमय दरों में स्थिरता लाकर एवं मौद्रिक सहायता देकर विकासशील देशों के विकास कार्यों में सहायता की है।

(6) विदेशी विनिमय समस्या का हल (Solve the Problem of Foreign Exchange) – विदेशी विनिमय समस्या के समाधान हेतु कोष ने विभिन्न विकसित और विकासशील देशों के बीच बातचीत का वातावरण बनाया है। विकासशील देशों पर अधिक ऋण का भार न बढ़े इस हेतु वह ऋण तथा ऋण वचन की शर्तें तय करता है। सदस्य देशों के प्रति नीति निर्धारण में भी वह सहयोग देता है।

(7) पृथक कोष (Separate Fund) – मुद्रा कोष, स्वर्ण बिक्री से प्राप्त लाभ को पृथक कोष में रखता है जिसका उपयोग अत्यधिक विपरीत भुगतान सन्तुलन वाले विकासशील देशों को सहायता देने के लिये करता है।

NOTES

भारत और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
(India and I.M.F.)

भारत और मुद्रा कोष के संबंधों का विस्तृत विवेचन निम्नलिखित है –

(1) **प्रारंभ से सदस्य** (Former Member) – भारत 1944 के उन 44 देशों में से एक है जिसने ब्रिटेन वुड्स सम्मेलन में भाग लिया और 27 दिसंबर, 1945 को इसका सदस्य बन गया।

(2) **भारत का अभ्यंश** (India's Share) – प्रारंभ में भारत का कोटा 40 करोड़ डालर था जो 1959 में 60 करोड़, 1965 में 75 करोड़, 1970 में 94 करोड़ डालर हो गया। 1976 में कोटा डालर के स्थान पर S.D.R. में तय किया जो 114.5 करोड़ S.D.R. था। 1984 में यह 220.8 करोड़ S.D.R. और 1998 में 416 करोड़ S.D.R. हो गया जो कुल अभ्यंशों का 1.96 है। प्रारम्भ में अभ्यंश की दृष्टि से भारत का स्थान पाँचवाँ था, जो अब घट कर तेरहवाँ हो गया है।

(3) **स्वर्ण से संबंध** (Parity with Gold) – प्रारंभ में भारत की विनिमय दर 1 रुपया = 0.268601 ग्राम शुद्ध स्वर्ण तथा 31.25 सेंट थी। 1949 एवं 1966 के अवमूल्यन से घटकर क्रमशः 0.18662 ग्राम स्वर्ण और 21 सेन्ट एवं 1991 के बाद 0.118489 ग्राम स्वर्ण और 13.3 सेंट के बराबर रह गई।

(4) **भारत को ऋण** (Loans to India) – भारत को कोष से समय-समय पर भारी मात्रा में ऋण मिला इसके परिणामस्वरूप 1948–49 में भारत पर जहाँ 10 करोड़ डालर का ऋण था 1976 में यह राशि 82.2 करोड़ S.D.R. हो गई। 1980 तक यह राशि 282.40 करोड़ डालर हो गई। नवम्बर 1981 में 500 करोड़ SDR की ऋण स्वीकृति प्राप्त की, किन्तु अप्रैल, 1984 तक वित्तीय स्थिति के ठीक होने के कारण 390 करोड़ एसडी.आर. का ऋण लिया तथा शेष ऋण लेने से मना कर दिया गया। सन् 1991 में मुद्रा कोष द्वारा भारत को 2,623 मिलियन अमरीकन डालर का ऋण दिया गया था जो बढ़कर वर्ष 1994 में 5040 मिलियन डालर हो गया। किन्तु इसके बाद ऋणों में मात्रा में कमी आई। सन् 2000 में केवल 26 मिलियन डालर का ही ऋण लिया गया।

(5) **भारत को लाभ** (Advantages to India) – ये लाभ निम्नलिखित हैं –

(i) **संकट में सहायता** (Assistance in Emergency) – भारत के भुगतान असन्तुलन को ठीक करने में कोष ने सदैव महत्वपूर्ण योगदान दिया है। 1965 एवं 1971 में पाकिस्तान के आक्रमण के समय पर भी कोष ने भारत को काफी मदद की है। सन् 1981 एवं 1992 में भी विदेशी मुद्रा के संकट में मुद्रा कोष ने सहायता दी।

(ii) **विशेषज्ञों की सेवाएँ** (Services of Experts) – कोष ने समय-समय पर भारत को विशेषज्ञों की सेवाएँ उपलब्ध कराई हैं। इसी आधार पर उसे आर्थिक सहायता भी मिली है।

(iii) **विदेशी मुद्राओं की प्राप्ति** (Availability of Foreign Currencies) – भारत के आर्थिक विकास के लिये कोष ने भारी मात्रा में विदेशी मुद्रा उपलब्ध कराई है।

(iv) **विदेशी व्यापार में वृद्धि** (Expansion in Foreign Trade) – मुद्रा कोष का संस्थापक सदस्य होने काफी समय तक संचालक मण्डल का स्थायी सदस्य रहने से भारत विश्व के अन्य देशों के सम्पर्क में आया और उनसे व्यापार भी बढ़ा।

(v) **विश्व बैंक की सहायता** (Assistance of World Bank) – कोष का सदस्य बनने से भारत को विश्व बैंक की सदस्यता भी अपने आप प्राप्त हो गई। इससे विश्व बैंक से भी भारत को आर्थिक विकास के लिये पर्याप्त धन मिला है।

(vi) **स्टर्लिंग दासता से मुक्ति** - भारत को मुद्रा-कोष की सदस्यता से पूर्व विनिमय दर के निर्धारण के लिये पौण्ड-स्टर्लिंग पर निर्भर रहना पड़ता था। यह निर्भरता मुद्रा-कोष का सदस्य बनने के बाद समाप्त हो गई।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में सुधार और भारत
(Reforms of the International Monetary System and India)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) की स्थापना (1945) के बाद अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये गये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा सदस्य राष्ट्रों की मुद्राओं का समता मूल्य स्थापित किया गया जिसमें प्रत्येक राष्ट्र का यह कर्तव्य था कि वह स्वर्ण अथवा डालर में अपनी मुद्रा का मूल्य बनाये रखे। समता मूल्य में परिवर्तन मुद्रा कोष की स्वीकृति से केवल भुगतान शेष के असाम्य को दूर करने के लिए ही किया जा सकता था।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा जुलाई, 1972 को अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधार एवं सम्बद्ध विषयों पर एक समिति (The Committee on Reform of the International Monetary system and Related Issues) गठित की गई। इसे 20 देशों की समिति (Committee of Twenty) भी कहते हैं। इस समिति को अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक

व्यवस्था में सुधार के विचार करके इसमें सुधार के लिए अपने सुझाव देने का जिम्मेदारी सौंपी गई। इस समिति में भारत का प्रतिनिधित्व तत्कालीन वित्त मंत्री श्री वाय.बी. चव्हाण ने किया था।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली के सुधार एवं 'बीस की समिति'
(Reforms of the International Monetary System and Committee of Twenty)

बीस की समिति (कमेटी ऑफ ट्वेण्टी) ने अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था में सुधार के लिए सितम्बर 1973 में प्रथम रूपरेखा नैरोबी में प्रस्तुत की, जिसमें मौद्रिक व्यवस्था में सुधार हेतु निम्न महत्वपूर्ण तथ्यों का समावेश किया गया-

(1) अन्तर्राष्ट्रीय तरलता का श्रेष्ठ अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्ध किया जाये जिसमें विशेष आहरण अधिकारों (Special Drawing Rights) को मुख्य भूमिका देकर स्वर्ण और सुरक्षित मुद्राओं के अनावश्यक महत्व को समाप्त किया जाये।

(2) असन्तुलन पैदा करने वाले पूँजी-प्रवाहों के विरुद्ध विभिन्न राष्ट्रों के बीच सहयोग की भावना विकसित की जाये।

(3) विनिमय दर संयंत्र की भूमिका को और अधिक महत्वपूर्ण बनाने हेतु इसके समता-मूल्यों (Par values) में परिस्थितियों के अनुसार एक निश्चित सीमा तक परिवर्तन की अनुमति दी जाये।

(4) असन्तुलन की स्थिति में सुधार का दायित्व सभी देशों को दिया जाये और इसके लिए परिवर्तनशीलता की उपयुक्त सीमा तथा स्वरूप निश्चित किया जाये।

(5) परिवर्तनशीलता, भुगतान समायोजन और अन्तर्राष्ट्रीय तरलता के बीच संबंधों में निश्चितता हो।

(6) विकासशील देशों को अधिक मात्रा में वास्तविक साधनों के हस्तान्तरण के लिए प्रयत्न किये जायें।

भारत का दृष्टिकोण (India's Out-look)

कमेटी ऑफ ट्वेण्टी द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में सुधार हेतु प्रस्तुत की गई प्रथम रूपरेखा पर भारत का दृष्टिकोण तत्कालीन वित्तमंत्री वाय.बी. चव्हाण ने प्रस्तुत किया। उनका मत था कि अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्था विकासशील देशों की अपेक्षाओं की पूर्ति उस स्थिति में ही कर सकती है जबकि विकसित और औद्योगिक राष्ट्र विकासशील राष्ट्रों की समस्याओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण रखें। उन्होंने कहा कि भुगतान सन्तुलन के समायोजन की प्रक्रिया को सार्थक बनाने के लिए यह जरूरी है कि उसका आर्थिक विकास की प्रक्रिया, रोजगार तथा विदेशी व्यापार के स्तर पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़े। वित्त मंत्री ने नयी मौद्रिक व्यवस्था में विकासशील देशों को उनके क्षेत्रफल, जनसंख्या एवं संख्या को दृष्टिगत करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विश्व बैंक की निर्णय प्रक्रिया में अधिक महत्व देने की आवश्यकता पर बल दिया।

1976 की नयी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली
(New International Monetary System)

कमेटी ऑफ ट्वेण्टी की अंतिम बैठक जून 1974 को वाशिंगटन में सम्पन्न हुई। कमेटी की रिपोर्ट "An Outline of Monetary Reform" की जाँच मुद्रा कोष के प्रकाशक मण्डल की अन्तरिम समिति द्वारा जनवरी 1976 में किंगस्टन में की गई। इसके परिणामस्वरूप नयी अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली सामने आयी जिसकी मुख्य विशेषताएँ निम्नानुसार हैं-

(1) समिति के सुझावों के अनुसार स्वर्ण का अधिकृत मूल्य समाप्त कर दिया गया।

(2) समिति ने विशेष आहरण अधिकारों (SDRs) को मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय रिजर्व के रूप में स्वीकार करने का सुझाव दिया।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का 1/6 भाग स्वर्ण बाजार मूल्य पर विक्रय किया गया तथा इस राशि से भुगतान शेष घाटे के शिकार विकासशील देशों की सहायता हेतु एक प्रयोग ट्रस्ट कोष बनाया गया।

(4) सदस्य देशों की मुद्राओं का समता मूल्य SDR में व्यक्त करते हुए SDRs को मुख्य रिजर्व के रूप में स्वीकार किया गया।

(5) समिति ने सदस्य देशों को स्वर्ण में अभ्यंश जमा नहीं करने का निर्णय भी लिया।

(6) सदस्य देशों के अभ्यंश में 32.5 प्रतिशत की वृद्धि की गई तथा अभ्यंश की समीक्षा अवधि 5 वर्ष के स्थान पर 3 वर्ष कर दी गई।

NOTES

(7) समिति ने माना कि मुद्रा कोष का अभ्यंश तरलता में वृद्धि करने के उद्देश्य से बढ़ाया गया है, अतः सदस्य राष्ट्र ऐसी व्यवस्था करें जिससे उनकी मुद्राएँ कोष के लेन-देन में प्रयुक्त करने योग्य हों। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने स्वतंत्र रूप से प्रयोग करने योग्य मुद्रा की अवधारणा को विकसित किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सुधारों पर भारत का दृष्टिकोण

भारत ने कमेटी ऑफ ट्वेण्टी की सिफारिशों से सहमति व्यक्त करने के बावजूद विकासशील देशों के हितों को ध्यान में रखते हुए कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर संशोधनों की माँग की थी। जून 1974 में भारत के तत्कालीन वित्त मंत्री ने विकासशील देशों की मतदान शक्ति तथा उनके अंशदान में वृद्धि करने तथा वास्तविक साधनों के हस्तान्तरण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक की संयुक्त समिति बनाने की स्थिति में ही कमेटी की सिफारिशों का पूर्ण समर्थन करने का मत व्यक्त किया। भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) द्वारा SDRs पर ली जाने वाली ब्याज दरों को बढ़ाने संबंधी प्रस्ताव को विकासशील देशों के हितों के प्रतिकूल तथा भेदभावपूर्ण बताया। भारत ने चेतावनी देते हुए कहा कि विश्व की मौजूदा परिस्थितियाँ विकासशील देशों के हित में नहीं हैं तथा अनेक देश गम्भीर भुगतान असाम्यता के शिकार हो सकते हैं। इस स्थिति में इन देशों के सामने व्यापार पर कड़े नियन्त्रण लगाने के अलावा और कोई उपाय शेष नहीं बचेगा। अतः भारत ने विकासशील देशों की समस्याओं के प्रति विकसित देशों द्वारा सहानुभूतिपूर्वक विचार करने की माँग की।

भारत ने खनिज तेल एवं कच्चे माल की बढ़ती हुई कीमतों के विकासशील देशों पर पड़ रहे कुप्रभावों को ध्यान में रखते हुए कमेटी के सुझावों में विकासशील देशों की विशिष्ट भुगतान समस्याओं एवं उनके कारणों की उपेक्षा करने पर चिन्ता व्यक्त की। भारत ने मुद्रा कोष के अभ्यंशों का आवंटन किसी देश के विकास कार्यक्रमों, भुगतान सन्तुलन की स्थिति तथा उसके ऋण एवं ब्याज के आधार पर करने का सुझाव दिया। अक्टूबर 1976 की मनीला बैठक में भारत ने पुनः अन्तर्राष्ट्रीय तरलता में वृद्धि हेतु मुद्रा कोष के अभ्यंश बढ़ाने के साथ ही विकसित देशों द्वारा गरीब देशों को दी जाने वाली आर्थिक सहायता में उदारतापूर्ण रवैया अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया। संक्षेप में भारत ने विभिन्न मंचों पर अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली में सुधार हेतु प्रस्तुत सुझावों में विकासशील देशों की विशिष्ट समस्याओं को जोरदार ढंग से उठाया है।

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

1. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के उद्देश्यों तथा संगठन व्यवस्था को समझाइए।
2. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष क्या है? इसके प्रमुख कार्यों की विवेचना कीजिए।
3. "अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष असफल हो गया जबकि इसे सफल होना चाहिए था।" व्याख्या कीजिए।
4. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सफलताओं और असफलताओं का परीक्षण कीजिए।
5. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से भारत को होने वाले लाभों का वर्णन कीजिए।
6. निम्नलिखित पर संक्षेप में टिप्पणी लिखिए –
   1. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की उपलब्धियाँ एवं असफलताएँ
   2. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष एवं विकासशील देश
   3. भारत और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
   4. अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक प्रणाली के सुधार एवं भारत

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

विदेशी निवेश एवं सहयोग
(FOREIGN INVESTMENT AND COLLABORATION)

विदेशी पूँजी का महत्व
(Importance of Foreign Capital)

पिछड़े एवं विकासशील देशों के आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी का महत्वपूर्ण स्थान है। इन देशों में पूँजी के अभाव के कारण निवेश की दर कम रहती है और परिणामस्वरूप रोजगार, उत्पादन एवं आय वृद्धि का स्तर भी न्यूनतम रहता है। भारत में भी विकास की धीमी दर के रहने का प्रमुख कारण पूँजी की कमी है। पूँजी की इस कमी को विदेशी पूँजी प्राप्त करके दूर किया जा सकता है। भारत जैसे विकासशील देश के संदर्भ में विदेशी पूँजी के महत्व एवं आवश्यकता को निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

1. निवेश दर में वृद्धि—भारत जैसे विकासशील देशों में गरीबी के कारण बचत एवं निवेश की दर धीमी रहती है जबकि तीव्र विकास के लिये इसमें वृद्धि आवश्यक है। इस कमी को विदेशी पूँजी के द्वारा दूर किया जा सकता है।

2. आधुनिक तकनीक की प्राप्ति—तीव्र विकास के लिये उन्नत तकनीक की आवश्यकता होती है। विदेशी पूँजी की सहायता से इस कमी को पूरा किया जा सकता है। इससे औद्योगिक उत्पादन में तेजी से वृद्धि करना सम्भव होता है।

3. आधारभूत संरचना का विकास—आर्थिक विकास के लिये सड़कें, रेल, विद्युतशक्ति, सिंचाई जैसी आधारभूत सुविधाओं की आवश्यकता होती है, किन्तु पूँजी एवं तकनीकी ज्ञान के अभाव में इन सुविधाओं का विकास सम्भव नहीं होता। विदेशी पूँजी की सहायता से आधारभूत संरचना का विकास सम्भव होता है।

4. प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग—प्रायः पिछड़े एवं विकासशील देशों में प्राकृतिक संसाधन तो होते हैं किन्तु उनका समुचित विदोहन नहीं होता। विदेशी पूँजी की उपलब्धता से इन संसाधनों का उपयोग करके रोजगार, उत्पादन एवं आय में वृद्धि सम्भव होती है।

5. प्रारम्भिक जोखिम—पिछड़े एवं विकासशील देशों में जोखिम उठाने वाले उद्यमियों का अभाव होता है और इसके कारण विकास की दर धीमी रहती है। विदेशी पूँजी के पक्ष में यह तर्क दिया जाता है कि वह इन देशों में पहुँच कर प्रारम्भिक जोखिम को उठाते हैं।

6. भुगतान संतुलन के घाटे को पूरा करना—पिछड़े एवं विकासशील देशों में विकास के लिये बड़ी मात्रा में विदेशी मशीनों, तकनीकी ज्ञान, कच्चे माल आदि की आवश्यकता होती और इन्हें आयातों के द्वारा प्राप्त किया जाता है। इसमें भुगतान संतुलन घाटे का हो जाता है। विदेशी पूँजी के द्वारा इस घाटे की पूर्ति सम्भव होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पिछड़े एवं विकासशील देशों के आर्थिक विकास में विदेशी पूँजी का महत्वपूर्ण स्थान है।

विदेशी पूँजी के प्रकार
(Types of Foreign Capital)

विदेशी पूँजी की उपलब्धता तीन प्रकार से होती है, यथा— (1) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (Direct Foreign Investment), (2) एक सरकार से दूसरी सरकार को ऋण और (3) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से ऋण। इसका विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है—

1. प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (Direct Foreign Investment)—प्रत्यक्ष निजी विदेशी निवेश से आशय एक देश की निजी विदेशी संस्थाओं द्वारा दूसरे देश की निजी या सार्वजनिक संस्थाओं में किये जाने वाले निवेश से है। प्रत्यक्ष निजी विदेशी निवेश दो प्रकार का होता है, यथा—(अ) प्रत्यक्ष विदेशी निवेश (Direct Foreign Investment) और (ब) पोर्ट फोलियो विनियोग (Portfolio Investment)।

प्रत्यक्ष विदेशी विनियोग में विदेशी पूँजीपतियों का कम्पनियों का देशी उद्यम पर स्वामित्व के साथ-साथ प्रबंधकीय नियंत्रण भी स्थापित हो जाता है। इसके विपरीत पोर्टफोलियो निवेश में विदेशी पूँजीपतियों का स्वामित्व तो हो जाता है, किन्तु प्रभुत्व एवं नियंत्रण उस देश का ही रहता, जहाँ कम्पनी स्थापित हुई है।

2. एक सरकार से दूसरी सरकार के ऋण—इस प्रकार के विदेशी पूँजी प्रवाह में एक देश की सरकार दूसरे देश की सरकार को ऋण प्रदान करती है। ये ऋण परस्पर राजनैतिक एवं व्यापारिक संबंधों के आधार पर दिये जाते हैं। ये ऋण दो प्रकार के होते हैं, यथा—(अ) उदार ऋण (Soft Loan), जिन पर ब्याज दर कम होती है तथा ऋण की शर्तें भी उदार रहती हैं। (ब) अनुदार या कठोर ऋण (Hard Loan) ये ऋण अपेक्षाकृत अधिक ब्याज दर पर तथा सीमित अवधि के लिये दिये जाते हैं। इन्हें व्यापारिक ऋण भी कहा जाता है।

3. अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा ऋण (Loan from International Institutions)—वर्तमान में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं जो पिछड़े एवं विकासशील देशों को ऋण के रूप में विदेशी मुद्रा उपलब्ध कराती हैं। ये ऋण भी सामान्यतः दो प्रकार के होते हैं, यथा उदार ऋण और अनुदार ऋण। उदार ऋणों की शर्तें उदार होती हैं तथा ब्याज दर भी कम रहती। इनकी अवधि भी लम्बी होती है। इसके विपरीत, अनुदार ऋण ऊँची ब्याज दर पर दिये जाते हैं तथा इनकी शर्तें भी कठोर होती हैं।

विदेशी निवेश एवं सरकारी नीति
(Foreign Investment and Government Policy)

सन् 1991 की औद्योगिक नीति के पूर्व विदेशी पूँजी सीमित मात्रा में ही भारत आई। इसका कारण अनेक नियंत्रणों का होना है। इस नीति के पूर्व विदेशी निवेश की अनुमति आमतौर पर उन्हीं क्षेत्रों में दी जाती थी जिनमें घरेलू पूँजी की कमी होती थी। इसके विपरीत, व्यापारिक क्षेत्रों, बागान, बैंकिंग तथा वित्तीय संस्थाओं में विदेशी निवेश की अनुमति नहीं दी जाती थी। विदेशी निवेश की अनुमति उन क्षेत्रों में भी नहीं दी जाती थी जिन्हें सरकारी संरक्षण प्राप्त था।

विदेशी निवेश के संदर्भ में सबसे क्रान्तिकारी कदम जुलाई, 1991 में घोषित नई औद्योगिक नीति में उठाया गया। इस नीति में विदेशी निवेश को प्रोत्साहित करने के लिये कई कदम उठाये गये। सन् 1991 के बाद के वर्षों में भी इस दिशा में कुछ और रियायतें प्रदान की गईं। सन् 1991 में सरकार ने उच्च प्राथमिकता वाले उद्योगों की एक सूची तैयार की, जिनमें सीधे विदेशी निवेश के लिये 51 प्रतिशत विदेशी अंशपूँजी (Foreign Equity) की अनुमति दी गई। इस सूची में 35 उद्योग रखे गये। सन् 1996 में इस सूची में उद्योगों की संख्या को 51 कर दिया गया। 9 प्राथमिकता वाले उद्योगों में विदेशी अंशपूँजी की सीमा 74 कर दी। सन् 1991 से पूर्व सरकार होटलों के अलावा अन्य सेवा क्षेत्रों में विदेशी अंशपूँजी को हतोत्साहित करती थी। सन् 1991 की नीति में विदेशी कम्पनियों को 51 प्रतिशत अंशपूँजी को स्वीकृति प्रदान की गई। इसे होटलों के साथ-साथ अन्य पर्यटन संबंधी क्षेत्रों में भी लागू किया गया।

वर्ष 1998-99 में विदेश निवेश को प्रोत्साहित करने के लिये कई उपायों की घोषणा की गई। ये घोषणाएँ निम्न प्रकार हैं—

(i) विद्युत उत्पादन, पारेषण (Transmission) और वितरण तथा सड़क, पत्तन व बन्दरगाहों में 100 प्रतिशत इक्विटी भागीदारी की अनुमति दी गई।

(ii) उपग्रह के माध्यम से सार्वभौम चल वैयक्तिक संचार सेवायें (Global Mobile Personal Communication by Satellite Services) उपलब्ध कराने वाली कम्पनियों को लाइसेंस की शर्त के साथ, कुल इक्विटी के 49 प्रतिशत तक के विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की अनुमति दी गई।

(iii) अनिवासी भारतीयों एवं समुद्रपारीय नियमित निकायों को असूचीबद्ध कम्पनियों में निवेश की छूट दी गई।

दिसम्बर, 1999 में बीमा नियामक एवं विकास अधिनियम (Insurance Regulatory & Development Act) संसद द्वारा पारित किया गया यह अधिनियम बीमा क्षेत्र में निजी क्षेत्र की भागीदारी को प्रोत्साहित करने के लिये किया गया है। इस अधिनियम में यह व्यवस्था है कि घरेलू निजी बीमा कम्पनियाँ अपनी कुल चुकता पूँजी के 26 प्रतिशत तक विदेशी इक्विटी भागीदारी कर सकती हैं।

विदेशी निवेश को प्रोत्साहित करने के लिये 2000-2001 में कई महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये। कुछ प्रमुख निर्णय निम्न प्रकार हैं—

(i) बिजनेस से बिजनेस ई-कामर्स के लिये 100 प्रतिशत विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की अनुमति दी गई।

(ii) विद्युत उत्पादन, पारेषण और वितरण में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश पर जो 1500 करोड रुपये की अधिकतम सीमा निर्धारित की गई थी, उसे समाप्त कर दिया गया।

(iii) तेल शोधन सेक्टर में विदेशी निवेश की सीमा 100 प्रतिशत कर दी गई।

(v) पूंजी गारंटीकरण खत्म व स्वतः अनुमोदन का रास्ता खोल दिया गया।

9 मई, 2001 को घोषित नीति में सरकार ने विदेशी प्रत्यक्ष निवेश को कई और रियायतें व छूटें प्रदान की हैं। इनमें से प्रमुख हैं—

(i) स्वतः अनुमोदित माध्यम से अब दवाइयों के क्षेत्र में 100 प्रतिशत तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति दी गई। पहले यह सीमा 74 प्रतिशत थी।

(ii) एयर पोर्ट सेक्टर में 100 प्रतिशत तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति दी गई। पहले यह सीमा 74 प्रतिशत थी।

(iii) होटल व टूरिज्म क्षेत्र में प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की सीमा को 51 प्रतिशत से बढ़ाकर 100 प्रतिशत कर दिया गया।

(iv) कोरियर सेवा में 100 प्रतिशत विदेशी प्रत्यक्ष निवेश की अनुमति दी गई।

(v) व्यापक रैपिड परिवहन प्रणाली (Mass Rapid Transport System) में 100 प्रतिशत तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति दी गई।

(vi) इंटरनेट सेवा प्रदायकों के लिये प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की सीमा को 49 प्रतिशत से बढ़ाकर 74 प्रतिशत कर दिया गया है।

(vii) बैंकिंग सेक्टर में रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित शर्तों के अधीन, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की सीमा को 20 प्रतिशत से बढ़ाकर 49 प्रतिशत कर दिया गया।

(viii) सुरक्षा सेक्टर (Defence Sector) में 26 प्रतिशत तक प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की अनुमति दी गई।

भारत में विदेशी पूँजी निवेश
(Foreign Capital Investment in India)

भारत में नई आर्थिक नीति-1991 जिसका मुख्य उद्देश्य उदारीकरण था, के बाद विदेशी पूँजी निवेश में तेजी से वृद्धि हुई है। इस नीति के बाद जहाँ प्रत्यक्ष विदेशी निवेश की राशि में वृद्धि हुई, वहीं पोर्ट-फोलियो निवेश की मात्रा में वृद्धि हुई। वर्ष 1991-92 से 2001-2002 तक प्राप्त विदेशी पूँजी निवेश का तुलनात्मक विवरण तालिका-एक में दर्शाया गया है।

तालिका - एक
भारत में विदेशी पूँजी निवेश

(करोड़ यू.एस. डालर)

	प्रत्यक्ष विनियोग	पोर्ट-फोलियो विनियोग	कुल
1991-92	12.9	0.4	13.3
1992-93	31.5	24.4	55.9
1993-94	58.6	356.7	415.3
1994-95	131.4	382.4	513.8
1995-96	214.4	274.8	289.2
1996-97	282.1	331.2	613.3
1997-98	355.1	182.8	538.5
1998-99	246.2	-6.1	240.1
1999-2000	215.5	302.6	518.1
2000-2001	233.9	276.0	509.9
2001-2002	390.4	202.1	592.5
योग	2172.6 (48.28)	2327.3 (51.72)	4499.9 (100.00)

स्रोत . योजना आयोग, प्रकाशित, आर्थिक समीक्षा, 2002-2003

तालिका-एक से स्पष्ट है कि 1991-92 से 2001-02 के 10 वर्षों में भारत में कुल 4499.9 करोड़ रु. यूएस डालर का विदेशी निवेश हुआ। कुल विदेशी निवेश में से 2172.6 करोड़ डालर या 48.28 प्रतिशत प्रत्यक्ष विनियोग के रूप में तथा शेष 2327.3 करोड़ डालर या 51.72 प्रतिशत पोर्ट-फोलियो विनियोग के रूप में हुआ है। निश्चित् ही आर्थिक उदारीकरण की यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

भारत में विदेशी सहयोग
(Foreign Collaborations in India)

किसी भी देश के आर्थिक विकास में विदेशी सहयोग की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विदेशी सहयोग से जहाँ तकनीकी ज्ञान, मशीनें, कच्चा माल एवं ब्राण्ड नाम प्राप्त होता है, वहीं तीव्र आर्थिक विकास के लिये एक वातावरण निर्मित होता है। भारत को विदेशी सहयोग अनेक स्रोतों से प्राप्त हुआ है, जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ, विदेशी सरकारें, बहुराष्ट्रीय निगमों आदि। इन सभी में बहुराष्ट्रीय निगमों की हिस्सेदारी विशेष महत्वपूर्ण रही है।

सामान्यत: भारतीय उद्योगपतियों द्वारा देश में उद्योग की स्थापना के पूर्व ही विदेशी उद्योगपतियों से समझौते किए हैं। विदेशी कम्पनियों के साथ भारतीय उद्योगपतियों के समझौतों तथा सहयोग की मात्रा कितनी अधिक रही है। इसका अन्दाज मात्र इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि आजादी के बाद बड़े या मध्यम औद्योगिक ग्रुप में जितने नए उद्योग स्थापित किए गए उनमें से लगभग सभी में किसी न किसी प्रकार का विदेशी सहयोग मौजूद रहा है। पिछले कुछ वर्षों में तो सरकारी नीति और ज्यादा उदार बना दी गई है जिसके परिणामस्वरूप विदेशी सहयोग की बाढ़ सी आ गई है। उदाहरण के लिए, 1948 से 1988 के बीच 40 वर्षों में किए गए कुल 12,760 विदेशी सहयोग के समझौतों में से 6,165 (अर्थात 48.3 प्रतिशत) 1981 से 1988 के बीच आठ वर्षों में किए गए। जुलाई-अगस्त 1991 में घोषित उदार विदेशी निवेश नीति के परिणामस्वरूप, विदेशी सहयोग समझौतों में तेज वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिए, अगस्त 1991 से नवंबर 2000 के बीच भारत सरकार ने 6,816 विदेशी प्रौद्योगिकी सहयोग प्रस्तावों (Foreign technology collaborations) तथा 11,874 विदेशी प्रत्यक्ष निवेश प्रस्तावों (Foreign direct investment Proposals) को स्वीकृति दी। इन विदेशी सहयोग प्रस्तावों में 2,42,601 करोड़ रुपए के विदेशी निवेश का प्रावधान था, परन्तु वास्तविक निवेश मात्र 85,381 करोड़ रुपए रहा।

विदेशी उद्योगपतियों एवं बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से हुए इन समझौतों से निश्चित ही देश में औद्योगीकरण को गति मिली एवं अनेक आधुनिक उद्योगों की स्थापना भी हुई। इससे देश में उपभोक्ता वस्तुओं के साथ-साथ पूँजीगत सामान एवं निर्यात मूलक वस्तुओं का बड़ी मात्रा में उत्पादन हुआ। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि विदेशी सहयोग ने भारतीय अर्थव्यवस्था को विनिधिकृत बनाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

किन्तु यह मानना कि सभी विदेशी समझौते एवं उनके द्वारा प्राप्त सहयोग भारत के लिए आवश्यक थे, गलत है। कारण यह है कि बहुत सारे समझौते ऐसी वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए किए गए जो अनावश्यक थी या जिनका उत्पादन घरेलू टेक्नोलोजी से भी आसानी से हो सकता था। इस सन्दर्भ में बहुत-सी वस्तुओं का नाम लिया जा सकता है जैसे वैक्यूम फ्लास्क (थरमस), लिपिस्टिक, टूथपेस्ट, कास्मैटिक्स, आइसक्रीम, बियर, बिस्कुट, रैडिमेड कपड़े इत्यादि। न केवल इन वस्तुओं के लिए विदेशी सहयोग के समझौतों को मंजूरी दी गई अपितु एक ही वस्तु के उत्पादन के लिए अलग-अलग उद्योगपतियों को अलग-अलग विदेशी कंपनियों से सहयोग करने की अनुमति भी दी गई। विदेशी सहयोग की अवधि समाप्त होने पर उनका दोबारा से नवीकरण (renewal) भी अक्सर किया गया। स्पष्ट है कि विदेशी सहयोग के सभी समझौते एक समान आधार पर नहीं किए गए। आलोचकों का मत है कि इन विदेशी सहयोग के समझौते में निम्नलिखित प्रमुख कमियाँ रहीं :-

(i) देश के उद्योगपतियों द्वारा अलग-अलग स्रोतों से एक समान टेक्नोलोजी के अनेक समझौते किए हैं, जबकि किसी एक समझौते के द्वारा ही सम्पूर्ण टेक्नोलोजी प्राप्त की जा सकती थी। इससे विदेशी मुद्रा के भुगतान पर बहुत अधिक भार पड़ा।

(ii) विदेशी सहयोग के सन्दर्भ में आलोचकों का मत है कि समझौतों की शर्तें अक्सर विदेशियों के अनुकूल व हमारे हितों के प्रतिकूल रही हैं। इसके मुख्य कारण भारतीय उद्योगपतियों की कमजोर सौदा-शक्ति तथा विदेशी विनिमय के संकट के कारण सरकार की विदेशी सहयोग प्राप्त करने की तत्परता थी।

(iii) भिन्न-भिन्न कम्पनियों द्वारा एक ही जैसी वस्तुओं की टेक्नोलोजी का अलग-अलग स्रोतों व देशों से आयात करने के कारण कई तरह के कलपुर्जों, डिजाइनों, कच्चा माल इत्यादि की आवश्यकता बढ़ गई। इसलिए इनके उत्पादन के लिए या फिर इनका स्टॉक रखने के लिए व्यवस्था करनी पड़ी है जिससे साधनों का अपव्यय हुआ है।

(iv) सहयोगियों पर छोड़ दिया गया था, इसलिए न केवल उन्होंने मनमानी कीमतें लगाईं अपितु कई बार आवश्यकता से अधिक सामान का आयात किया गया। कुछ उद्योगों द्वारा तो स्थानीय विकल्प होने के बावजूद भी उपकरणों का आयात किया गया। कई समझौतों में तो विदेशी कम्पनियों ने पुरानी पड़ चुकी तकनीकी ही सौंप दी। इससे देश को विदेशी मुद्रा की हानि हुई है।

NOTES

(v) इन विदेशी सहयोग के समझौतों से देश में आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण कुछ ही औद्योगिक घरानों के हाथ में हो गया।

(vi) विदेशी कम्पनियों के साथ किए गए समझौतों में जो दीर्घकालीन कल-पुर्जों की पूर्ति, तकनीकी हस्तान्तरण, सेवा शर्तें आदि भी भारत के हित में न होकर विदेशी कम्पनियों के हित में थी।

विश्व में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश
(Foreign Direct Investment)

अंकटाड द्वारा प्रकाशित आँकड़ों के अनुसार वर्ष 2001 में सम्पूर्ण विश्व में कुल 735146 मिलियन डालर का प्रत्यक्ष निवेश हुआ। इस निवेश राशि में से विश्व के विकासशील देशों को केवल 28 प्रतिशत राशि प्राप्त हुई। एशिया को तो विश्व का केवल 14 प्रतिशत या 102066 मिलियन डालर प्राप्त हुए। चुनिंदा एशियाई देशों को प्राप्त विदेशी प्रत्यक्ष निवेश का विस्तृत तुलनात्मक विवरण तालिका-दो में दर्शाया गया है :

तालिका-दो
चुनिंदा एशियाई अर्थव्यवस्थाओं में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश अंतर्प्रवाह

(मिलियन अमेरिका डालर)

	1996	1998	1999	2000	2001
विश्व	386140	694457	1088263	1491934	735146
विकसित अर्थव्यवस्थाएँ	219908	484239	837761	1227476	503144
विकासशील अर्थव्यवस्थाएँ	152685	187611	225140	237894	204801
एशिया	93331	96109	102779	133707	102066
दक्षिण, पूर्वी तथा दक्षिण पूर्व एशिया	87843	86252	99990	131123	94365
क. चीन	40180	43751	40319	40772	46846
ख. भारत	2525	2633	2168	231	3403
ग. इंडोनेशिया	6194	-356	-2745	-4550	-3277
घ. कोरिया	2325	5412	9333	9283	3198
ड. मलेशिया	7296	2714	3895	3788	554
च. फिलीपींस	1520	1752	578	1241	1792
छ. सिंगापुर	8608	6389	11803	5407	8609
ज. थाईलैंड	2271	5143	3561	2813	3759

स्रोत : विश्व निवेश रिपोर्ट (डब्ल्यू आई आर) 2002, अंकटाड

तालिका-दो में विदेशी प्रत्यक्ष निवेश (एफ.डी.आई.) की तुलनात्मक जानकारी को दर्शाया गया है।

एफ.डी.आई. अंतर्प्रवाह मेजबान देश की अर्थव्यवस्था में विदेशी निवेशक समुदाय के दीर्घावधि जोखिमों का संकेतक है। चुनिंदा मेजबान देशों को अर्थव्यवस्थाओं में एफ.डी.आई. अंतर्प्रवाहों का समय-वार ब्यौरा तालिका-दो में दिया गया है। वर्ष 2001 में विकासशील एशिया का हिस्सा कुल वैश्विक एफडीआई अंतर्प्रवाहों में 14 प्रतिशत है। चीन विकासशील एशिया में एफडीआई अंतर्प्रवाहों का सर्वाधिक प्राप्तकर्ता है और उसका विकासशील एशिया के कुल एफडीआई में हिस्सा वर्ष 1996 के 43 प्रतिशत से बढ़कर वर्ष 2001 में लगभग 46 प्रतिशत हो गया है। भारत, यद्यपि एफडीआई अंतर्प्रवाहों को आकर्षित करने में चीन से पीछे है, फिर भी उसने एशिया की विकासशील अर्थव्यवस्थाओं

NOTES

के कुल एफडीआई अंतर्प्रवाहों के अपने हिस्से में जो वर्ष 1996 में 2.7 प्रतिशत से बढ़कर वर्ष 2001 में 3.3 प्रतिशत हो गए, मामूली सुधार किया। इस प्रकार वर्ष 2001-02 में भारतीय अर्थव्यवस्था में एफडीआई अंतर्प्रवाहों की मात्रा में तीव्र वृद्धि निवेश लक्ष्य के रूप में इसकी बढ़ती आकर्षण क्षमता को रेखांकित करती है।

बहुराष्ट्रीय निगम
(Multinational Corporations)

अर्थ (Meaning)—बहुराष्ट्रीय निगम या कम्पनी से आशय एक ऐसी व्यावसायिक कम्पनी से है जो एक से अधिक देशों में फैली होती है और जिसका उत्पादन और सेवा सुविधायें उस देश के बाहर अनेक देशों में होती हैं जिसमें यह जन्म लेती हैं। आई.बी.एम. वर्ल्ड ट्रेड कॉरपोरेशन के अध्यक्ष के अनुसार "एक बहुराष्ट्रीय निगम वह है जो (i) अनेक देशों में कार्य करता है; (ii) उन सभी देशों में अनुसंधान, विकास एवं निर्माण का कार्य करता है; (iii) जिसका बहुराष्ट्रीय प्रबंध होता है; और (iv) जिसका स्कन्ध स्वामित्व बहुराष्ट्रीय होता है।" संक्षेप में, "बहुराष्ट्रीय निगम एक ऐसा उद्यम होता है जिसकी क्रियायें अपने देश से बाहर अनेक देशों तक फैली रहती हैं।" ऐसे निगमों को अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनी या बहुराष्ट्रीय कम्पनी या निगम या राष्ट्रपारीय निगम (Trans-national Corporations) के नाम से जाना जाता है।

वर्तमान में भारत में अनेक बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ कार्यरत हैं, उदाहरणार्थ—हिन्दुस्तान लीवर (Hindustan Lever) जो साबुन एवं डालडा भी बनाती है, ग्लैक्सो (Glaxo) दवाई बनाने वाली कम्पनी, पौण्ड्स (Ponds) चेहरे की क्रीम बनाने वाली कम्पनी आदि।

विशेषताएँ (Features)—बहुराष्ट्रीय निगमों की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं—

(i) विश्व स्तर पर आर्थिक शक्ति का केन्द्रीकरण—अन्तर्राष्ट्रीय निगमों के उदय एवं विकास से उत्पादन और निवेश का भी अन्तर्राष्ट्रीकरण हुआ है। इसके फलस्वरूप विश्व बाजार में आर्थिक शक्ति के केन्द्रीकरण का विकास होता है।

(ii) विस्तृत कार्य क्षेत्र—इस प्रकार की कम्पनियाँ लगभग सभी विकसित देशों में पाई जाती है और इनका व्यापार अनेक पिछड़े एवं विकासशील देशों में फैल चुका है। समाजवादी देश भी इनकी पहुँच के बाहर नहीं हैं।

(iii) विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार की संस्थाओं के माध्यम से कार्य करती हैं—विकासशील देशों में यह निगम अपनी नियंत्रित कम्पनी या कम्पनियों, जिन पर उनका पूरा स्वामित्व होता है, के माध्यम से कार्य करती हैं। कभी-कभी ये कम्पनियाँ दूसरे देशों की कम्पनियों के साथ मिलकर संयुक्त उद्यम भी स्थापित कर लेती हैं या विभिन्न देशों की कम्पनियों के साथ उत्पादन और बाजार आदि के संबंध में समझौता कर लेती हैं।

(iv) विविध कार्यकलाप—भारत में बहुराष्ट्रीय निगम औषधीय उद्योग, विद्युत, मशीनरी और रसायन, एल्यूमीनियम धातु और उत्पाद, भारी इंजीनियरी सामान आदि उद्योगों में कार्यरत हैं।

बहुराष्ट्रीय निगमों से लाभ
(Advantages from Multinational Corporation)

भारत जैसे विकासशील देशों को बहुराष्ट्रीय निगमों से अनेक लाभ हुये हैं। इन निगमों से हो रहे प्रमुख लाभ निम्न प्रकार हैं—

1. विदेशी पूँजी और तकनीक—भारत जैसे विकासशील देशों के तीव्र आर्थिक विकास में सबसे बड़ी बाधा विदेशी पूँजी एवं उन्नत तकनीक की कमी है। बहुराष्ट्रीय निगम इन देशों को पूँजी एवं उन्नत तकनीक उपलब्ध कराते हैं। विदेशी पूँजी की सहायता से इन देशों में प्राकृतिक संसाधनों का दोहन सम्भव है जिससे रोजगार, उत्पादन एवं आय में वृद्धि के साथ-साथ निर्यात व्यापार में भी वृद्धि सम्भव है।

2. विपणन सुविधा—बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाली "विपणन सेवाओं" के द्वारा विकासशील देशों के उत्पादों का निर्यात सम्भव है। ये निगम बाजार संबंधी शोध, विज्ञापन, यातायात, विपणन संबंधी सूचनाओं आदि के द्वारा विकासशील देशों के उत्पादों का निर्यात व्यापार बढ़ाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

3. शोध एवं विकास—किसी भी देश के आर्थिक विकास में शोध एवं विकास का विशेष महत्व है। साधनों की सीमितता के कारण पिछड़े एवं विकासशील देशों में शोध एवं विकास का कार्य बहुत सीमित है। बहुराष्ट्रीय निगम इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। भारत जैसे अनेक देशों को यह लाभ प्राप्त हुआ है।

4. साधनों का विदोहन—विकासशील देशों में प्राकृतिक संसाधन तो उपलब्ध रहते हैं किन्तु उनका समुचित उपयोग नहीं होता। बहुराष्ट्रीय निगम अपने संसाधनों के द्वारा इन स्रोतों का विदोहन करने में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।

और परिणामस्वरूप ये देश भयावह बेरोजगारी एवं अदृश्य बेरोजगारी से पीड़ित हैं। इन देशों में श्रम अधिक और पूँजी कम होती है। बहुराष्ट्रीय निगम इस श्रम का उपयोग करके अर्थव्यवस्था को गति प्रदान कर सकती और वृहत स्तर पर रोजगार उपलब्ध करा सकते हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि विकासशील देशों के तीव्र आर्थिक विकास में बहुराष्ट्रीय निगम महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकती है। भारत जैसे अनेक विकासशील देशों में इन निगमों ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

बहुराष्ट्रीय निगमों के भारतीय अर्थव्यवस्था पर हानिकारक प्रभाव
(Harmful effects of the Operations of MNC's on Indian Economy)

भारत में बहुराष्ट्रीय निगमों ने तकनीकी से संबंधित अनेक समझौते किये हैं। भारतीय कम्पनियों के सहयोग का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि आजादी के बाद बड़े एवं मध्यम औद्योगिक समूह में जितने नये उद्योग स्थापित किये गये हैं उनमें से लगभग सभी ने किसी न किसी प्रकार का विदेशी सहयोग किया है। सन् 1991 के बाद उदार आर्थिक नीति के परिणामस्वरूप विदेशी सहयोग के समझौतों में तेजी से वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिये 1991 से 2000 के मध्य भारत सरकार के 6,816 विदेशी प्रौद्योगिकी सहयोग प्रस्तावों (Foreign Technology Collaborations) तथा 11,874 विदेशी प्रत्यक्ष निवेश प्रस्तावों (Foreign Direct Investment Proposals) को स्वीकृति दी गई। इन विदेशी सहयोग प्रस्तावों में 2,42,601 करोड़ रुपये के विदेशी निवेश का प्रावधान था, किन्तु वास्तविक निवेश 85,381 करोड़ रुपये रहा। किन्तु विदेशी सहयोग के समझौते सदैव लाभप्रद नहीं रहते। बहुराष्ट्रीय निगमों के भारत में प्रवेश से अर्थव्यवस्था पर अनेक हानिकारक प्रभाव पड़े हैं। कुछ महत्वपूर्ण हानिकारक प्रभाव निम्न प्रकार हैं—

1. लाभांश तथा रायल्टी की अदायगी (Payments of Dividends and Royalty)—बहुराष्ट्रीय निगम प्रतिवर्ष करोड़ों रुपये लाभांश, ब्याज, रायल्टी, तकनीकी सेवओं के लिये शुल्क तथा तकनीशियनों के वेतन तथा भत्ते के रूप में विदेशों को भेजते हैं। एक अध्ययन के अनुसार विदेशी निजी निगम अपने लाभांशों का लगभग 60 प्रतिशत हिस्सा विदेशों को भेजते हैं।

2. आर्थिक संरचना का विरूपण (Distortion of Economic Structure)—कुछ आलोचकों का मत है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ आर्थिक विकास के स्थान पर अर्थव्यवस्था के स्वरूप को असंगत कर देती हैं जो कि विकासशील देशों के हित में नहीं रहता। उदाहरणार्थ, बहुराष्ट्रीय निगम अनुपयुक्त तथा विलासिता की वस्तुओं के उत्पादन पर जोर देती हैं जिससे केवल उच्च वर्ग की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

3. राजनैतिक हस्तक्षेप (Political Interference)—अपनी आर्थिक शक्ति के कारण बहुराष्ट्रीय निगम राजनैतिक दृष्टि से भी सबल होते हैं और इस कारण वे विकासशील एवं पिछड़े देशों की नीतियों एवं निर्णयों को प्रभावित करने में सफल हो जाते हैं। यही कारण है कि अल्पविकसित देशों में बहुराष्ट्रीय निगमों की गतिविधियों को शंका की दृष्टि से देखा जाता है और उन पर नियंत्रण लगाने के लिये कानून बनाये जाते हैं।

4. तकनीकी सहायता हमेशा विकास में सहायक नहीं होती (Technology Transfer not always conductive to Development)—प्रायः यह देखा गया है कि बहुराष्ट्रीय निगम सर्वोत्तम तकनीक का अन्तरण विकासशील देशों को नहीं करते वरन् पुरानी व प्रयोग न आने वाली तकनीक का अन्तरण करते हैं। इसके साथ अपनी मजबूत मोलभाव की शक्ति के कारण ये निगम कड़ी शर्तों पर तकनीकी का अन्तरण करते हैं। प्रायः बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा पूँजी प्रधान तकनीक का अन्तरण किया जाता है जो भारत जैसे विकासशील देशों के लिये उपयुक्त नहीं होती।

5. समझौतों की शर्तें—प्रायः यह देखा जाता है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की व्यापार की शर्तें अथवा पूंजी के अन्तरण की शर्तें विकासशील देशों के हित में नहीं होतीं। उदाहरण के लिये, डाबोल विद्युत परियोजना के लिये एनरॉन कम्पनी से हुये समझौते को लिया जा सकता है।

6. साधनों का अपव्यय—एक ही जैसी वस्तुओं की टेक्नोलॉजी का अलग-अलग स्रोतों एवं देशों से आयात करने के कारण कई तरह के कलपुर्जों, डिजाइनों, कच्चा माल, स्पेयर्स-पार्ट आदि की आवश्यकता बढ़ गई है। इसलिये इनके आयात करने या देश में ही इनका उत्पादन करने की व्यवस्था की जाती है। इससे विदेशी विनिमय के साथ-साथ उत्पादन के अन्य साधनों का अपव्यय होता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि बहुराष्ट्रीय निगम सदैव लाभकारी नहीं होती। इनसे गंभीर संकट भी पैदा हो जाता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि जो समझौते इन निगमों से किये जाते हैं उन्हें पूर्ण सतर्कता एवं सावधानी से किया जाये। यही कारण है कि इन कम्पनियों एवं निगमों पर नियंत्रण लगाने के लिये सन् 1973 में विदेशी मुद्रा विनिमय अधिनियम (FERA) पारित किया गया था, किन्तु बाद में सन् 1999 को इन नियंत्रणों को

NOTES

समाप्त करने के लिये विदेशी मुद्रा विनिमय प्रबंधन अधिनियम (Foreign Exchange Management Act or FEMA) पारित किया गया। इस अधिनियम का उद्देश्य विदेशी मुद्रा विनिमय का नियंत्रण न करके उसका युक्तियुक्त प्रबंधन करना है। आशा की जानी चाहिये कि इसके अच्छे परिणाम सामने आयेंगे।

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. वर्तमान परिवर्तनों के सन्दर्भ में विदेशी सहयोग पर एक विस्तृत लेख लिखिये।
2. "विदेशी सहायता पर अत्यधिक निर्भरता अल्प-विकसित देशों में विकास के लिए अवरोध बन जाती है।" भारत के आर्थिक विकास के प्रसंग में इस कथन का विवेचन कीजिए।
3. विदेशी सहायता की आवश्यकता पर निबन्ध लिखिए।
4. भारतवर्ष में विदेशी पूँजी की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए।
5. भारतवर्ष में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की भूमिका का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
6. भारतीय अर्थव्यवस्था में बहुराष्ट्रीय निगमों के योगदान की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
7. "नवीन आर्थिक नीति ने बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से वैश्वीकरण को बढ़ावा दिया है।" विवेचना कीजिये।
8. निम्नलिखित पर टिप्पणी लिखिये—
   (अ) बहुराष्ट्रीय निगम
   (ब) प्रत्यक्ष विदेशी निगम

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

तकनीकी पर्यावरण
(TECHNOLOGICAL ENVIRONMENT)

अवधारणा - विज्ञान, ज्ञान उपलब्ध करता है, प्रौद्योगिकी उसका उपयोग करती है। राष्ट्र का तकनीकी एवं प्रौद्योगिकी विकास उत्पादन की प्रणालियों, नई वस्तुओं, नये बाजार, नये कच्चे माल के स्रोत, नये यंत्र व उपकरण, नयी सेवाओं आदि को प्रभावित करता है। तकनीकी प्रगति के कारण ही उद्योगों में क्रान्ति संभव हुई है। तकनीकी विकास के क्षेत्र में निम्नलिखित परिवर्तन महत्वपूर्ण हैं जो उद्योग व व्यवसाय के स्वरूप को प्रतिदिन बदल रहे हैं -

(i) विभिन्न बीमारियों व उनके उपचार के ज्ञान में वृद्धि - पोलियो के टीके, गुर्दों का प्रत्यारोपण, संक्रामक रोगों का प्रति-जीवाणु उपचार आदि;

(ii) समूह व्यवहार के प्रति नयी समझ तथा उत्प्रेरण, समूह व्यवहार के नये प्रारूप व उन्नत प्रबंधकीय तकनीकें;

(iii) वस्तुओं के विश्लेषण के प्रति मानवीय संवेदन क्षमता में वृद्धि - रेडार, इलेक्ट्रॉन, माइक्रोस्कोप, दूर-दृष्टि उपकरण आदि;

(iv) उत्पादन प्रक्रियाओं का यन्त्रीकरण व स्वचालन;

(v) कच्चे माल के नये स्वरूप तथा वस्तुओं के गुणों (Properties) में विभिन्न परिवर्तन - नई धातुएँ, संश्लेषित पदार्थ, प्लास्टिक व नये रसायन;

(vi) विद्युत एवं आणविक शक्ति के उत्पादन, संचय एवं वितरण की विस्तृत क्षमता;

(vii) वस्तुओं के वितरण हेतु समय व दूरी पर नियंत्रण की योग्यता में वृद्धि।

भारत में तकनीकी की पर्यावरण
(Technological Environment in India)

भारत में तकनीकी पर्यावरण के प्रभावशाली तत्व निम्नांकित हैं :

(अ) आर्थिक प्रभाव (Economic Effects)

नवीन तकनीकी के बिना अर्थव्यवस्था का पुनर्जन्म संभव नहीं है। जितना अधिक विश्व-स्तरीय तकनीकी का विकास होगा, उतनी ही अर्थव्यवस्था नए आयामों के साथ मजबूत होगी। इस प्रभाव को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है -

1. **बढ़ती हुई उत्पादकता**- तकनीकी का प्रभाव गुणवत्ता और मात्रा, दोनों ही दृष्टि से उत्पादकता पर सकारात्मक होता है। उत्पादकता में वृद्धि होने पर जनता, कार्मिक, अधिकारी वर्ग, प्रशासन आदि की कार्यक्षमता में तो वृद्धि होती ही है, साथ ही, आधुनिक तकनीकी की ओर भी, ये वर्ग उन्मुख होते जाते हैं।

2. **नौकरियों में बौद्धिकता का प्रवेश** - तकनीकी के विकास के साथ-साथ, नौकरियाँ भी उन्नति के शिखर पर पहुँचने लगी हैं और नवीन अभिवृत्तियों को जन्म मिला है। जैसे, संगठन में एक लिपिक की नियुक्ति के लिए केवल शैक्षणिक योग्यता ही आवश्यकता नहीं है अपितु कम्प्यूटर भी अनिवार्यता बन गया है। इसी प्रकार, शिक्षित एवं अशिक्षित श्रमिक की चाह की अपेक्षा, शिक्षित एवं दक्ष व्यक्ति को प्राथमिकता दी जाती है।

3. **पुनः परिभाषित सीमाएँ** - जब भी तकनीकी परिवर्तन होता है तो वह व्यवसाय की सीमाओं को परिभाषित करने में औचित्यपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। ऐसे परिवर्तन के परिणामस्वरूप, औद्योगिक सीमाएँ लोचशीलता प्राप्त करते हुए, विस्तृत या संकीर्णता की स्थिति में आ जाती है। जैसे - वर्तमान सूचना एवं प्रौद्योगिकी के विकास के उपरान्त वित्तीय सेनाओं का पुराना सफल रचनात्मक आधार अप्रासंगिक हो गया है। इसके अतिरिक्त, दलाली सेवाएँ, बैंकिंग, वित्त, बीमा आदि का तो स्वरूप ही बदल गया है। अधिकांश उद्योगों में नवीन तकनीकी का प्रभाव पड़ने से कम्पनियों के व्यवसाय में भी परिवर्तन दिखाई पड़ता है। इसी कारण से, उत्पाद प्रतिस्थापन (Product subsitution) और उत्पाद विभिन्नता (Product differentiation) को बल मिलता है। उदाहरणार्थ, स्टील, ताबे और पीतल के कई उत्पादों के स्थान पर, श्रेष्ठ किस्म के प्लास्टिक अथवा ग्लास-फाइबर ने उनका स्थान ले लिया है।

कानूनों में परिवर्तन करते हुए, विभिन्न प्रकार के नियंत्रण लगाए हैं एवं इसी कारण से परिवर्तन का विरोध भी, कार्मिकों के मध्य देखने को मिला है। उदाहरण के तौर पर, जब बैंकिंग व्यवसाय, बीमा, रेलवे और बस-कार्यालयों में कम्प्यूटर का प्रयोग हुआ तो काफी विरोध प्रकट किया गया था किन्तु, धीरे-धीरे नवीन तकनीकी को अपनाते ही स्वतः विरोध के स्वर कम होते गए क्योंकि ऐसी तकनीक के परिणामस्वरूप स्वतः रोजगार के अवसरों में वृद्धि होती चली गई।

5. **तकनीकी संरचना की समस्याएँ** - तकनीकी-प्रबंधकीय योग्यता धारण करने वाले व्यक्ति, तकनीकी संरचना का निर्माण करते हैं अतः वे निर्णय प्रक्रिया में भी भागीदारी निभाते हैं जिससे कि तकनीकी स्तर पर सही निर्णय लिए जा सकें। नए कार्मिक अधिक पेशेवर और ज्ञानी होते हैं किन्तु ये पलायनवादी अधिक होते हैं और वेतनवृद्धि, बोनस, पैकेज तथा नौकरी की सुरक्षा से इतने प्रभावित नहीं होते हैं जितने वे अपने कार्यक्षेत्र में मिलने वाले अवसरों एवं चुनौतियों से होते हैं। वस्तुतः उन्हें आगे बढ़ने की प्रेरणा इस बात से मिलती है कि कम्पनी उन्हें किस प्रकार के अवसर प्रदान करा रही है?

6. **द्विपेशेवर एवं बहुपेशेवर प्रबन्धकगण** - भारत सहित, विश्व के सभी विकासशील देशों में पेशेवर उपाधि के साथ-साथ, तकनीकी योग्यता की मांग भी जोर पकड़ने लगी है। अतः अब एक प्रबंधक को न केवल प्रबन्ध का सैद्धान्तिक पक्ष ज्ञात होना आवश्यक हो गया है, अपितु उसे व्यावहारिक कठिनाइयों को भी सुधारते रहने के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न करने के अतिरिक्त बारम्बार प्रशिक्षण की आवश्यकता बनी रहती है, क्योंकि तकनीकी में नित नवीन परिवर्तन होते रहते हैं।

7. **अनुसंधान, निरन्तर नव-प्रवर्तन एवं विकास की आवश्यकता** - तकनीकी की उन्नति के साथ-साथ, अनुसंधान एवं विकास संबंधी कार्यों का महत्व भी बढ़ता जाता है तथा कम्पनियों/संस्थाओं को निम्न निर्णय, संस्था एवं कार्मिकों के हित में लेने ही पड़ते हैं, यथा -

(i) अनुसंधान एवं विकास हेतु उपलब्ध एवं भावी उपलब्धता के आधार पर प्राप्य संसाधनों की लब्धिता तथा उनका सही रूप में आवंटन करने का निर्णय करना। वर्तमान में, अनुसंधान एवं विकास पर, भारत सरकार के सूचना प्रसारण मंत्रालय के विज्ञापन एवं तकनीकी विभाग की रिपोर्ट, 2007 के अनुसार, सकल राष्ट्रीय उत्पाद के राष्ट्रीय खर्च का निम्न प्रतिशत खर्च किया जाता है, जो काफी कम प्रतीत होता है, जैसे -

सन्	प्रतिशत (राष्ट्रीय खर्च का)
1985-1986	0.62
1989-1990	0.97
1991-1995	0.93
1995-2000	1.03
2000-2005	1.89
2005-2007	1.93

(ब) सामाजिक प्रभाव

किसी भी राष्ट्र का सामाजिक जीवन, तकनीकी परिवर्तन के उपरान्त, उससे अछूता नहीं रह पाता है और समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति की मनोदशा पर संस्कृति, विचारों, भावनाओं, संवेगों तथा उसकी जीवन शैली पर तकनीकी का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसी तथ्य को, विभिन्न विद्वानों ने निम्न बिन्दुओं के आधार पर विकसित करने का प्रयास किया है -

1. **सामाजिक व्यवस्था एवं परिवर्तन** - तकनीकी के समाज पर सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। तकनीकी परिवर्तन, किसी समाज के स्तर की अवस्था और व्यवस्था को परिवर्तित करता है जिससे औद्योगिक तकनीक के अंतर्गत बेरोजगार व्यक्तियों को रोजगार के अवसर प्राप्त होते हैं, दूसरी ओर, तकनीकी परिवर्तन के फलस्वरूप जनसंख्या का भौगोलिक वितरण भी सभव हो पाता है।

2. **व्यवस्थागत जटिलताएँ** - जहाँ एक ओर तकनीकी के कारण विभिन्न संभावनाएँ बलवती हुई हैं तो दूसरी ओर कई जटिलताएँ भी बढ़ी हैं। उदाहरणार्थ, आधुनिक मशीनें अधिक दक्षता तथा तेज गति से कार्य करने में सक्षम होती हैं किन्तु, यदि वे फेल हो जाती हैं और विशेषज्ञ उपलब्ध नहीं हो पाते हैं तो उत्पादन समय पर प्राप्त नहीं हो पाने सम्बन्धी जटिलताएँ बढ़ती जाती हैं।

आत्मसात् करने पर टिका हुआ है। उदाहरणार्थ, तकनीकी ने एक धनाढ्य वर्ग का जन्म दिया है जो अधिक आरामदायक एवं श्रेष्ठ गुणवत्ता वाली वस्तुओं का ही प्रयोग करना पसन्द करता है। इसी कारण से, व्यावसायिक प्रतिष्ठान, अपने अनुसंधान एवं विकास (Research and Development) पर अधिक विनियोजन करते हैं।

4. **व्यवस्था बनाम तकनीकी** - एक व्यवसाय अथवा उद्योग में, उसके स्वामी अथवा प्रबन्धकगण आवश्यक संसाधनों का एकत्रीकरण करके, नवीनतम आविष्कारों में उनका प्रयोग करते हुए सफलता प्राप्त करने का प्रयास करते हैं जिससे कि व्यक्तियों के जीवन स्तर में परिवर्तन लाया जा सके। उदाहरणार्थ, शिक्षा, प्रशिक्षण, दूरदर्शन, आवास एवं अन्य ऐसी ही खोजें, व्यावसायिक गतिविधियों पर निर्भर होती हैं। वैज्ञानिक अनुसंधानों का व्यावसायिक उत्पादन करके समाज के विभिन्न वर्गों को सहजता के साथ लाभ पहुँचाया जा सकता है। पुनः यह देखा जा सकता है कि विकसित राष्ट्रों की आर्थिक समृद्धि के लिए तकनीकी प्रबन्ध की जो व्यवस्था की गई है, उससे लगभग 60-70 प्रतिशत उत्पादन में वृद्धि दृष्टिगोचर हुई है।

(स) औद्योगिक इकाई पर संयंत्र-स्तरीय प्रभाव

किसी भी औद्योगिक इकाई में, एक संयंत्र, योजनाओं की क्रियान्विति का साधन होता है। संयंत्र में उन्नत तकनीकी उपलब्ध होने पर, कुछ सकारात्मक प्रभाव होते हैं तो कुछ नकारात्मक प्रभाव सामने आते हैं। इन्हीं प्रभावों को प्रबन्धशास्त्रियों ने निम्न बिन्दुओं के आधार पर पिरोया है -

1. **परिवर्तन का विरोध** - जब भी किसी संगठन में, नवीनतम तकनीकी को अपनाने के लिए कोई परिवर्तन किया जाता है तो मानव-संसाधन, जो कि संगठन में कार्यरत है, स्वभावतः उस परिवर्तन का विरोध करता है क्योंकि, नवीनता को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति उसमें कम ही पायी जाती है। यह 'परिवर्तन-विरोध' परम्परागत व्यवसायी (Traditional Businessman) की ओर से हो सकता है तो दूसरी ओर कर्मचारीगण, इसे रोजगार में बाधक मानते हुए विरोध प्रकट करते हैं क्योंकि उन्हें रोजगार के अवसर समाप्त होने तथा अपनी छँटनी का भय समाया रहता है।

2. **तकनीकी के आयात की समस्या** - यदि कोई विकासशील राष्ट्र, अपने यहाँ स्थापित वाणिज्यिक/आर्थिक संगठनों में नवीन तकनीकी को आयात करके अपनाना चाहता है तो यह खर्चीला तो होता है, साथ ही, विदेशी मुद्रा भी भारी मात्रा में चुकानी पड़ जाती है और फिर भी, तकनीकी आयात से सारी समस्याएँ हल नहीं हो पाती हैं तथा विकसित राष्ट्र जानबूझकर तकनीकी के निर्यात में देरी करते रहते हैं, जिसके कारण, वह तकनीकी पुरानी पड़ जाती है एवं उसका कोई महत्व नहीं रह जाता है।

3. **संगठन संरचना संबंधी समस्याएँ** - तकनीकी का संगठन की संरचना का गहन प्रभाव पड़ता है। इससे नियंत्रण की योजना, मुख्य-कार्यकारी कार्यों, निर्देशन एवं अभिप्रेरणा आदि पर प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त, निर्णय-निर्माण प्रक्रिया में प्रत्यायोजन अथवा विकेन्द्रीकरण, उस समय अधिक करना पड़ता है जब कि संगठन में कार्यरत तकनीकी व्यक्ति परियोजनाओं को लागू करना चाहते हैं।

4. **तकनीकी को अपनाने में अक्षमता** - भारतवर्ष तथा अन्य विकासशील राष्ट्रों में भी कई ऐसी कम्पनियाँ स्थापित हैं जिन्हें परम्परागत ढाँचे के आधार पर विनिर्मित किया गया है, वे नवीन तकनीकी को भावी-हानि की संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए, या तो अपनाती ही नहीं हैं अथवा बहुत देर से अपनाती हैं, जो बाद में भी हानि की संभावनाओं को ज्ञात कर सकती है।

5. **पूर्ण गुणवत्ता प्रबन्धन** - गुणवत्ता नियंत्रण कम्पनी की छवि एवं साख का निर्माण करते हैं। पूर्ण गुणवत्ता प्रबन्ध से तात्पर्य संगठन की प्रत्येक गतिविधि की गुणवत्ता (Quality) की वचनबद्धता से है। इसी कारण से, कार्मिकों को समस्याओं के समाधान के लिए सांख्यिकीय विधियों के साथ-साथ, समूह-निर्णयन का भी पूर्ण प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। इस हेतु, प्रौद्योगिकी गति-विज्ञान के स्रोतों को भी ध्यान में रखा जाता है, जैसे -

(i) कम्पनी की आविष्कार करने की चाहत (Innovative Drive of the Company) कितनी है;

(ii) किसी कम्पनी की 'प्रौद्योगिकी अभिमुखता' एवं 'शोध तथा विकास' कार्यक्रमों के प्रति ग्राहकों की प्रत्याशाएँ (Customer's needs/Expectations) किस प्रकृति की हैं,

(iii) ग्राहकों की माग की दशाएँ किस प्रवृत्ति को जन्म दे रही हैं;

(iv) प्रतिस्पर्धा एवं प्रौद्योगिकी सुधार के उपरान्त उत्पाद प्रतिस्थापन (Product substitution) की आवश्यकता कितनी है;

(v) विभिन्न सामाजिक शक्तियाँ (Social Forces) संयंत्र-उत्पादन की गुणवत्ता पर किस रूप में तथा कितना प्रभाव डालती हैं; तथा

NOTES

(vi) गुणवत्ता के प्रति (बनाए रखने के लिए) शोध-सुविधाएँ कितनी हैं और उसके प्रति सरकारी नीतियाँ सकारात्मक हैं अथवा नकारात्मक है?

6. **व्यवसाय प्रक्रिया पुनर्गठन** - इस विचारधारा के प्रतिपादक प्रबन्धशास्त्री एवं अभियंता माइकल हैमर को माना जाता है। उनके मतानुसार, इसमें यह विचार-विनिमय किया जाता है कि यदि संगठन में सभी वस्तुओं, उपकरणों एवं यंत्रों को पुनः नए सिरे से (Right from Scratch) प्रारम्भ किया जाए तो प्रबन्धन को क्या करना चाहिए? तत्पश्चात् उसी के अनुरूप व्यावसायिक प्रक्रिया पुर्नगठित कर दी जाती है।

ऑन लाइन या इन्टरनेट
(Online or Internet)

अवधारणा - 'इन्टरनेट' एक ऐसा विश्वव्यापी कम्प्यूटर नेटवर्क है, जिसमें विस्तृत जानकारी संगृहीत कर एक कम्प्यूटर पर उपलब्ध कराई जाती है, किन्तु इसका प्रयोग करने हेतु किसी कम्प्यूटर विशेषज्ञ की सहायता नहीं लेनी पड़ती है, बल्कि जो व्यक्ति इन्टरनेट का कनेक्शन रखता है, वह किसी भी विषय पर तत्काल जानकारी प्राप्त कर सकता है एवं उस क्षेत्र से संबंधित विशेषज्ञों के बारे में जानकारी प्राप्त कर उनसे सम्पर्क स्थापित कर सकता है। यह कार्य वह विश्व स्तर पर कर सकता है।

'इन्टरनेट' मनुष्यों का एक ऐसा समूह है जिसका कोई अध्यक्ष या प्रभारी नहीं होता और न ही इस पर किसी प्रकार का सेन्सरशिप लागू होता है। 'इन्टरनेट' की इस स्वतंत्रता के चलते ही यह हमारे जीवन का अभिन्न अंग बन गया है एवं अब इसका प्रयोग शिक्षा, व्यापार तथा अवकाश के लिए किया जाने लगा है। इस तरह इन सभी तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने हेतु छात्र, शिक्षक, व्यवसायी, व्यापारी, वैज्ञानिक, चिकित्सक शोधकर्ता आदि इन्टरनेट का प्रयोग करते हैं, किन्तु आम लोगों के लिए अपने घर पर इन्टरनेट लगाना संभव नहीं है, इसलिए बेरोजगार लोग यदि साइबर कैफे खोलें तो उनके लिए आय का यह अच्छा स्रोत हो सकता है। इसके लिए शिक्षित बेरोजगारों को ऋण भी उपलब्ध कराया जाता है।

इन्टरनेट वर्क सिस्टम को ही संक्षेप में इन्टरनेट कहा जाता है। आज विश्व में भिन्न-भिन्न प्रकार की 40,000 से अधिक नेटवर्क प्रणालियाँ हैं, जिनका लाभ हम इन्टरनेट के माध्यम से सुगमतापूर्वक उठा सकते हैं।

शिक्षा जगत हेतु इन्टरनेट का विशेष महत्व है। विविध शैक्षिक पृष्ठभूमि एवं अभिरुचियों वाले लोगों के समूहों हेतु इन्टरनेट सबसे विस्तृत एवं एक पूर्ण साधन है, जिसके माध्यम से दूर-दराज के क्षेत्रों में बैठकर, प्रोफेसर, विद्यार्थी एवं शिक्षक अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सकते हैं।

वर्तमान समय में तो खासतौर से शोधकर्ताओं एवं वैज्ञानिकों के लिए इन्टरनेट एक अपरिहार्य एवं अनिवार्य साधन हो गया है। वैज्ञानिक अब इन्टरनेट के माध्यय से विश्व को अधिक से अधिक आधुनिक अनुसंधान सुविधाओं का लाभ शीघ्रता से प्राप्त कर अन्य लोगों से अनुसंधान संबंधी अपनी समस्याओं पर विचार-विमर्श कर सकते हैं।

व्यापारियों के लिए भी इन्टरनेट काफी महत्वपूर्ण है। अब व्यापारी वर्ग के लिए इन्टरनेट एक साझा मंच बन गया है, जहाँ वे अपने कार्य स्थान पर रहकर ही व्यापारिक गतिविधियों का सम्पादन एवं संचालन कर सकते हैं। इसके माध्यम से व्यापारिक लेन-देन कर सकते हैं तथा अपनी आवश्यकताओं से इन्टरनेट पर छोड़ सकते हैं एवं सम्बद्ध आपूर्तिकर्ता उसके लिए निविदा भी प्रेषित कर सकते हैं।

कम्प्यूटर नेटवर्क विश्वकोष के रूप में भी कार्य करता है, जिससे किसी भी विषय पर वांछित सूचनाएँ पूरे ब्यौरे सहित प्राप्त की जा सकती हैं।

इस तरह स्पष्ट है कि इन्टरनेट के माध्यम से हम कम्प्यूटिंग अथवा सूचना प्रौद्योगिकी संबंधी कोई भी कार्य कर सकते हैं। इन्टरनेट पर कला एवं संस्कृति, अंतरिक्ष एवं खगोल विद्या, पर्यटन एवं भौगोलिक, अन्तरराष्ट्रीय मामले, प्रकृति एवं पर्यावरण तथा पारिस्थितिकी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विषयों सहित अन्य सूचनाएँ भी प्राप्त हो सकती हैं।

इन्टरनेट पर उपलब्ध विस्तृत संसाधनों का प्रयोग कर हम किसी भी विषय के संदर्भ में विश्व भर के लोगों के साथ सम्पर्क कायम कर सकते हैं। किसी भी दूरदराज के क्षेत्र से हमारे कम्प्यूटर में फाइलें हस्तांतरित हो सकती हैं। प्रायः किसी भी कल्पनीय विषय के संदर्भ में हम इन्टरनेट पर सूचनाएँ प्राप्त कर सकते हैं।

इन्टरनेट का इतिहास - इन्टरनेट का इतिहास कितना पुराना है। इस संबंध में निश्चित तौर पर कुछ भी नहीं कहा जा सकता। सातवें दशक में सामान्य टेलीफोन लाइनों एवं माड्यूलेटर तथा डी-माड्यूलेटर के साथ कम्प्यूटर नेटवर्कों को जोड़ने के विचार से शोध-कार्य प्रारम्भ हुआ। इन शोध कार्यों के फलस्वरूप ही पैकिड स्विच्ड नेटवर्क का विचार वैज्ञानिकों के मन में आया।

साथ पैकिट्स का क्रय पैकिट-1 पैकिट-2 एवं इसी तरह आगे भी दिया जाता है। इसके बाद इन पैकिटों को प्रेषित किया जाता है एवं अन्त में वे पैकिट्स वांछित लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं, किन्तु यदा-कदा ऐसा भी होता है कि ये अपने वांछित लक्ष्य पर नहीं पहुँच पाते हैं। इस लिए संदेश प्राप्ति के स्थान पर इन्हें पुनः एकत्रित किया जाता है एवं इस प्रकार कम्प्यूटर नेटवर्क के दूसरे छोर पर संदेश पहुँच जाता है।

पिछले कुछ वर्षों में प्रत्येक आकार के नेटवर्कों में पैकिट स्वीचिंग का प्रयोग किया जा रहा है शोध एजेन्सियों एवं विश्वविद्यालयों में जब बड़ी-संख्या में स्थानीय नेटवर्क स्थापित होने शुरू हुये तो यह आवश्यक लगने लगा कि इन्हें किसी तरह से परस्पर जोड़ दिया जाये।

सन् 1969 में अमरीकी रक्षा विभाग ने एडवांस रिसर्च प्रोजेक्ट एजेन्सी के माध्यम से टेलीफोन लाइनों पर प्रयोग के तौर पर पैकिट स्विच्ड नेटवर्क स्थापित किया। यह इन्टरनेट के प्रारम्भिक नेटवर्कों में से एक है। ए.आर.पी.ए. नेटवर्क से वैज्ञानिकों, शोधकर्ताओं एवं सैनिक कार्यिकों को अलग-अलग स्थानों पर इलेक्ट्रानिक मेल (ई-मेल) के माध्यम से सूचनाएँ भेजने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इसकी सफलता एवं लाभों को देखते हुये वे स्थल भी ए.आर.पी.ए. नेटवर्क से जुड़ने के उपायों पर विचार करने लगे, किन्तु इन निजी नेटवर्कों के पास उसी तरह के होस्ट कम्प्यूटर नहीं प्राप्त थे एवं इस तरह उन्हें एक कम्प्यूटर प्रणालियों से जुड़ने की आवश्यकता महसूस हुई जो मूल रूप से एक दूसरे से भिन्न थे। इनमें आई.बी.एम. एवं गैर आई.बी.एम. उपकरण मुख्य थे।

आइवें दशक में ए.आर.पी.ए. ने नियमों का सेट विकसित किया, जिसे प्रोटोकाल नाम से जाना जाता है। इसके माध्यम से अलग-अलग प्रकार के होस्ट कम्प्यूटर रखने वाले विविध नेटवर्कों को जोड़ने में सहायता प्राप्त हुई।

आठवें दशक की समाप्ति तक इसका प्रयोग इतना बढ़ गया कि संसार भर के अनेक नेटवर्क ए.पी.आर.ए. नेटवर्क, एम.आई.एल. नेटवर्क (मिलिटरी नेटवर्क) एवं कुछ अन्य नेटवर्कों के साथ सम्बद्ध हो गये। विभिन्न प्रकार के नेटवर्कों के इस प्रकार से परस्पर सम्बद्ध हो जाने से ही इन्टरनेट का विकास हुआ।

इन्टरनेट का संचालन - इन्टरनेट का संचालन करने वाली कोई नियमित संस्था नहीं है, बल्कि इन्टरनेट का प्रयोग करने वालों का एक संगठन है। जैसे इन्टरनेट सोसाइटी अर्थात् आई.एस.ओ.सी. कहा जाता है। यह संगठन पूर्णतया स्वयंसेवी संगठन है एवं इसका एक मात्र उद्देश्य इन्टरनेट के माध्यम से अन्तराष्ट्रीय सूचनाओं के आदान-प्रदान को बढ़ावा देता है। इस संगठन के प्रतिनिधियों को मिलाकर इन्टरनेट आर्किटेक्ट बोर्ड की स्थापना की गयी है।

इन्टरनेट आर्किटेक्ट बोर्ड इन्टरनेट संबंधी मामलों का तकनीकी प्रबंध एवं संचालन करता है। यह बोर्ड ही संपर्क संबंधी प्रौद्योगिकी के मानकीकरण, संचार एवं इन्टरनेट के आन्तरिक कार्यों के प्रति उत्तरदायी होता है। इन मानकों का विकास आवश्यकतानुसार किया जाता रहा है एवं इनमें इच्छुक लोगों के पर्याप्त आंकड़े प्राप्त कराये गये हैं। निवेश सामग्री आई.एस.ओ. के एक अन्य संगठन इन्टरनेट इंजीनियरिंग टास्क फोर्स से भी प्राप्त हुई है। यह कार्य दल भी उन समस्याओं का निदान चाहते हैं।

इन्टरनेट का कार्य क्षेत्र - इन्टरनेट के कार्य क्षेत्र की सार्थकता इसी में है कि इन्टरनेट से किसी भी विषय पर जानकारी प्राप्त की जा सके। अब तो इन्टरनेट पर भी इतनी अधिक जानकारी प्राप्त हो रही है कि उसे आत्मसात् करने या पूरी जानकारी प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं हैं। इन्टरनेट की शक्ति एवं कार्य क्षेत्र का अन्दाजा निम्नांकित तथ्यों से लगाया जा सकता है :-

1. किसी भी सूचना माध्यम की तरह इन्टरनेट पर प्राप्त जानकारी को भी सूचीबद्ध किया गया है। इसमें इतनी जानकारी एकत्रित है कि इसके इंडेक्स के पृष्ठों को प्रतिदिन 100 की दर से पढ़ना प्रारम्भ करें, तो सम्पूर्ण सूची को पढ़ने में चार वर्ष का समय लग जायेगा।
2. सन् 2004 तक की जानकारी के अनुसार इस समय इन्टरनेट का प्रयोग करने वाले लोगों की संख्या 2 करोड़ 20 लाख है एवं इसमें प्रतिमाह लगभग दो लाख नये उपभोक्ता जुड़ते जा रहे हैं।
3. इन्टरनेट के पास 4,000,000 से अधिक कम्प्यूटर हैं, जिन्हे वेब साइट्स कहा जाता है।
4. सन् 2000 तक इन्टरनेट के उपभोक्ताओं की संख्या लगभग 10 करोड़ तक पहुँच चुकी थी, जो सन् 2004 तक तेजी से बढ़कर 15 करोड़ तक हो गयी हैं एवं इन्टरनेट के होस्ट कम्प्यूटरों की संख्या भी 15 लाख से ऊपर पहुँच चुकी है।

इन्टरनेट का कनेक्शन - इन्टरनेट का कनेक्शन प्राप्त करने हेतु आवश्यक यह है कि कनेक्शन लेने वाले के पास कुछ न्यूनतम कम्प्यूटर हार्डवेयर एवं साफ्टवेयर हो। इसके अतिरिक्त एक पर्सनल कम्प्यूटर (पी.सी) एक मोडेम (माड्यूलेटर एवं डी-माड्यूलेटर) जिसमें संचार साफ्टवेयर हो एवं एक टेलीफोन कनेक्शन का होना भी आवश्यक है। इसके लिए किसी भी तरह का पर्सनल कम्प्यूटर मोडेम के माध्यम से सम्पर्क स्थापित करने एवं संचार साफ्टवेयर के संचालन में सक्षम हो, क्योंकि मोडेम के माध्यम से ही एक मानक टेलीफोन लाइन पर दो कम्प्यूटरों के डिजिटल संकेत एनलाग संकेतों में बदल करके टेलीफोन लाइन पर प्रेषित किये जाते हैं एवं प्राप्त हो जाने पर इन संकेतों को डी माड्यूलेटर करके पुनः वापस डिजिटल रूप में लाया जाता है, जिसे कम्प्यूटर समझ जाता है।

इन्टरनेट कनेक्शन इन्टरनेट सेवा प्रदान करने वालों द्वारा दिये जाते हैं। भारत में इन्टरनेट कनेक्शन विदेश संचार निगम लिमिटेड (वी.एस.एन.एल) द्वारा प्रदान किये जाते हैं। वी.एस.एन.एल. 'शैल' अथवा टर्मिनल डायल अप एवं टी.सी. पी/आई.पी. आदि अनेक तरह से कनेक्शन प्रदान करता है। वी.एस.एन.एल. के नवीनतम घोषणा के अनुसार 'शैल' प्रकार के कनेक्शनों का शुल्क एक वर्ष अथवा 500 घण्टे, इनमें से जो भी पहले हो के लिए 5000 रुपये तय किया गया है। टी.सी.पी/आई.पी. अकाउन्ट अधिक उपयोगी एवं कारगर है। यही कारण है कि इन पर खर्च अधिक पड़ता है। इनका शुल्क 500 घंटे हेतु 15000 रुपये तक तय किया जाता है। साथ ही साथ प्रथम बार 500 रुपये पंजीकरण शुल्क भी लिया जाता है। विद्यार्थियों के लिए इन्टरनेट शुल्क में छूट दी जाती है। विद्यार्थियों को 500 घंटे के लिए मात्र 500 रुपये शुल्क देना पड़ता है। इस तरह विद्यार्थी अपने अध्ययन-अध्यापन हेतु इन्टरनेट का प्रयोग कर सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

इन्टरनेट पता के बारे में जानकारी - जिस तरह हम परम्परागत डाक प्रणाली में पता का उल्लेख करते हैं, उसी तरह एक कम्प्यूटर नेटवर्क अथवा इन्टरनेट के अन्तर्गत भी संदेश के साथ पाने वाले का पता भी उल्लेख करना होता है। निम्नांकित उदाहरण के माध्यम से इण्टरनेट पता को समझा जा सकता है -

ahhimaw_badshah@rediffmail.com

उपर्युक्त उदाहरण में यदि हम दाईं तरफ से देखें तो पहला अक्षर com है, जिसका अर्थ हुआ वाणिज्यिक विषय अर्थात् यह अंश संगठन के क्षेत्र अर्थात् डोमेन को प्रकट करता है। दूसरा अक्षर है rediffmail जो उस कम्प्यूटर नेटवर्क का नाम है, जिसमें ahhimaw_badshah (userid - यूनिट आइडेंटिफाइड) है। इसके बाद एक चिन्ह है @, जिसे 'AT' पढ़ा जाता है। इस @ तक भाग को 'user id' के रूप में जाना जाता है। इसके बाद ahhimaw_badshah शब्द है, जो उपभोक्ता विशेष की पहचान है।

इण्टरनेट पते के सबसे दाईं तरफ का अंश संगठन के क्षेत्र अर्थात् डोमेन को प्रकट करता है। इण्टरनेट में सात अलग-अलग डोमेन हैं, जिसे com (वाणिज्यिक विषय), edu (शैक्षिक संस्थाएँ), gov (सरकारी संस्थाएँ), int (अन्तरराष्ट्रीय संस्थाएँ), mil (अमरीकी संस्थाएँ), net (नेटवर्क स्रोत) एवं org (स्वैक्षिक संगठन) नाम से जाना जाता है।

इसी तरह अनेक भौगोलिक डोमेन या क्षेत्र भी हैं जो किसी देश के नाम को प्रकट करते हैं। यदि इन्टरनेट पत्र में भौगोलिक कोड का प्रयोग नहीं किया गया रहता है तो यह मान लिया जाता है कि वह 'डोमेन' अमरीका में विद्यमान है।

इण्टरनेट हेतु साफ्टवेयर उपकरण का प्रयोग - इन्टरनेट में विभिन्न प्रकार के साफ्टवेयर उपकरणों का प्रयोग किया जाता है। इतने अधिक साफ्टवेयर उपकरण का प्रयोग सूचनार्थ प्राप्त करने हेतु किया जाता है कि इन्टरनेट का साफ्टवेयर सामग्री का पैकेट कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। साफ्टवेयर उपकरण का प्रयोग सूचनाएँ प्राप्त करने हेतु किया जाता है।

इन्टरनेट के प्रयोग किये जाने वाले कुछ महत्वपूर्ण साफ्टवेयर उपकरण एक टी.वी., आर्ची, गोफर, लिंक्स, इन्टरनेट रिले चैट का वर्ल्ड वाइड वेब आदि।

भारत सहित सम्पूर्ण विश्व में इन्टरनेट का उपयोग अनेक तरह से किया जाने लगा है। खासतौर से वरचुअल हास्पीटल, टेलीविजन, समाचार क्षेत्र, मैरिज ब्यूरो, टेलिफोन (एस.टी.डी. एवं आई.एस.डी.) आदि कार्यों में इन्टरनेट का व्यावहारिक एवं उपयोगी अनुप्रयोग प्रारम्भ हो गया है।

भारत में वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इन्टरनेट - दूरसंचार प्रौद्योगिकी के विकास तथा जिला स्तर पर बीपीओ उद्योग के मद्देनजर ग्रामीण इलाकों में ब्रॉडबैंड और इंटरनेट की पहुँच तेजी से हो रही है। ऐसा भी माना जा रहा है कि ब्रॉडबैंड भारतीय अर्थव्यवस्था के कई क्षेत्रों में क्रांतिकारी बदलाव लाएगा। शिक्षा तथा मनोरंजन के क्षेत्रों में सामग्री की गुणवत्ता व उपलब्धता में इससे काफी परिवर्तन आ भी रहा है। 1 जनवरी, 2006 से राष्ट्रीय लंबी दूरी व अंतरराष्ट्रीय लंबी दूरी सेवाओं के लिये लाइसेंस शुल्क में कमी से ब्रॉडबैंड उपभोक्ताओं की संख्या बढ़ी है। देश में 1999 में मात्र 9.4 लाख इंटरनेट उपभोक्ता थे जो 2000-01 में बढ़कर 30.4 लाख हो गए। दिसंबर 2002 में 37.20 लाख उपभोक्ता बन गए

भारत सरकार ने 2000 तथा 2001 में 64 केबीपीएस की इंटरनेट के लिए 55 अंतरराष्ट्रीय गेटवे चालू करने की अनुमति दी गई। इससे देश में अंतरराष्ट्रीय बैंड विड्थ की उपलब्धता और आसान हो गई। सरकारी कार्यालयों में भी इंटरनेट को लोकप्रिय बनाने की पहल हुई और मार्च 2003 तक इंटरनेट उपभोक्ताओं की संख्या बढ़कर 40 लाख पार कर गई।

NOTES

इस समय देश में इंटरनेट सेवा प्रदाताओं की संख्या 379 है, जबकि जुलाई 2007 तक एमटीएनएल ने दिल्ली में 2.49 लाख तथा मुंबई में 2.58 लाख ब्रॉडबैंड कनेक्शन दिए हैं। इसी के साथ बीएसएनएल की ब्रॉडबैंड सेवा 1035 शहरों में उपलब्ध है तथा 10.24 लाख से ज्यादा उपभोक्ताओं को सेवा प्रदान कर रही है और क्षमता विस्तार 26 लाख तक करने जा रहा है। इंटरनेट सुविधा देश के सभी जिलों में फ्रेंचाइजी आधार पर चल रहे संचार ढाबों के नाते भी काफी उपयोगी साबित हो रही है। सेवा प्रदाता (आईएसपी) इंटरनेट टेलीफोन सेवा प्रदान करने की अनुमति लेकर इंटरनेट के माध्यम से अंतरराष्ट्रीय फोन सेवा भी दे रहे हैं। प्राधिकृत केबल टीवी आपरेटरों के माध्यम से भी इंटरनेट की सुविधा प्राप्त करने की अनुमति दी गई है।

भारत में इंटरनेट की बढ़ती लोकप्रियता के पीछे यह भी अहम तथ्य है कि इंटरनेट की भाषा के रूप में अंग्रेजी का वर्चस्व टूट रहा है। इससे अब तमाम इलाकों में किसान भी इंटरनेट के लाभ उठा रहे हैं। तमाम गाँवों में अगर फोन सही नहीं है तो वायरलेस डिवाइस से भी इंटरनेट उपलब्ध है।

वर्ष 2000 में भारत संचार निगम के माध्यम से मार्च 2001 तक सभी ग्राम पंचायतों में इंटरनेट ढाबे स्थापित करने का निर्णय लिया था। तमाम जगहों पर पीसीओ को ही उसी स्थल पर उन्नत करने को प्रोत्साहित किया गया और सालाना 1,500 घंटे मुक्त इंटरनेट एक्सेस की अनुमति भी दी गई। देश के कई इलाकों व क्षेत्रों में खासतौर पर चलाई गई योजनाएँ काफी सफल रहीं। राज्यव्यापी क्षेत्र नेटवर्क की ई-शासन योजना के तहत 6,000 ब्लाकों, तहसीलों व जिला मुख्यालयों के लिए मार्च 2005 में 3,334 करोड़ लागत की योजना को मंजूरी दी गई। ऐसा माना जा रहा है कि देश में इंटरनेट ढाबा व सामुदायिक सूचना केंद्रों के जरिये इंटरनेट सुविधा आम आदमी के वहन योग्य और आसानी से सुलभ हो जाएगी। सामुदायिक सूचना केंद्र टेलीफोन, फैक्स तथा कम्प्यूटर के साथ इंटरनेट व ब्रॉडबैंड से लैस किए जा रहे हैं। ऐसे में उनकी लोकप्रियता बढ़नी ही है।

रोजगार स्थिति - भारत जैसे देश के लिये यह व्यापक संतोष का विषय है कि यहाँ आईटी क्षेत्र में शिक्षित भारतीय युवाओं के लिए काफी रोजगार के मौके सुलभ हुए हैं। नये रोजगार के अवसरों के साथ विश्व में भारत की प्रतिष्ठा भी इस बात को लेकर बढ़ी है कि यह ज्ञान आधारित उभरती हुई अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। हाल में रुपये की मजबूती के नाते साफ्टवेयर निर्यात में मुनाफा कुछ कम हुआ है पर इस साल अप्रैल से जुलाई के दौरान सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र में रोजगार के सबसे ज्यादा अवसर पैदा हुए हैं। इसके बाद वित्तीय सेवाओं तथा अन्य क्षेत्र का नंबर आता है। एसोचैम के एक अध्ययन में कहा गया है कि इस अवधि में जाब पोर्टलों तथा अखबारों में 1,47,100 नौकरियों के विज्ञापन आए जिसमें से सूचना प्रौद्योगिकी क्षेत्र की हिस्सेदारी 24 फीसदी थी।

ऐसा आकलन है कि सरकार द्वारा तैयार महत्वाकांक्षी योजना के आलोक में 2008 में 22 लाख सॉफ्टवेयर दक्ष कार्मिकों को जरूरत होगी। केवल सॉफ्टवेयर के क्षेत्र में ही भारत-अमरीका व्यापार के लिये 10 लाख से ज्यादा दक्ष कार्मिक चाहिए। आईटी कंपनियों ने 2003-04 में सात लाख, 2004-05 में 10.50 लाख तथा 2005-06 में 12 लाख रोजगार के अवसर प्रदान किए। 11वीं योजना में निर्यात के क्षेत्र में आईटी कंपनियों द्वारा प्रदत्त रोजगार के अवसरों की भावी आवश्यकता 2012 तक करीब 34 लाख आंकी गई है और इससे 95 लाख लोगों को अप्रत्यक्ष रोजगार अलग मिलेगा।

भारत मे आईटी क्षेत्र में 1996-97 में मात्र 1.80 लाख सॉफ्टवेयर के दक्ष कार्मिक कार्यरत थे जिनकी संख्या 2001 तक 3.40 लाख हो गई। बीपीओ कर्मियों को मिलाकर कार्मिकों की संख्या 2005-06 में 16.30 लाख हो गई है। सूचना प्रौद्योगिकी आधारित सेवा क्षेत्र का भारत में वास्तव में 1998 के पहले अस्तित्व भी नहीं था। पर आज इस क्षेत्र में भारी आय व रोजगार के मौके पैदा हुए हैं। भारत में बिजनेस प्रोसेस आउटसोर्सिंग (बीपीओ) या कॉलसेंटरों का कारोबार भी बहुत तेजी से पांव पसार रहा है और भारत दुनिया की इलेक्ट्रॉनिक मेजबानी कर रहा है। दुनिया की तमाम जानी मानी कंपनियाँ 2002 तक भारत में 336 कॉलसेंटर खोल चुकी थीं जिसमें एक लाख से ज्यादा लोगों को रोजगार मिला। यह आंकड़ा लगातार विस्तार पाता जा रहा है।

आईटी से जुड़े संगठनों को इस बात की चिंता सता रही है कि उच्च तकनीकी योग्यता वाले लोगों की इस क्षेत्र में कमी हो रही है। युवा इंजीनियरों तथा कॉलेज से निकले स्नातकों में तकनीकी कुशलता कम होती है। खुद नैसकॉम का कहना है कि अगर यह हाल रहा तो 2010 तक इस क्षेत्र में पांच लाख लोगों की कमी होगी। भारत की आईटी कंपनियों को हर साल साढ़े तीन लाख इंजीनियर चाहिए पर उनको डेढ़ लाख ही मिल पा रहे हैं। लेकिन इन

NOTES

सारे तथ्यों के आलोक में यह भी देखने की बात है कि भारत में आईटी क्षेत्र में लोगों को वेतन और जगहों की तुलना में कम मिल रहा है। नैसकॉम जैसे संगठन अच्छे वेतन की पैरोकारी कर रहे हैं जो अच्छी बात है।

सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग में एनीमेशन भी बहुत तेजी से विकसित हो रहा है। नैसकॉम की एक रिपोर्ट के मुताबिक टाटा एलेक्सी लि., पेंटामीडिया ग्राफिक्स लि., ग्लोबल सॉफ्ट प्रा.लि., एसजी मार्टिन इंफोवे, क्रेस्ट एनीमेशन स्टूडियो, एफएक्स लैब स्टूडियोज, एक्सएस कैड इंडिया जैसी कई बड़ी कंपनियाँ इस क्षेत्र में आ गई हैं। 2005 में भारतीय एनीमेशन बाजार का आकार करीब 28.5 करोड़ अमरीकी डॉलर का था जो 2009 तक 95 करोड़ डॉलर का हो जाएगा। इसके लिए 2009 तक इस क्षेत्र में 30,000 अतिरिक्त प्रशिक्षित कार्मिकों की जरूरत होगी। मनोरंजन के क्षेत्र में वाल्ट डिज्नी, आमैक्स, वार्नर ब्दर्स, तथा सोनी जैसी विश्वस्तरीय कंपनियाँ भारतीय एनीमेशन कपंनियों के साथ अनुबंध कर रही हैं। भारतीय फिल्म व टेलीविजन संस्थान ने भी बीते दो शैक्षणिक सत्र से एनीमेशन व कम्प्यूटर ग्राफिक्स में एक प्रमाणपत्र कार्यक्रम शुरू किया है। भारत सरकार ने इस बाबत सूचना, संचार तथा मनोरंजन समिति के तहत एनीमेशन व गेमिंग विषय पर एक उपसमिति भी गठित की।

गांवों का विकास

इतने सारे बदलाव के बाद भी आम धारणा यही है कि सूचना प्रौद्योगिकी का असली फायदा अन्य फायदों की तरह शहरों को ही मिल रहा है। भारत में ज्यादा आबादी गाँवों में रहती है और उसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। इसी निरक्षरों के लिए भी अभी काफी काम करना बाकी है। फिर भी इस खाई को पाटने के लिये हाल में देहाती इलाकों में सीएससी (सामान्य सेवा केंद्र) खोलने की पहल की गई है। सरकारी परिकल्पना है कि हर राज्य में छह गांवों के बीच में एक केंद्र जरूर खोल दिया जाए। ब्रॉडबैंड, इंटरनेट समर्थित एक लाख सामान्य सेवा केंद्र (सीएससी) स्थापित करने की इस योजना का क्रियान्वयन सार्वजनिक एवं निजी भागीदारी के माध्यम से किया जाएगा। सीएससी तथा सेवा केंद्र एजेंसी (एससीए) का प्रवालक निजी उद्यमी होगा। उसे मूल संरचना के लिये पूँजी निवेश करना होगा पर सरकार उसे चार सालों तक राजस्व सहायता उपलब्ध कराएगी। इस योजना पर करीब 5,742 करोड़ रु. का व्यय होगा। इसमें भारत सरकार तथा राज्य सरकारों का अंशदान 1,649 करोड़ रु. होगा और बाकी साधन निजी क्षेत्र प्रदान करेगा। चूँकि ये केंद्र निजी सेवाएँ भी प्रदान करेंगे ऐसे में कृषि, बैंकिंग, बीमा, मनोरंजन आदि के क्षेत्र में काफी सेवाएं भी ई समर्थित हो जाएंगी। इस योजना में राज्य सरकारों की खास भूमिका तय की गई है। यही नहीं, कृषकों को सूचना व सेवा देने के लिए कृषि मंत्रालय के सहयोग से डेकनेट प्रयासों के तहत नयी पहल हुई है और मोडिया लैब एशिया ने ग्रामीण समुदाय के लिये ग्रामीण नेट और ग्रामीण डब्ल्यूआई-एफआई पर भी एक परियोजना शुरू की है।

इन्टरनेट के लाभ

1. एक बहुत महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इंटरनेट एक ऐसा माध्यम है जो विश्व में संचार करता है।
2. इन्टरनेट सस्ता तथा तीव्र माध्यम है -
   - सूचना प्राप्त करने के लिए।
   - सूचना प्रदान करने के लिए।

   हम इन्टरनेट से किसी भी प्रकार की सूचना जैसे - शिक्षा, उत्पाद, अनुसंधान, डाटा, संगठन आदि प्राप्त कर सकते हैं।
3. इन्टरनेट ऑनलाइन शिक्षा प्रदान करता है। दूरस्थ शिक्षा कार्यक्रम, अनुसंधान पत्र, पाठ्य सामग्री, विभिन्न विश्वविद्यालयों के बारे में सूचना आदि सभी एक स्थान पर बैठकर प्राप्त की जा सकती हैं।
4. डब्ल्यूडब्ल्यूडब्ल्यू जो कि इन्टरनेट का महत्वपूर्ण गुण है, विज्ञापन तथा ऑनलाइन शॉपिंग आदि के लिए एक महत्वपूर्ण दूत है।
5. ई-मेल इन्टरनेट का अन्य महत्वपूर्ण गुण है वह सस्ता इलेक्ट्रॉनिक डाकिया है जिसके द्वारा हम पत्र/संदेश/डाक्यूमेन्ट आदि भेज तथा प्राप्त कर सकते हैं। ई-मेल सेवा एक डाकघर के रूप में कार्य करता है।
6. ई-कॉमर्स इन्टरनेट का अन्य महत्वपूर्ण गुण है, जो उत्पाद तथा सेवाओं के क्रय-विक्रय में सहायता करता है। ग्राहक वस्तुओं को ऑनलाइन खरीद सकते हैं।

इन्टरनेट की हानियाँ

1. इन्टरनेट में खुलेपन के कारण डाटा/सूचना के क्षतिग्रस्त होने की संभावना होती है।
2. इन्टरनेट से ली गई किसी वेबसाइट द्वारा पर्सनल कम्प्यूटर में वायरस भी आ सकते हैं।

4. अस्वीकार्य साइट समाज के लिए हानिकारक होती है।

5. हेकर्स पासवर्ड तथा ऑन लाइन क्रय करने के समय उन्हें हेक कर सकते हैं तथा क्रेडिट कार्ड का उपयोग कर सकते हैं।

NOTES

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

1. निम्न को स्पष्ट कीजिए (Explain the following)-
   (अ) व्यावसायिक वातावरण एवं सूचना प्रौद्योगिक क्रान्ति
   (ब) तकनीकी हस्तान्तरण की कार्य प्रणाली
२. भारत में तकनीकी वातावरण पर विचार प्रकट करते हुए, तकनीकी के आर्थिक, सामाजिक एवं संयंत्र-स्तरीय प्रभावों को स्पष्ट रूप से बताइए।
3. भारत में तकनीकी पर्यावरण के प्रभावों की विवेचना कीजिये।
4. ऑन लाइन इन्टरनेट क्या है ? संचालन एवं कार्यक्षेत्र की विवेचना कीजिये।
5. इन्टरनेट की वर्तमान स्थिति क्या है ? क्या रोजगार के अवसर प्राप्त होते हैं। विवेचना कीजिए।

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

22

ई-वाणिज्य
(E-COMMERCE)

ई-वाणिज्य की अवधारणा

ई-वाणिज्य क्रय-विक्रय का उभरता माडल है जिसमें खरीदार लेन-देन के हर चरण में भाग ले सकते हैं। यहाँ प्रत्येक लेन-देन दुकान या भंडार जाए बिना मेज पर रखे कम्प्यूटर से होता है। इस पद्धति में क्रय संबंधी सूचना जैसे कि सामान का चयन, क्रय और अंत में भुगतान का निपटारा, सभी कम्प्यूटर पर ही होते हैं। जैसा कि विश्व अब इलैक्ट्रॉनिक युग की तरह चल रहा है, थोक विक्रय की अधिकतर मात्रा ई-वाणिज्य के जरिए करना आसान, तुरंत लाभदायक एवं सुविधाजनक होगा जो उद्योग और व्यापार संस्थाएँ इस प्रौद्योगिकी से लाभ न उठा पा रहे हैं, वे अपने व्यापार पर रखी पकड़ को छुटता पाएँगे। ई-वाणिज्य लोगों, पद्धतियों और प्रौद्योगिकी के योग की उत्पत्ति है। ई-वाणिज्य प्रणाली एक उपभोक्ता के लिए इंटरनेट पर इच्छानुसार सामग्री एवं सेवाओं को ढूंढने और तत्पश्चात् उनके क्रय में उपयोगी हो सकती है। यहाँ एक वेब-साइट का पात्र केवल उपभोक्ताओं को एक आभासीय दुकान में आवश्यक वस्तुएँ उपलब्ध कराना है। एक व्यापारी के लिए ई-वाणिज्य प्रणाली के निर्माण एवं विकास का ध्येय मात्र अधिक आय पाना है और बदले में व्यापारी उपभोक्ताओं के लिए जरूरी सुविधाएँ जैसे कि सामग्री-सूची, उपभोक्ता-सेवाएँ, लेन-देन की क्षमताओं संबंधित सूचना, इत्यादि प्रदान करता है। व्यापारी इन सुविधाओं का स्वयं विकास कर सकता है अन्यथा किसी सेवा-प्रदाता से भाड़े पर ले सकता है।

इलैक्ट्रॉनिक पद्धति से लेन-देन करना परंपरागत पद्धति से व्यापार करने की अपेक्षा अधिक लाभदायक है। यह बहुत तेज, सस्ता एवं सुविधाजनक है। इलैक्ट्रॉनिक पद्धति से व्यापार करने के दो ढंग हैं : जबकि इलैक्ट्रॉनिक तथ्यों की अदला-बदली (EDI) में साधारण व्यापारी एवं उपभोक्ताओं के बीच एक सीधा एवं अटूट सूचना माध्यम का होना आवश्यक है, वहीं ई-वाणिज्य इंटरनेट का उपयोग करता है जो अति साधारण और लेन-देन के लिए सस्ता है।

किसी उत्पाद या सेवाओं के खरीद करने के इच्छुकों के लिए वेब-साइट एक बाजार का काम करती है और व्यापारी वर्ग एवं उपभोक्ताओं को जोड़ती है। ऐसा वेब-साइट उपयोग में आसान, सुरक्षित और लेन-देन में भरोसे-योग्य होना आवश्यक है। ई-वाणिज्य की प्रमुख विशेषताएँ भुगतान करने की विधि एवं उसमे जुड़े सुरक्षा मामले हैं। भुगतान करने की विधि क्रेडिट कार्ड या स्मार्ट कार्ड, जिसे ई-मनी भी कहते हैं, के माध्यम से संभव है। क्योंकि ई-वाणिज्य में लगभग 95 प्रतिशत लेन-देन क्रेडिट कार्ड के द्वारा होता है, क्रेडिट कार्ड सूचना की सुरक्षा का अत्यधिक ध्यान रखना बहुत जरूरी है।

संपूर्ण विश्व की अर्थव्यवस्था का भूण्डलीयकरण हो रहा है और व्यापार वाणिज्य वैश्वीकृत बाजार में अपने नए-नए आयाम स्थापित कर रहा है तब ई-कामर्स की महत्ता और भी अधिक बढ़ जाती है।

ई-वाणिज्य से आशय -

साधारणतया ई-वाणिज्य से अभिप्राय इलेक्ट्रॉनिक माध्यम से व्यवसायिक गतिविधियों संपन्न करना है।

ई-वाणिज्य से आशय दो या दो से अधिक पार्टियों के मध्य वस्तुऐं अथवा सेवाओं का इलेक्ट्रॉनिक विधियों से लेन देन के कार्य करना।

ई-वाणिज्य संक्षेप में ई.काम. की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसके जरिए छोटे से छोटा व्यापार दुनिया के किसी छोर पर बैठे व्यक्ति के साथ किया जा सकता है।

ई-वाणिज्य "अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की इलेक्ट्रॉनिक प्रणाली है।" दो दशकों तक इंफार्मेशन सुपर हाइवे, इन्टरनेट और वर्ल्ड वाइड वेब की सफलता को देखकर विश्व के उद्योगपतियों और व्यापार समुदाय ने 'ग्लोबल' इन्फ्रास्ट्रक्चर को बनाने और उसके माध्यम से विश्व के वाणिज्य और व्यापार का संचालन करने के महत्व को समझा। सूचना प्रौद्योगिकी की यह सुविधा अब विश्व भर में व्यापार फैलाने के लिए महत्वपूर्ण बनती जा रही है। सुचारु रूप से व्यापार करने के लिए यह आवश्यक है कि विश्वस्त सूचना ठीक समय पर ही सही स्थान पर पहुँचे। सूचना प्रौद्योगिकी इस आवश्यकता को पूर्ण करती है।

ई-वाणिज्य का जन्म -

कम्प्यूटर की खोज मानव जीवन की बहुत ही महत्वपूर्ण खोज है। मानव ने जैसे-जैसे विज्ञान के क्षेत्र में खोज की है शारीरिक श्रम के स्थान पर बौद्धिक श्रम का महत्व बढ़ गया है। ई-वाणिज्य का जन्म वर्ष 1970 से माना जाता है क्योंकि उस समय कुछ कम्पनियों ने अपने निजी कम्प्यूटर नेटवर्क की स्थापना व्यापार की सूचना प्रणाली के उद्देश्य से की थी। नेटवर्क का प्रयोग व्यापारिक कम्पनियों एवं अन्य कम्पनियों को सूचनाओं के लेन देन की कार्यवाही से जोड़ा गया तत्पश्चात् इलेक्ट्रॉनिक डाटा इन्टरचेंज (ई डी आई) के रूप में प्रचालित हुआ। विभिन्न व्यापारिक व्यावसायिक सूचनाओं को एक स्टैंडर्ड फार्मेट में कम्प्यूटर के माध्यम से विनिमय करने का इलेक्ट्रॉनिक डाटा इन्टरचेंज कहते हैं। वास्तव में ई डी आई ई-वाणिज्य का ही एक सब-सेट है। इसके माध्यम से बिना कागज के ही सूचनाओं का आदान-प्रदान किया जाता है। ई-वाणिज्य का संचालन करने के लिए फैक्स, ई-मेल, इलेक्ट्रॉनिक बुलेटिन बोर्ड, ई-कैश, इलेक्ट्रॉनिक फंड ट्रांसफर, वीडियो टेक्स्ट तथा ऑन लाइन डाटाबेस आदि सुविधाओं का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार ई-वाणिज्य की विभिन्न सफलताओं ने व्यापारिक कार्यवाही के अधिकतम खर्चों में कटौती कर कार्यकुशलता एवं क्षमता में वृद्धि अर्जित की है।

ई-वाणिज्य की कार्य विधि -

ई-वाणिज्य के अन्तर्गत आँकड़ों को परिवर्तित करने तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की सुविधा प्राप्त है। जब कभी उपभोक्ता वेबसाइट पर सामान क्रय करने के लिए पसन्द करता है अथवा क्रय करता है तो उसे भुगतान हेतु कम्प्यूटर पर एक फार्म भरना होता है जिसमें केडिट कार्ड नम्बर, देय राशि, पाने वाले का नाम आदि सूचनाएँ भरनी होती हैं। इस प्रकार फार्म भरते ही उपभोक्ता के खाते से राशि निकलकर स्थानान्तरित हो जाती है।

ई-वाणिज्य निम्नांकित संकल्पनाओं पर आधारित है -

(1) इलेक्ट्रॉनिक प्रेषण के कारण सूचनाओं के विनिमय की गति में तेजी आ जाती है।

(2) व्यापारिक दस्तावेजों का मानकीकरण होने के कारण विनिमय में एकरूपता आती है।

(3) ANSI, X12, EDI, FACT जैसे पूर्व परिभाषित संरूप कम्प्यूटर द्वारा आसानी से पहचाने जाते हैं।

(4) किसी भी व्यवसाय को चलाने के लिए एक ग्राहक और एक विक्रेता का होना नितांत आवश्यक है।

(5) किसी संदेश को समझ लेने के बाद व्यापार संचालन में उसकी उपयोगिता बहुत बढ़ जाती है।

ई-वाणिज्य के प्रारूप

ई-वाणिज्य माडलों में निम्न बहुत प्रख्यात हैं :

- व्यापार से कर्मचारी के बीच (business to employee या B2E)
- व्यापार से व्यापार के बीच (business to business या B2B)
- सरकार से सरकार के बीच (government to government या G2G)
- सरकार से प्रजा के बीच (government to people या G2P)

इंटरनेट के उपयोगकर्त्ताओं की संख्या सन् 1997 में 7.5 करोड़ से बढ़कर सन् 2001 में 23 करोड़ तक पहुँच गई है और यह वेग से बढ़ती जा रही है। इसके अतिरिक्त, क्रेडिट कार्ड जैसे प्लास्टिक धन (plastic money) की उपयोगिता के कारण इंटरनेट पर हो रहे व्यापार में काफी बढ़ोत्तरी हुई है। खासकर भारत में जहाँ प्लास्टिक धन अपने पैर अभी-अभी जमा रहा है।

भारत में ई-वाणिज्य पूरी तरह विफल नहीं हुआ है और न होगा। परन्तु विफलता कुछ ई-वाणिज्य के उन पहलुओं में हुई है जहाँ विभिन्न व्यापार और उपभोक्ता सीधे जुड़े हैं जैसे कि B2C वाले माडल में होता है। इस माडल के अंतर्गत ई-वाणिज्य प्रणाली वस्तुओं की केवल दो आयामी मुद्रा ही दिखा सकती है जबकि उपभोक्ता खरीद के पहले उस वस्तु को छूकर अनुभव करना पसंद करते हैं। इन सब के बावजूद, ई-वाणिज्य सफलतापूर्वक उन क्षेत्रों में कार्य कर सकती है जहाँ व्यापार सीधे व्यापार से जुड़े हों (B2B)। यह दशा कुछ हद तक B2C माडल में देखी जा सकती है - उदाहरण के लिए सिनेमा के टिकटों की खरीद, शेयरों की खरीद, आदि।

अब यह सभी प्रकार के वाणिज्यों को आभासीय विश्व में लाने की तैयारी में जुटी है। कई सुप्रसिद्ध लोग यह कहते हैं कि आरंभिक स्तर पर कुछ कठिनाइयों के बावजूद यह भारी बचत भी देगा और व्यापार को अनेकों गुना बढ़ाएगा भी।

NOTES

स्पर्धा के नियम

भारत सरकार ने इंटरनेट पर व्यापार करने की छूट दी है परन्तु भौतिक विश्व से सांकेतिक विश्व की ओर धीरे-धीरे बदलाव लाने के लिए अभी काफी काम शेष हैं।

इंटरनेट या इंट्रानेट पर व्यापार की सफलता के पीछे प्रोटोकाल की सफलता छिपी है। चाहे लेन-देन साधारण भाड़े पर लिए गए संपर्क माध्यम (leased line) से हो या बेतार संपर्क (wireless connectivity), प्रोटोकाल का उपयोग अनिवार्य है। व्यापार एवं वाणिज्य के आचार और तौर-तरीकों को ध्यान में रखकर प्रोटोकालों को बलिष्ठ बनाना चाहिए ताकि हर प्रकार की जान-बूझकर व अनजाने में होने वाली संघटनाओं और फेर-बदलों से बचा जा सकता है।

विभिन्न प्रकार के कार्यों के लिए बड़ी संख्या में प्रोटोकाल उपलब्ध है। कुछ प्रोटोकाल संचार के लिए उपयोगी होते हैं, तो कुछ एक दूसरे के संभाषण के लिए, कुछ नियत कार्यों के लिए, तो कुछ नकदी लेन-देन के लिए। चल-संगणना (mobile computing) को वास्तविकता में लाने के लिए नए प्रोटोकालों का विकास जारी है।

विश्व तो तेजी के साथ बदल रहा है और इसके साथ-साथ प्रौद्योगिकी भी बदल रही है। यदि कोई सूचना को सीधे अपने मोबाइल पर भेजना चाहता है तो वह कुछ और वर्षों में पूरी तरह संभव हो जाएगा। उपयोगकर्ता इंटरनेट से अपने मोबाइल कम्प्यूटरों या फोनों के द्वारा सपर्क कर सकेंगे और हर प्रकार का वांछनीय सूचना पा सकेंगे। यह सचमुच अद्‌भुत होगा और यह जीवन के अर्थ एवं संगणना को पुनः परिभाषित करेगा।

वह दिन दूर नहीं जब दुनिया के किसी भी कोने से घर पर रखे फ्रिज, कपड़े-धोने वाले यंत्रों से सीधा संपर्क किया जा सकता है और उसे निर्धारित कार्य करने के निर्देश इच्छानुसार दिए जा सकेंगे।

ई-वाणिज्य में कठिनाइयाँ

1. ई-वाणिज्य के भागों को एकीकरण करने वाले मानकों की कमी।
2. साइट की सुरक्षा एवं उसे जीवित रखना।
3. विधि एवं नियम संबंधी बाधाएँ।
4. चल रहे व्यापार को ई-वाणिज्य में परिवर्तित करने की सुव्यवस्थित पद्धति का न होना।

ई-वाणिज्य की विफलताएँ

1. नई चुनौतियों का सामना करने के लिए व्यापार माडलों का अपर्याप्त होना।
2. नए प्रौद्योगिकी क्षेत्रों से बहुत ऊंची आकांक्षाएँ।
3. कंपनी को चलाने के लिए मेल-जोल की दृष्टि में अभाव।
4. बहुत सारे परिवर्तनों का तुरंत होना, और बहुत जल्दी होना।
5. नए समाधान अनेकों बार चल रही प्रणाली में अक्सर बाधाएँ।
6. ई-वाणिज्य निर्माण एवं विकास के लिए उपयुक्त ढाँचे का अभाव।

प्रभावशाली ई-वाणिज्य के लिए निम्न बातें आवश्यक हैं -

1. दर्शन, दांव-पेंच और एक व्यापार।
2. कार्य करने के लिए कारीगर और चतुर लोग।
3. तेजी से बढ़ते बदलावों को समझने वाला सक्षम प्रबंध ।
4. जरूरी सुविधाएँ।
5. व्यापार और प्रौद्योगिकी का संगम।
6. क्षमता और उसके विकास के लिए पर्याप्त ढाँचा।

ई-वाणिज्य के मुख्य अंश

1. वेग : व्यापारिक माहौल में नए पहलुओं और बदलावों को निहित करने की तेजी (या वेग के साथ निर्देशन)।
2. अनुकूलता : व्यापारिक प्रक्रियाओं और प्रौद्योगिकी में बदलावों के अनुकूल ई-वाणिज्य प्रणालियों को ढालने की अनुकूलनशीलता या लचीलापन।
3. गुणता : ई-वाणिज्य प्रणाली में लगाए गए समाधानों की गुणता।

इंटरनेट पर किसी ई-वाणिज्य सेवा चालू करने के लिए निम्नलिखित विषयों पर ध्यान देना अत्यावश्यक है :

(क) योजना

1. **बाजार की पड़ताल :** नई सेवा अथवा उत्पाद को बाजार में लाने से पहले बाजार की आवश्यकता, व्यापार का माडल, विभिन्न उपभोक्ता संबंधी मामले, आदि विषयों का शोध/विश्लेषण कर लेना चाहिए।
2. **सूचना के प्रकार एवं मात्रा सर्वर पर चढ़ानी हो :** सबसे पहले अपने सेवाओं या उत्पादों को विभिन्न समूहों में विभाजित करें। सभी वस्तुओं की जानकारी रखने के लिए हो सकता है कि वेब सर्वर पर बहुत अधिक मात्रा में जगह की आवश्यकता हो सकती है। पहले चरणों के दौरान केवल तेजी से विक्रय होने वाली वस्तुओं संबंधी सूचना तक सीमित रखें जिससे कम खर्च हो और साथ-साथ मुद्रण, रख-रखाव और आवागमन पर बहुत बचत होगी। शेष बची वस्तुओं के लिए सीधे कम्प्यूटर पर माँगों की सूची तैयार कर, साथ ही साथ उपभोक्ताओं को प्रेषित किया जा सकता है।
3. **सर्वर के सुरक्षा प्रतिबंध :** वेब सर्वर पर सुरक्षा प्रतिबंध कड़े से कड़े होने जरूरी हैं (उनके लिए भी जो सर्वर के मालिक हों या वे जो उसे दिन-प्रतिदिन चलाते हों) को सर्वर की मालिकाना कंपनी से एक सुरक्षा बयान ले लिया चाहिए।
4. **उपयोग का अधिकार (रूपरेखा बनाने, संवारने, रख-रखाव आदि) :** रूपरेखा बनाने, संवारने, रख-रखाव इत्यादि के अधिकार को किसी अन्य एजेन्सी को सौंपना चाहिए ताकि कार्य-शैली में अधिक आसानी एवं आजादी रहे, और साथ-साथ कम खर्चे का लाभ भी उठाएँ।
5. **चालू समझौतों पर होने वाले प्रभाव :** उदाहरण के लिए, एक पुस्तक प्रकाशन कंपनी में जहां मुद्रित प्रतियों का विक्रय/लीज होता है, उस पर इलैक्ट्रानिक पद्धति से विक्रय/लीज होने पर सीधा प्रभाव पड़ सकता है। परन्तु इस वजह से रख-रखाव खर्च में काफी कमी आएगी, जैसा क मुद्रण खर्च, हिसाब-किताब, आवागमन में कमी और यहाँ तक कि कर्मचारी वर्ग पर भी बचत होगी (विक्रय-लिपिकों का वेतन)।
6. **गुट के चुनाव का ढंग :** जो गुट या एजेन्सी ई-वाणिज्य प्रणाली के संचालन के लिए चुनी गई हो उसे अपने कार्य शैली का ठीक-ठीक परिचय देते हुए योजना और ठेका देने वालों के साथ सीमाओं और शर्तों का खुलासा करना होगा।
7. **ऐसे प्रस्तावों को अच्छी तरह देखने की नीति :** यह वाछनीय है कि सेवा या वस्तु संबंधी सूचना ठेका देने वालों को और आम जनता को सिंगल विंडो (single window) पद्धति से प्रदान की जाए। लाइसेंस समझौता जिसमें आमदनी का बंटवारा, न्यूनतम आमदनी का आश्वासन, आदि मुख्य पहलू निहित हों, बहुत पहले से ही तैयार रखना जरूरी है।

(ख) तकनीकी संचालन

1. **वेब सर्वर का स्थान :** जहाँ तक हो सके, उसी देश में हो जहाँ उसका संचालन होता हो।
2. **वेब सर्वर पर जरूरी जगह की क्षमता :** जहाँ 100MB से कुछ GB तक।
3. **वेब सर्वर से संपर्क करने के लिए संचार माध्यम का प्रकार :** T-1, T-2, ISDN, Dial-ups, इत्यादि।
4. **सर्वर को चालू रखने की क्षमता :** न्यूनतम 98%।
5. **सर्वर का बैक-अप।**
6. **सर्वर की सुरक्षा प्रतिबंध एवं विश्वसनीयता।**

(ग) क्रय-विक्रय (Marketing)

1. इंटरनेट सेवा-प्रदाता (ISP) की सेवाएँ जैसा कि आगंतुक गणना (visitor count), आगंतुकों संबंधी अन्य सूचना का रिकार्ड रखना आदि।
2. वस्तुओं का प्रचार।
3. भविष्य में साफ्टवेयर का रख-रखाव।

(घ) वित्तीय

1. ऐसे प्रस्ताव की आवश्यकता।

NOTES

NOTES

2. ऐसे प्रस्ताव की वाणिज्य योग्यता।

3. सर्वर का या मुक्त सर्वर पर जगह लेने का भाड़ा या लागत, संपर्क/संचार माध्यम पर लागत।

4. न्यूनतम आमदनी की आवश्यकता।

यह सुनिश्चित करना आवश्यक है कि यदि ठेका बुद्धिमत्ता संपत्ति अधिकार (IPR) के तहत दिया गया हो तो उस संगठन को सेवाओं में उपयोग हेतु कुछ रकम के लिए न्यूनतम आमदनी के रूप में आश्वस्त करना होगा।

(ङ) विधिक (Legal)

1. **दस्तावेज/समझौते का प्रकार** : अच्छे व्यवहार एवं साझेदारी निभाने एवं प्रकार्यों को आसानी से संपूर्ण करने के लिए दोनों गुटों को एक विधि दस्तावेज पर हस्ताक्षर करना चाहिए। समझौता ज्ञापन (Memorandum of Understanding) अथवा लाइसेंस समझौता (Licence Agreement) इसके लिए अच्छी मानी जाती है।

2. **विधिक समझौते के प्रावधान वाक्यांश** : तकनीकी संचालन, क्रय-विक्रय योजना और अन्य प्रावधान जो ई-वाणिज्य माडल या व्यापार पर असर डालती है, के अलावा समझौते में निम्नलिखित सीमाओं और शर्तों को साफ-साफ प्रकट करना चाहिए :

   1. ऐसे समझौते के औपचारिक प्रावधान/वाक्यांश।

   2. दोनों गुटों के पात्र एवं जिम्मेदारियाँ।

   3. गुटों की जिम्मेदारियों का विचार समझौते की आकस्मिक समाप्ति के प्रावधान/वाक्यांश।

(च) अन्य विषय

यदि कार्य को ई-वाणिज्य अथवा चल वाणिज्य (mobile commerce या एम वाणिज्य) पर आधारित है तो इन पहलुओं को ध्यान में रखा जाए :

उपभोक्ता की दृष्टि में :-

अधिकांश उपभोक्ता भुगतान क्रेडिट कार्ड या डेबिट कार्ड के माध्यम से करते हैं। नई इलैक्ट्रॉनिक प्रणाली जो इलैक्ट्रॉनिक मनी या 'स्मार्ट कार्ड' के नाम से जाने जाते हैं, उभर रहे हैं। इनके उपयोग से उपभोक्ता को जो सुरक्षा मामले में बाधा डालते हैं वे इस तरह हैं :

जैसे कि सभी लेन-दनों में होता है, जो उपभोक्ताओं को इंटरनेट ब्राउजर के माध्यम से भुगतान करना पड़ता है इस ब्राउजर को समय-समय पर सूचना गूढ़ रखने वाले नए-नए तकनीकों से लैस रखना पड़ता है। अपनी सूचना का सुरक्षापूर्वक आदान-प्रदान करने के लिए अपने ब्राउजर के निचले भाग में एक चाबी का चिह्न जरूर देखें।

किसी भी वेब-साइट को अपनी निजी वित्तीय सूचना भेजने से पहले, उस साइट की गुप्त नीति को जांचना आवश्यक है। प्रायः यह सुनिश्चित करें कि दूसरे लोग आपकी इस सूचना का क्या और कैसे उपयोग कर रहे हैं, क्या सुरक्षा सुविधाएँ उपलब्ध हैं जिससे कि सूचना का गलत उपयोग न हो। यदि कोई, किसी संगठन की सुरक्षा नीति से संतुष्ट नहीं हो तो कहीं और व्यापार करने की सोचें।

पता, दूरभाष नं., बैंक खाता नं., क्रेडिट कार्ड नं. या ई-मेल पता आदि नीति सूचना को गुप्त रखना चाहिए अन्यथा यह जानना चाहिए कि कौन इस तरह की सूचना को क्यों संग्रह कर रहा है और इसका क्या उपयोग करेगा। इस तरह की सूचना को भेजते समय अत्यधिक सावधानी बरतनी चाहिए।

सभी लेन-देन संबंधी जानकारी का भविष्य में उपयोग के लिए रिकार्ड रखें।

ई-वाणिज्य का भविष्य

ई-वाणिज्य उन कंपनियों के लिए बहुत लाभदायक है जो B2B माडल का उपयोग करती हैं क्योंकि इंटरनेट पर व्यापार करने का यह एक सफल एवं प्रख्यात माडल है। मारुति उद्योग जैसी अनेकों संस्थाएँ, शेयरों का डीमेट टिकट बुकिंग, आदि सभी में इस माडल का उपयोग होता है। आजकल, भारतीय रेल व्यापार से उपभोक्ता के बीच या B2C माडल इंटरनेट पर क्रेडिट कार्ड के द्वारा खरीदे गए टिकटों के वितरण में उपयोग कर रही है।

चाहे इंटरनेट हो या इंट्रानेट, दोनों में वेब आधारित औजारों का बहुत महत्व है। जैसे-जैसे प्रौद्योगिकी सक्षम में बढ़ रही है, वैसे-वैसे औजारों की संख्या एवं प्रकार भी दिन-प्रतिदिन बढ़ रहे हैं, आज एक साधारण से ब्राउजर से लेकर, उपभोक्ताओं की मांगों को आपूर्ति करने वाले और अधिक ऊंचे स्तर पर मांग प्रबंध जैसे जटिल कार्यों को संपन्न

करने वाले औजार उपलब्ध हैं जो डास, विंडोज, यूनिक्स, मेक, सोलारिस, लिनेक्स जैसे अनेकों साफ्टवेयरों पर ई-वाणिज्य का आधार बने हुए हैं।

यह प्रकृति की नियति है कि जब भी नाना प्रकार के कार्य, औजार, वस्तुएँ या तत्व उपलब्ध हों तो अगला कदम मानकीकरण का होता है। इसका अर्थ यह है कि वेब आधारित औजारों का सभी मानकीकरण होना है। मानकीकरण की यह प्रक्रिया उनकी पहचान तक न सीमित होकर उनके प्रारूपों और कार्य शैली को भी निर्धारित करेगी। चित्र से साफ हो जाना चाहिए कि औजार और मानक, उद्देश्यों को पूरा करने के लिए एकजुट होकर कार्य करते हैं।

अनेकों आपत्तियों के बावजूद, अनेकों व्यापार सफलताएँ दर्शाई जा सकती हैं। अनेकों कंपनी इंटरनेट को अपना व्यापार साधन बनाकर सैकड़ों लोगों तक पहुँच रही हैं। सन् 1999 में कंपनियों ने इंटरनेट पर 43 अरब डॉलर का व्यापार किया था जो अब 1300 अरब डालर तक पहुँचने की संभावना है ये B2B व्यापार का मात्र 9.3 प्रतिशत है। विश्व अब पूँजी निवेश से बौद्धिक पूँजी की ओर झुक रहा है क्योंकि उत्पादकता से मानवीय उपयोगिता अधिक महत्वपूर्ण और प्रौद्योगिकी से कर्मियों को बाहर जाने से रोक रखना अधिक महत्वपूर्ण हो गया है।

राष्ट्रीय स्तर पर इंटरनेट का विकास जारी है, जबकि अंतरराष्ट्रीय स्तर पर इंटरनेट सुरक्षा एवं ई-वाणिज्य के विकास जैसे विषयों पर बहुत अधिक कार्य हो चुका है।

ई-वाणिज्य को चालक लाइसेंस, पासपोर्ट, बीमा, स्वास्थ्य, राशन, बैंक, वित्तीय लेन-देन, जमीन का यंजीकरण, भुगतान, और न जाने कितने ही क्षेत्रों में सफलता से उतारा जा सकता है और भारत में यह हो भी रहा है। कुछ और वर्षों में निश्चित आप भी इसके एक उपयोगकर्ता होंगे।

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

1. ई-वाणिज्य से क्या आशय है? समझाइये।
2. ई-वाणिज्य को बड़े व छोटे व्यवसायियों के लिए उपयोगिता बताइये।
3. इलेक्ट्रॉनिक भुगतान प्रणाली के विभिन्न तरीकों का वर्णन कीजिए।
4. ई-वाणिज्य में उपयोग किये जाने वाले सुरक्षा उपायों का उल्लेख कीजिए।
5. निम्न पर टिप्पणी लिखिए -
   (अ) डिजीटल मुद्रा (Digital Currency)
   (ब) क्रेडिट कार्ड (Credit Card)
   (स) साइबर कैश (Cyber Cash)
   (द) ई-कैश (e-Cash)

अपनी प्रगति की जाँच
Test your Progre

NOTES

23

इलेक्ट्रॉनिक बैंकिंग

(Electronic Banking)

परिचय

औद्योगिक क्रान्ति तथा सूचना प्रौद्योगिकी (आई.टी.) कल्पनातीत तकनीक है जो कभी नष्ट नहीं हो पाएगी। यह ऐसी ही बात है जब 47 बीसी में महान रोमन सम्राट ज्यूलियस सीजर ने झेला की जीत के बाद कहा था "विनी, विदी, विसी" याने "मैं आया, मैंने देखा, मैंने जीत लिया" औद्योगिक क्रांति के बाद इक्कीसवीं शताब्दी में आई सूचना प्रौद्योगिकी ने भी महान रोमन सम्राट ज्यूलियस सीजर की तरह जीत हासिल की है।

बैंकिंग क्षेत्र में सूचना प्रौद्योगिकी प्रगति का विस्तार इतनी तेजी से हुआ है जिसकी कल्पना नहीं थी। इस तकनीक को विश्व के विकसित देशों के साथ ही विकासशील एवं अविकसित देशों ने भी बहुत ही आसान तरीके से स्वीकार किया है, यही इसकी प्रगति का बड़ा सुयश है।

विश्व में आज से कोई दो सौ वर्ष पहले हुई औद्योगिक क्रांति का प्रभाव दुनिया के हर क्षेत्र में हुआ। आई.टी. की तुलना इसी औद्योगिक क्रांति से की जा सकती है क्योंकि दोनों ही क्रांतियों ने काम के साथ-साथ मनुष्य की विश्राम की गतिविधियों को प्रभावित किया है। दोनों क्रांतियों ने मनुष्य के जीवन को पहले से अधिक बेहतर और श्रेष्ठ बना दिया है।

आज का युग आई.टी. का युग है। कंप्यूटर से इंटरनेट तक इसका नेटवर्क फैला हुआ है। हम सभी किसी न किसी रूप में कम्प्यूटरों से प्रभावित हैं। बैंकर हो या ड्राईवर सभी के यहाँ आई.टी. का उपयोग हो रहा है।

बदलते हुए आर्थिक परिदृश्य में बैंकिंग क्षेत्र की जिम्मेदारी अधिक बढ़ गई है। 1990 में आए उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के नए दौर में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अपने आप को सक्षम साबित करने का समय आ गया। आई.टी. के विकास से मानो बैंकिंग क्षेत्र के विकास के लिए संजीवनी मिल गई है। अगर यह कहा जाए कि वर्तमान में बैंकिंग क्षेत्र तथा आई.टी. एक-दूसरे के पूरक हैं तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

आई.टी. के युग में सफलता की परिभाषा ही बदल गई है। ग्राहकों को आधुनिक सेवा देकर उन्हें संतुष्ट करने का एक अच्छा अवसर आई.टी. के माध्यम से प्राप्त हुआ है।

आज के युग में हम टीवी देखते हैं, समाचारपत्र पढ़ते हैं, सेल फोन एवं इंटरनेट का उपयोग करते हैं जो हमें आई.टी. के बढ़ते प्रभाव का ज्ञान कराता है। यह केवल भ्रम है कि केवल सघन या उच्च शिक्षित लोग, इंजीनियर या वैज्ञानिक ही कम्प्यूटर अथवा आई.टी. का उपयोग कर सकते हैं। वास्तविकता यह है कि आज के युग में कोई भी व्यक्ति, जिसे कम्प्यूटर का साधारण ज्ञान है, वह इस प्रौद्योगिकी का बखूबी उपयोग कर सकता है।

सूचना प्रौद्योगिकी की विभिन्न क्षेत्रों में उपयोगिता

व्यवसाय में सूचना प्रौद्योगिकी :- कोई भी व्यावसायिक विशेष रूप से डिजाईन किया गया सॉफ्टवेयर ऑफिस के लिए उपयोग कर सकता है। टेलीकम्प्यूटर एवं ई-बैंकिंग सुविधा के अंतर्गत वह ऑफिस में बैठकर ही अपने बैंक खातों को चेक कर सकता है।

उद्योग में सूचना प्रौद्योगिकी :- कम्प्यूटर से प्रॉडक्ट डिजाइनिंग, मटेरियल स्टोरेज, निरीक्षण एवं परीक्षण में क्वालिटी कन्ट्रोल तथा सीएडी (Computer-aided design) एवं सीएनसी (Computerized & Numerically Controlled) के द्वारा डिजाईन बनाना एवं उसका उत्पादन करना तथा ऑटोमोबाईल, एरोप्लेन या सेटेलाईट जैसे कॉम्प्लिकेटेड प्रॉडक्ट्स का डिजाईन बनाना आसान हो गया है।

घर में सूचना प्रौद्योगिकी :- समय के साथ ज्यादा से ज्यादा लोग आज घर पर कम्प्यूटर का उपयोग करने लगे हैं। घर पर केवल गेम खेलने के लिए ही इसका उपयोग, अब नहीं होता। अब यह महत्वपूर्ण जानकारी देने वाला उपकरण हो गया है।

शिक्षा एवं प्रशिक्षण में सूचना प्रौद्योगिकी :- बैंकिंग शिक्षा का क्षेत्र वर्तमान में कम्प्यूटर एडेड लर्निंग हो गया है। मल्टीमीडिया का उपयोग शिक्षा एवं प्रशिक्षण के क्षेत्र में ज्यादा हो रहा है। इसी तरह व्यवसाय में, उद्योग में, संस्थाओं में एवं सेना में सीबीटी (Computer Based Training) का उपयोग अति आवश्यक हो गया है।

विज्ञान एवं इंजीनियरिंग में सूचना प्रौद्योगिकी :- वर्तमान में सभी क्षेत्रों के साथ विज्ञान एवं इंजीनियरिंग क्षेत्र में भी आई.टी. विशेष साबित हो रही है। फिजिक्स, केमेस्ट्री, अस्ट्रॉनॉमी, मेडिसिन व कृषि आदि पर संशोधन के लिए विशेष सॉफ्टवेयर बनाए गए हैं। पोखरण में किए गए भूमिगत परमाणु विस्फोट इसका अच्छा उदाहरण हैं।

बैंकिंग क्षेत्र में सूचना प्रौद्योगिकी की भूमिका :- आज के प्रतिस्पर्धात्मक युग में बैंकिंग व्यवसाय के लिए आई.टी. को सर्वश्रेष्ठ आधार एवं महत्वपूर्ण माना जा सकता है। बैंकिंग क्षेत्र में आई.टी. की प्रगति देखने से पूर्व हमें हमारे ग्राहक तथा ग्राहक-सेवा के बारे में जानना भी आवश्यक होगा। यह न भूलें कि ग्राहक-सेवा हमारा ध्येय एवं आई.टी. ग्राहक सेवा के लिए एक सशक्त माध्यम है।

नई तकनीक एवं ग्राहक :- नई तकनीक का उपयोग बेहतर ग्राहक-सेवा के लिए किया जाना चाहिए, क्योंकि ग्राहक बैंकिंग अर्थव्यवस्था की रीढ़ की हड्डी है। उसकी उपेक्षा हमें भारी पड़ सकती है। इस विषय में पूज्य महात्मा गाँधीजी के यह विचार आज भी प्रासंगिक हैं :

"कोई ग्राहक हमारे परिसर में सबसे महत्वपूर्ण आगन्तुक है। वह हम पर निर्भर नहीं है, हम उस पर निर्भर हैं। वह हमारे कार्य में बाधा नहीं बल्कि वह उसका प्रयोजन है। वह हमारे व्यवसाय में बाहरी व्यक्ति नहीं है वह उसका एक हिस्सा है। उसकी सेवा कर हम उस पर कोई कृपा नहीं करते हैं, बल्कि हमें ऐसा करने का अवसर देकर वह हम पर कृपा करता है।"

तकनीक चाहे कोई भी हो हमारे लिए ग्राहकों की संतुष्टि अत्यंत आवश्यक है।

बैंकिंग कार्य में सूचना प्रौद्योगिकी का उपयोग :- बैंकिंग क्षेत्र में सूचना प्रौद्योगिकी की भूमिका वर्तमान परिवेश में अत्यंत महत्वपूर्ण है जो उसके उपयोग से निम्नानुसार स्पष्ट होता है।

मानव संसाधन प्रबंधन पर सूचना प्रौद्योगिकी का परिणाम :- बैंकिंग आई.टी. मानव संसाधन एवं मानव संसाधन सूचना सिस्टम के लिए डाटा बेस का निर्माण करती है। मानव संसाधन बैंकों का महत्वपूर्ण विभाग है, जिसमें बैंकों में नई भर्ती की जानकारी, प्रशिक्षण, स्थानान्तरण प्रोसेस, स्टाफ का मूल्यांकन, स्टाफ संबंधी जानकारी, स्टाफ का वेतन, उनके भत्ते, वेतन वृद्धियाँ, छुट्टियों का ब्यौरा, स्टाफ का कार्यानुभव, कुशलता, कार्यनिष्पादन शामिल हैं।

बैंकिंग सॉफ्टवेयर :- बैंकों में आई. टी. फिरेट एप्लीकेशन सॉफ्टवेयर द्वारा या इंटेग्रेटेड साफ्टवेयर पर आधारित होती है, जो बैंकिंग के लिए काफी महत्वपूर्ण व उपयोगी होता है। बैंकिंग सॉफ्टवेयर निम्न विभागों में वर्गीकृत किए जा सकते हैं :

1. रिटेल बैंकिंग सॉफ्टवेयर जो जमा एवं अग्रिम से संबंधित होता है।
2. कोर बैंकिंग सॉफ्टवेयर जो ट्रेजरी, मनी मार्केट, विदेशी विनिमय इत्यादि से संबंधित होता है।
3. बैंक का एडमिनिस्ट्रेटिव सॉफ्टवेयर जो पे रोल, व्यक्तिगत जानकारी सिस्टम, पेंशन, भविष्य निधि आदि से संबंधित है।
4. एमआईएस संबंधी सॉफ्टवेयर जैसे एएलएम, एनपीए, क्रेडिट रिस्क प्रबंधन, बैलेन्स शीट, ऑडिट, शेयर एकाउंटिंग आदि से संबंधित होता है।
5. रिकान्सिलिएशन एवं सैटलमेंट सॉफ्टवेयर जैसे इंटरब्रांच रिकाल्सिलिएशन, रिटर्न टाईम ग्रास सेटलमेंट, इलेक्ट्रॉनिक क्लियरन्स सिस्टम इत्यादि।
6. नॉन बैंकिंग फाइनेंशियल इन्स्टिट्युशन सॉफ्टवेयर जो म्युच्युअल फंड एवं केपिटल मैनेजमेंट, पोर्टफोलियो एवं फंड मैनेजमेंट, रिफाइनेन्स मैनेजमेंट से संबंधित है।

सेंट्रलाइज्ड बैंकिंग सोल्यूशन :- आज का ग्राहक अति आधुनिक है जो ऐसी ग्राहक-सेवा की अपेक्षा करता है जिसमें गति हो। 'कभी भी और कहीं भी बैंकिंग' की परिकल्पना अब साकार होने लगी है। इसलिए बैंकर को भी सेंट्रलाइज्ड बैंकिंग सोल्यूशन यानी कोअर बैंकिंग सोल्यूशन के माध्यम से ग्राहकों के लिए स्थिर एवं प्रभावी सेवा प्रदान करना एवं नई पीढ़ी के ग्राहकों को अपनी ओर आकर्षित करना आवश्यक हो गया है।

ऑनलाईन बैंकिंग वेबसाईट :- आज का ग्राहक अपनी वेबसाईट से बैंकिंग की जानकारी प्राप्त करना चाहता है। इसलिए बैंकर को अपनी वेबसाईट को आकर्षक बनाना आवश्यक है। ध्यान रहे अपनी वेबसाईट सहज, आकर्षक व लाभदायक हो। एक नजर में समझने वाला साईट मेप सेट अप होना चाहिए।

इलेक्ट्रॉनिक क्लियरिंग :- बड़ी संख्या में धनादेशों के व्यवहार क्लियरिंग हाऊस के माध्यम से होते हैं, लेकिन अब डेबिट क्लियरिंग सिस्टम के माध्यम से ग्राहकों को बिजली के बिल, टेलिफोन बिल, कार्पोरेशन टैक्स, पानी का टैक्स, बीमा प्रीमियम इत्यादि के लिए धनादेशों का उपयोग न कर इलेक्ट्रॉनिक क्लियरिंग के माध्यम से सीधे खाते से नामे करने की सुविधा दी गई है। इसी तरह क्रेडिट क्लियरिंग सिस्टम के माध्यम से कंपनियों को अपने शेयरधारकों को लाभांश, ब्याज आदि की राशि सीधे ग्राहकों के खातों में जमा करने की सुविधा प्राप्त है।

रियल टाईम ग्रास सेटलमेंट :- बड़ी राशि के अंतरबैंक फंड्स ट्रान्सफर हेतु रियल टाईम ग्रास सेटलमेंट सिस्टम का उपयोग करना शुरू किया गया है।

विशेषताएँ :-

1. सभी प्रकार के बचत एवं चालू खाते आरटीजीएस के लिए पात्र।
2. विश्वसनीय एवं गति से कार्य। हाई वैल्यू फंड्स स्थानांतरण हेतु सुविधाजनक।
3. ग्राहकों के एक बैंक के खाते से दूसरे बैंक के खाते में कहीं भी धन, विल्स, चेक का सहज विप्रेषण।

स्ट्रक्चर्ड फायनेन्शियल मैसेजिंग सिस्टम :-

यह बैंकों के लिए इलेक्ट्रॉनिक डाटा इंटरचेंज सिस्टम है जो SWIFT जैसी है। इसके तीन फायदे हैं:-

1. निवेश एवं रेवेन्यू में बचत।
2. रिमोट शाखाओं में तथा सीबीटी में मैसेजेज का कानूनी प्रमाणीकरण।
3. रिमोट शाखाओं के लिए SWIFT प्रशिक्षण के खर्चे में कमी।

रिजर्व बैंक द्वारा एसएफएमएस के उपयोग हेतु नेशनल इलेक्ट्रॉनिक फन्ड्स ट्रान्सफर सिस्टम को प्रस्तुत किया है। सहभागी बैंकों के भारत में इंटर एवं इन्ट्रा बैंक फंड्स को स्थानांतरित करने में इस सुविधा से मदद मिलती है।

प्लास्टिम मनी :- आईटी. के विस्तार के साथ ही पैसों के व्यवहार के लिए धनादेश या ड्राफ्ट की पुरानी परंपरागत संकल्पनाएँ अब बदलती जा रही हैं।अब नई संकल्पना को प्लास्टिक मनी के नाम से जाना जा रहा है।

क्रेडिट कार्ड एवं डेबिट कार्ड :- क्रेडिट कार्ड, पेमेंट सिस्टम का आधुनिक सिस्टम है। इसे व्हिसा एवं मास्टर कार्ड संचालित करता है। यह कनज्युमर ऋण का ही एक प्रकार है जो विशिष्ट समय में ऑटोमेटिकली नवीकृत होता है, धारक इसे आवश्यकतानुसार उपलब्ध, क्रेडिट लिमिट तक उपयोग में ले सकता है।

डेबिट कार्ड भी इसी तरह होता है, लेकिन धारक अपने खाते में उपलब्ध बैलेन्स तक ही राशि निकाल सकता है। ग्राहक को अपना खाता एवं बैलेन्स को मेन्टेन करना आवश्यक होता है।

स्मार्ट कार्ड :- स्मार्ट कार्ड एक ऐसा प्लास्टिक कार्ड है जिसमें ऐसी चुम्बकीय चिप पीछे साईड में होती है जिसमें एक से ज्यादा कार्ड्स की सूचना स्टोर की जा सकती है। इसका उद्देश्य यही है कि एक से अधिक कार्ड्स की जगह एक या दो स्मार्ट कार्ड रखे जाएँ, जिससे ग्राहकों एवं बैंक दोनों के लिए सुविधा होगी।

एटीएम कार्ड :- इस सुविधा के अन्तर्गत ग्राहक अपनी बैंक की एटीएम सेंटर से 'कभी भी और कहीं भी' ऑनलाइन बेसिस पर नगद राशि निकाल सकता है। ग्राहक का खाता समाधानकारक होना चाहिए। प्राथमिक खाते के साथ ही पाँच खातों में इस सुविधा के अन्तर्गत राशि निकाली जा सकती है।

इंटरनेट बैंकिंग :- बैंकिंग व्यवसाय में ई-बिजनेस की तरह ही ई-बैंकिंग है, जिसे इंटरनेट बैंकिंग भी कहा जाता है। आईटी. की बैंकिंग व्यवसाय को यह बड़ी देन है। वर्तमान में सारा विश्व इंटरनेट के माध्यम से जुड़ चुका है। नई पीढ़ी के ग्राहकों को आकर्षित करने के लिए भी ई-बैंकिंग बहुत मायने रखती है।

काल सेंटर्स :- अपने ग्राहकों को ज्यादा से ज्यादा अच्छी सेवाएँ एवं जानकारी देने के लिए बैंकिंग व्यवसाय में कॉल सेंटर्स की कल्पना आगे आई है। इस माध्यम से ग्राहकों को योग्य मार्गदर्शन करना, उनकी समस्याओं को शीघ्र सुलझाना, यह कार्य तत्परता से किया जाता है। वर्तमान में यह प्रभावी ग्राहक सेवा का केंद्र है।

टेलीबैंकिंग एवं एसएमएस बैंकिंग :- केन्द्रीकृत टेलीबैंकिंग के माध्यम से देश भर के ग्राहकों को उनके खातों के बारे में टेलिफोन पर जानकारी उपलब्ध कराई जाती है। ऐसे ग्राहकों के लिए जिनके पास सेलफोन है, बैंक एसएमएस बैंकिंग के माध्यम से अपनी सेवाएँ प्रदान करता है।

बैंकिंग क्षेत्र में सावधानियाँ :- बदलते अंतरराष्ट्रीय परिवेश में बैंकिंग क्षेत्र में सूचना प्रौद्योगिकी की सेवाओं को अनदेखा करना कठिन है। इसकी बढ़ती लोकप्रियता के साथ ही हमें कुछ सावधानियाँ बरतना आवश्यक है। सूचना प्रौद्योगिकी को चुनते समय निम्न बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :-

1. आईटी. सभी के लिए सहज उपलब्ध हो, उसका नेटवर्क प्रभावी हो। क्लिष्ट व कठिन भाषा का प्रयोग न हो।
2. सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था तथा किसी भी तकनीकी बाधा को शीघ्र बिना विलंब दूर करने की व्यवस्था हो।
3. आईटी. अंतरराष्ट्रीय स्तर की होनी चाहिए।

बैंकिंग क्षेत्र को होने वाले लाभ :- बदलते हुए आर्थिक परिवेश में आईटी. के विकास से बैंकिंग क्षेत्र एवं ग्राहकों को अनेक लाभ हो सकते हैं।

1. ग्राहक सेवा में वृद्धि।

2. एलपीजी याने उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के दौर में अपना अस्तित्व कायम रखना तथा अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बैंकिंग व्यवसाय को सक्षम बनाने में सहायता।
3. कार्य में गति व शुद्धता एवं शीघ्रता। क्लिष्ट कार्य को निपटाने में मदद।
4. मानव संसाधन विभाग के लिए स्टाफ संबंधी जानकारी के लिए उपयोगी।
5. ज्यादा भरोसेमंद। एक व्यक्ति से ज्यादा डाटा स्टोर करने की क्षमता।
6. तीव्र स्मरणशक्ति तथा मनुष्य की तुलना में कभी भी न थकने वाली प्रौद्योगिकी।
7. किसी भी प्रकार की गलती न करते हुए निरंतर कार्य करने की क्षमता।
8. स्टेशनरी की बचत एवं लाभप्रदता में वृद्धि।
9. पास में पैसे न होते हुए भी आर्थिक संव्यवहार संभव।
10. कार्य की गति एवं शुद्धता से संतुष्टि तथा समय की बचत।
11. घर या कार्यालय या देश के किसी भी स्थान से बैंकिंग कार्य संभव।
12. नगद राशि लेकर जाने का जोखिम नहीं। क्रेडिट कार्ड चोरी होने पर बैंक को शीघ्र सूचना देकर अपने खाते के व्यवहार रोके जा सकते हैं।
13. दुनिया की किसी भी वस्तु को घर बैठे खरीदी की सुविधा।
14. बैंकिंग संबंधी योग्य निर्णय लेने की क्षमता में वृद्धि।

दोष :- जिस प्रकार सूचना प्रौद्योगिकी की प्रगति बैंकिंग व्यवसाय के लिए वरदान सिद्ध हो रही है। उससे हमारे विकास में सहयोग ही मिल रहा है लेकिन कहते हैं 'चांद पर भी एक धब्बा होता है।' उसी प्रकार सूचना प्रौद्योगिकी में भी निम्नानुसार कुछ खामियाँ जरूर हैं जिसका निराकरण किया जा सकता है :-

1. सूचना प्रौद्योगिकी की अपनी कोई बुद्धि नहीं होती। गलत जानकारी प्रेषित करने पर वह भी गलत ही जानकारी प्रेषित करेगा।
2. अप्रत्याशित घटना के समय मनुष्य के पास कई विकल्प होते हैं, कम्प्यूटर ऐसा नहीं कर सकते।
3. आई.टी. का उपयोग भारत के सभी वर्ग के लिए संभव नहीं है, क्योंकि भारत में 70 प्रतिशत जनता गरीब है कम्प्यूटर, इंटरनेट, सेलफोन आदि की कीमत एवं उसका संस्थापन अभी भी आम जनता के लिए महंगा है।
4. एक प्रकार के कम्प्यूटर के लिए बनाए गए प्रोग्राम एवं सॉफ्टवेयर तथा हार्डवेयर में मानकीकरण नहीं।
5. विशेषज्ञ प्रोग्रामर्स की कमी।
6. सर्वसामान्य ग्राहकों के बीच 'कॉल सेंटर्स' उपस्थित होने से हमारी सूचना संबंधी सुरक्षितता पर प्रश्नचिन्ह लगा है।
7. सायबर क्राईम तथा कम्प्यूटर्स एवं इंटरनेट से धोखाधड़ी बढ़ने लगी है।
8. मनुष्य अपनी पहचान खोने लगा है तथा हमारी प्रायवेसी नष्ट हो रही है।
9. प्राथमिक सुविधाओं एवं बिजली की कमी से ग्रामीण विभागों में आई.टी. का उपयोग कठिन हो रहा है।
10. बार-बार कम्प्यूटर में खराबी, डाटा करप्ट होना, सिस्टम में वायरस आना आदि से ग्राहकों के लिए काफी परेशानी होती है।

धोखाधड़ी एवं उसे रोकने हेतु उपाय :- बैंकिंग व्यवसाय में आई.टी. क्षेत्र में धोखाधड़ी बढ़ने लगी है। आए दिन बैंकों में सायबर क्राइम के बारे में सुनाई देता है, जो कि निम्नलिखित हैं :-

(A) **सायबर लॉ** :- सरकार द्वारा सायबर क्राइम को रोकने के लिए एवं हमारी वित्तीय संस्थाओं को उनके ऑन लाईन व्यवसाय को सुरक्षितता प्रदान करने के लिए सायबर लॉ बनाया गया है। भारत में इसे इन्फार्मेशन टेक्नोलॉजी एक्ट, 2000 के नाम से जाना जाता है। अपने देश में यह कानून बनने के बाद ही बैंकिंग व्यवसाय में कम्प्यूटर संबंधी कानूनी बातें सामने आने लगी हैं।

(B) **भारतीय रिजर्व बैंक के प्रयास** :- भारतीय रिजर्व बैंक ने भी धोखाधड़ी रोकने के लिए समय-समय पर बैंकों को विभिन्न परिपत्रों द्वारा सूचनाएँ जारी की हैं, साथ ही "Frauds Reporting and Monitoring System" पर एक सॉफ्टवेयर भी विकसित किया गया है। ग्राहकों को भी समय-समय पर रिजर्व बैंक विभिन्न समाचार पत्रों के माध्यम से इस प्रकार की धोखाधड़ी से सतर्क करता है।

(C) गवर्नेंस संस्थान :- आई.टी. पर उपयुक्त नियंत्रण रखने के लिए शोध हेतु Information Systems & Control Association (ISACA) ने 1998 में "सूचना प्रौद्योगिकी गवर्नेंस संस्थान" की स्थापना की। इनसे अपेक्षा है कि वह आई.टी. के प्रयोग से कारोबार में वृद्धि के साथ ही आई.टी. से संबंधित जोखिमों का भी उचित प्रबंधन करे।

धोखाधड़ी को रोकने के विशेष प्रयास :- बैंकिंग क्षेत्र में आई.टी. में धोखाधड़ी होने से पूर्व ही उसे रोकने के प्रयास आवश्यक हैं। कहते हैं कि "Precaution is better than cure".

क. कम्प्यूटर का उपयोग करने वाले स्टाफ के सदस्यों को निम्न सतर्कता बरतनी चाहिए

1. अपने ही यूजर आई. डी. का उपयोग करें। अपना यूजर आई. डी. दूसरों को न बताएँ।
2. सिस्टम से बाहर जाते समय लॉग आउट करें। सिस्टम को वैसे ही न छोड़ दें।
3. किसी भी अजनबी व्यक्ति को सिस्टम के पास प्रवेश न दें।
4. पासवर्ड के विषय में अत्यंत गोपनीयता बरतें।
5. अपने अधिकारों से ज्यादा का उपयोग न करें।
6. मैन्युअल्स, परिपत्र आदि को सुरक्षित रखें।
7. एरर मैसेज को न टालें।
8. इन्वेंटरी के लिए निर्धारित रजिस्टरों का उपयोग करें तथा नियमित रखरखाव करें। रजिस्टर ताले में सुरक्षित रखें।
9. हार्डवेयर के रिपेयरिंग की संपूर्ण जानकारी रखें। अधिकृत एजेंसी को ही रिपेयरिंग का कार्य सौंपें।
10. बिना प्राधिकृत अधिकारी की अनुमति के हार्डवेयर शाखा परिसर से बाहर न ले जाने दें।
11. सिस्टम के प्रत्येक व्यवहार के लिए वाउचर्स या संबंधित दस्तावेज जरूर देखें। बिना वाउचर के किसी भी प्रकार की एन्ट्री सिस्टम में न करें।

ख. सिस्टम के रखरखाव में निम्न सतर्कता बरतनी चाहिए:-

1. सर्वर एवं कम्प्यूटर सिस्टम की चाबियाँ सुरक्षित जगह सेफ कस्टडी में रखें।
2. डुप्लीकेट चाबियों का रिकार्ड रजिस्टर में नोट करें।
3. यूपीएस विशिष्ट सिक्वेन्स में ही स्विच ऑन एवं स्विच ऑफ करें।
4. किसी अपरिचित व्यक्ति को यहाँ पर प्रवेश न करने दें।

ग. खातों की निगरानी में निम्न सतर्कता बरतनी चाहिए।

1. नए खातों एवं इन खातों में बड़ी राशि के संव्यवहार पर ध्यान रखें।
2. बड़ी राशि के धनादेश या ड्राफ्ट समाशोधन या आउटस्टेशन में आने पर विशेष ध्यान रखें।
3. स्टाफ के खाते या स्टाफ से संबंधित खातों के संव्यवहार पर निगरानी रखें।

घ. ग्राहक द्वारा भी निम्न सतर्कता बरतनी चाहिए:-

1. अपना पासवर्ड या पिनकोड या आई डी किसी को भी न दें तथा उपयोग करते समय सुनिश्चित करें कि आपके पास कोई व्यक्ति निगरानी तो नहीं कर रहा।
2. समय-समय पर अपना पासवर्ड बदलते रहें।
3. अपना काम होते ही लॉग आउट जरूर हो जाएं। लॉग आउट हो गया या नहीं यह सुनिश्चित करें।
4. जब भी आप अगली बार लॉग इन करेंगे तब सुनिश्चित करें कि आपके बाद किसी ने आपके बैंक खाते के साथ कोई छेड़छाड़ तो नहीं की है।
5. अपने कम्प्यूटर में एन्टी वायरस साफ्टवेयर जरूर इन्स्टाल करा लें।
6. उपयोग कर रहे सिस्टम, इंटरनेट, क्रेडिट कार्ड या अन्य सुविधाओं की योग्य तकनीकी जानकारी अवश्य रखें।
7. इंटरनेट से बैंक खाते पर संपर्क करते समय किसी भी लिंक का उपयोग न करें। केवल बैंक के ही वेबपेज से संपर्क करें।
8. जहाँ तक संभव हो इंटरनेट कैफे या किसी दूसरे व्यक्ति के कम्प्यूटर से अपने बैंक खाते से संपर्क न करें।

9. गलती से भी अनजान पॉपअप्स लिंक्स, मेल्स न खालें या किसी भी ऐसे अनजान मेल्स में आपके बैंक के खातों की जानकारी माँगी गई हो तो उसका जवाब न दें।

10. अपने ऑनलाईन कार्य के लिए मोबाईल बैंकिंग सेवा का उपयोग कर 'मोबाईल अलर्ट' लेते रहें। साथ ही किए जा रहे संव्यवहार का एसएमएस प्राप्त करते रहें।

11. मोबाईल बैंकिंग करते समय ध्यान रखें कि महत्वपूर्ण संव्यवहार मोबाईल एवं कार्डलेस फोन से न करें। इसकी वेव्ज को आसानी से पकड़ा जा सकता है तथा डी कोड भी किया जा सकता है।

12. किसी भी प्रकार की धोखाधड़ी की संभावना पर शीघ्र संबंधित बैंक सिक्योरिटी से संपर्क करें।

बैंकिंग क्षेत्र में सूचना प्रौद्योगिकी की प्रगति :- अभी तक हमने सूचना प्रौद्योगिकी तथा बैंकिंग व्यवसाय में इस तकनीकी के महत्व एवं प्रगति के साथ ही उसके गुण-दोषों का भी अभ्यास किया। बैंकिंग क्षेत्र में सूचना प्रौद्योगिकी के साथ होने वाली धोखाधड़ी को रोकने हेतु किए जा रहे प्रयासों पर भी जानकारी ली।

यह निश्चित है कि आई.टी. के बैंकिंग क्षेत्र में आने से हमें जैसे अलादीन का चिराग ही मिला है। फिर भी यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि हमारा मुख्य उद्देश्य ग्राहक सेवा है। किसी भी क्षेत्र में हमारी प्रगति हमारे विकास का आधार होती है लेकिन हमें इस प्रगति का उपयोग सकारात्मक ढंग से करना होगा। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि सूचना प्रौद्योगिकी ग्राहक-सेवा को अधिक चुस्त एवं गतिशील बनाने का माध्यम है वह हमारा ध्येय नहीं है। बैंकिंग उद्योग एक सेवा उद्योग है और बैंकिंग व्यवसाय का रक्त संचार ग्राहक है।

बैंकिंग व्यवसाय बैंक के नाम से नहीं बल्कि ग्राहकों के नाम से चलता है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अपने आप को बनाए रखने हेतु तथा हमारे व्यवसाय का अधिक लाभप्रद बनाने के लिए ग्राहकों का होना जरूरी है।

हमें सूचना प्रौद्योगिकी के साथ मशीन नहीं बनना है। ध्यान रहे कि ग्राहक एक संवदेनशील व्यक्ति होता है। सभी उम्र के, सभी वर्गों के ग्राहकों की भावनाएँ, उनकी इच्छाएँ, उनकी अपेक्षाएँ अलग-अलग होती हैं जिसे एक संवदेनशील बैंकर ही समझ सकता है, कोई मशीन नहीं। हमारा देश 'अनेकता में एकता' रखने वाला है। यहाँ पर विभिन्न भाषाओं और संस्कृति के लोग निवास करते हैं। सत्तर प्रतिशत से ज्यादा लोग गाँवों में रहने वाले हैं जो कृषि पर निर्भर हैं। जिनके पास अनाज, कपड़ा, मकान या स्वास्थ्य जैसी प्राथमिक सुविधाएँ भी उपलब्ध नहीं हैं। गाँवों में पर्याप्त बिजली नहीं है। हमें आई.टी. का उपयोग इस प्रकार करना होगा कि हम विभिन्न ग्राहकों की आर्थिक स्थिति को देखते हुए उन्हें सस्ती एवं अच्छी सुविधाएँ प्रदान कर सकें। केवल सूचना प्रौद्योगिकी का बिगुल बजा कर हमारा विकास संभव नहीं है।

यह अच्छी बात है कि हम अंतरराष्ट्रीय स्तर पर खरे उतरने लगे हैं। विदेशी पूँजी हमारी ओर आकर्षित होने लगी है। 'कभी भी और कहीं भी बैंकिंग' साथ ही 'आपका बैंक आपके घर' यह परिकल्पना साकार हो गई है। कहते हैं 'जहाँ चाह वहाँ राह है।' क्या भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए अच्छे संकेत नहीं हैं? विकसित देशों के स्तर की ग्राहक सेवा हमारे विकासशील देश के लिए अब भी कल्पना विलास है जिसे साकार स्वरूप देने के लिए हम सबका निष्ठापूर्वक प्रयास जारी है। शीघ्र ही वह घड़ी आ सकती है जब विदेशी ग्राहक भारतीय बैंकों और विक्रेताओं से सेवाएँ और सामग्री इंटरनेट पर आर्डर कर घर बैठे प्राप्त करना चाहेंगे जिसका श्रेय हमारे ग्राहकों के साथ-साथ सूचना प्रौद्योगिकी को भी मिलना चाहिए। सूचना प्रौद्योगिकी की भूमिका इसमें निश्चित ही सराहनीय है, लेकिन अभी बहुत कुछ करना बाकी है। कोशिश तो करके देखिए सफलता हमारे पास दौड़कर आएगी। एडविन सी विल्स ने ठीक ही कहा है, "सफलता का मतलब सिर्फ असफल होना नहीं है, बल्कि सफलता का सही अर्थ है अपने असली मकसद को पाना। इसका मतलब है पूरा युद्ध जीतना, न कि छोटी-मोटी लड़ाईयाँ जीतना।"

अपनी प्रगति की जाँच
Test your Progre

महत्वपूर्ण प्रश्न
(Important Questions)

1. ई-बैंकिंग को परिभाषित कीजिए। इसकी आवश्यकता एवं विभिन्न स्वरूपों को समझाइए।

2. निम्न पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए -.

   (अ) ई-बैंकिंग के वेबसाइट घटक (Website Components of e-Banking)

   (ब) (i) रिमोट बैंकिंग (Remote Banking)

   (ii) पी.सी. बैंकिंग (P.C. Banking)

   (iii) मोबाईल बैंकिंग (Mobile Banking)

   (स) ई-बैंकिंग प्रोवाइडर्स (e-Banking Providers].

NOTES

24

फ्रेन्चाईसी व्यवसाय
(FRANCHISEE BUSINESS)

विपणन के क्षेत्र में फ्रेन्चाईसिंग एक ऐसे लोकप्रिय उपकरण के रूप में उदित हुआ है जिसे कई वर्षों तक जाँचा जा चुका है। इसका प्रारंभ बहुत छोटे रूप में होता है, यह उत्पादों का लाइसेन्स एवं विक्रय की एक अनौपचारिक प्रणाली है। वर्तमान समय में आज इसने स्वयं ही एक विशाल उद्योग का रूप ले लिया है।

यह विपणन का ऐसा माध्यम है जिसमें पूर्व स्थापित कम्पनी द्वारा या सरकार के द्वारा वस्तुओं व सेवाओं के विक्रय हेतु लाइसेंस प्रदान कर अपने उत्पाद व सेवाओं को विभिन्न स्थानों पर व्यक्ति व समूहों को उपयोग करने व उनका विक्रय करने का प्रमाण पत्र प्रदान करती है, जिसमें उनके द्वारा निर्मित उत्पाद व निर्धारित मापदण्डों के अनुरूप सेवाओं के विक्रय हेतु विभिन्न स्थानों पर अधिकृत किया जाता है।

विपणन के क्षेत्र में वर्तमान समय में ख्यातिनाम कम्पनी द्वारा जिनमें राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की कम्पनियाँ अपनी शर्तों व निर्धारित मापदण्डों के अनुरूप ही उत्पादों के विक्रय हेतु अधिकृत किया जाता है। इस प्रक्रिया में विक्रय हेतु विभिन्न शहरों व नगरों में जो कि प्रतिष्ठान विद्यमान कंपनी के ब्रॉन्डों के विक्रय हेतु स्थापित किये जाते हैं उनके विद्यमान स्वरूप में बिना परिवर्तन के विक्रय हेतु अधिकृत किया जाता है।

अधिकांश व्यक्ति यह समझते हैं कि फ्रेन्चाईसी से आशय मेकडोनाल्ड, जैसे किसी बड़े ब्रॉण्ड नाम से जुड़ने के लिए अत्यधिक पूँजी विनियोजित करना आवश्यक है, परंतु ऐसा वास्तव में नहीं होता, इस विपणन माध्यम में सभी उत्साही व्यवसायियों के लिए अनगिनत अवसर उपलब्ध होते हैं।

विपणन के फ्रेन्चाईसी व्यवसाय को प्रारंभ करने में प्रमुख बिन्दु निम्नानुसार हैं -

(1) **परीक्षण एवं प्रयोग किया गया** - इस व्यवसाय में अनेक वर्षों का अनुभव व उत्पाद व सेवाओं का परीक्षण व प्रयोग पूर्व स्थापित कम्पनी द्वारा किया जाता है। यह भी आवश्यक नहीं है कि नवीन स्थापित संस्थान को उसी प्रकार की सफलता व लाभ प्राप्त होने की संभावना होगी जो मूल व्यवसायी को प्राप्त हो रही है। इसकी संभावना कम हो सकती है, क्योंकि इसमें नवीन व्यवसायी के विनियोग एवं प्रयासों की मुख्य भूमिका होती है। अर्थात् वह अपने व्यवसाय की स्थापना व प्रगति हेतु विपणन के विद्यमान माध्यमों में किस प्रकार से उचित समन्वय स्थापित करता है।

(2) **कोई व्यावसायिक निर्णय नहीं** - इस व्यवसाय में समस्त महत्वपूर्ण निर्णय फ्रेन्चाईसी प्रदान करने वाले उत्पादक व मूल संस्थान तक सीमित रहता है इसी प्रकार समस्त विपणन नीति व व्यावसायिक योजना के सभी बिन्दुओं पर विचार कर निर्धारण का उत्तरदायित्व फ्रेन्चाईसी प्रदान करने वाले पर ही होता है इस प्रकार फ्रेन्चाईसी प्राप्त करने वाले व्यवसायी को पूर्वनिर्धारित मापदण्डों के अनुरूप ही अपने कार्य को करने का उत्तरदायित्व होता है।

(3) **पूर्व स्थापित नेटवर्क** - इस व्यवसाय में फ्रेन्चाईसी प्रदान करने वाले व्यवसायी व संस्थान के पूर्व व्यावसायिक अनुभवों का लाभ, विज्ञापन माध्यम व ब्राण्ड नाम का लाभ फ्रेन्चाईसी प्राप्तकर्ता को स्वतः प्राप्त होता है। अतः व्यवसाय को स्थापित करने में नवीन व्यवसायी को अत्यधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता।

(4) **सहयोग और प्रशिक्षण** - इस व्यवसाय में मूल व्यवसायी द्वारा नवीन फ्रेन्चाईसी शाखा की स्थापना हेतु पूर्ण सहयोग जिसमें अपने विशेषज्ञों का लाभ प्रदान किया जाता है, तथा अपने संसाधनों के द्वारा प्रशिक्षण व विपणन हेतु विज्ञापन की सुविधा भी प्रदान की जाती है जिसका लाभ स्वतः फ्रेन्चाईसी प्राप्तकर्ता को ही प्राप्त होता है।

(5) **वित्त आपूर्ति सुविधापूर्ण** - इस व्यवसाय में नवीन स्थापित इकाई को अपनी स्थापना हेतु विविध वित्तीय संस्थाओं से वित्त प्राप्त करना सरल होता है क्योंकि जिस कंपनी की फ्रेन्चाईसी प्राप्त की जाती है उसकी ख्याति व बाजार में स्थापित ब्राण्ड की उपलब्धि वित्त प्राप्त करने में सहायक होती है। मूल कंपनी द्वारा वित्त प्राप्ति हेतु आवश्यक सहयोग प्रदान किया जाता है जिसमें उनके वित्तीय संसाधनों व विशेषज्ञों की सेवायें ही स्वयं प्राप्त होती हैं।

(6) **सफलता के अनेक अवसर** - नवीन स्थापित्य संस्थान व व्यवसाय को सफलता प्राप्त करने के अनेक अवसर स्वतः प्राप्त होते हैं, क्योंकि फ्रेन्चाईसी प्रदान करने वाली संस्था के पूर्व अनुभव, कार्यप्रणाली, उत्पाद व बॉण्डों

का लाभ स्वतः फ्रेन्चाईसी प्राप्तकर्त्ता को प्राप्त होता है इसी कारण उसके असफल होने की संभावना बहुत कम होती है।

फ्रेन्चाईसी व्यवसाय के लाभ -

NOTES

(1) **स्थापना का आधार उपभोक्ता** - प्रतिष्ठित पूर्व स्थापित फ्रेन्चाईसी प्रदानकर्ता का ब्रॉण्डनाम व उपभोक्ता आधार का लाभ नवीन स्थापित संस्थान को प्राप्त होता है। अर्थात् उत्पाद व सेवाओं की उपयोगिता हेतु अतिरिक्त प्रयास नहीं करना पड़ता है क्योंकि उपभोक्ता पूर्व से ही उत्पाद व सेवाओं के गुणों से पूर्ण परिचित होते हैं व उनका उपयोग पूर्व से ही करने के कारण नवीन व्यवसायी को इसका लाभ स्वतः प्राप्त होता है।

(2) **संगठित विपणन रचना** - इस व्यवसाय में पूर्व स्थापित कम्पनी द्वारा राष्ट्रीय स्तर तक अपने नेटवर्क व प्रचार प्रसार का लाभ फ्रेन्चाईसी प्राप्तकर्ता को स्वतः प्राप्त होता है तथा उसे मात्र स्थानीय स्तर पर समन्वय स्थापित करने का उत्तरदायित्व उठाना होता है।

(3) **प्रतिष्ठित आपूर्तिकर्ता** -फ्रेन्चाईसी व्यवसाय में प्रतिष्ठित आपूर्तिकर्ताओं के वर्षों पुराने अनुभवों का लाभ व उनकी कार्यप्रणाली का लाभ नवीन स्थापित इकाई को स्वयं प्राप्त होता है।

(4) **सामूहिक व्यवसाय** - इस व्यवसाय में चूँकि आप अकेले नहीं होते क्योंकि फ्रेन्चाईसी प्रदानकर्ता द्वारा स्थापित ख्याति व विपणन अनुभवों का लाभ नवीन स्थापित इकाई को स्वतः प्राप्त होता है तथा व्यवसाय को आगे बढ़ाने में पूर्ण सहयोग प्राप्त होता है।

फ्रेन्चाईसी व्यवसाय के दोष

(1) **वृहत प्रारंभिक पूँजी** - प्रतिष्ठित बड़ी फ्रेन्चाईसी की स्थापना हेतु अधिक पूँजी के विनियोग की आवश्यकता होती है। वर्तमान समय में प्रारंभिक पूँजी को अपनी आवश्यकता के अनुरूप प्राप्त करना चुनौतीपूर्ण कार्य होता है। बाजार में अत्यधिक प्रतिस्पर्द्धा के कारण भी आवश्यक संसाधनों के लिए पूँजीगत संसाधन एकत्र करना कठिन होता है।

(2) **रायल्टी भुगतान** - फ्रेन्चाईसी प्रदानकर्ता को मासिक लाभ में से निर्धारित प्रतिशत मासिक व वार्षिक उधार पर प्रदान करने का उत्तरदायित्व उठाना पड़ता है, या फ्रेन्चाईसी प्राप्तकर्ता को प्रारंभ में ही निश्चित लाभ का प्रतिशत प्रदान करने का अनुबंध करना होता है या एक मुश्त राशि का भुगतान कर फ्रेन्चाईसी प्राप्त करना होता है जिसमें अत्यधिक विनियोग व पूँजी आवश्यक होती है।

(3) **विपणन व्यय** - फ्रेन्चाईसी प्राप्तकर्ता व्यवसायी को विज्ञापन एक विपणन के समस्त शुल्क व व्ययों का भुगतान स्वयं वहन करना आवश्यक होता है जिस पर निरंतर व्यय करना अनिवार्य होता है जिसमें फ्रेन्चाईसी प्राप्तकर्ता को प्राप्त लाभ का अधिकांश भाग व्यय करना पड़ता है।

(4) **नवीन सृजनात्मकता का अभाव** - फ्रेन्चाईसी प्रदानकर्ता की स्वयं की ब्रॉण्डों की पहचान होती है जिसमें निर्धारित शर्तों के अनुरूप किसी प्रकार के परिवर्तन की संभावना नहीं होती है। अतः उसे उसी रूप में उपभोक्ताओं तक पहुँचाना होता है।

(5) **फ्रेन्चाईसर पर निर्भरता** - इस व्यवसाय में नवीन स्थापित इकाई की फ्रेन्चाईसी प्रदानकर्ता पर पूर्ण रूप में निर्भरता होती है अतः सफलता प्राप्ति की संभावना भी फ्रेन्चाईसी प्रदानकर्ता पर निर्भर होती है।

अपनी प्रगति की जाँच
Test your Progre

महत्वपूर्ण प्रश्न

1. फ्रेन्चाईसी व्यवसाय क्या है? समझाइये।
2. फ्रेन्चाईसी व्यवसाय को प्रारंभ करने वाले तत्वों की विवेचना कीजिये।
3. फ्रेन्चाईसी व्यवसाय के लाभ एवं दोषों की विवेचना कीजिए।

सुझाव पत्र (विद्यार्थियों के लिये)

नाम – कार्यक्रम का नाम –

नामांकन नं. – कोर्स का नाम –

फोन नं.– सत्र –

ई–मेल आईडी –

प्रिय छात्र–छात्राओं,

विश्वविद्यालय के द्वारा दूरस्थ शिक्षण संस्था में पंजीकृत छात्र–छात्राओं को दी जाने वाली पाठ्यसामग्री को हमेशा बेहतर बनाने का प्रयास रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपके विचार एवं सुझाव आमंत्रित है, कृपया आपको प्रदान की जाने वाली पाठ्य–सामग्री के संबंध में अपने विचार एवं सुझाव 500 शब्दों में लिखकर प्रेषित करें, ताकि उक्त विचार एवं सुझाव का अमल करते हुये हम अपने पाठ्य सामग्री को और अधिक सरल, सहज एवं रोचक बनाया जा सकें।

सुझाव –

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

छात्र का नाम एवं हस्ताक्षर

सुझाव पत्र (विषय विशेषज्ञ/पाठ्यक्रम समन्वयक/कार्यक्रम समन्वयक के लिये)

नाम – पद –

विभाग/विषय – पता –

फोन नं.– सत्र –

ई–मेल आईडी –

प्रिय विषय विशेषज्ञ/पाठ्यक्रम समन्वयक/कार्यक्रम समन्वयक,

विश्वविद्यालय के द्वारा दूरस्थ शिक्षण संस्था में पंजीकृत छात्र–छात्राओं को दी जाने वाली पाठ्यसामग्री को हमेशा बेहतर बनाने का प्रयास रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपके विचार एवं सुझाव प्रार्थनीय है, कृपया आप इस पाठ्य–सामग्री के संबंध में अपने विचार एवं सुझाव 500 शब्दों में लिखकर प्रेषित करें, ताकि उक्त विचार एवं सुझाव का अमल करते हुये हम अपने पाठ्य सामग्री को और अधिक सरल, सहज एवं रोचक बनाया जा सकें।

सुझाव –

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

धन्यवाद,

नाम एवं हस्ताक्षर